सिद्धान्तसारावलिः

त्रिलोचनशिवाचार्यविरचिता
अन्वयार्थविस्तरार्थाभिधभाषाव्याख्याद्वयसहिता

अन्वयार्थकाराः
सद्धर्म-उज्जयिनीपीठाधीश्वर-श्री १००८ जगद्गुरु-
मरुलसिद्धशिवाचार्यमहास्वामिनः

Q234:2
152N8

विस्तरार्थकारः सम्पादकश्च
राष्ट्रियपण्डित-श्रीव्रजवल्लभद्विवेदः

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

Q234.2 8297
152N8

Trilochana Sivacharya.
Siddhantasaravali.

Q234:2
152N8

8297

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — १६

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

* * *

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

Q234.2 8297
152N8

Trilochana Sivacharya.
Siddhantasaravali.

सिद्धान्तसारावलिः

त्रिलोचनशिवाचार्यविरचिता
अन्वयार्थाविस्तरार्थाभिधभाषाव्याख्याद्वयसहिता

अन्वयार्थकाराः
सद्धर्म-उज्जयिनीपीठाधीश्वर-श्री १००८ जगद्गुरु-
मरुलसिद्धशिवाचार्यमहास्वामिनः

विस्तरार्थकारः सम्पादकश्च
राष्ट्रियपण्डित-श्रीव्रजवल्लभद्विवेदः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-निदेशकः

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी - २२१ ००१

© शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

Q234:2
152N8

प्रथमं संस्करणम् १९९८

मूल्यम् : सजिल्द रु.५५०
अजिल्द रु.४००

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान की आर्थिक सहायता से प्रकाशित

अक्षर संयोजन
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 8297

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. ....

मुद्रक
जौहरी प्रिंटर्स
शिवाजी नगर, महमूरगंज, वाराणसी

Research Publications Series—16

SIDDHĀNTASĀRĀVALI

of

TRILOCANAŚIVĀCĀRYA

Short Commentary by
Saddharma Ujjayini Pīṭhādhīśvar Shri 1008 Jagadguru
Marulasiddha Śivācārya Mahāswāmiji

Full Commentary and Edited by
Pt. Vrajavallabha Dwivedi
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthan

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35.77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D.35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

© Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

First published 1998

ISBN 81-86768-29-7 (Hb)
ISBN 81-86768-30-0 (Pb)

Price : Rs.550 (Hb) Rs.400 (Pb)

Published with the financial assistance from the Rashtriya Sanskrit Sansthan

Laser Typeset at :

Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :

Jauhari Printers
Mahmoorganj, Varanasi 221 010

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक
श्री काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर
श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का

शुभाशीर्वचन

भारतीय प्राचीन वाङ्मय में वेद और आगम प्रमुख माने जाते हैं। भारतीय आस्तिक धर्म-दर्शन इन्हीं पर आधारित हैं। वेदों की संख्या चार निश्चित होने पर भी आगमों की संख्या शैव तथा शाक्तादि भेद से अनन्त है। इनमें कामिक आगम से वातुल पर्यन्त शैवागम अट्ठाईस माने जाते हैं। इन्हीं आगमों के आधार पर परवर्ती काल में समस्त आगमार्थ को सुबोध बनाने के लिये पद्धति-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। शैवशास्त्र में इस तरह के अठारह पद्धतिकार प्रसिद्ध हुए हैं। इनके नाम आगे प्रस्तावना (पृ. ६, टि. १) में देखे जा सकते हैं। छन्द के अनुरोध से यहाँ त्रिणेत्र के नाम से स्मृत त्रिलोचन शिवाचार्य अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं। प्रस्तुत **सिद्धान्तसारावलि** उन्हीं का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। स्वयं ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में लिखा है कि यहाँ शैवमत के समस्त विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ को देखने से विज्ञ पाठकों को प्रतीत होगा कि ग्रन्थकार की यह उक्ति कितनी सही है।

वर्तमान समय में शैवागम-साहित्य संपूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं हो रहा है। जहाँ पर भी जितना भी अंश उपलब्ध हो रहा है, उतने को विभिन्न संस्थाओं के लोग सम्पादित कर प्रकाशित करा रहे हैं। शैवागमों का और समस्त शैव साहित्य का संशोधन करके प्रकाशित कराने के उद्देश्य से ही काशी के सुप्रसिद्ध श्रीजगद्गुरु विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन, जंगमवाड़ी महामठ में **शैवभारती शोध प्रतिष्ठान** नामक शोध संस्थान की स्थापना सन् १९९३ में की गई थी। तब से अबतक इसमें १७ ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आज हम फिर १९९८ ई. की महाशिवरात्रि के पावन पर्व पर इस महनीय पद्धति-ग्रन्थ का अन्वयार्था और विस्तरार्था नामक दो हिन्दी टीकाओं के साथ प्रकाशन करते हुए अपार आनन्द का अनुभव कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन कन्नड़ भाषा के अनुवाद के साथ कन्नड़ लिपि में मैसूर से सन् १९३० में हुआ था। अन्वयार्था की रचना इसीके आधार पर की गई है। इसी तरह से अनन्तशंभु कृत संस्कृत टीका के साथ इस ग्रन्थ का देवनागरी संस्करण गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास की बुलेटिन के भाग १७ से २० तक के अंकों में हुआ था। विस्तरार्था की रचना इसीको आधार मान कर की गई है। अन्वयार्था की रचना काशी के जंगमवाड़ी मठ में अनुसन्धारत शोधछात्र श्री मरुलसिद्ध ने की थी। यह अपार हर्ष का विषय है कि ये अब सिद्ध मरुलाराध्य द्वारा स्थापित सद्धर्म उज्जयिनी पीठ पर श्री १००८ जगद्गुरु मरुलसिद्ध शिवाचार्य महास्वामीजी के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके हैं। विस्तारार्था का निर्माण और

इस ग्रन्थ का सम्पादन हमारे शोध संस्थान के निदेशक, आगम और तन्त्रशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् राष्ट्रियपण्डित प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी ने विस्तृत प्रस्तावना एवं टिप्पणियों के साथ किया है। आपकी सम्पादन शैली अपूर्व है, अनुवाद कार्य अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ये तन्त्रागम क्षेत्र में अन्ताराष्ट्रिय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

शैवागमों की पद्धति से यह ग्रन्थ भी ज्ञान (विद्या), क्रिया, योग और चर्या नामक चार पादों में विभक्त है और इस ग्रन्थ के टीकाकार अनन्तशंभु ने अपनी विस्तृत व्याख्या में विविध आगमों और उनके व्याख्याता आचार्यों के वचनों की सहायता से इस ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ा दिया है। विद्वान् सम्पादक ने अपनी विस्तृत प्रस्तावना में इस पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। पठन-पाठन की परम्परा के अभाव में आगम-तन्त्रशास्त्र के अनेक विषय अपरिचित से हो गये हैं। प्रस्तुत प्रस्तावना में ऐसे अनेक विषयों को सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। शोधार्थियों की सहायता के लिये यहाँ अनेक परिशिष्टों का भी संयोजन किया गया है।

हमारे शोधप्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित होने वाले सभी आगमों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को पहले राष्ट्रभाषा हिन्दी में और उसके साथ अंग्रेजी में तथा प्रान्तीय भाषाओं में भी अनूदित कराया जायगा। इस कार्य के लिये उन-उन भाषाओं में प्रभुत्व-प्राप्त विद्वानों का सहयोग भी हमें प्राप्त हो रहा है। जिज्ञासु अध्येतागण इसका समुचित लाभ उठाकर हमारे शोध प्रतिष्ठान के निदेशक एवं इन विद्वानों के परिश्रम को सार्थक बनावेंगे।

अन्वयार्था के लेखक सद्धर्म उज्जयिनी पीठ के श्री १००८ जगद्गुरु मरुलसिद्ध शिवाचार्य महास्वामीजी के प्रति श्रीमद्भगवद्गीता के "परस्परं भावयन्त:" इस शुभ वाक्य का ही स्मरण कर सकते हैं। विस्तरार्था के लेखक एवं इस ग्रन्थ के सम्पादक प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी के स्वास्थ एवं दीर्घायुष्य की कामना करते हैं। पूरे ग्रन्थ पर और उसके भाषानुवाद पर पण्डित श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी की सूक्ष्म दृष्टि इसको परिमार्जित रूप दे सकी है। आज से बहुत वर्ष पहले मूल ग्रन्थ का देवनागरीकरण इस प्रतिष्ठान के तत्कालीन प्रबन्धक डॉ० महेश्वर देव जी ने किया था। इस शुभ अवसर पर हम उनको भूल नहीं सकते। डॉ. जी. सी. केण्डदमठ, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण के लिये पूरी जिम्मेदारी निभाई है। हमारे गुरुकुल के छात्र श्री सिद्धराम देव हिप्परगी, श्री स्वरूपानन्द, श्री तोण्टदार्य देव मरेगुद्दि, श्री सिद्धलिंग देव चिप्पलकट्टि, श्री विश्वेश्वर देव तुर्विहाळ एवं नूरन्द देव कक्कलमेलि ने परिशिष्टों के निर्माण में पूरा सहयोग दिया है। इसी तरह से शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस में कार्यरत श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी) तथा श्री राजशेखर जी. हिरेमठ ने आकर्षक अक्षर-संयोजन किया है। हम इन सबके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए आशीर्वचन पूर्ण करते हैं।

महाशिवरात्रि (२५.२.९८ ई.)

इत्याशिषः

* * *

प्रस्तावना

सामान्य परिचय

अन्वयार्था और विस्तरार्था नामक दो हिन्दी टीकाओं के साथ त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावलि का यह संस्करण आगम-तन्त्रशास्त्र के मनीषियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। अन्वयार्था की रचना कन्नड़ भाषा के अनुवाद के साथ कन्नड़ लिपि में मैसूर से सन् १९३० में मुद्रित संस्करण के आधार पर की गई है और विस्तरार्था की अनन्तशंभु कृत संस्कृत टीका के आधार पर। मूल ग्रन्थ के साथ इस टीका का प्रकाशन देवनागरी लिपि में गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास की बुलेटिन के भाग १७ से २० तक के अंकों में हुआ था। मूल ग्रन्थ का पहला संस्करण ग्रन्थ लिपि में शिवज्ञानबोध प्रेस, मद्रास से भी सन् १९०१ में हुआ। लिपि की अनभिज्ञता और ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण इसका उपयोग यहाँ नहीं हो सका है।

तीन मुद्रित संस्करण एवं अनेक [१]मातृकाओं के उपलब्ध होने पर भी यहाँ ग्रन्थ को पाठभेद आदि से संयोजित कर, उसका परिष्कृत संस्करण करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। ग्रन्थ एवं टीका के हिन्दी अनुवादों को ही मात्र यहाँ प्रस्तुत कर ग्रन्थ के अध्ययन के उपयोगी कुछ परिशिष्टों को अवश्य जोड़ा गया है।

इस ग्रन्थ के दो श्लोक लुप्तागमसंग्रह के प्रथम भाग (पृ.१५२) में संगृहीत हैं। उमापति शिवाचार्य ने शतरत्नसंग्रह (पृ.२२,५७) में इनको उद्धृत किया है। लुप्ता० के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ.७७) में हमने लिखा था कि आचार्यवचन (पृ.५०)

---

१. तान्त्रिक साहित्य, पृ. ७०१; आफ्रेख्ट सूची, भा. १, पृ. ७२२; भा. ३, पृ. १४९; न्यू कैटलागस कैटलागरम्, भा.८, पृ.२६२; पाण्डिचेरी, कैटलाग १४५.१ टीकासहित, २८७.१० मूलमात्र एवं ३२३.१ टीकासहित, से हस्तलेखों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इस ग्रन्थ की एक मातृका उदयपुर के साहित्य संस्थान में भी है।

और अभियुक्तवचन (पृ.८५) के रूप में उद्धृत श्लोक भी वहीं के हो सकते हैं। इनमें प्रथम उद्धरण ही यहाँ उपलब्ध है, द्वितीय नहीं। आगम-ग्रन्थों की तरह इस ग्रन्थ में भी ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पाद हैं। कन्नड़ संस्करण में चर्यापाद नहीं है, ऐसी सूचना कहीं दी गई है। किन्तु यह सही नहीं है। यहाँ निरूपित मुख्य विषयों की तुलनात्मक समीक्षा आगे की जा रही है। इसके अतिरिक्त विषय-सूची एवं विशिष्टपदानुक्रमणी से टीका में विशेष रूप से निर्दिष्ट अन्य विषयों की भी जानकारी मिल सकती है।

सन् १९५१ में हमारी[१] नियुक्ति काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की त्रैमासिक शोधपत्रिका **सारस्वती सुषमा** के सहायक सम्पादक पद पर हुई थी और बाद में सन् १९५८ में इस महाविद्यालय के विश्वविद्यालय का स्वरूप ग्रहण करने पर सन् १९५९ से इसके शोध-प्रकाशन की देख-रेख करने का सु अवसर हमें मिला। सन् १९४९-५० में एक घटना घटित हुई, जिससे हमें यह शिक्षा मिली कि लेखक की त्रुटि के प्रति असावधान रहने पर सम्पादक भी उस दोष से बचा नहीं रह सकता। तभी से हम पूरी तत्परता से अपने सामने आई नवीन अथवा प्राचीन सामग्री का सूक्ष्म निरीक्षण कर लेने के उपरान्त ही उसको प्रकाशित करने के पक्षधर रहे हैं। प्राथमिक प्रशिक्षण काल में किन-किन महानुभावों के विचारों का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा, इसकी चर्चा हम अपने ग्रन्थ **निगमागम संस्कृति** की प्रस्तावना में कर चुके हैं।

आगे चलकर महामनीषी म. म. पद्मविभूषण श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के पूर्ण सम्पर्क में आने पर हमने आगम-तन्त्रशास्त्र को अपने अनुशीलन का मुख्य विषय बना लिया। अब तक हमने इसकी शाक्त, शैव, वैष्णव और बौद्ध शाखाओं पर समान रूप से कार्य किया है और इन शाखाओं से संबद्ध अनेक ग्रन्थों का अभिनव पद्धति के साथ प्राचीन प्रणाली का भी अनुसरण करते हुए सम्पादन किया है। इन ग्रन्थों के संस्कृत भाषा में लिखे गये उपोद्घातों के कारण हमारा इस विषय के विदेशी विद्वानों से भी सम्पर्क हुआ और हम हालैण्ड एवं इंग्लैण्ड की यात्रा भी कर सके।

---

[१] यह नियुक्ति इस विश्वप्रसिद्ध संस्था के तत्कालीन प्रिंसिपल प्रो. श्री को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर के महनीय अनुग्रह के कारण हुई थी। इनके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन हम "निगमागम संस्कृति" नामक ग्रन्थ में "श्रद्धेय प्राध्यापक : आदर्श मानव" (पृ.१८४-१८७) शीर्षक निबन्ध में समर्पित कर चुके हैं।

यह अतीव कष्टसाध्य कार्य है। सम्पूर्ण कार्य की प्रामाणिकता के लिये सहायकों पर सर्वात्मना निर्भर नहीं रहा जा सकता, अन्यथा पदे पदे स्खलन की संभावना बनी रहती है। प्राचीन आचार्यगण ग्रन्थ या ग्रन्थकार के प्रति अपना आदरभाव प्रकट करने के लिये नाम के पहले **श्री** या **श्रीमत्** शब्द जोड़ देते हैं। आधुनिक पद्धति से अनुक्रमणियों की रचना करते समय इनको हटा देना पड़ता है। थोड़ी सी असावधानी में ये अनुक्रमणियाँ त्रुटिपूर्ण हो जाती हैं। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। अभिनवगुप्त ने **श्रीमल्लकुलेश** को उद्धृत किया है। यहाँ **श्रीमत्** का हटाना आवश्यक है। इसके स्थान पर केवल **श्री** को हटाने से **मल्लकुलेश** यह अनोखा नाम बन गया है।

आज हमारी स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल नहीं रह गई है कि कौन विषय, किस ग्रन्थ में, कहाँ, किस रूप में चर्चित है, इसे हम याद रख सकें। प्रामाणिक अनुक्रमणियों की सहायता से ही यह कार्य संभव हो सकता है। इनकी सहायता से स्वयं सम्पादक तो सही निष्कर्षों तक पहुँचता ही है, वह दूसरों के लिये भी आगे बढने का मार्ग प्रशस्त करता है। यह अतीव कष्टसाध्य कार्य है, किन्तु इससे स्वार्थ के साथ परार्थ भी सिद्ध होता है। भारतीय संस्कृति का तो यह अंग है ही, साथ ही कुछ चुने हुए आधुनिक विद्वान् भी इस ओर अधिक सचेष्ट हैं।

अन्वयार्था की रचना काशी के जंगमवाडी मठ में अनुसन्धानरत शोधछात्र श्री मरुलसिद्ध ने की है। छात्रावस्था में ये काशी वीरशैव विद्वत्संघ के मन्त्री पद को सुशोभित कर चुके हैं। यह अपार हर्ष का विषय है कि ये अब सिद्ध मरुलाराध्य द्वारा स्थापित सद्धर्म उज्जयिनी पीठ पर श्री १००८ जगद्गुरु मरुलसिद्ध शिवाचार्य महास्वामी जी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इस पीठ से संबद्ध पण्डितप्रवर श्री शंकर शास्त्री जी का स्थान वीरशैव धर्म-दर्शन के साहित्यकारों में अग्रणी है। कन्नड़ अनुवाद का हिन्दी रूपान्तरण करते समय इसमें यथास्थान आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं। इसी तरह विस्तरार्था की रचना भी प्रधानत: अनन्तशंभु की टीका के आधार पर की गई है, किन्तु कहीं-कहीं यहाँ भी कुछ आवश्यक परिवर्धन किये गये हैं। तीन स्थलों को छोड़कर टीका की पूरी सामग्री का यहाँ समावेश कर लिया गया है। इनमें से भी २२४ भुवनों तथा ८१ एवं ९४ पदों का विवरण देने वाले प्रकरणों का यहाँ परिशिष्ट में समावेश कर लिया गया है। कुण्डलिनी क्रियाशक्ति से भिन्न है, यह विषय इस टीका में अतिविस्तार से वर्णित है। जिज्ञासुजन इस ग्रन्थ के ज्ञानपाद के चतुर्थ श्लोक (पृ.४३-४७) में इसे देख सकते हैं। अपेक्षित सामग्री का यहाँ समावेश किया गया है।

आगम-तन्त्रशास्त्र के साहित्य में **तन्त्रालोक** एवं उसकी **विवेक** टीका के एवं **महार्थमंजरी** की स्वोपज्ञ **परिमल** टीका के समान यह **सिद्धान्तसारावलि** एवं उस की **टीका** भी अत्यन्त महत्त्व की है। सिद्धान्तसारावलि में संक्षेप में चर्चित अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का सर्वांगपूर्ण परिचय यहाँ दिया गया है। क्रियाशक्ति एवं कुण्डलिनी, द्विविध पदन्यास, त्रिविध प्रासाद मन्त्र, अष्टविध कुण्ड, विविध मण्डल, भूतशुद्धि, अष्टत्रिंशत्कलान्यास, निवृत्ति आदि पाँच कलाओं में ध्येय द्वादश पदार्थ, पूर्णाहुति की प्रक्रिया, पंचावस्थातीत आत्मा का स्वरूप, पवित्रोत्सव, वास्तुपुरुष, लिंग-पीठ-प्रासाद विचार, लिंग एवं पीठिका में अंकनीय चिह्न आदि महत्त्वपूर्ण विषयों के अतिरिक्त, जपनिवेदन, भोजनपद्धति जैसे क्रियाकलापों पर भी यहाँ शास्त्रीय पद्धति से सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

आमर्दक मठ के निवासी श्री त्रिलोचन शिवाचार्य ने तीन पदार्थों (पति-पशु-पाश) का निरूपण करने वाले तथा चार पादों (ज्ञान-क्रिया-योग-चर्या) वाले इस सिद्धान्तसारावलि ग्रन्थ की रचना की है और इस पर श्री अनन्तशंभु ने अपनी महनीय टीका लिखी है। टीकाकार ने यहाँ शताधिक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है। इन दोनों ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का विश्लेषण करने से पहले यहाँ इनमें से शैवागम से संबद्ध ग्रन्थों का प्रधानतया संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। करणाधिकार पटल की यहाँ (पृ.१७७-७८) चर्चा आती है। यह किस आगम का पटल है, इसकी जानकारी अपेक्षित है।

ग्रन्थ-सम्पादन

यहाँ अनेक उन ग्रन्थों के उद्धरणों का स्थल-निर्देश नहीं हो पाया है, जो कि ग्रन्थ, तेलुगु आदि लिपियों में छपे हैं। जिन उद्धरणों का स्थल-निर्देश किया गया है, वहाँ पाठभेद मिलते हैं। पृ. ४३ पर उद्धृत पाँच पंक्तियों में से प्रथम दो रत्नत्रय (श्लो.१५७) और तीसरी रौरवागम में उपलब्ध है, किन्तु ये सभी पंक्तियाँ आनुपूर्वी से किसी ग्रन्थ की होनी चाहिये, अतः यहाँ स्थल-निर्देश नहीं किया गया है। कालोत्तरागम के विविध संस्करणों के उद्धरण यहाँ मिलते हैं। उनमें से कुछ वचन मुद्रित सार्धत्रिशतिकालोत्तर में मिल जाते हैं। उनका स्थल-निर्देश कर दिया गया है। अन्वयार्था और विस्तरार्था में कुछ स्थलों पर आवश्यक परिवर्तन किया गया है। विस्तरार्था में योगिनीहृदय एवं वरिवस्यारहस्यं जैसे ग्रन्थ हमारे द्वारा उद्धृत हैं, अनन्तशंभु के द्वारा नहीं। कुछ स्थलों पर टीकाकार ने ग्रन्थों के वचन आनुपूर्वी से उद्धृत नहीं किये हैं। ऐसे स्थलों पर --- इस तरह के चिह्नों के द्वारा उनको सूचित किया गया है।

मूल ग्रन्थ एवं टीका

मुण्डकोपनिषत् की आगमपरक व्याख्या यहाँ (पृ.५) अवलोकनीय है। पृ. १० की टिप्पणी में हमने बताया है कि टीका और मूल के अर्थ में कुछ अन्तर है। इसी तरह के प्रसंग अन्य अनेक स्थलों पर भी मिलते हैं। टीका (पृ.१६) में उद्धृत महाभारत का वचन[1] वहाँ उपलब्ध नहीं होता। प्राचीन वाङ्मय में घृणा शब्द का प्रयोग करुणा के अर्थ में हुआ है। यहाँ (पृ.५१) उद्धृत मतंगपारमेश्वरागम (वि.१६.१७) में सात्त्विक गुणों में इसकी गणना की गई है। पृ. ५२ पर अशक्ति के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग सही नहीं है, क्योंकि सांख्यदर्शन में प्रत्ययों का परिगणन करते समय २८ प्रकार की अशक्तियाँ वर्णित हैं। मृगेन्द्रवृत्ति (वि.१०.२५) में भी अशक्ति शब्द ही प्रयुक्त है। 'कल्प' शब्द का प्रयोग (पृ.१०३) एक विशेष प्रकार के ग्रन्थ के लिये किया गया है। पाँच अवस्थाओं के विवरण के प्रसंग (पृ.१०७) में स्वप्नावस्था का परिचय छूट गया है।

ज्ञानपाद की समाप्ति और क्रियापाद का प्रारंभ कहाँ से होता है, इस विषय पर टीकाकार ने सन्देह जगा दिया है। पृ.९० पर वे बताते हैं कि क्रियापाद की निर्विघ्न समाप्ति के लिये यहाँ प्रारंभ में मंगल सूचक 'श्रीमत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। उनकी इस उक्ति के आधार पर 'श्रीमत्स्कन्दगुरोः' (२.६) से क्रियापाद प्रारंभ होता है। यहाँ हमने अन्वयार्थ के क्रम को स्वीकार किया है। यह इसलिये कि 'दीक्षा' क्रियापाद का अंग है, ज्ञानपाद का नहीं।

पृ.६७ पर दिये गये दैव और मानुष काल के विवरण में भी कुछ त्रुटि प्रतीत होती है। पृ.९० पर उद्धृत अन्तिम श्लोक का पाठ त्रुटिपूर्ण है। मृगेन्द्रागम, मतंगागम आदि के कुछ वचन मूल ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते (पृ.१३३, ,१३९, १५४ आदि)। इन ग्रन्थों के मुद्रित संस्करणों में भी परिशिष्टों में ही इनको स्थान दिया गया है। पृ.१७७ पर मूल एवं संस्कृत टीका में घटों की संख्या में अन्तर है। पृ.२२४ के उद्धरण में ग्रन्थपात का जैसा लगता है। पृ.२५७ पर चौदह मनुओं के नाम अधूरे हैं। यहाँ प्राजापत्य नाम वाले मुनिगण का अभिप्राय प्रजापति ब्रह्मा की वंश-परम्परा के प्रवर्तक मुनिगणों से हो सकता है। पृ.३२६ पर उद्धृत वचन "शिरोऽष्टाग्निरसस्वराः" में 'स्वराः' पाठ ठीक नहीं है। स्वर शब्द से छः संख्या का ग्रहण नहीं होता। इस

---

[1] पाण्डवगीता का यह वचन है, ऐसा श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी का कहना है।

पर पुनर्विचार अपेक्षित है। पृ.३२७ पर उद्धृत वचन में छत्राकार शिरोभाग के चार भेदों का वर्णन छूट गया है। इसी तरह से पृ.३६० पर 'ज्ञाना' के स्थान पर 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों की विशेषताओं पर आगे हमने विस्तार से विचार किया है।

ग्रन्थकार त्रिलोचन शिवाचार्य

[1]अष्टादश पद्धतिकारों में त्रिलोचन शिवाचार्य का नाम उपलब्ध है। इन्होंने सोमशम्भु कृत कर्मकाण्डक्रमावलि की व्याख्या की है। इसकी मातृका उपलब्ध है। सोमशम्भु ने ११३० वि. तदनुसार १०७३ ई. में इस ग्रन्थ को पूरा किया था। अत: त्रिलोचन शिवाचार्य की स्थिति इनके बाद ही मानी जायगी। [2]शैव कल्ट., नामक ग्रन्थ की टिप्पणी (पृ.३८) में ये श्लोक उद्धृत हैं—"राजेन्द्रचोल इत्याख्य:....प्रविस्तरा:"।। ये श्लोक आनुपूर्वी से अनन्तशम्भु की टीका में उपलब्ध हैं (पृ.२५८)। इससे काशी के आसपास के शैवाचार्यों की परम्परा में इनकी स्थिति मानी जा सकती है। न्यू. कैट. (भा. ८, पृ. २६२) में इनके ध्यानरत्नावली, प्रायश्चित्तसमुच्चय, रत्नत्रयोद्योत, सर्वमतसिद्धान्तरहस्यसार (सिद्धान्तसमुच्चय) और सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थों की मातृकाओं की सूचना मिलती है। संभवत: काशी में रहते हुए भी इन्होंने ग्रन्थ-रचना की थी। राजेन्द्र चोल प्रथम का समय १०१२-४२ ई. माना जाता है। ऐसी स्थिति में ये सोमशम्भु की पद्धति के व्याख्याकार कैसे हो सकते हैं? हमें ऐसा लगता है कि राजेन्द्र चोल प्रथम से इनके संबन्ध को सूचित करने वाली पूरी सामग्री का सूक्ष्म परीक्षण अभी करना होगा।

टीकाकार अनन्तशम्भु

सिद्धान्तसारावलि के टीकाकार अनन्तशम्भु ने सर्वात्मशम्भु की सिद्धान्तदीपिका

---

[1] शैवभूषण में अष्टादश पद्धतिकारों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

उग्रोत्तरज्योतिरथोपसद्य: श्रीरामकण्ठोऽपि च वैद्यकण्ठ: ।
नारायणश्चापि विभूतिकण्ठ: श्रीनीलकण्ठोऽपि च सोमशम्भु: ।।
ईशानशम्भुर्हृदयादिना स्याद् विरञ्चिवैराग्यकयुग्मवाच्यौ ।
ज्ञानस्त्रिणेत्रो वरुणेश्वरौ तावित्यादयस्ते स्युरघोरशम्भु: ।।

यहाँ त्रिणेत्र के नाम से त्रिलोचन शिवाचार्य ही गृहीत हैं।

[2] सहायक ग्रन्थसूची देखिये। ये श्लोक सिद्धान्तसारावलि की टीका में यहाँ (पृ.२५८) उद्धृत हैं। सिद्धान्तसारावलि के ये नहीं हैं। कहाँ के हैं? यह जानकारी अभी अपेक्षित है।

को उद्धृत किया है (पृ. ११३)। अघोरशिव सर्वात्मशिव को अपना गुरु मानते हैं। सर्वात्मशंभु कृत सिद्धान्तप्रकाशिका की प्रस्तावना (पृ. ५-६) में हमने इनका परिचय दिया है। अनन्तशम्भु अघोर शिवाचार्य को भी उद्धृत करते हैं। अतः इनके बाद ही अनन्तशम्भु की स्थिति मानी जायगी। न्यू. कैट. (भा. १, पृ. १८३) में प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त तीर्थकालादिनिर्णय नामक ग्रन्थ की भी सूचना मिलती है। यहाँ इनका अनन्त शिवाचार्य नाम भी दिया गया है।

टीका में उद्धृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार

अघोर शिवाचार्य

इनके स्थिति-काल, गुरु और इनकी रचनाओं के संबन्ध में हम अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ. ९-१०) में चर्चा कर चुके हैं। यहाँ उद्धृत क्रियाक्रम उनके पद्धति-ग्रन्थ क्रियाक्रमद्योतनिका का ही संक्षिप्त नाम है। उनका यह पद्धति-ग्रन्थ ग्रन्थलिपि में [1]प्रकाशित हो चुका है। अघोरशिव की मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका और पंचावरणस्तव नामक ग्रन्थ भी यहाँ उद्धृत हैं।

अचिन्त्यागम (चिन्त्यागम)

इस आगम का परिचय लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ. १५) में दिया जा चुका है। दोनों ही नामों से यह उद्धृत मिलता है।

ईशानशिव

शैवशास्त्रों में तीन ईशानशिवों की चर्चा मिलती है। इनका परिचय लुप्ता. उपो. (पृ. २१-२२) में दिया जा चुका है। पृ. २१ की टिप्पणी भी देखी जा सकती है। जयरथ के ग्रन्थ वामकेश्वरीमतविवरण में त्रिपुरा सम्प्रदाय के अवतारक ईश्वरशिव का उल्लेख मिलता है। ईशानशिव से इनकी स्थिति भिन्न होनी चाहिये। यहाँ (पृ. २७४) दी गई टिप्पणी भी देखिये। १८ पद्धतिकारों में यह नाम उपलब्ध है।

कालोत्तरागम

भट्ट रामकण्ठ की वृत्ति के साथ पाण्डिचेरी से सार्धत्रिशतिकालोत्तरागम प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक श्री एन. आर. भट्ट जी ने अपने उपोद्घात में इस आगम

---

१. चिदम्बरम् से सन् १९२७ में निर्मलमणि कृत टीका के साथ इसका प्रकाशन ग्रन्थलिपि में हुआ है। अन्य स्थानों से भी इसके प्रकाशन की सूचना मिलती है। देखिये—न्यू कैटलागस कैटलागरम्, भा. ५, पृ. १३३; यहाँ (भा. १, पृ. ५८-५९) अघोरशिव के विषय में जो सूचनाएँ दी गई हैं, उनकी परीक्षा अपेक्षित है।

के तेरह संस्करणों का परिचय दिया है और उनके उद्धरणों को संकलित भी किया है, जिसमें कि प्रस्तुत टीका में उद्धृत वचन भी संगृहीत हैं। इसी तरह से बौद्ध प्रज्ञापारमिता शास्त्र के भी अनेक संस्करण मिलते हैं। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ गुह्यसिद्धि (८.१२) में निश्वास संहिता के साथ इसका उल्लेख हुआ है। त्रिशतिकालोत्तर, द्विशतिकालोत्तर, षट्सहस्रागम, षट्साहस्रिका, सार्धत्रिशती आदि नामों से प्रस्तुत टीका में उद्धृत सभी वचन इसी आगम के विभिन्न संस्करणों के हैं। लुप्ता. उपो. (पृ.२६-२७) भी देखिये।

ज्ञानरत्नावली

यह ग्रन्थ ज्ञानशिवाचार्य की रचना है। सायण-माधव विरचित सर्वदर्शनसंग्रह के शैवदर्शन प्रकरण (पृ.७२) में यही ग्रन्थ उद्धृत हुआ लगता है। इसमें पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थों के साथ विद्या, अविद्या एवं पाशनिवृत्तिकारण का समावेश कर छः पदार्थों का निरूपण किया गया है। १८ पद्धतिकारों में 'ज्ञान' पद से इन्हीं का ग्रहण होना चाहिये। न्यू. कैट. (भा. ७, पृ.३३४) से सूचना मिलती है कि सात हजार श्लोक-प्रमाण का यह ग्रन्थ वातुल तन्त्र पर आधारित है और ज्ञानशिव गोलकी मठ के आचार्य थे।

तत्त्वत्रयनिर्णय-तत्त्वप्रकाश-तत्त्वसंग्रह

इन तीनों ग्रन्थों का परिचय अष्टप्रकरण के उपोद्घात में दिया जा चुका है। इनमें से प्रथम और तृतीय ग्रन्थ सद्योज्योति शिवाचार्य की तथा तत्त्वप्रकाश भोजदेव की कृति है।

तन्त्रसागर

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में तथा शारदातिलक की टीका में अनेक स्थलों पर उद्धृत तत्त्वसागर (संहिता) से यह ग्रन्थ अभिन्न हो सकता है। "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ में संगृहीत "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः" शीर्षक निबन्ध (पृ.१८५) में हमने बताया है कि 'सत्वसागरसंहिता' यह नाम लिपिदोष के कारण बन गया है। न्यू. कैट. (भा.८, पृ.७१) में तत्त्वसागर(संहिता) का विवरण मिलता है।

नारायण कण्ठ

मृगेन्द्रागमवृत्ति के प्रणेता नारायणकण्ठ स्तवचिन्तामणिकार नारायण भट्ट से भिन्न ही आचार्य हैं, ऐसा डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी ने अपने ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' (पृ. १७४) में सप्रमाण सिद्ध किया है। अनेक आगम-ग्रन्थों के व्याख्याता भट्ट रामकण्ठ इन्हीं के पुत्र हैं। इस प्रसंग में 'आगममीमांसा' (पृ.३७) को भी देखा जा सकता है। १८ पद्धतिकारों में इनका नाम समाविष्ट है।

प्रतिष्ठासारसंग्रह

वैरोचन शिवाचार्य का प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय नामक ग्रन्थ दो भागों में काठमाण्डू, नेपाल से प्रकाशित हुआ है। इससे भिन्न प्रतिष्ठासारसंग्रह की मातृका का परिचय तान्त्रिक साहित्य (पृ.३९३) में मिलता है। नेपाल दरबार लाइब्रेरी में यह सुरक्षित है। न्यू. कैट. (भा.१२, पृ.२७०) भी देखिये।

भोगकारिका एवं मोक्षकारिका

ये दोनों ग्रन्थ सद्योज्योति शिवाचार्य द्वारा रचित हैं। अघोरशिवाचार्य की वृत्ति के साथ भोगकारिका और भट्ट रामकण्ठ कृत वृत्ति के साथ मोक्षकारिका अष्टप्रकरण में प्रकाशित हो चुकी हैं।

भोजदेव

धाराधिप भोजदेव ऊपर चर्चित तत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ के रचयिता हैं। कुमारदेव की तात्पर्यप्रकाशिका और अघोर शिवाचार्य की वृत्ति के साथ यह ग्रन्थ भी अष्टप्रकरण में छप चुका है।

मतंगागम

मतंगपारमेश्वर के नाम से भट्ट रामकण्ठ की वृत्ति के साथ यह ग्रन्थ पाण्डिचेरी से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है।

मृगेन्द्रागम

यह आगम (विद्या एवं योगपाद) भट्ट नारायणकण्ठ की वृत्ति के साथ कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि में प्रकाशित हुआ था। इसका विद्यापाद नारायण कण्ठ की वृत्ति एवं अघोर शिवाचार्य की वृत्तिदीपिका के साथ देवकोट्टै स्थित शिवागम सिद्धान्त परिपालन संघ द्वारा सन् १९२८ में प्रकाशित कराया गया। इधर पाण्डिचेरी से नारायण कण्ठ की वृत्ति के साथ इसके क्रिया और चर्या पाद का भी प्रकाशन हुआ है। अघोर शिवाचार्य की वृत्तिदीपिका अभी सम्पूर्ण प्रकाशित नहीं हुई है।

मोहशूरोत्तर

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में अनेक स्थलों पर उद्धृत इस ग्रन्थ की गणना उपागमों में की जाती है। नेपाल राष्ट्रिय अभिलेखालय की सूची के द्वितीय भाग (पृ.५-६) में प्रतिष्ठातन्त्र शीर्षक से मोहचूडोत्तर (आग्नेयमहातन्त्रान्तर्गत) की मातृका का विवरण मिलता है। यहाँ रुद्रागमान्तर्गत अनल तन्त्र का ही इस नाम से उल्लेख हुआ लगता है।

रत्नत्रय

श्रीकण्ठसूरि प्रणीत यह ग्रन्थ अघोर शिवाचार्य कृत वृत्ति के साथ अष्टप्रकरण में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थकार श्रीकण्ठ का परिचय अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ.३) में देखा जा सकता है।

रामकण्ठ

भट्ट नारायण कण्ठ के पुत्र भट्ट रामकण्ठ का और उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों का परिचय श्री एन. आर. भट्ट ने उनके द्वारा सम्पादित मतङ्गपारमेश्वर के विद्यापाद के उपोद्घात (पृ.४०-४१) में दिया है। लुप्ता. उपो., आगममीमांसा एवं तन्त्रयात्रा में हमने रामकण्ठ नाम के चार आचार्यों का और उनके ग्रन्थों का परिचय दिया है। १८ पद्धतिकारों में रामकण्ठ प्रथम का उल्लेख है।

वरुणपद्धति

वरुणशिव द्वारा रचित इस पद्धति की चार मातृकाएँ हमने उदयपुर, राजस्थान के साहित्य संस्थान के ग्रन्थालय में देखी थीं। इनका परिचय "आगम और तन्त्रशास्त्र" शीर्षक हमारे ग्रन्थ (पृ.३९) से मिल सकता है। तान्त्रिक साहित्य (पृ.५८२) में भी इसकी मातृकाएँ विवृत हैं। यहाँ दी गई पृष्ठसंख्या को देखने से प्रतीत होता है कि उदयपुर की मातृकाएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं। १८ पद्धतिकारों में इनका भी नाम है।

वाग्भट

छठी-सातवीं शताब्दी के इस महान् आचार्य द्वारा विरचित वाग्भटसंहिता नाम का ग्रन्थ चरक और सुश्रुत संहिता के बाद आयुर्वेद का महनीय ग्रन्थ माना जाता है। चिकित्साशास्त्र में इन ग्रन्थों की बृहत्त्रयी के रूप में प्रसिद्धि है।

वातुलशुद्धाख्य तन्त्र

इस ग्रन्थ के दक्षिण भारत से एकाधिक संस्करण हो चुके हैं। इधर वाराणसी के सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतन्त्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित तन्त्रसंग्रह के द्वितीय भाग में इसका प्रकाशन हुआ है।

वातुलसूत्र, वातुलागम

एक ही ग्रन्थ के ये दोनों नाम हो सकते हैं। इसका २८ शैवागमों में अन्तिम स्थान है। यह भी हो सकता है कि रौरवसूत्र, स्वायम्भुवसूत्र की पद्धति से वातुलसूत्र भी वातुलागम का संक्षिप्त संस्करण हो। स्वायम्भुवागम विद्यापाद का चार पटल वाला और दस पटल वाला स्वरूप भी उपलब्ध होता है।

वायुपुराण

वायुपुराण के नाम से यहाँ उद्धृत वचन वायुपुराण में उपलब्ध न होकर शिवपुराण की वायवीय संहिता में मिलता है। इसके एकाधिक संस्करण हो चुके हैं। १०वीं-११वीं शताब्दी के अनेक ग्रन्थकारों ने इस संहिता को उद्धृत किया है।

विष्णुरहस्य

इसकी मातृका का परिचय तान्त्रिक साहित्य (पृ.६००-६०१) से मिलता है। पांचरात्र संहिताओं की नामावली में भी यह नाम उपलब्ध है।

वैखानससंहिता (अत्रि-प्रोक्त)

वैखानस आगम की अनेक संहिताएँ मुद्रित रूप में भी उपलब्ध हैं। इनका परिचय उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ की "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" योजना के तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट डॉ. राघवप्रसाद चौधरी के निबन्ध (पृ. २६-३९) में दिया गया है।

श्रौतस्मृति, स्मृतिशास्त्र

इन नामों से किस स्मृति का वचन उद्धृत हुआ है, इसकी खोज होनी चाहिये। आगम-वचन से भिन्नता दिखाने के लिये यहाँ स्मृति के साथ श्रौत विशेषण दिया गया है।

सर्वज्ञानोत्तर

लुप्ता. उपो. में दो स्थलों (पृ.३५,७४) पर इस ग्रन्थ का और इसकी वृत्ति का परिचय दिया गया है। मूल ग्रन्थ देवकोट्टै से सन् १९२३ में प्रकाशित हो चुका है।

सद्योज्योति शिवाचार्य

अष्टप्रकरण में संगृहीत पाँच ग्रन्थों के तथा अन्य अनेक टीका-ग्रन्थों के ये रचयिता हैं। द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन के महान् आचार्यों में इनका प्रथम स्थान है। इनके देश, काल, कृति आदि के विषय में डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय के 'अभिनव गुप्त.' नामक ग्रन्थ (पृ.१७०) एवं शैवदर्शनबिन्दु (पृ.८) में, श्री एन. आर. भट्ट के मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के उपोद्घात (पृ.४२-४३) में तथा लुप्ता. उपो. (पृ. ३२, ६४, ७३) में विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इनके गुरु उग्रज्योति का तथा स्वयं इनका १८ पद्धतिकारों में प्रथम एवं द्वितीय स्थान है। उग्रज्योति का कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

सिद्धान्तदीपिका

सर्वात्मशम्भु कृत सिद्धान्तदीपिका अब सिद्धान्तप्रकाशिका के नाम से जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। इससे पहले श्री आर. दामोदरन् द्वारा सम्पादित होकर यह ग्रन्थ तंजोर की महाराज सरफोजी सरस्वती महल लाइब्रेरी की शोधपत्रिका के ३३ वें भाग में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ का प्राचीन तमिल अनुवाद भी मद्रास और श्रीलंका से प्रकाशित हुआ है। तान्त्रिक साहित्य (पृ.७००) में इसको शाक्त ग्रन्थ बताया गया है। उमापति शिवाचार्य के शतरत्नसंग्रह (पृ.४९) में सिद्धान्तदीपिका के दो श्लोक उद्धृत हैं। वे इन दोनों संस्करणों में उपलब्ध नहीं होते। कारण अन्वेषणीय है।

सिद्धान्तरहस्य

तान्त्रिक साहित्य (पृ.७००) पर उल्लिखित है कि सिद्धान्तरहस्यसार नामक ग्रन्थ शतरत्नसंग्रह में उद्धृत है। इस ग्रन्थ के साढे चार श्लोक वहाँ (पृ.५३) उपलब्ध होते हैं। उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि ये दोनों नाम एक ही ग्रन्थ के हो सकते हैं।

सिद्धान्तशेखर

बंगलोर की मनोमणि ग्रन्थमाला में अन्य ग्रन्थों के साथ विश्वनाथ कृत सिद्धान्तशेखर का भी प्रकाशन हुआ है। इसमें यहाँ उद्धृत वचनों की उपलब्धि के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है।

सूतसंहिता

स्कन्दपुराण के सात खण्ड और सात संहिता वाले दो संस्करण उत्तर और दक्षिण भारत में मिलते हैं। आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना से सन् १९२४-२५ में तीन जिल्दों में सटीक सूतसंहिता का संस्करण हुआ है।

सोमशम्भुपद्धति

सोमशम्भु की इस पद्धति के कर्मकाण्डक्रमावलि के नाम से हुए तीन संस्करणों की सूचना लुप्ता. उपो. (पृ.२४-२५) में दी गई है। इसके समय आदि के संबन्ध में वहीं (पृ.२१) ईशानशिव के विवरण में देखिये।

स्वच्छन्दतन्त्र, स्वतन्त्रतन्त्र

स्वच्छन्दतन्त्र और स्वतन्त्रतन्त्र का परिचय लुप्ता. उपो. (पृ.८२-८३) में विविध स्रोतों के आधार पर दिया गया है। क्षेमराज की टीका के साथ मुद्रित स्वच्छन्दतन्त्र में यहाँ उद्धृत वचनों की खोज होनी चाहिये।

स्वायम्भुवागम

इसका भी परिचय लुप्ता. उपो. (पृ.८३-८४) पर देखिये। वहीं (पृ.७९) सूक्ष्म स्वायम्भुव का भी परिचय दिया गया है। यह स्वायम्भुवसूत्र से अभिन्न हो सकता है। अभी हाल में इन्दिरा गांधी कला केन्द्र, दिल्ली से स्वायम्भुवसूत्रसंग्रह के नाम से इसके चार पटल वाले संस्करण का विद्यापाद प्रकाशित हुआ है। असावधानी के कारण यहाँ चतुर्थ पटल को पूरा नहीं छापा गया।

शैवसिद्धान्त शास्त्र के मुद्रित, अमुद्रित ग्रन्थों का परिचय आगममीमांसा (पृ.३४-३५) में तथा उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ की "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" योजना के तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय के "द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागम" शीर्षक निबन्ध (पृ. १५१-१५४) में दिया गया है। हालैण्ड के डॉ. जे. गोण्डा के ग्रन्थ "मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर" (पृ.१५३-१७९) में यह कार्य अधिक सुव्यवस्थित रूप में किया गया है। इन सबके आधार पर शैवागम के प्रकाशित साहित्य का सर्वांगपूर्ण परिचय आना चाहिये।

प्रधानतः शैवागम के यहाँ उद्धृत इन ग्रन्थों के परिचय के बाद मूल एवं टीका-ग्रन्थ के चारों पादों में प्रतिपादित प्रमुख विषयों पर हम क्रमशः प्रकाश डालना चाहते हैं। इनमें से सर्वप्रथम ज्ञानपाद में प्रतिपादित सिद्धान्तशैव दर्शन के प्रमुख विषयों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

ज्ञानपाद

यहाँ प्रथमतः पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थों का निरूपण किया गया है। तदुपरान्त छत्तीस तत्त्वों का शुद्ध एवं अशुद्ध विभाग के अन्तर्गत संक्षेप में और उसके बाद शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध विभाग के अन्तर्गत विस्तार से निरूपण हुआ है। इन सभी विषयों की विस्तार से चर्चा हमने लुप्तागमसंग्रह के दोनों भागों में संगृहीत वचनों के, विशेष कर उमापति शिवाचार्य के ग्रन्थ शतरत्नसंग्रह के आधार पर, लुप्ता. उपो. के उत्तरार्ध (पृ.११२-२०२) में की है। अष्टप्रकरण के उपोद्घात में भी "सिद्धान्तशैवीयं दर्शनम्" (पृ.१७-४३) शीर्षक से इन विषयों की चर्चा हो चुकी है। सर्वात्मशंभु कृत सिद्धान्तप्रकाशिका की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से भाषानुवाद के साथ सन् १९९६ ई. में हो चुका है। इसकी प्रस्तावना भी हिन्दी में ही लिखी गई है। ऊपर के दोनों ग्रन्थों के उपोद्घात संस्कृत भाषा में लिखे गये थे। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ पाठकों

के लिये यह प्रस्तावना उपयोगी हो सकती है, क्योंकि प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों की रचना का मूलस्रोत प्राय: एक सा है। इन ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद जो कुछ हमें नई जानकारियाँ मिलीं, उनकी पृष्ठभूमि में हम प्रस्तुत दोनों ग्रन्थों की सामग्री की तुलनात्मक समीक्षा करना चाहते हैं। सिद्धान्तसारावलि के क्रम से ही यहाँ इन विषयों का निरूपण किया जा रहा है।

निष्कल प्रासाद मन्त्र

सर्वप्रथम ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से निष्कल मूल मन्त्र (प्रासाद मन्त्र) के उच्चारण के क्रम से परशिव के नमन के रूप में मंगलश्लोक की रचना की है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार अनन्तशंभु ने जगन्निर्माण में परशिव (पति) की निमित्तकारणता, स्थावर-जंगमात्मक जगत्, शुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्व एवं भुवन, शिवतत्त्व और बिन्दु तत्त्व, शुद्ध एवं अशुद्ध सृष्टि में क्रमश: बिन्दु (महामाया) और माया की उपादानकारणता, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नामक त्रिविध जीव (पशु), आणव, मायीय तथा कार्म नामक त्रिविध मल (पाश), मन्त्र और मन्त्रेश्वर, मल-माया-कर्म-बिन्दु-रोधशक्ति नामक पंचविध पाश, शक्तिपात एवं मुक्तावस्था, प्रासाद मन्त्र का पंचविध उच्चारण, षड्विध कारणेश्वरों के त्याग की द्विविध पद्धति और प्रासाद मन्त्र के अभ्यास से निष्कल शिव का साक्षात्कार जैसे ज्ञानपाद के प्राय: सभी विषयों की संक्षेप में चर्चा कर दी है।

ऊपर जिन ग्रन्थों की चर्चा हुई है, उनमें से किसी में भी प्रासाद मन्त्र के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। विज्ञानभैरव की टीका (पृ.४३) में अवश्य हूँ की शैव प्रणव के रूप में चर्चा मिलती है। वीरशैव ग्रन्थों में भी प्रासाद मन्त्र चर्चित है। यहाँ विभिन्न स्थलों पर इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। क्रियापाद के ६-१२ श्लोकों (पृ. ८९-११०) में बताया गया है कि इस मन्त्र का भगवान् शिव ने स्कन्दगुरु[१] को सर्वप्रथम उपदेश किया था। प्रासाद मन्त्र की निरुक्ति[२] उसका अर्थ,

---

[१] "सदाशिवमनन्तं च श्रीकण्ठं पुनरम्बिकाम्। गुहं विष्णुं च धातारं सदा सप्तगुरून् स्मरेत्।।" यहाँ (पृ.९०) उद्धृत इस वचन में सात गुरुओं में गुह (स्कन्द) का भी नाम है।

[२] पृ.९० पर उद्धृत वचन में प्रासाद पद की निरुक्ति दी गई है।

पाँच-छः-आठ-नौ-दस-बारह-सोलह और बीस कलाओं[1] वाले अष्टविध प्रासाद मन्त्रों में से नवकल[2], द्वादशकल और षोडशकल प्रासाद मन्त्रों का उद्धार-क्रम, प्रासाद मन्त्र में स्थित कलाओं की मात्रासंख्या, इनमें छः प्रकार के शून्यों की स्थिति, द्वादशकल प्रासाद मन्त्र का प्रस्तार-क्रम और ध्यान-क्रम, इसकी कलाओं की स्थान-विशेषों में स्थिति, षडध्व में उनकी व्याप्ति, उनमें कारणेश्वरों की स्थिति, ध्यान की सुविधा के लिये कलाओं का वर्ण, इस मन्त्र के जप से शुद्ध भुवनों के भोगों एवं शिवस्वरूप की प्राप्ति जैसे विविध विषय वर्णित हैं। अन्त में यहाँ (पृ.१०१-१०२) बताया गया है कि पंचब्रह्म, षडंग एवं षडक्षर आदि सभी मन्त्रों की उत्पत्ति प्रासाद मन्त्र की कलाओं से ही होती है। ग्रन्थकार ने चर्यापाद के ९-१४ श्लोकों (पृ.३०६-३१२) में बताया है कि अविच्छिन्न सम्प्रदाय वाले यदि विच्छिन्न सम्प्रदाय वालों के यहाँ भोजन करते हैं, तो वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। इस दोष के परिहार के लिये अष्टविध प्रासाद मन्त्र के न्यास का विधान निश्वासागम के प्रमाण से बताया गया है। देशिकों के लिये पापिष्ठ व्यक्तियों के द्रव्य का परिग्रह करने से प्रसक्त दोष के परिहार के लिये भी इनका न्यास किया जाता है। अष्टविध प्रासाद मन्त्रों के नाम भी यहाँ दिये गये हैं।

टीकाकार ने भी इन विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहाँ (पृ.५) प्रासाद मन्त्र के [3]ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से पंचविध उच्चारण की तथा हृदय आदि विभिन्न स्थानों में कारणेश्वरों के त्याग की प्रक्रिया बताई गई है। पृ.९ पर शुद्ध, मूल, तत्त्व, आद्य और आत्मा नामक पाँच प्रासाद मन्त्रों को तत्त्वब्रह्म बताया गया है। आगे (पृ.८०) वे कहते हैं कि प्रथम श्लोक की व्याख्या में बताई गई पद्धति से हृदय आदि स्थानों में ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का त्याग करने के उपरान्त मूलाधार से उत्थित नादस्वरूप मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग करे।

---

[1] आगमशास्त्र में मन्त्र का प्रत्येक वर्ण कला कहलाता है (पृ.८९) और कला शब्द का अर्थ अंश है (पृ.९१-९२)।

[2] इन तीनों प्रकार के प्रासाद मन्त्रों का उद्धार-क्रम आगे (पृ.८९-९५) बताया गया है। प्रस्तुत स्थल पर नवकल प्रासाद मन्त्र की चर्चा है। बारह कलाओं का विवरण पृ.१३५ पर भी देखा जा सकता है। अन्य तन्त्रों में इसी को मान्यता मिली है।

[3] नेत्रतन्त्र (६. ३-५) में प्रणव की पंचविध उच्चारण की प्रक्रिया का उल्लेख कर पूरे पटल में इसका विवरण दिया गया है। इस पटल का नाम ही वहाँ पंचप्रणवाधिकार दिया है।

त्रिशतिकालोत्तर के प्रमाण से इसकी विधि भी यहाँ (पृ.८०-८१) वर्णित है। इसकी तुलना भगवद्गीता के "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" (८.१३) इत्यादि वचन से की जा सकती है।

क्रियापाद में प्रासाद मन्त्र के प्रकरण में टीकाकार ने हकार के पर्यायों की चर्चा कर बारह और सोलह कलाओं का स्वरूप बताया है और प्रश्न उठाया है कि चार मात्राओं (औ और ऊ) का उच्चारण कैसे एक साथ किया जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान भी वहीं दिया गया है (पृ.९४)। नादात्मक हंस मन्त्र में स्थित षड्विध [1]शून्यों की स्थिति को भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। कलाओं के आकार का निरूपण करते हुए उन्होंने अष्टविध[2] प्रासाद मन्त्र के जप से अष्टविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति जैसे विषयों को सप्रमाण प्रस्तुत कर, प्रासाद मन्त्र की प्रयोगविधि को दिखा कर, प्रणव पद के पर्यायों को एवं षडक्षर मन्त्र के स्वरूप को उजागर कर मन्त्रों की जपविधि, कारणेश्वरों के त्याग की पद्धति, मन्त्र पद की व्युत्पत्ति, पाँच [3]अंग वाले प्रासाद मन्त्र और निष्कल प्रासाद मन्त्र का स्वरूप भी सप्रमाण प्रदर्शित है। अन्त में यहाँ बताया गया है कि प्रासाद मन्त्र का जप करने से सभी मन्त्रों का जप पूरा हो जाता है।

चर्यापाद (पृ.३०६-३१२) में भी टीकाकार ने भोजन करने की पूरी विधि को स्पष्ट करते हुए अष्टविध प्रासाद मन्त्र के न्यास की द्विविध प्रक्रिया का निरूपण कर इस न्यास की श्रेष्ठता को सप्रमाण स्थापित किया है।

हमें स्मरण रखना है कि द्वादश कला वाले प्रासाद मन्त्र के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह सब योगिनीहृदय और उसकी टीका में तथा स्वच्छन्दतन्त्र में भी उपलब्ध है। स्वच्छन्दतन्त्र के इसी प्रकरण में षड्विध शून्य, जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाएँ एवं विषुवसप्तक का भी निरूपण मिलता है, जब कि योगिनीहृदय में इन सब विषयों का वर्णन जप-प्रकरण में हुआ है। सिद्धान्तसारावलि और उसकी

---

[1] षड्विध शून्यों की चर्चा स्वच्छन्दतन्त्र (४.२८८-२९६) एवं योगिनीहृदय (३.१७४-१७६) में भी मिलती है।

[2] आठ के स्थान पर यहाँ (पृ.१०२) सप्तविध मन्त्र ही निर्दिष्ट हैं।

[3] पाँच अंग वाले प्रासाद मन्त्र में नेत्र मन्त्र का समावेश नहीं माना जाता। बौद्ध तन्त्रों में भी यह पाँच अंग वाला पक्ष चर्चित है। इसका कारण पृ.११० पर प्रदर्शित है।

टीका में केवल षड्विध शून्यों की चर्चा है। विषुवसप्तक की चर्चा यहाँ पूर्णाहुति के प्रसंग (पृ.२४४-२४७) में और पाँच अवस्थाओं का निरूपण योगपाद के अन्त (पृ.२७१-२७४) में है। पाँच अवस्थाओं का विवरण इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है, जबकि आन्तर अवस्थाओं का विवरण योगिनीहृदय से बहुत कुछ मेल खाता है। द्वादश कलाओं के आकार का सचित्र विवरण हमें वरिवस्यारहस्य के अड्यार संस्करण के अन्त में मिलता है। वरिवस्यारहस्य में भी इन सब विषयों की चर्चा मिलती है, किन्तु वहाँ योगिनीहृदय की प्रक्रिया का ही पूरी तरह से अनुसरण किया गया है।

षोडशकल प्रासाद मन्त्र की चार अतिरिक्त कलाओं के नाम व्योमरूपा, अनन्ता, अनाथा और अनाश्रिता हैं (पृ.९२-९४ एवं २९८)। द्वादश कलाओं के प्रसंग में प्रायः सर्वत्र समना का उच्चारण काल [१]मात्रा का २५६ वाँ भाग माना गया है। यहाँ (पृ.९६ एवं १०४) भी इसी को मान्यता दी गई है। उन्मना को कालातीत माना जाता है, किन्तु भास्करराय ने वरिवस्यारहस्य (पृ.१३-१४) में एक अन्य मत का भी उल्लेख किया है। तदनुसार उन्मना का उच्चारण-काल मात्रा का ५१२ वाँ भाग माना गया है। श्रद्धेय कविराज जी भी अपने "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" नामक ग्रन्थ में 'नादतत्त्व' शीर्षक के अन्तर्गत (पृ.३०८) इस मत की चर्चा करते हैं।

शैव और शाक्त तन्त्रों में जगत् को षडध्वात्मक माना गया है। प्रथमतः सशक्तिक भगवान् शब्द और अर्थ के रूप में परिणत होते हैं। इनमें से शब्द से वर्ण, पद और मन्त्र की तथा अर्थ से कला, तत्त्व और भुवन की सृष्टि होती है। इस षडध्वात्मक जगत् में मन्त्र के एकादश भेद बताये गये हैं। ये हैं—पंचब्रह्म एवं षडंग। सिद्धान्तप्रकाशिका (पृ.१५) में मन्त्रों की संख्या बारह बताई गई है। वहाँ मूल मन्त्र के रूप में षडक्षर मन्त्र गृहीत है। वीरशैव मत में भी इसको सर्वोच्च स्थान दिया गया है। उसी पद्धति से यहाँ यह स्थान प्रासाद मन्त्र का है। त्रिविध (नवकल, द्वादशकल एवं षोडशकल) प्रासाद मन्त्र का परिचय ऊपर दिया गया है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि इस प्रासाद मन्त्र से ही पंचब्रह्म, षडंग, षडक्षर आदि सभी मन्त्रों की निष्पत्ति होती है।

मन्त्र पद की निरुक्ति यहाँ (पृ.१०७-१०८) भी वही दी गई है, जो कि आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में सर्वत्र मिलती है। तदनुसार शिव मनन करने वाले की रक्षा

---

१. यहाँ (पृ.९५) टीकाकार ने मकार की एक मात्रा बताई है। जब कि सर्वत्र व्यंजन की आधी ही मात्रा मानी जाती है।

करते हैं। षडंग मन्त्रों में से नेत्र मन्त्र को हटा देने पर इनकी संख्या पाँच रह जाती है। पृ. ११० में इस पर विचार किया गया है। कुण्डलिनी-स्वरूपा परा वाक् से ही मन्त्रों की उत्पत्ति होती है। इसीलिये इसे मन्त्रयोनि कहा जाता है। हंसगायत्री के नाम से प्रसिद्ध नादस्वरूप हंस मन्त्र का भी यहाँ (पृ.९६-९७,१२२-१२३,२६७) विशद परिचय दिया गया है। प्रसंगवश पाशुपतास्त्र, आत्ममन्त्र, मूलमन्त्र आदि की भी यहाँ चर्चा मिलती है। क्रियालोप, द्रव्यलोप आदि की तरह मन्त्रलोप के हो जाने पर, अर्थात् गुरु-प्रदत्त मन्त्र के प्रतिदिन जप करने में व्यवधान पड़ने पर अथवा मन्त्रोच्चारण के बिना ही अनुष्ठान करने पर प्रायश्चित्त (पवित्रारोपण आदि) करना पड़ता है।

नेत्रतन्त्र के अनेक अधिकारों में मन्त्रवाद की चर्चा मिलती है। साथ ही चेतावनी दी गई है कि जो व्यक्ति उत्तम सिद्धि या मोक्ष को चाहता है, उसे मन्त्रवाद का सहारा कभी नहीं लेना चाहिये। कुटुम्बी जनों और प्रजा के हित के लिये, उन पर अनुग्रह करने की दृष्टि से ही मन्त्रवाद का सहारा लेने का वहाँ स्पष्ट उल्लेख है। विशेष जिज्ञासुओं को हमारा नेत्रतन्त्र का उपोद्घात (पृ.२८-३३) देखना चाहिये। "नादो मन्त्र इति प्रोक्तः" (पृ.१०९) कामिकागम के इस वचन में मन्त्र को नादात्मक माना गया है। उस नाद की उत्पत्ति शिव से होती है। महार्थमंजरी की परिमल टीका (पृ.१२२) में मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि ।
संकल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः ।।

पदार्थत्रय (पति-पशु-पाश)

मंगलाचरण के बाद यहाँ क्रमशः पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थों का निरूपण किया गया है। इनमें से पहले का २-४ श्लोकों में, दूसरे का ५ वें श्लोक में और तीसरे का ६-८ श्लोकों में वर्णन किया गया है। टीकाकार ने अन्य स्थलों पर भी इनकी चर्चा की है। यहाँ क्रमशः उन्हीं का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है।

पति

पति पदार्थ का निरूपण करते हुए यहाँ बताया गया है कि परा शक्ति से अतिक्रान्त परशिव सृष्टि-स्थिति-संहार-निग्रह-अनुग्रह नामक पाँच कृत्यों का संचालन करने के लिये परा शक्ति से सम्पन्न हो सदाशिव आदि अलग-अलग नामों को धारण कर लेते हैं। तब शिव और शक्ति का धर्मधर्मिभाव संबन्ध बन जाता है। शिव और

शक्ति के स्वरूप को भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। हमने ऊपर बताया है कि ज्ञानपाद से संबद्ध सभी विषयों का टीकाकार ने अपनी प्रथम श्लोक की व्याख्या में उल्लेख कर दिया है। २-४ श्लोकों की व्याख्या में इन्होंने शिव की स्वयंप्रकाशता, बिन्दु की स्थिति, षड्विध ब्रह्म, सादाख्य तत्त्व (सदाशिव), शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध तत्त्वों का स्वरूप, अनाहत शिव का स्वरूप; तत्त्व, मूर्ति और भाव, अर्थात् शिव, सदाशिव और सादाख्य तत्त्व का स्वरूप, शक्ति के भेद, सविकल्पक ज्ञान एवं शिव की भोग एवं अधिकार अवस्था, निर्विकल्पक ज्ञान एवं शिव की लयावस्था, संकल्परूपा और करणरूपा द्विविध क्रियाशक्ति—इन सब विषयों का निरूपण कर विशद रूप से शक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस प्रसंग में वामा आदि नाना प्रकार की शक्तियों की, अष्टमूर्ति शिव की, पक्वमल और अपक्वमल विज्ञानाकलों की, शिव के तिरोधान एवं अनुग्रह व्यापार की, सकल जीव की सोलह कलाओं की, पुर्यष्टक देह (सूक्ष्म शरीर) की और प्रलयाकल जीव की चर्चा की गई है। यहाँ हम देखते हैं कि टीका में पति के अतिरिक्त पशु एवं पाश से संबद्ध विषयों का भी उल्लेख हुआ है। इस सामग्री का यथास्थान उपयोग किया जायगा। यहाँ केवल पति पदार्थ से संबद्ध विषयों की ही समीक्षा की जा रही है।

चराचरात्मक जगत् के निर्माण में परशिव की निमित्तकारणता, शुद्ध एवं अशुद्ध भुवन, शिव के द्वारा शुद्ध भुवनों का निर्माण करते समय बिन्दु की उपादानकारणता और अनन्त के द्वारा अशुद्ध भुवनों का निर्माण करते समय माया की उपादानकारणता को बताने के साथ यहाँ विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नामक जीवों पर परशिव का अनुग्रह (शक्तिपात) होने पर मलपाक के उपरान्त मन्त्र और मन्त्रेश्वर पद की प्राप्ति के साथ इनकी मुक्तावस्था, अर्थात् शिवसाम्य दशा भी अभिव्यक्त हो उठती है, इसका विशद विवरण यहाँ दिया गया है। इसके लिये शास्त्रों में "षट्त्यागात् सप्तमे लयः" (ने. त. २२.१९-२०) इस प्रकरण में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाहत शिव नामक छः कारणेश्वरों के प्रकाशक भगवान् शिव ही हैं, अतः साधक को इन कारणेश्वरों का त्याग कर परम ज्योतिः-स्वरूप परमशिव में अपने को विलीन कर लेना पड़ता है। अन्तःकरण की वृत्तियों से इनका साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु सद्योज्योति शिवाचार्य की मोक्षकारिका (श्लो. १११) में वर्णित पद्धति से साधक इस परमशिव का साक्षात्कार कर मुक्त हो जाता है। आगे (पृ.४६) अघोर शिवाचार्य को उद्धृत कर बताया गया है कि बुद्धि आन्तर आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकती, अतः उसके ग्रहण में समर्थ विद्यातत्त्व की सिद्धि शैवागमों में की गई है।

यह परमशिव स्वान्यप्रकाश है। टीकाकार ने इस पद की दो तरह की व्याख्या की है। इसी तरह से व्यापी पद का अर्थ बताते समय रत्नत्रय के प्रमाण से वे कहते हैं कि कलाध्वा बिन्दु से, बिन्दु शक्ति से और शक्ति शिव से व्याप्त है। यह शिव अन्य किसी से व्याप्त नहीं है। रत्नत्रय के इस वचन को यहाँ एकाधिक स्थल पर उद्धृत किया गया है। इसी तरह से ब्रह्म पद से षड्विध ब्रह्म परिगृहीत है। वातुलशुद्धाख्य तन्त्र के उद्धृत वचन से यह विपरीत पड़ता है, इसकी सूचना हम वहीं (पृ.९) दे चुके हैं। इसी तरह से सादाख्य पद से सदाशिव गृहीत है। टीकाकार ने एक विशेष बात यहाँ कही है, जो कि अन्यत्र नहीं मिलती। तदनुसार शुद्धाशुद्ध सृष्टि के कर्ता अनन्त और अशुद्ध सृष्टि के श्रीकण्ठ[१] हैं। वे ज्ञानशिव को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि परशिव से सदाशिव, सदाशिव से अनन्तेश और अनन्त से श्रीकण्ठ की सृष्टि होती है। इसी विषय की चर्चा करते हुए टीकाकार आगे (पृ.४४) अनन्तेश के अतिरिक्त श्रीकण्ठ की कोई चर्चा नहीं करते। ज्ञानशिव के वचन में भी श्रीकण्ठ की चर्चा तो है, किन्तु वहाँ उनको अशुद्ध सृष्टि का कर्ता नहीं बताया गया है।

आगे (पृ.१०) टीकाकार लिखते हैं कि परशिव से अनाहत शिव और अनाहत शिव से सदाशिव की उत्पत्ति मानी जाती है।...... इस सदाशिव को आगमशास्त्र के विद्वान् परा शक्ति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। जो आचार्य पर शिव और परा शक्ति को समवाय संबन्ध से परस्पर संबद्ध मानते हैं, उनके मत के अनुसार यह शक्ति-तत्त्व है। वातुलशुद्धाख्य तन्त्र को उद्धृत करते हुए टीकाकार कहते हैं कि शिव **तत्त्व** स्वरूप, सदाशिव **मूर्ति** स्वरूप और सादाख्य तत्त्व **भाव** स्वरूप हैं। इस तरह से निष्कल परशिव भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिये सकल स्वरूप धारण कर लेता है। लय, भोग और अधिकार नामक अवस्थाओं के रूप में इन तत्त्वों की व्याख्या करते हुए पौष्करागम के प्रमाण से लयावस्था, बिन्दुतत्त्व एवं शिवतत्त्व को यहाँ अभिन्न माना है। इन त्रिविध अवस्थाओं का आगे (पृ. ३४-३५) अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। इस पूरे प्रकरण से स्पष्ट होता है कि जैसे अग्नि की एक ही शक्ति लोह, काष्ठ, लवण और ओदन आदि उपाधियों के भेद से द्राविका, दाहिका, स्फोटिका

---

[१] इस ग्रन्थ की संगति इस प्रकार बैठाई जा सकती है कि शिव महामाया की सहायता से शुद्ध सृष्टि का, माया की सहायता से अनन्त शुद्धाशुद्ध सृष्टि का और श्रीकण्ठ प्रकृति की सहायता से अशुद्ध सृष्टि का निर्माण करते हैं। तत्त्वों के शुद्धाशुद्ध विभाग को न मानने पर शुद्धेतर समग्र सृष्टि के कर्ता अनन्त माने जायेंगे। इस व्याख्या से ज्ञानशिव के वचन (पृ.९-१०) की भी संगति बैठ जायगी।

और पाचिका जैसे नाम धारण कर लेती है, वैसे ही शिव की एक ही शक्ति औपाधिक भेद से अनेक रूपों में भासित होने लगती है। भोजदेव कृत तत्त्वप्रकाश की वृत्ति में अघोरशिव—"एकैवानेकतां याति शिवशक्तिरुपाधितः" इस वचन को उद्धृत करते हैं, किन्तु वे ही आगे तत्त्वप्रकाश की—

पञ्चानामप्येषां नहि क्रमोऽस्तीह कालरहितत्वात् ।
व्यापारवशादेषां विहिता खलु कल्पना शास्त्रे ।।३२।।

इस आर्या को प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके इस मत की समालोचना हम अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ.२३, २५-२६,३२) में कर चुके हैं। अघोरशिव के मत से सभी छत्तीस तत्त्व अचेतन हैं। इस विषय पर आगे पुनः विचार किया जायगा। वस्तुतः देखा जाय तो तत्त्वप्रकाश की इसके आगे की—

तत्त्वं वस्तुत एकं शिवसंज्ञं चित्रशक्तिशतखचितम् ।
शक्तिव्यापृतिभेदात् तस्यैते कल्पिता भेदाः ।।३३।।

इस कारिका से भी पूर्व कारिका के अभिप्राय की ही पुष्टि होती है और इस कारिका को अनन्तशंभु ने भी इसी प्रकरण (पृ.३०) में उद्धृत किया है।

टीकाकार ने पृ. ३५ पर शिव शब्द से सृष्टि आदि पंचकृत्यों के कर्ता, ईशान आदि पंचब्रह्म मन्त्रों की अड़तीस कलाओं से सम्पन्न सदाशिव तत्त्व में स्थित सदाशिव भट्टारक का ग्रहण किया है। पृ.६२ पर बिन्दु का शक्ति में और शक्ति का शिव में समावेश बताया है और पृ.६५ पर कहा है कि शक्ति का शान्ति कला के ऊपर स्थित शान्त्यतीत कला स्वरूप शिवतंत्त्व में लय हो जाता है। यह शिव अपनी उपादान-स्वरूप महामाया में, बिन्दु में समाविष्ट हो जाता है। ये उक्तियाँ परस्पर विपरीत पड़ती हैं। इसका समाधान ऊपर बताई गई प्रक्रिया से ही संभव हो सकता है। बिन्दु को यह स्थान इसलिये दिया गया है कि निष्कल शिव संहार काल में निष्क्रिय रूप में बिन्दु में ही स्थित रहता है और सिसृक्षा होने पर वह सर्वप्रथम इस बिन्दु को ही क्षुब्ध करता है।

इस प्रकरण के अन्त में टीकाकार ने वामा आदि नौ शक्तियों के नाम देकर बताया है कि इनमें से आठ शक्तियाँ अष्टमूर्ति-स्वरूपिणी हैं और नवीं मनोन्मनी साक्षात् परा शक्ति ही है। आगे (पृ. ३७०) कामिकागम के प्रमाण से टीकाकार ने बताया है कि लिंग में मनोन्मनी नाम से स्थित यह मूर्ति नृत्त करते समय गौरी का रूप धारण कर लेती है। महिम्नस्तव के निम्न वचन में—

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सह महां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।।

अष्टमूर्तियों के नाम दिये गये हैं। यहाँ (पृ.३४९, ३५१, ३५६) भी ये नाम देखे जा सकते हैं। इस प्रकार ये सभी आकार और मूर्तियाँ पति पदार्थ के ही विभिन्न स्वरूप हैं। इस विषय पर आगे पाँच शुद्ध तत्त्वों के प्रकरण में पुनः विचार किया जायगा।

पृ. २४३ पर उद्धृत आगम-वचन में मण्डल, वह्नि, कुम्भ, शिष्य और गुरु नामक पाँच स्थानों में शिव के अर्चन का सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है। कुम्भ में शिवदेह की भावना का प्रकार क्रियापाद के ४५वें श्लोक में देखा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि ये सब शिव के ही विभिन्न स्वरूप हैं।

पशु

तीन श्लोकों (पृ.२-४) में पति पदार्थ का निरूपण करने के बाद पाँचवें श्लोक में पशु पदार्थ (आत्म तत्त्व) और उसके त्रिविध भेदों का परिचय दिया गया है। इस प्रसंग में टीकाकार ने पशु का सामान्य लक्षण, उसके त्रिविध भेद, मल शब्द के पर्याय, मलपाक, अधिकार पद एवं सायुज्य पद की प्राप्ति जैसे विषयों की चर्चा की है। पशु के सहजचित्, समल, पशु, सेश, अल्पवित् जैसे विशेषणों की संगति के लिये प्रस्तुत श्लोक की टीका (पृ.४९-५२) में अनन्तशंभु ने शास्त्रों के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। ये पशु विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से तीन प्रकार के हैं। इनमें से केवल आणव मल से युक्त जीव विज्ञानाकल, मल और कर्म से आवृत प्रलयाकल तथा मल-कर्म-माया नामक त्रिविध पाशों से आवृत जीव सकल कहलाते हैं। मल का विशिष्ट परिपाक हो जाने पर ये जीव अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों की, मन्त्रों और मन्त्रेश्वरों की पदवी को प्राप्त कर लेते हैं। अन्त में परशिव की कृपा होने पर ये मल, माया, कर्म, बिन्दु और रोधशक्ति नामक पाँचों पाशों से छूट कर मुक्ति पदवी में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। शिव की कृपा (शक्तिपात) के बिना ये जीव केवल ज्ञान की सहायता से कभी मुक्त नहीं हो सकते। इस मुक्तावस्था में भी शैवागमों के अनुसार जीव की स्थिति शिव (पति) से भिन्न ही रहती है।

आगे १५ वें श्लोक में पुरुष तत्त्व के रूप में जीवात्मा का स्वरूप बताया गया है। अनन्तेश्वर के व्यापार से क्षुब्ध माया से कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक पाँच तत्त्वों की सृष्टि होती है। पंचकंचुक के नाम से ये शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इस कंचुक से आवृत होकर यह आत्मा (पशु) विषयगत-भोग की सिद्धि के लिये

जब संकोच-लाभ करता है, तो उसे पुरुष कहते हैं। वहाँ (पृ.५०) उद्धृत किरणागम के वचन में इसे पशु कहा गया है। इस पुरुष तत्त्व के विषय में आगे (पृ.३५-३७) अलग से विचार किया जायगा। प्रस्तुत प्रकरण में जीवात्मा का सामान्य लक्षण बताने के बाद उसके प्रबोधाकल, प्रलयाकल और सकल नामक भेदों का भी स्वरूप बताया गया है। अब यहाँ उन्हीं की चर्चा की जा रही है।

१. विज्ञानाकल —

प्रबोधाकल शब्द विज्ञानाकल का ही पर्याय है। विज्ञान, योग, संन्यास आदि की सहायता से यह जब माया और कर्म नामक पाशों से मुक्त हो जाता है, तब सहज मलशक्ति से तिरोहित उसका शिवत्व शिव की कृपा (शक्तिपात) से अभिव्यक्त हो उठता है। माया और शुद्धविद्या के अन्तराल में विज्ञानाकल नाम के अनेक प्राणियों की स्थिति शास्त्रों में मानी गई है (पृ.१६)। पृ.३६ पर इसके लिये "मायोर्ध्वं शुद्धविद्याधो मलमात्रावृतोऽपरः" इस वचन को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है। साक्षात् परशिव के अनुग्रह के योग्य विज्ञानकेवल पक्वमल और अपक्वमल के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें पक्वमल अनन्त आदि आठ विद्येश्वर और अपक्वमल सात करोड़ महामन्त्र कहलाते हैं। परमेश्वर इन सबकी सृष्टि कर इनको शुद्धाध्वा में शुद्ध शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ शुद्ध भुवनों में प्रतिष्ठित कर शुद्ध भोग प्रदान कर उनकी रक्षा करते हैं। वही उनके भोगों का उपसंहार कर अपनी संहार-प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं। यहाँ तक भगवान् का तिरोधान व्यापार (कृत्य) चलता है। इसके आगे उन पर अनुग्रह करने के लिये परमशिव अपनी चिच्छक्ति का उनमें उन्मीलन कर देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विज्ञानाकलों में से कुछ को मल-परिपाक के क्रम से अधिकार पद की अथवा सायुज्य पद की भी प्राप्ति होती है। यहाँ (पृ.१७) उद्धृत वचन में **सायुज्य** का अर्थ शिव की समानता किया गया है। क्रम शब्द मल-परिपाक के तारतम्य को बताता है। जब मल का अत्यन्त परिपाक हो जाता है, तभी शिवपद की प्राप्ति होती है।

इन सबका पति-पदार्थ में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनके मल का परिपाक हो गया है। इन सबको साक्षात् परमेश्वर ही पहले अधिकार मल से बाँधकर अन्त में मोक्षपदवी प्रदान करते हैं। जिनका मल परिपक्व नहीं हुआ है, ऐसे अनन्त आदि विद्येश्वर (विज्ञानाकल) शुद्धविद्या और मायातत्त्व के अन्तर्वर्ती भुवनों में निवास करते हैं। परमेश्वर इनके मलपरिपाक के तारतम्य को देखकर तदनुसार मन्त्रों और मन्त्रेश्वरों का पद प्रदान कर अन्त में शिवपद को, अर्थात् मोक्षपदवी को देते हैं।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आगे (पृ.३६-३७) पुनः कहा गया है कि परमेश्वर इन विज्ञानाकलों में से मल-परिपाक के तारतम्य के अनुसार कुछ आत्माओं को अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों के रूप में ईश्वर तत्त्व के भुवनों का अधिपति बना देते हैं तथा अन्यों को सात करोड़ महामन्त्रों के रूप में वामा आदि शक्तियों से संयोजित कर इनमें अधिकार मल की उपस्थिति रहने पर शुद्धविद्या तत्त्व के भुवनों के अधिपति के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। प्रमाण-स्वरूप यहाँ (पृ.३६) मृगेन्द्रागम को उद्धृत किया गया है। तदनुसार इन्द्र आदि लोकपालों के रूप में स्थित राजाओं के राजा शतरुद्र हैं। मण्डली देवता इनके भी ईश्वर हैं और इनके भी ईश्वर अनन्त आदि आठ विद्येश्वर हैं। यहाँ अधःस्थित देवताओं की अपेक्षा ऊर्ध्वस्थित देवताओं का वैशिष्ट्य स्पष्ट किया गया है। मन्त्रों की संख्या सात करोड़ मानी गई है। इनमें से साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों को शुद्धाध्वा में प्रतिष्ठित कर स्वयं भगवान् शिव ही बिना गुरु की सहायता के उन पर अनुग्रह करते हैं। बचे साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों को मायीय अशुद्धाध्वा में अधिकार-सम्पन्न कर देते हैं और संहार काल में गुरु का स्वरूप धारण कर इन पर भी अनुग्रह करते हैं।

आगे (पृ.८३-८४) विज्ञानाकाल पशु से संबद्ध एक प्रश्न[१] उठाया गया है। कर्मसाम्य को शक्तिपात में कारण माना गया है। सकल और प्रलयाकल में कर्म की स्थिति रहने से वहाँ तो यह संभव है। विज्ञानाकल में तो कर्म की स्थिति है ही नहीं, तो फिर वहाँ कर्मसाम्य के अभाव में शक्तिपात कैसे संभव होगा? इसका समाधान यह है कि माया के कारक कर्म का ही वहाँ अभाव माना जाता है, पूरी तरह से कर्म का क्षय वहाँ नहीं होता। विज्ञानाकल अवस्था की प्राप्ति किसी कर्म के फल के रूप में ही उसे होती है और वह कर्म उसने सकलावस्था में ही उपार्जित किया। विज्ञानाकल के सूक्ष्म शरीर में दुर्लक्ष्य रूप में इसकी स्थिति माननी पड़ेगी। इस प्रकार विज्ञानाकल में शक्तिपात के कारक कर्मसाम्य की स्थिति बन सकेगी। अन्यथा विज्ञानाकल जीव में शक्तिपात के अभाव में उसकी दीक्षा ही असंभव हो जायगी और उसके अभाव में वह मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा, क्योंकि शैवशास्त्र में दीक्षा को ही मुक्ति का प्रमुख कारण माना गया है, इस दीक्षा के लिये शक्तिपात को कारण माना गया है और यह शक्तिपात कर्मसाम्य दशा में ही संभव है।

---

[१] विज्ञानाकल संबन्धी यह प्रश्न और उसका समाधान उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दीक्षा संस्कार तो सकल जीव का ही होता है। उसी के बाद उसे प्रलयाकल और विज्ञानाकल की स्थिति प्राप्त होती है।

२. प्रलयाकल —

जैसा कि बताया गया है प्रलयाकल कर्म और मल नामक पाशों से बद्ध माना गया है। इसकी स्थिति माया में मानी गई है (पृ.१७)। यह केवल सूक्ष्म शरीर से संबद्ध रहता है, जब कि सकल जीव स्थूल शरीर को भी धारण करता है। सूक्ष्म शरीर को ही यहाँ पुर्यष्टक देह कहा गया है। इस [1]पुर्यष्टक में पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन-बुद्धि-अहंकार, गुणत्रय, प्रकृति और कलापंचक नामक आठ समूहों की गणना की जाती है। विज्ञानाकल के समान प्रलयाकल प्राणियों की संख्या भी असंख्य है। विज्ञानाकल के समान ही प्रलयाकल को भी मल-परिपाक के क्रम से अधिकार पद की अथवा सायुज्य (शिवपद) की प्राप्ति होती है। प्रलयाकल भी पक्वमलकर्म और अपक्वमलकर्म के भेद से दो प्रकार के हैं। जिनके मल और कर्म पूरी तरह से परिपक्व हो गये हैं, ऐसे प्रलयाकल माया के गर्भ में निवास करने वाले गहनेश आदि के पद को प्राप्त करते हैं। इनकी अपेक्षा जिनके मल और कर्म का परिपाक कम हुआ है, वे एक सौ अठारह रुद्र इस पूरे ब्रह्माण्ड के अधिपतियों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इन्हीं में कालाग्निरुद्र आदि शतरुद्रों की स्थिति मानी गई है। कला आदि से इनका संबन्ध नहीं रहता, अत: मल के परिपाक के तारतम्य से विद्येश्वर आदि पदवी को देकर तदनन्तर परमेश्वर इनको भी मोक्ष पदवी में प्रतिष्ठित करते हैं। इनसे भिन्न, जिनके मल का परिपाक नहीं हुआ है, उन असंख्य मिश्राध्वा के निवासी प्रलयाकलों को भी परमेश्वर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रेसर करते हैं। गहनेश, मण्डली, अष्टादशोत्तर शतरुद्र आदि का परिचय यहाँ टिप्पणियों में देखा जा सकता हैं (पृ.१८)।

अशुद्ध अध्वा के स्वामी अनन्तेश्वर कला आदि तीस तत्त्वों से बने सूक्ष्म पुर्यष्टक देह से सम्पन्न प्रलयाकलों के बीच में से एक सौ अठारह रुद्रों की सृष्टि कर इनको ब्रह्माण्ड की रक्षा का अधिकार देकर मन्त्रेश्वर पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इसी तरह से सूक्ष्म पुर्यष्टक देह सम्पन्न ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं को भी भगवान् शिव इस संसार में विभिन्न भुवनों के अधिपति बना देते हैं। इस प्रसंग में उद्धृत मृगेन्द्रागम के वचन की व्याख्या करते हुए अघोर शिवाचार्य ने भी मण्डली आदि और ब्रह्मा आदि देवताओं की चर्चा की है।

---

[1] सांख्य मत के सूक्ष्मशरीर का वर्णन निम्न कारिका में द्रष्टव्य है—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपयोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।।४०।।

चतुर्विध वाणी का परिचय देते समय टीकाकार का कहना है कि सूक्ष्म वाणी प्रलयाकलों के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो पुरुष की सोलह कलाओं में परिगणित हो जाती है और उस शरीर को तव तक नहीं छोड़ती, जब तक कि जीव आवागमन के चक्कर से मुक्त नहीं हो जाता। इन कलाओं का परिचय आगे सकल जीव के प्रकरण में दिया जायगा। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है कि जब आत्मा कला आदि पाँच कंचुकों से संयुक्त होता है, तभी उसकी गणना पुरुष तत्त्व में होती है। इससे पहले पुंस्तत्त्व की कोई स्थिति नहीं मानी जाती। इसीलिये सकल आत्मा की ही गणना पचीसवें तत्त्व में होती है, प्रलयाकल और विज्ञानाकल की नहीं (पृ.४९)।

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि कला आदि के बन्धनों से रहित विज्ञानाकल कर्मपाश से मुक्त प्रलयाकल एवं मल-परिपाक से सम्पन्न मन्त्र-मन्त्रेश्वर-अनन्त आदि भी अधिकार मल की उपस्थिति रहने पर शिवधाम को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। [१]अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख और आत्माभिमान की उत्पत्ति मोह के कारण होती है।

३. सकल —

जैसा कि बताया गया है, मल-कर्म-माया नामक त्रिविध पाश से आवृत जीव सकल कहलाते हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल, दोनों तरह के शरीर को धारण करते हैं। सकल शब्द का अर्थ है, कलाओं से सम्पन्न। इनकी संख्या सोलह मानी गई है। कर्म, बुद्धि, मन, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, विद्या और वाक्—ये ही सोलह कलाएँ मानी गई हैं। इनमें से पुण्य और अपुण्य के भेद से कर्म दो प्रकार के हैं। सात्त्विक, राजस और तामस के भेद से बुद्धि तीन प्रकार की है। इसी तरह से मन और अहंकार के भी तीन-तीन भेद हैं। ज्ञान और कर्म के भेद से इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। मिलकर इनकी संख्या दस होती है। विद्या और वाक्शक्ति के साथ कलाओं की सोलह संख्या पूरी होती है। अर्थात् इन सोलह कलाओं में कर्म, बुद्धि, मन और अहंकार, इन चार के साथ दस इन्द्रियों को एवं विद्या और वाक्शक्ति को मिला कर यह संख्या सोलह होती है।

इसी को शैवशास्त्रों में पुर्यष्टक देह कहा गया है। इसी के माध्यम से शिव मिश्राध्वा के जीवों के लिये पंचकृत्य का सम्पादन करता है। प्रत्येक पुरुष (आत्मा)

---

[१] "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (२.५) इस पातंजल योगसूत्र में वर्णित अविद्या को ही यहाँ मोह कहा गया है। न्यायसूत्र (४.१.६) में मोह को पापीयान् बताया गया है।

के लिये नियमित रूप से सृष्टि के प्रारंभ से महाप्रलय पर्यन्त अथवा मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त जो सूक्ष्म शरीर निर्धारित रहता है, उसी को पुर्यष्टक नाम दिया गया है। अभी ऊपर इसकी चर्चा आ चुकी है। तदनुसार पृथिवी से लेकर कला तत्त्व पर्यन्त तीस तत्त्वों के समाहार को सूक्ष्म शरीर अथवा पुर्यष्टक कहा जाता है। कालोत्तर के वचन के प्रमाण से व्याख्यात इन षोडश कलाओं का विवरण आगे (पृ.४१-४२) भी दिया गया है। अन्त में वहाँ बताया गया है कि इन सोलह कलाओं में शक्ति नाम की षोडशी सूक्ष्मा कला बन्ध और मोक्ष की भी जननी है। इसीलिये इसको [1]अमृतकला कहा जाता है। "पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृताह्वयाम्" (र. त्र. ७८)।

कालोत्तर में प्रदर्शित सोलह कलाओं से युक्त पुरुष पद से उसकी भोग-क्रिया के अन्तरंग साधन कला, काल, विद्या, नियति, राग और गुण तत्त्वों का भी ग्रहण किया जाता है। कर्म और बुद्धि शब्द से कर्मेन्द्रियों और बुद्धीन्द्रियों के अध्यवसाय से गृहीत होने वाले आकाश आदि पाँच महाभूतों और उनकी कारणभूत शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं का संग्रह किया जाता है। प्रलयाकल और सकल आत्माओं का यह स्वरूप तत्त्वप्रकाश (श्लो.११) में बताया गया है। यहाँ योनि शब्द से विभिन्न भुवनों का ग्रहण किया जाता है, मातृयोनि का नहीं।

यह बताया जा चुका है कि सकल जीव मल, कर्म और माया नामक तीनों पाशों से बद्ध रहता है। मल शब्द के आणव, पशुत्व, अज्ञान, आवृति, मूल, मृत्यु, रुक्, मूर्छा, अंजन, नीहार, अविद्या, पाप, क्षपा—ये सब पर्याय हैं। माया शब्द से कला से पृथ्वी पर्यन्त कार्यसमूह का ग्रहण किया जाता है। पाप-पुण्यात्मक कर्मों का विज्ञान, योग, संन्यास अथवा भोग के द्वारा क्षय हो जाने पर मलपाक के क्रम से सकल को प्रलयाकल पद की और प्रलयाकल को विज्ञानाकल पद की प्राप्ति होती हैं। इसके बाद [2]रुद्र पद, मन्त्र (विद्या) पद, मन्त्रेश्वर पद और शिवपद की भी प्राप्ति होती है।

विज्ञानाकल और प्रलयाकल के समान सकल जीव भी पक्वमल और अपक्वमल के भेद से दो प्रकार के हैं। मल, कर्म और माया नामक तीनों मल जिनके

---

१. रत्नत्रय (श्लो.७३-७८) के ये सभी श्लोक स्वल्प पाठभेद के साथ वाक्यपदींय ब्रह्मकाण्ड के १३४ वें श्लोक की स्वोपज्ञ वृत्ति में उपलब्ध हैं। इस वृत्ति में उद्धृत अनेक वचन महाभारत आश्वमेधिक पर्व में भी उपलब्ध होते हैं। स्पन्दप्रदीपिकाकार ने भी इनको उद्धृत किया है।

२. प्रत्यभिज्ञा दर्शन में वर्णित प्रमातृसप्तक से हम इनकी तुलना कर सकते हैं।

परिपक्व नहीं हुए हैं, ऐसे सकल जीव ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित भुवनों में निवास करते हैं। कर्मसाम्य और शक्तिपात के अनुसार इनके त्रिविध मल का जब परिपाक हो जाता है, तब संसार के प्रति द्वेष-बुद्धि, मुक्ति की प्राप्ति के लिये श्रद्धा, शिव के प्रति भक्ति, गुरु की सेवा करने की इच्छा जैसे गुण उनमें उत्पन्न होते हैं। इन चिह्नों के अभाव में समझ लेना चाहिये कि अभी उनके मल का परिपाक नहीं हुआ है। जिनके मल का परिपाक हो जाता है, उनको परमशिव क्रमशः मन्त्रेश्वर पर्यन्त पदवी प्रदान करते हैं तथा अन्त में मोक्ष-पद में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

इन त्रिविध पशुओं में प्रलयाकल और विज्ञानाकल सूक्ष्म शरीरधारी हैं और सकल आत्मा स्थूल शरीर भी धारण करते हैं। कालाग्निरुद्र आदि भुवनपति और इनके भुवनों में निवास करने वाले जीवों के लिये भोग आदि का निष्पादन उन-उन तत्त्वों की सहायता से स्वयं भगवान् शिव ही करते हैं। इनमें से सकल जीवों के स्थूल-सूक्ष्म और प्रलयाकलों के सूक्ष्म शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि को माया के गर्भ से और विज्ञानाकलों के शरीर आदि को महामाया के गर्भ से निकाल कर उनके लिये भोगों का सम्पादन करते हैं। उनकी सृष्टि के बाद वे उनके लिये रक्षण आदि कृत्यों का भी निष्पादन करते हैं। प्रस्तुत प्रकरण (श्लो. २२) में तनु-देव-भाव-भुवन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। **तनु** शब्द से उस-उस भुवन के योग्य शरीर का, **देव** शब्द से इन्द्रियों का, **भाव** शब्द से धर्म आदि आठ भावों का और **भुवन** शब्द से कालाग्नि आदि भुवनों का ग्रहण होता है। इनका निर्माण करना ही भगवान् का **सृष्टि** नामक व्यापार है। इसका विशेष विवरण पंचकृत्य प्रकरण में दिया जायगा।

पाश

इस तरह से पशु पदार्थ का स्वरूप बताने के बाद आगे के तीन (६-८) श्लोकों में मल, रोधशक्ति, कर्म, माया और बिन्दु (महामाया) नामक पाँच पाशों का निरूपण किया गया है। यहाँ इसी क्रम से इनका स्वरूप बताया जा रहा है।

१. मल —

मल शब्द के पर्यायों की सूचना ऊपर दी गई है। टीकाकार ने यहाँ (पृ. १९) मृगेन्द्रागम के विद्यापाद के (७.७) प्रमाण से पशु, नीहार, मृत्यु, मूर्छा, मल, अंजन, अविद्या, आवृति, रुक्, ग्लानि, पाप, मूल, क्षपा—इन सबको मल का पर्याय बताया है। इनमें नीहार शब्द भी आया है। आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, अतः मल की आत्मा के साथ उत्पत्ति का अभिप्राय यह समझना चाहिये कि यह आत्मा के साथ अनादि काल से संबद्ध है। यह मल वस्तु-स्वरूप है। आत्मा के साथ यह उसी तरह

से जुड़ा रहता है, जैसे कि चक्षु के साथ मोतियाबिन्द। आँख का डाक्टर जैसे आपरेशन कर उसको निकाल देता है, उसी तरह से गुरु दीक्षा-व्यापार की सहायता से इस मल को दूर करता है।

मल (अज्ञान) को यदि अभावात्मक माना जायगा, तो खरगोश के सीग की जैसी उसकी कोई स्थिति नहीं रहेगी और ऐसी अवस्था में दीक्षा आदि व्यापारों की कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी। ताम्र धातु (ताँबे) में जैसे कालिमा स्वाभाविक रूप से रहती है, वैसी ही स्थिति आत्मा में मल की मानी गई है। जैसे ताँबे की कालिमा को औषधियों के प्रयोग से हटाया जा सकता है, उसी तरह से आत्मा के आच्छादक इस मल को भी दीक्षाव्यापार से हटाया जा सकता है। तण्डुल (धान) का तुष जैसे अंकुर की उत्पत्ति में निमित्त है, उसी तरह से यह मल आत्मा के साथ विभिन्न शरीरों को जोड़ता चला जाता है। मोतियाबिन्द के पक जाने पर जैसे उसको आपरेशन से हटा दिया जाता है, उसी तरह से कर्मसाम्य, शक्तिपात आदि की सहायता से मल का परिपाक हो जाने पर उसे दीक्षा-व्यापार से हटाया जा सकता है। प्रत्येक आत्मा में इसकी स्वतन्त्र स्थिति मानी गई है और यह विविध शक्तियों से सम्पन्न है। इसीलिये एक आत्मा में मल की निवृत्ति हो जाने पर उसी की मुक्ति होती है, [१]अन्य की नहीं। अग्नि की दाहिका शक्ति जैसे मन्त्र के प्रयोग से अवरुद्ध हो जाती है, उसी तरह से ईश्वर की अनुग्रह शक्ति से मल की शक्ति निष्प्रभाव हो जाती है। इसी स्थिति को औपचारिक रूप में कहा जाता है कि अमुक आत्मा से मल हट गया है, वह निर्मल हो गया है। किरणागम के प्रमाण से यहाँ (पृ.२०) इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

शिव की यह शक्ति भी स्वाभाविक रूप से मल का परिपाक हो जाने पर ही मलशक्ति को निरुद्ध कर सकती है, जैसे कि तण्डुल पर चिपका हुआ तुष धान के पक जाने पर ही हटाया जा सकता है। तण्डुल यदि पका नहीं है, तो उस पर मुषल आदि का आघात करने पर तण्डुल ही नष्ट हो जाता है; उसी तरह से मल के परिपक्व हुए बिना ही उसको हटाने का प्रयत्न करने पर आत्मा के भी विकृत होने का प्रसंग आवेगा, किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि किरणागम में बताया गया है कि ताम्र के मैल को हटा देने पर भी जैसे ताम्र धातु का क्षय नहीं होता, उसी

---

[१] सांख्यदर्शन में भी यही सिद्धान्त मान्य है कि जिस पुरुष में विवेक ज्ञान (प्रकृति-पुरुष विवेक) उत्पन्न हुआ है, वही कैवल्य पदवी में प्रतिष्ठित हो सकता है।

तरह से आत्मा में किसी विकार के आये बिना भी उसके मल का क्षय हो जाता है। रस का संयोग होने के साथ ही ताम्र की कालिमा का जैसे परिपाक हो जाता है, उसी तरह से तीव्र शक्तिपात के होने पर मल की परिपाकावस्था भी स्पष्ट हो जाती है। इस मल शक्ति के कारण ही पशु पाश्य, शोध्य और बोध्य होता है।

यहाँ शंका उठ सकती है कि भोक्तृत्व की सिद्धि तो पशु में कर्म के कारण होती है और यह भोग ही राग आदि का कारण बन जाता है। ऐसी स्थिति में मल का क्या प्रयोजन हो सकता है? इसका समाधान भी किरणागम में ही किया गया है (पृ.२१-२२)। उसका अभिप्राय यह है कि लोक में चोरी करने पर पुरुष को जैसे हथकड़ी पहनाई जाती है, उसी तरह से आत्मा भी मल के कारण ही राग आदि दोषों से बँध जाता है। इसलिये भोगों के प्रति आकृष्ट कराने में साक्षात् कारणता मल की ही मानी जाती है। माया का बन्धन परम्परा से देह की उत्पत्ति में तथा कर्म बन्धजन्य सुखदु:खात्मक भोग मे्ं कारण है।

१. रोध शक्ति —

शिव की शक्ति में कर्तृता नहीं मानी जाती। कर्ता तो केवल ईश्वर है। शक्ति उसकी सहायिका मानी जाती है। तिरोधान (रोध)शक्ति की सहायता से ही शिव निरोध (तिरोधान) व्यापार में प्रवृत्त होते हैं और अनुग्रह शक्ति की सहायता से वे जीव को बन्धन से मुक्त कर देते हैं। मृगेन्द्रागम (वि.७.११-१२) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है। सब पर अनुग्रह करने वाली माहेश्वरी शक्ति प्राणियों की चिच्छक्ति के अवरोधक रूपों का अनुवर्तन करने के कारण ही [१]पाश कहलाती है। यह अनुग्रह शक्ति ही रोधशक्ति पर्यन्त मल-शक्तियों को जब ईश्वररूपी सूर्य की ज्ञानरूपी किरणों से निरुद्ध कर देती है, तो उस स्थिति में अनुग्राहिका शक्ति का उन्मीलन होता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश शक्ति का व्यापार तिरोधान शक्ति तक ही चलता है। अनुग्रह शक्ति में तो पाश शब्द का प्रयोग औपचारिक ही माना जायगा। यहाँ छठे श्लोक में वर्णित आणव मल और रोध (तिरोधान) शक्ति नामक इन दो पाशों से ही विज्ञानाकल पशु संबद्ध है। प्रलयाकल पशु का इनके अतिरिक्त कर्म नामक तीसरे पाश से भी संबन्ध रहता है। अगले श्लोक में उसी का स्वरूप बताया गया है।

---

[१] तिरोधान शक्ति की पाशात्मकता पर यहाँ (पृ.२२९-२३०) आगे विचार किया गया है। इस औपचारिक प्रयोग के आधार पर ही वीरशैव एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में महामाया (बिन्दु) के साथ तिरोधान शक्ति की भी पाशों में गणना नहीं की गई है। अत: इनमें तीन ही पाश वर्णित हैं।

३. कर्म —

प्रस्तुत श्लोक में देह शब्द से स्थूल और सूक्ष्म शरीर का, इन्द्रिय पद से अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का तथा अर्थ शब्द से इन्द्रियों से गृहीत होने वाले शब्द आदि विषयों का ग्रहण किया जाता है। विभिन्न प्राणियों के नाना प्रकार के शरीर, इन्द्रियाँ और विषय उपलब्ध होते हैं। देव, असुर, मनुष्य आदि के अनेक प्रकार के शरीर हैं। इन्द्रियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। जैसे कि हाथियों की जिह्वा उलटी होती है, सर्प चक्षु की सहायता से सुनते हैं, उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता, बिल्ली की आँखें रात में खूब चमकती हैं, जब कि मनुष्यों को रात में नहीं दिखाई पड़ता। इसी तरह से विषयों की भी भिन्नता देखने में आती है। चातक स्वाति नक्षत्र में गिरी वर्षा की बूँद को ही पीता है, हंस-भ्रमर आदि कमल के पराग-रस का ही पान करते हैं, पशु का आहार तृण है, देव अमृत का पान करते हैं, मनुष्य अन्न खाता है। इनके रहने के स्वर्ग, भूलोक आदि स्थान भी भिन्न-भिन्न हैं। मनुष्यों में कोई राजा, कोई धनाढ्य तो कोई दरिद्र है। देह, इन्द्रिय आदि के उत्पत्ति-नाश की प्रक्रिया भी चलती रहती है और प्रत्येक पुरुष में इन भोगों की स्थिति भी भिन्न-भिन्न रहती है। शैवशास्त्रों में इन सबका कारण **कर्म** नामक पाश को माना गया है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि सुख-दुःख रूप भोग की उपलब्धि में कर्म ही प्रधान कारण है, कर्म की सहायता से ही यदि देह की उपलब्धि होती है; तो सृष्टि के प्रारंभ में, जब कर्म की कोई स्थिति नहीं रहती, देह की उपलब्धि कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि बीज और वृक्ष की अनादि परम्परा के समान सृष्टि की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है। आत्मा के साथ मल, कर्म आदि का और नानाविध शरीरों का संबन्ध भी अनादि काल से प्रवृत्त है। जल के प्रवाह के समान अनादि काल से यह कर्म का प्रवाह भी निरन्तर चला आ रहा है। इसीलिये बीजांकुर न्याय की तरह कर्म की भी अनादि सत्ता माननी पड़ती है। बीज के बिना अंकुर नहीं निकल सकता, जो कि भविष्य में वृक्ष का आकार ग्रहण करता है और वृक्ष से ही बीज निकलता है। इस अनवस्था को दूर करने के लिये जैसे बीज और अंकुर की सत्ता अनादि मानी जाती है, उसी तरह से कर्म की भी सत्ता अनादि काल से चली आ रही है, ऐसा माना जाता है। यह कर्म आत्मा में संस्कार रूप में विद्यमान रहता है। सूक्ष्म रूप से रहने से इसे अदृष्ट भी कहते हैं।

किसी मनुष्य को जमीन खोदते समय खजाना मिल जाता है और कोई दूसरा मनुष्य छाया के लिये जब वृक्ष के नीचे खड़ा होता है, तो उसके ऊपर अचानक

बिजली गिर पड़ती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। मनुष्य के पूर्वजन्म के अदृष्ट रूप में संचित धर्म और अधर्म को ही इसमें कारण मानना पड़ेगा। मनुष्य अपनी वाणी, मन, शरीर अथवा धन से इनको जुटाता है। शिव-स्तोत्र का पाठ वाणी से, शिव का ध्यान मन से, शिव की पूजा शरीर से और शिव मन्दिर का निर्माण धन से कराया जाता है। इन पुण्य कर्मों के ही समान मनुष्य वाणी आदि से पाप भी अर्जित करता है और तदनुसार ही उनके फल को भी भोगता है।

इस प्रसंग में ५वें श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि कुछ आचार्य कर्मफल की भोक्तृता मन और बुद्धि में भी मानते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि जन्मान्तर होने पर उनमें परिवर्तन हो जाता है (पृ.१६)। इस पर हमने वहाँ टिप्पणी की है कि सूक्ष्म शरीर में मन और बुद्धि की भी स्थिति रहती है और नियत रूप से प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्म शरीर भी जुड़ा हुआ है, यह सिद्धान्त समान रूप से सांख्यदर्शन एवं शैवदर्शन को भी मान्य है, अतः यह प्रश्न और उसका समाधान उचित नहीं है। तब भी भोक्तृता आत्मा में ही मानी जाती है। मन और बुद्धि तो उसके साधन मात्र है।

४. माया —

सातवें श्लोक में कर्म नामक पाश का स्वरूप बताने के बाद आठवें श्लोक में सकल आत्मा में विशेष रूप से रहने वाले माया नामक पाश का और शुद्धाध्वा के प्रवर्तक बिन्दु (महामाया) नामक पाश का स्वरूप बताया गया है। इनमें से माया कला आदि तत्त्वों में स्थित समस्त भुवनों की और उनमें उत्पन्न होने वाले समस्त शरीरों की उपादानकारण है। यह एक और नित्य है। यहाँ प्रश्न उठता है— लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि अनेक तन्तुओं से मिलकर एक पट (कपड़ा) का निर्माण होता है, उसी तरह से जगत् की उपादानकारण माया की भी अनेकता मानना क्या उचित नहीं होगा? इसका समाधान यह है कि पट का उपादानकारण भी एक ही तन्तु-जाति है, क्योंकि तन्तु का निर्माण एक ही कपास से होता है। इसी तरह से एक ही माया से जगत् की उत्पत्ति मानना उचित है। अपनी विचित्र शक्तियों के कारण यह इस विचित्र जगत् की रचना में समर्थ होती है। यह माया नित्य भी है, क्योंकि महासंहार काल में शिव और आत्मा के साथ इसकी भी स्थिति मानी गई है। माया को यदि अनित्य माना जायगा, तो जगत् की उत्पत्ति ही नहीं हो पावेगी। महासंहार काल में माया का नाश हो जाने पर उपादान के अभाव में पुनः जगत् की उत्पत्ति कैसे होगी? अतः माया को नित्य ही मानना पड़ेगा। संहार काल में भी शक्ति के रूप में यह स्थित रहती है। लोक-व्यवहार में जैसे मिट्टी आदि उपादान द्रव्यों के

साथ चक्र आदि सहकारी कारणों की अपेक्षा रहती है, उसी तरह से जगत् की उपादानभूत माया को भी सहकारी कारण के रूप में कर्म की अपेक्षा रहती है।

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से इस माया के द्विविध कार्य हैं। सृष्टि के समय कला आदि तत्त्वों में स्थित भुवन आदि की उत्पत्ति बाह्य कार्य है और संहार दशा में माया का गर्भ में सूक्ष्म रूप से निरन्तर चल रहा परिणाम इसका आभ्यन्तर कार्य है। मृगेन्द्रागम (९.१३) में इन दोनों स्थितियों को बताया गया है।

यह माया अचेतन है। लोक में देखा जाता है कि मिट्टी आदि अचेतन उपादान से अचेतन घट आदि की उत्पत्ति होती है, उसी तरह से माया से उत्पन्न भुवन आदि के अचेतन होने से माया को भी अचेतन ही मानना उचित है। इस माया शक्ति के कारण ज्ञानशक्ति संकुचित हो जाती है और वह अनात्मा में आत्माभिमान को पैदा कर देती है। इसीलिये माया को मोहिनी कहा गया है। जैसे घने अन्धकार में दीपक का प्रकाश नीलोत्पल में रक्तोत्पल का आभास करा देता है, ऐसी ही स्थिति माया से उत्पन्न ज्ञान की भी है। इसीलिये माया को मोहक माना जाता है।

५. बिन्दु (महामाया) —

बिन्दु और महामाया एक ही तत्त्व है। यह शुद्धाध्वा का उपादानकारण है। इसी की सहायता से शुद्ध शिवस्वरूप का बोध भी होता है। इसीलिये यह माया के समान मोहक नहीं है। माया के समान यह विभिन्न शक्तियों से सम्पन्न अवश्य है। माया के समान इसके भी बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध कार्य हैं। शक्ति से लेकर शुद्धविद्या तक के तत्त्वों में स्थित भुवनों की सृष्टि इसका बाह्य कार्य है और संहार दशा में बिन्दुस्वरूप शिवतत्त्व में सूक्ष्म रूप में शुद्ध भुवनों की स्थिति आन्तर कार्य। शान्त्यतीता आदि पाँच कलाएँ बिन्दु की ही परिणतियाँ मानी जाती हैं। इसीलिये यह शुद्ध और अशुद्ध सभी भुवनों में व्याप्त है। यह भी अचित्-स्वरूप है, क्योंकि इससे अचित् कार्यों की ही उत्पत्ति होती है। संहार काल में मन्त्र, मन्त्रेश्वर और अनन्त आदि विद्येश्वर बिन्दुतत्त्व में ही विश्राम करते हैं। इस विषय में आगे (पृ.४०-४२) विस्तार से विचार किया गया है।

इस प्रकार पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थों की चर्चा कर आगे शुद्धाध्वा और अशुद्धाध्वा के रूप में छत्तीस तत्त्वों का परिचय दिया गया है। बाद में शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध विभाग भी विस्तार से वर्णित हैं। हम यहाँ शुद्धाध्वा, मिश्राध्वा और अशुद्धाध्वा के रूप में इनका परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

शुद्धाध्वा

पाँच शुद्ध तत्त्वों में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक पाँच तत्त्वों की गणना की जाती है। जब बिन्दुतत्त्व भोग और अधिकार दशा को छोड़ कर समस्त कार्यजगत् को अपने भीतर समेट लेता है, तब वह अपनी इन दशाओं से ऊपर उठ कर केवल चिद्रूप शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह शिवतत्त्व की लयावस्था है। उस समय इसमें समवेत शक्ति भी उदासीन हो जाती है, क्योंकि उस समय शिव सृष्टिकार्य से विरत रहते हैं। बिन्दु के अचेतन होने से ही बिन्दु की अधिष्ठानभूत एकमात्र शिव के साथ समवेत पराशक्ति भी लयावस्था में प्रविष्ट हो जाती है और इस शक्ति से संबद्ध भगवान् शिव भी उस समय लयावस्था में ही रहते हैं। जब शिव सृष्टि के लिये उद्यत होते हैं, तो शक्ति भी कार्योन्मुख हो उठती है। सृष्टि आदि कार्यों के लिये उद्यत इस बिन्दुशक्ति को उपादान के रूप. में ग्रहण कर शिव सृष्टि-कार्य करते हैं।

इस प्रकार सृष्टि के लिये उद्यत परमेश्वर के शिवतत्त्व-स्वरूप प्रथम उपादान बिन्दु से शान्ति कला से युक्त शक्तितत्त्व का प्रसार होता है। शान्त्यतीत कला और उसके भुवनों की स्थिति शिवतत्त्व में रहती है। परमेश्वर जब सृष्टि करने में प्रवृत्त होकर बिन्दु को उपादान के रूप में ग्रहण करते हैं, उस समय ज्ञान और क्रिया शक्ति की साम्यावस्था में उनका दूसरा परिणाम सदेशाख्य तत्त्व, अर्थात् सदाशिव के रूप में होता है। यह सदाशिव स्रष्टृ रूप और सृज्य रूप के भेद से दो प्रकार का है। शिव और शक्ति में जब यह अनुभूति होती है कि अब हम सदाशिव का स्वरूप ग्रहण करने वाले हैं, उस समय वह स्रष्टृ रूप में रहता है। जब उसकी सृष्टि हो जाती है, उस समय छत्तीस तत्त्वों के मध्य में अपने भुवनों के साथ इसकी जो स्थिति रहती है, वही इसका सृज्य रूप है। इनमें से सदाशिव का स्रष्टृ-स्वरूप शिव की भोग और अधिकार अवस्था का द्योतक है। यहाँ (स्रष्टृ रूप में) अलग से किसी उपादान की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि एक ही शक्ति के व्यापार-भेद से इन तत्त्वों की भिन्नता दिखाई पड़ती है। वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है।

सृज्य रूप के लिये उपादान के रूप में कर्म की अपेक्षा रहती है। यहाँ सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक तीन औपाधिक रूपों से विशिष्ट शिव ही कर्ता हैं, उनकी शक्ति करण और उससे विभक्त हुई बिन्दुशक्ति ही उपादान है। इसका अभिप्राय यह है कि सदाशिव आदि तत्त्व और उनमें स्थित भुवन आदि की सृष्टि करने की इच्छा से भगवान् शिव जब सृष्टि-व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, तब प्रथमतः उनमें ज्ञान और क्रियाशक्ति की समान स्थिति रहती है। उस समय सादाख्य तत्त्व की, क्रियाशक्ति

की प्रधानता रहने पर ईश्वरतत्त्व की और ज्ञानशक्ति की प्रबलता होने पर विद्यातत्त्व की उत्पत्ति होती है।

यहाँ प्रथम तत्त्व भोगतत्त्व और सदाशिवतत्त्व कहलाता है। यह बिन्दुशक्ति की सहायता से अपने भुवनों की सृष्टि करता है। करण के रूप में यहाँ ज्ञान और क्रिया शक्ति का उन्मेष परिगृहीत है। क्रियाशक्ति की अधिकता होने पर वही परमेश्वर अधिकार-तत्त्व और ईश्वरतत्त्व कहलाता है। बिन्दुशक्ति की सहायता से यह अपने भुवनों की सृष्टि करता है। ज्ञानशक्ति की अधिकता होने पर वही परमेश्वर स्थूल अधिकार-तत्त्व और विद्यातत्त्व कहलाता है। यह भी बिन्दुशक्ति की सहायता से ही अपने भुवनों की सृष्टि करता है। इस प्रकार सृज्यमान सदाशिव आदि तीन शुद्ध तत्त्वों, उनमें विद्यमान भोगभूमियों (भुवनों) तथा उन भुवनों में विद्यमान विज्ञानकेवलियों, विद्या-विद्येश्वरों के शरीरों, स्वभाव-सुन्दर रमणियों, कभी पुराने न पड़ने वाले भोगों और तदनुरूप इन्द्रियों की सृष्टि स्वयं परमेश्वर अपनी ज्ञान और क्रिया शक्ति की सहायता से करते रहते हैं।

इन पाँचों तत्त्वों का हम पति पदार्थ में अन्तर्भाव कर सकते हैं। "तत्त्वं वस्तुत एकम्" (श्लो. ३३) यह तत्त्वप्रकाश की कारिका इसी ओर इंगित करती है। सादाख्य तत्त्व को जिस रूप में यहाँ प्रस्थापित किया गया है, उससे "पञ्चानामप्येषां नहि क्रमोऽस्तीह" (श्लो. ३२) तत्त्वप्रकाश की इस कारिका की सार्थकता सिद्ध होती है। बिन्दुतत्त्व की और लय-भोग-अधिकार अवस्थाओं की यहाँ जिस तरह की व्याख्या प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार और टीकाकार अघोरशिव अथवा सर्वात्मशंभु की तरह सभी तत्त्वों की अचेतनता के पक्षपाती नहीं हैं। अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ.२५-२६,३२) में अघोरशिव के मत की समालोचना करते समय हमने देखा है कि सभी छत्तीस तत्त्व उनके मत में जड़ हैं। सिद्धान्तप्रकाशिका (पृ.१४) में भी बिन्दु को शिव से अभिन्न बताकर उसे जड़ माना गया है।

मिश्राध्वा

मिश्राध्वा अथवा शुद्धाशुद्ध तत्त्वों में माया, [१]कला, काल, नियति, विद्या, राग और पुरुष नामक सात तत्त्वों का समावेश माना गया है। अनन्तनाथ विभिन्न आत्माओं

---

[१] कला आदि के क्रम के विषय में शास्त्रों में अनेक मत प्रदर्शित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में ही शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का परिचय देते समय (पृ.४४-४८) कला, विद्या, राग, काल और नियति—यह क्रम दिया गया है। यहीं (पृ.४७) कला से भी पहले काल की स्थिति बताई गई है। यही क्रम पृ.६२ पर भी दिखाया गया है, किन्तु

के कर्मफल की स्थिति के अनुसार अपनी वामा आदि शक्तियों की सहायता से माया को क्षुब्ध कर उसे कला आदि तत्त्वों की सृष्टि के लिये प्रेरित करते हैं। माया की सहायता से ही प्रलयाकल और सकल आत्माओं के लिये स्थूल-सूक्ष्म शरीर और तदनुरूप भुवनों की भी सृष्टि करते हैं। इनमें से कला, काल और नियति नामक तीन तत्त्व माया से उत्पन्न होते हैं। आगे अनन्तेश्वर कलातत्त्व को क्षुब्ध कर विद्या और राग तत्त्व की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार माया से कला, काल, नियति, विद्या और राग नामक पाँच तत्त्वों की सृष्टि होती है। पंचकंचुक के नाम से ये शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के कारण आत्मा पुंस्त्व मल से आवृत हो जाता है। आगे के अशुद्ध तत्त्वों की प्रवृत्ति प्रकृति से मानी जाती है और प्रकृति की प्रवृत्ति कला तत्त्व से मानी गई है। प्रकृति के मित्र पुरुष तत्त्व की सृष्टि रुद्रों के साथ मायातत्त्व से होती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पुरुष तो चेतन है, अचेतन तत्त्वों में उसकी गणना कैसे की जा सकती है? अतः अचेतन षडध्वों में तत्त्वों के बीच में उसकी गणना अनुचित है। इस प्रश्न के औचित्य के विषय में कोई शंका नहीं उठाई जा सकती, तो भी कला आदि पाँच तत्त्वों (पंचकंचुकों) से आवृत होने से यह बद्धात्मा भोक्ता के रूप में प्रकृति का मित्र बनकर पुरुष तत्त्व की संज्ञा को प्राप्त करता है। वास्तव में इसकी षडध्वों में अथवा तदन्तर्गत भुवनों में कोई स्थिति नहीं रहती। इसीलिये पुरुष तत्त्व में किसी भी भुवन की स्थिति नहीं मानी जाती और षडध्वशुद्धि के प्रसंग में राग तत्त्व में ही पुरुष तत्त्व की शुद्धि का विधान आगमों में मिलता है। इसीलिये निर्वाण दीक्षा के प्रसंग में प्रकृति तत्त्व की शुद्धि के बाद पुरुष तत्त्व की शुद्धि का विधान प्रकृति और रागतत्त्व के मध्य में प्रदर्शित है।

यहाँ (पृ.३१) पुरुष को प्रकृतिसख और रुद्रयुक् बताया गया है। टीकाकार ने पृ.३३ पर कहा है कि प्रकृति के साथ ही उसके मित्र पुरुष तत्त्व की सृष्टि भी रुद्रों के साथ माया तत्त्व से ही होती है। यहाँ मृगेन्द्रागम (वि.१०.१८) का प्रमाण भी दिया गया है। इन रुद्रों की नामावली ३४ वें पृष्ठ में दी गई है। यहाँ तत्त्वों की अचेतनता की पृष्ठभूमि में बताया गया है कि तत्त्वों में गणना होने पर भी पुरुष

पृ.६१ पर कला और विद्या तत्त्व के बीच में इसकी स्थिति मानी गई है। पृ.३३ पर दी गई टिप्पणी के अनुसार मृगेन्द्रागम और तत्त्वप्रकाश टीकाओं के अतिरिक्त तन्त्रालोक (९.४०-४८) एवं उसकी टीका से यह ज्ञात होता है कि इन विभिन्न मतों की प्रवृत्ति विभिन्न आगमों के कारण हुई है।

तत्त्व की चेतनता पर कोई आक्षेप नहीं उठ सकता (पृ.३४)। आगे (पृ.४९) बताया गया है कि शैव-सिद्धान्त में अनन्तनाथ कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक पाँच तत्त्वों (पंचकंचुकों) से आवृत आत्मा में भोक्तृभाव को उत्पन्न कर उसे मलिन (संकुचित) कर देता है। दीक्षा के समय इस पुंस्त्व मल की भी निवृत्ति करनी पड़ती है। इसीलिये इसकी एक अलग पचीसवें तत्त्व के रूप में गणना की जाती है। वास्तव में इसकी तत्त्वों में गणना नहीं होनी चाहिये। इसीलिये पुरुष तत्त्व के भुवनों की शुद्धि राग तत्त्व में की जाती है। प्रस्तुत १५ वें श्लोक में 'यदा' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि जब आत्मा कला आदि पाँच कंचुकों से संयुक्त होता है, तभी उसकी गणना पुरुष तत्त्व में होती है। इससे पहले पुंस्तत्त्व की कोई स्थिति नहीं मानी जाती। इसीलिये सकल आत्मा की ही गणना पचीसवें तत्त्व में होती है, प्रलयाकल और विज्ञानाकल की नहीं। यहाँ जिस पुंस्त्व मल की चर्चा की गई है, उसकी तुलना हम तन्त्रालोक (१.४३) में वर्णित पौंस्न अज्ञान से कर सकते हैं।

अभी ऊपर रुद्रों की चर्चा हुई हैं। टीकाकार इस प्रसंग (पृ.४९) में बताते हैं कि सकल आत्माओं की अपेक्षा माया के गर्भ में स्थित, अधिकार-पदों पर प्रतिष्ठित रुद्र आदि आत्माओं की एवं उनके भुवनों की स्थिति विलक्षण है।

तत्त्वों के लय-क्रम के प्रसंग में (पृ.६५) पुरुष का काल, नियति एवं कला में तथा इनका माया में लय माना गया है। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के श्लोक को उद्धृत कर यहाँ (पृ.४) बताया गया है कि मुक्तावस्था में भी शैवागमों के अनुसार जीव की स्थिति शिव से भिन्न ही मानी जाती है। तब सर्वज्ञता आदि गुणों की अभिव्यक्ति उसमें अवश्य हो जाती है। पृ.८२ पर पुनः इसी श्लोक को उद्धृत कर मृगेन्द्रागम (वि.२.२९) के प्रमाण से सिद्धों की स्थिति को भी स्पष्ट किया गया है। सिद्धों की यह स्थिति जैनागमों में वर्णित सिद्धशिला-निवासी सिद्धों की जैसी ही लगती है।

उक्त सात तत्त्वों में से माया तत्त्व का निरूपण पाश प्रकरण में तथा पुरुष तत्त्व का स्वरूप पशु प्रकरण में और यहाँ भी किया जा चुका है। कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों का विशद स्वरूप मूल ग्रन्थ के अनुवाद (पृ.३८-४८) में देखा जा सकता है।

अशुद्धाध्वा

अशुद्धाध्वा में प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त चौबीस तत्त्वों का समावेश किया जाता है। ऊपर बताया गया है कि आगे के अशुद्ध तत्त्वों की प्रवृत्ति प्रकृति से और

प्रकृति की प्रवृत्ति कला तत्त्व से मानी गई हैं। मृगेन्द्रागम (वि.१०.११) में प्रकृति को 'सप्तग्रन्थिनिदान' बताया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि यह प्रधान, अर्थात् प्रकृति महान् (बुद्धि), अहंकार और पाँच तन्मात्रा नामक सात ग्रन्थियों को उत्पन्न करता है। आगे का यह क्रम इस प्रकार है—प्रकृति तत्त्व से [1]गुण तत्त्व की, गुण तत्त्व से बुद्धि तत्त्व की और उसके त्रिविध अहंकार की सृष्टि होती है। सत्त्व, रज और तम नामक गुणों को शैवागमों में तैजस, वैकारिक और भूतादि नाम दिये गये हैं। सात्त्विक (तैजस) अहंकार से मन और बुद्धीन्द्रियों की, राजस (वैकारिक) से कर्मेन्द्रियों की और तामस (भूतादि) अहंकार से पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

मात्रा शब्द से शब्द आदि गुण परिगृहीत हैं। शब्द आदि गुणों की अपनी विशेषता के आधार पर ही इनको शब्दतन्मात्रा आदि नाम दिये गये हैं। अपने अपने गुणों की विशेष स्थिति के कारण इनको तन्मात्रा कहा जाता है। इन तन्मात्राओं से आकाश आदि पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। तन्मात्राओं में शब्द आदि गुणों की स्थिति सूक्ष्म रूप में रहती है और आकाश आदि महाभूतों में ये गुण प्रकट हो जाते हैं।

पुरुष से लेकर पृथिवी पर्यन्त पचीस तत्त्वों का स्वरूप प्रायः सांख्यदर्शन की प्रक्रिया से ही मिलता-जुलता है। प्रकृति से गुण तत्त्व की अलग स्थिति, तैजस एवं वैकारिक के क्रम में, बुद्धि एवं अहंकार की त्रिविध सृष्टि में एवं पंचवृत्ति प्राण की सृष्टि जैसे कुछ विषयों में भिन्नता भी देखने को मिलती है। जैसे कि पंचवृत्ति प्राण को यहाँ अहंकार की संरम्भ वृत्ति का उत्पाद माना गया है। सात्त्विक अहंकार से मन एवं ज्ञानेन्द्रियों की, राजस से कर्मेन्द्रियों की तथा तामस से पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गई है। इसी तरह से सात्त्विक बुद्धि से धर्म आदि चार भावों की, राजस से अवैराग्य की एवं तामस से अधर्म, अज्ञान और अनैश्वर्य की सृष्टि मानी गई है। इन चौबीस अशुद्ध तत्त्वों का विस्तृत स्वरूप यहाँ (पृ.५०-६१) मूल ग्रन्थ में देखा

---

१. सांख्यदर्शन में गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा गया है। वहाँ गुणों की पृथक् तत्त्व के रूप में गणना नहीं की गई है। किन्तु यहाँ इनको दो अलग-अलग तत्त्व माना गया है (पृ.५०-५२, ६१-६२,६५)। मृगेन्द्रागम (वि.१०.२१) में बताया गया है कि गुणों के तीन रहने पर भी तत्त्व एक ही है। अनेक शैवाचार्य पुरुष की तत्त्वों में गणना नहीं करते और छत्तीस संख्या को पूरा करने के लिये गुणतत्त्व की पृथक् गणना करते हैं। गुणतत्त्व में स्थित आठ भुवनों की भी चर्चा यहाँ (पृ.९०) पौष्करागम के प्रमाण से की गई है।

जा सकता है। वाक् आदि की कर्मेन्द्रियता न मानने वालों के पक्ष का भी यहाँ (पृ.५६-५७) खण्डन किया गया है। बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को यहाँ (पृ.५७) देव कहा गया है। मृगेन्द्रागम (वि.१२.७) में मन को देवप्रवर्तक, अर्थात् इन्द्रियों का प्रेरक कहा गया है।

अभी ऊपर बुद्धि से अष्टविध भावों की सृष्टि बताई गई है। मृगेन्द्रागम (वि.१०.२३) में बुद्धितत्त्व को 'भावप्रत्ययलक्षणम्' कहा गया है। वहीं (१०.२४) इन अष्टविध भावों की चर्चा की गई है। बुद्धि के भाव और प्रत्यय नामक द्विविध सर्ग (सृष्टि) का वर्णन आगमों के साथ सांख्यदर्शन में भी मिलता है। यहाँ (पृ.५२) पौष्करागम के अनुसार भाव और प्रत्यय का लक्षण बता कर सांख्यदर्शन की पद्धति से ही इनका विवरण दिया गया है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ बुद्धि और अहंकार की सात्त्विकी और तामसी सृष्टि का ही वर्णन है और रजोगुण को इनमें सहायक मात्र माना है। आगमीय दृष्टि की अभी ऊपर चर्चा हो चुकी है। भोगकारिका की वृत्ति में इसको पुनः स्पष्ट किया गया है—"अधर्माज्ञानानैश्वर्याख्यं रूपं तामसम्, रागस्त्ववैराग्याख्यं राजसम्, धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्याख्यं सात्त्विकमिति" (श्लो.५५)। बुद्धि की यह अष्टविध सृष्टि भावसर्ग के नाम से जानी जाती है। सांख्यकारिका (४६-५१का.) में ५० प्रकार का प्रत्यय सर्ग वर्णित है। यहीं (४४-४५का.) अष्टविध भावों की फलश्रुति दी गई है। ५२वीं कारिका में—"न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः" इस तरह से इस द्विविध सर्ग को भाव और लिंग नाम दिया गया है। यहाँ अशक्ति के २८ भेद निरूपित हैं, अतः प्रस्तुत स्थल (पृ.५२) पर शक्ति पद का प्रयोग ठीक नहीं है। मतंगागम के १७ वें पटल में भी अशक्ति पद ही प्रयुक्त है। तत्त्वसंग्रह (श्लो.७) की टीका में अघोरशिव कहते हैं—"ते च भावाः सिद्ध्यादिप्रत्ययभेदेन शतत्रयसंख्याका भवन्तीत्युक्तमन्यत्र" (पृ.११८)। यहाँ अन्यत्र पद से मतंगागम के १७ वें पटल का ग्रहण करना चाहिये। वहाँ सांख्य दृष्टि की समालोचना करते हुए प्रत्ययों के विभिन्न भेदों का विस्तार से निरूपण किया गया है। आगे (पृ.११४) मानव शरीर की वृक्ष से तुलना करते समय भी पचास भावों की शरीर रूपी वृक्ष के पुष्पों से तुलना की गई है। अश्वत्थ में पुष्प नहीं होते, अतः यहाँ सामान्य वृक्ष के रूप में ही शरीर की भावना का रूपक प्रस्तुत किया गया है, भगवद्गीता के समान अश्वत्थ का नहीं।

शुद्ध तत्त्वों के प्रसंग में नाद एवं बिन्दु की भी चर्चा आती है। इसी प्रसंग को अब स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

नाद-बिन्दु-लिपि

आगम-तन्त्रशास्त्र में नाद एवं बिन्दु तत्त्व का विशेष स्थान है। एक प्रकार से इनको शिव और शक्ति का प्रतिनिधि माना जाता है। इन दोनों तत्त्वों का यहाँ अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है, किन्तु विद्यापाद के बारहवें श्लोक और उसकी टीका में कला तत्त्व का परिचय देते समय इनके साथ लिपि का समावेश कर इनका विशेष विवरण दिया गया है। नाद ध्वनिरूप है। दोनों अँगूठों से अपने कानों को बन्द कर लेने पर भीतर जो ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसे ही नाद कहते हैं। स्वर, वर्ण और निवृत्ति आदि पाँच कलाओं की जिससे उत्पत्ति होती है और जिसमें ये सब लीन हो जाते है, उसे बिन्दु कहते हैं। लिपि अक्षर को कहते हैं। ये नाद, बिन्दु और लिपि स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। शक्ति शब्द से महामाया कुण्डलिनी गृहीत है। इस कुण्डलिनी शक्ति से नाद आदि की उत्पत्ति होती है। शक्ति का ध्वनिरूप पहला क्षोभ ही नाद है। नाद से उत्पन्न बिन्दु इसका दूसरा क्षोभ है। इसका बाह्य उच्चारण नहीं होता। इसका तीसरा क्षोभ वर्णात्मक है। इसकी उत्पत्ति बिन्दु से होती है। मृगेन्द्रागम के क्रियापाद के—"शक्तेर्नादो भवेद् बिन्दुरक्षरं मातृका यत:" (१.२) इस वचन में यह क्रम बताया गया है। यही क्रम रत्नत्रय (श्लो. १७२-१७३) में भी प्रदर्शित है।

नाद, बिन्दु और लिपि के स्थूल और सूक्ष्म नामक दो भेदों की चर्चा ऊपर आई है। शुद्धाध्वा में ये सूक्ष्म कार्य के रूप में और अशुद्धाध्वा में स्थूल कार्य के रूप में स्थित हैं। परात्मक कुण्डलिनी शक्ति के प्रथम कार्य बिन्दु और नाद हैं। इनमें से बिन्दु की स्थूल और सूक्ष्म ये दो अवस्थाएँ हैं। व्यापार के भेद से मध्यमा और वैखरी स्थूल तथा सूक्ष्मा और पश्यन्ती सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। रत्नत्रय, पाणिनीय शिक्षा आदि के आधार पर यहाँ (पृ.४०-४१) वैखरी आदि इन चार वाणियों का स्वरूप विस्तार से वर्णित है।

चतुर्थ सूक्ष्मा वाणी, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ही शुद्धाध्वा के जीवों के बन्ध का कारण बनती है। जो योगी अपने विवेक ज्ञान से इसका साक्षात्कार कर लेते हैं, वे सृष्टि आदि अधिकार-कृत्यों के मोह से दूर होकर शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

"नादेनाधिष्ठितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्" इस वचन के अनुसार स्थावर-जंगमात्मक समस्त जगत् की स्थिति नाद में ही मानी जाती है। यहाँ स्थावरात्मक सृष्टि में पहले महामाया शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ, अर्थात् नाद कला से इन्धिका आदि भुवनों की सृष्टि पहले हुई। ये भुवन शिवतत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। इन्धिका, दीपिका, रोचिका,

मोचिका और ऊर्ध्वगा—ये पाँच नाद की कलाएँ हैं। बिन्दु से उत्पन्न हुई निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति नामक चार कलाओं के भुवनों की स्थिति शक्तितत्त्व में मानी गई है। इसी तरह से आगे की सृष्टि चलती है। इनका क्रम इस प्रकार है—शक्तितत्त्व में सूक्ष्म नाद-बिन्दु, सदाशिवतत्त्व में स्थूल नाद-बिन्दु, ईश्वरतत्त्व में सूक्ष्म लिपि के साथ अनन्तेश्वर आदि और विद्यातत्त्व में स्थूल लिपियुक्त सात करोड़ महामन्त्र एवं वैखरी वाणी में निबद्ध कामिक आदि अट्ठाईस तन्त्रों (आगमों) का समूह विद्यमान है।

यहाँ हम देखते हैं कि कहीं नाद को, तो दूसरी जगह बिन्दु को प्रमुखता दी गई है। शतरत्नसंग्रह (पृ.४०-४६) में इन दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया गया है। लुप्ता. उपो. (पृ.१३९-१४४) में इस विषय पर विचार करते हुए हमने बताया है कि नादकारिका में नाद को तथा रत्नत्रय में बिन्दु को प्रधानता दी गई है। इसकी हम इस तरह से व्याख्या कर सकते हैं कि शब्द-सृष्टि में नादब्रह्म (पृ.२७०) की तथा अर्थ-सृष्टि में बिन्दु की प्रधानता है। लौकिक उदाहरण से हम इस विषय को इस तरह से समझ सकते हैं कि शिष्य-सन्तति की सृष्टि नादात्मक है और पुत्र-सन्तति की सृष्टि का उपादान बिन्दु है। शिव-शक्ति के अर्धनारीश्वर स्वरूप की व्याख्या इसी पद्धति से की जा सकती है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के प्रथम श्लोक में इसी स्थिति की ओर इंगित किया है। यहाँ अनेक स्थलों (पृ. ८, ८०, १३०) पर बिन्दु को प्रधानता दी गई है। पृ. १०५ पर नाद को बिन्दु का कार्य माना गया है। इसके विपरीत पृ.१०९ पर कामिकागम के प्रमाण से नाद से बिन्दु की उत्पत्ति बताई गई है। आगे (पृ.२७२-२७४) पाँच अवस्थाओं का विवरण देते समय बिन्दु का स्वप्नावस्था से और नाद का सुषुप्ति से संबन्ध प्रदर्शित किया है। इससे भी बिन्दु की अपेक्षा नाद की ज्येष्ठता प्रतीत होती है। इन सबकी संगति ऊपर प्रदर्शित द्विविध मत के आधार पर ही बैठाई जा सकती है। शतरत्नसंग्रह (पृ.४४) में स्पष्ट ही बताया गया है कि कुछ आचार्य नाद की प्रधानता के पक्षपाती हैं।

कुण्डलिनी शक्ति

इस समस्त जगत् की आधारभूता स्वाभाविक नादस्वरूपा, कुटिलाकारा, कन्द-स्थान से अंकुर के रूप में उत्थित कुण्डलिनी शक्ति है और यह शिव में समन्वित क्रियाशक्ति पर आधृत है। कुण्डलिनी शक्ति को जड़ माना गया है, अतः जड़ात्मक यह कुण्डलिनी शक्ति शिव की क्रियाशक्ति से अधिष्ठित होकर ही कार्य करती है। कालोत्तर तन्त्र (१३.१) में कुण्डलिनी का स्वरूप वर्णित है। यह कुण्डलिनी शक्ति अशुद्ध जगत् के अंकुरों की आधार-स्वरूपा और शुद्ध जगत् की उपादान-स्वरूपा

है, अतः समस्त जगत् इसी में स्थित है। इसीलिये इसे आधार शक्ति कहते हैं। यह शिव-शक्ति से अधिष्ठित है और इसकी आकृति कुटिल है।

यह कुण्डलिनी शक्ति निवृत्ति आदि पाँच कलाओं के साथ समस्त जगत् को धारण करती है, अतः आधार-स्वरूपा है। यही अनन्तेश्वर आदि को भी धारण करती है, क्योंकि इसी से अनन्तेश्वर आदि के भुवनों और शरीरों का निर्माण होता है। माया के ऊपर शुद्धाध्वा में भोग-स्थान शक्ति को माना गया है। शुद्ध भुवनों में निवास करने वाले मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि भोक्ता हैं। इनके साधन देह, इन्द्रिय और विषयों के रूपमें कलाएँ परिणत होती हैं और कलाओं का आधार कुण्डलिनी शक्ति को माना गया है। अतः जैसे महत् आदि अशुद्ध तत्त्वों का उपादान प्रकृति (प्रधान) को तथा राग आदि शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का आधार माया को माना जाता है, उसी तरह निवृत्ति आदि कलाओं का कारण कुण्डलिनी शक्ति है। किरणागम (वि.३.२७) के वचन के अनुसार शुद्ध सृष्टि के कर्ता शिव और अशुद्ध सृष्टि के कर्ता अनन्त माने गये हैं।

ज्ञानपाद के चतुर्थ श्लोक की व्याख्या करते समय टीकाकार ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए कहते हैं कि कुछ आचार्य क्रियाशक्ति को ही कुण्डलिनी मानते हैं। त्रिलोचन शिवाचार्य के ही किसी अन्य ग्रन्थ के अनेक श्लोकों को उद्धृत करते हुए वे आगे इस मत का विस्तार से खण्डन करते हैं। इसी प्रसंग में यहाँ मल-परिपाक रूपी कर्म का एवं शिव की लय-भोग-अधिकार नामक तीन अवस्थाओं का स्वरूप भी समझाया गया है (पृ.४४-४६)। इस पूरे प्रकरण से स्पष्ट होता है कि यहाँ शिवसमवेत ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का ही स्वरूप प्रतिपादित है। कुण्डलिनी शक्ति इस क्रियाशक्ति से भिन्न है। पाशात्मक कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप ऊपर बताया गया है। इसका स्वरूप योगपाद के प्रथम श्लोक की व्याख्याओं में भी देखा जा सकता है। चर्यापाद (पृ.३४६-३४८) में आधार शक्ति के रूप में इसी कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन किया गया है।

प्राण-कुण्डलिनी का भी शास्त्रों में वर्णन मिलता है। यहाँ (पृ.१२२) कालोत्तर के प्रमाण से हृदय-कमल स्थित कुण्डलिनी की चर्चा की गई है। यह श्लोक कुण्डलिनी शक्ति के प्रकरण में पहले (पृ.४२) भी उद्धृत हुआ है। इसका यहाँ विशेष विवरण नहीं मिलता, किन्तु विज्ञानभैरव के १५१ वें श्लोक की व्याख्या में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसको कुण्डलिनी इसलिये कहते हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल है।

पति-प्रकरण में और शुद्धाध्वा का विवरण प्रस्तुत करते समय शिव को पंचकृत्यकारी बताया गया है। शिव की पंचकृत्यकारिता का प्रतिपादन शैवागमों में सर्वत्र मिलता है। अब उन्हीं के स्वरूप को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

पंचकृत्यकारी शिव

इस प्रसंग में यहाँ (पृ.८२) बताया गया है कि मुक्तात्मा में और शिव में समानता हो जाने पर भी सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पंचकृत्य के संपादन की सामर्थ्य शिव में ही रहती है, मुक्त पुरुष में नहीं। जीवों को भोग और मोक्ष प्रदान करने के लिये शिव इन पंचकृत्यों का सम्पादन करते हैं। इनका स्वरूप यहाँ विद्यापाद के अन्तिम श्लोकों (२२-२७) में बताया गया है।

सृष्टि —

भगवान् शिव सकल जीवों के स्थूल-सूक्ष्म और प्रलयाकलों के सूक्ष्म शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि को माया के गर्भ से और विज्ञानाकलों को महामाया के गर्भ से निकाल कर उनके लिये भोगों का सम्पादन करते हैं। उनकी सृष्टि के बाद वे उनके लिये रक्षण आदि कृत्यों का भी संपादन करते हैं। यहाँ [1]तनु, देव भाव और भुवन का निर्माण करना ही भगवान् का सृष्टि नामक व्यापार है। यह सृष्टि दो प्रकार की है। साक्षात् शिव के द्वारा बिन्दु को उपादान के रूप में ग्रहण कर शुद्ध भुवनों की और उन भुवनों में निवास करने वाले अनन्त आदि के बैन्दव शरीरों की सृष्टि प्रथम तथा अनन्त आदि के द्वारा माया को उपादान के रूप में ग्रहण कर अशुद्ध भुवनों और उनमें रहने वाले जीवों के स्थूल-सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि द्वितीय प्रकार की है। इस द्वितीय सृष्टि को अनन्त आदि विद्येश्वर शिव की प्रेरणा से ही, उन्हीं से अधिकार पदवी को प्राप्तकर संपादित करते हैं, स्वतन्त्र रूप से यह शक्ति उनको प्राप्त नहीं है। एक अन्य मत भी यहाँ (पृ.९) प्रदर्शित है कि शुद्धाशुद्ध सृष्टि के कर्ता अनन्त और अशुद्ध सृष्टि के श्रीकण्ठ हैं। इसकी पहले चर्चा हो चुकी है।

इस प्रकार २२ वें श्लोक में सृष्टि-व्यापार को बताने के बाद अगले श्लोक में संरक्षण (पालन) और संहार के साथ संभोजन (तिरोभाव और अनुग्रह) व्यापार का स्वरूप दिखाया गया है। [2]संरक्षण शब्द स्थिति, तिरोधान और अनुग्रह नामक तीनों

---

१. इन पदों की व्याख्या पृ.२८ पर दी जा चुकी है। मृगेन्द्रागम (वि. १३.१९३) में तत्त्व, भाव, भुवन और वपु (तनु) परिगणित हैं।

२. मृगेन्द्रवृत्ति (वि.२.३-४) और रौरवागम (वि.१.१५) में तिरोधान व्यापार के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। शिव के इन पंचकृत्यों का विशेष विवरण लुप्ता. उपो. (पृ.१२७-१२९) में देखा जा सकता है। शोधार्थी वहाँ दी गई टिप्पणियों के आधार पर इस विषय का विस्तार कर सकते हैं।

कृत्यों का बोधक है। संहार शब्द अवान्तर और महासंहार नामक द्विविध संहार का बोधक है। अब इसी का स्वरूप यहाँ बताया जा रहा है।

संहार —

संहार काल में सृष्टि-क्रम से उत्पन्न शिव आदि तत्त्वों का विपरीत-क्रम से लय हो जाता है। जैसे कि पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों का गन्ध आदि पाँच तन्मात्राओं में, पाँच तन्मात्राओं, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन का क्रमशः भौत, वैकारिक एवं तैजस नामक त्रिविध अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में, बुद्धि का [1]गुण में, गुण का प्रकृति (अव्यक्त) में, प्रकृति का राग और विद्या में, पुरुष का काल, नियति और कला में तथा इनका माया में लय हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस तत्त्व से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसी में उसका लय होता है। इसी तरह से शुद्ध तत्त्वों में भी शुद्धविद्या का ईश्वर में, ईश्वर का सदाशिव में, सदाशिव का शक्ति में और शक्ति का शान्तिकला के ऊपर स्थित शान्त्यतीतकला स्वरूप शिवतत्त्व में लय हो जाता है। यह शिव अपनी उपादान-स्वरूपा महामाया में, बिन्दु में समाविष्ट हो जाता है। शुद्ध तत्त्वों का लय शिव की इच्छा के अनुसार और माया के नीचे के अशुद्ध तत्त्वों का लय अनन्त की इच्छा के अनुसार होता है। यहाँ (पृ.६५) उद्धृत अघोरशिव के दो श्लोकों में लय का यही क्रम बताया गया है। आगे के २४ वें श्लोक में दैनन्दिन, अवान्तर और महाप्रलय नामक त्रिविध प्रलय का स्वरूप बता कर इसी से संबद्ध काल और संख्या का भी विवरण २५वें श्लो. में दिया गया है। पाश के प्रकरण में निरोध-शक्ति[2] के रूप में चतुर्थ निग्रह कृत्य का निरूपण हो चुका है। अन्तिम अनुग्रह कृत्य का विवेचन २६-२७वें श्लोकों में किया गया है।

अनुग्रह —

महासंहार काल में शतरुद्र आदि भुवनेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी विज्ञानाकल अवस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं और सभी अशुद्ध तत्त्व माया में लीन हो जाते हैं।

---

[1] अघोरशिवाचार्य के वचन (पृ.६५) के अनुसार यह क्रम बताया गया है। वहाँ आगे (पृ.६८) विलय-प्रक्रिया के प्रदर्शक मृगेन्द्रागम के वचन भी उद्धृत हैं। मृगेन्द्रागम का यह पूरा प्रकरण (१३.१७९-१९३) अवलोकनार्ह है। यहाँ बताया गया है कि इस विलय-प्रक्रिया में तत्त्व, भाव, भुवन और वपु (शरीर)—सबका विलय हो जाता है।

[2] ऊपर की पृ.३० की टिप्पणी तथा वहाँ का मूल स्थल देखिये।

अवान्तर संहार काल में नीचे के सभी तत्त्वों का प्रकृति में लय हो जाता है। उस समय उन-उन भुवनों के अधिपति अपनी-अपनी शक्ति की सहायता में सूक्ष्मशरीर के साथ विद्यमान सभी जीवों को अपने में समेट कर प्रकृति में विश्राम करते हैं। उस समय भी शतरुद्र आदि की स्वतन्त्र स्थिति रहती है। पुन: अवान्तर सृष्टिकाल का प्रारंभ होने पर अनन्त आदि रुद्रों से प्रेरित होकर ये शतरुद्र आदि पुन: अपने-अपने भुवनों के अधिकार को संभाल लेते हैं। मल-परिपाक हो जाने पर ईश्वर के अनुग्रह से इनमें से कुछ मुक्त हो जाते हैं और जिनका अधिकार-मल बचा रहता है, वे अनन्त आदि के रूप में शिवभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार भगवान् शिव संसार में परिभ्रमण से थके हुए लोगों के विश्राम के लिये और संसार से विरक्त व्यक्तियों के मल का परिपाक करने के लिये महासंहार काल में भी प्रवृत्त रहते हैं। महासंहार काल में जीव को जीवन-मरण के चक्कर से मुक्ति मिल जाती है, अत: उसकी थकावट दूर हो जाती है। संहार काल में नये भोगों के अभाव में उसके वर्तमान भोगों का ही परिपाचन होता रहता है। इसी तरह से भगवान् माया और महामाया (बिन्दु) को भी महासंहार काल में विश्राम देकर उनके बल का संवर्धन करते हैं। निरन्तर नये-नये शरीरों, इन्द्रियों, भुवनों आदि की सृष्टि करते रहने से शुद्ध और अशुद्ध भुवनों की उपादान-स्वरूपा माया और महामाया थक जाती हैं। महासंहार काल में उनको यह सब नहीं करना पड़ता, अत: इनको भी विश्राम मिल जाता है, उनकी थकावट भी दूर हो जाती है और उनमें नये बल का संचार होता है।

संहार के बाद शिव का सृष्टि-व्यापार पुन: चलता है। इस प्रकार शिव निरन्तर पंचकृत्य में प्रवृत्त रहते हैं। नई सृष्टि में पहले से संचित कर्मों का उपभोग कर जीव कर्मबन्धन से मुक्त हो जाय, यह अनुग्रह दृष्टि ही इसके लिये उनको प्रेरित करती है।

क्रियापाद

मल-परिपाक, कर्मसाम्य एवं शक्तिपात

पाश प्रकरण में मल नामक पाश की चर्चा आ चुकी है। समय आने पर जैसे मोतियाबिन्द पक जाता है, उसी तरह से आत्मगत मल का भी परिपाक हो जाता है। धर्माधर्मात्मक कर्म का समविभाग ही वह काल है, जिसके कारण मल का परिपाक होता है। धर्माधर्मात्मक कर्म में कभी समानता नहीं आने पाती। इनमें न्यूनता अथवा अधिकता सदा बनी रहती है। जिसकी अधिकता रहती है, वही फलदान में पहले

प्रवृत्त हो जाता है। वह अपने फल का उपभोग करा कर जब दुर्बल पड़ जाता है, तो दूसरा फलदान में प्रवृत्त होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसी निरन्तरता में कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि भोग देने वाले पुण्य-पाप रूप दोनों कर्म समान स्थिति में आ जाँय। आत्मा स्वर्ग और नरक का एक साथ उपभोग नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है धर्म और अधर्म का फल एक साथ नहीं मिल सकता। यही स्थिति **कर्मसाम्य** के नाम से शैवागमों में कही गई है।

इस कर्मसाम्य की स्थिति के आने पर जीव पर **शक्तिपात** होता है। शिव अपनी तिरोधान शक्ति के व्यापार को समेट कर उस पर अनुग्रह करता है, शक्तिपात के रूप में उस पर अपनी अनुग्रह (कृपा) दृष्टि डालता है। इस शब्द पर प्रश्न उठ सकता है कि शिव की यह शक्ति तो सर्वत्र व्याप्त है, उसका पात कैसा? इसका समाधान यह है कि शब्दों के अर्थ मुख्य और गौण के भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं। यहाँ गौण अर्थ में इस शब्द की प्रवृत्ति माननी चाहिये, मुख्य अर्थ में नहीं। किरणागम (वि.५.३) में इसको स्पष्ट किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि जैसे आत्मा के नित्य होने पर भी देहपात के कारण उसके नष्ट हो जाने की बात कही जाती है, उसके विभु (व्यापक) होने पर भी मुक्तिदशा में वह शिवभाव को प्राप्त हो गया, ऐसा कहा जाता है, उसी तरह से शक्तिपात शब्द की भी प्रवृत्ति औपचारिक माननी चाहिये।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि शक्तिपात शब्द का प्रयोग भले ही औपचारिक हो, किन्तु यह अमूर्त शक्तिपात आत्मा का क्या भला कर सकता है? इससे आत्मा में कौन सी विशेषता आ जायगी? इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तु के गिरने पर मनुष्य भय से आक्रान्त हो जाता है। इस गाँव पर राजा की कोपदृष्टि पड़ेगी, ऐसा सुनकर गाँव के लोग वहाँ से भाग कर, किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच कर अपनी रक्षा करते हैं, उसी तरह से यह अमूर्त शक्तिपात भी संसार के प्रति भय उत्पन्न कर देता है। शक्तिपात के पहले व्यक्ति को संसार के सुख लुभावने लगते हैं, किन्तु शक्तिपात हो जाने के बाद उसके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और वह संसार के भय से मुक्त हो जाने के लिये समर्थ गुरु की खोज में निकल पड़ता है।

शक्तिपात के चिह्नों का मृगेन्द्र (वि.५.४-५,८) आदि आगमों में विवरण मिलता है। [१]सकल आत्मा में ही ये चिह्न प्रकट होते हैं, विज्ञानाकल और प्रलयाकल में

---

१. ऊपर की पृ.२४ की टिप्पणी देखिये। दीक्षा-संस्कार जब सकल आत्मा का ही होगा, तब उसी में शक्तिपात के चिह्न प्रकट होंगे, यह स्वाभाविक है।

नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि शक्तिपात होने पर मैं कौन हूँ, दुःख का खजाना यह शरीर ही क्या मैं हूँ? ऐसा विचार करते करते मनुष्य में दुःख से मुक्ति पाने की इच्छा जाग उठती है और उसमें शक्तिपात के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। तब संसार के प्रति द्वेष-बुद्धि, मुक्ति की प्राप्ति के लिये श्रद्धा, शिव के प्रति भक्ति, गुरु की सेवा करने की इच्छा जैसे गुण उसमें उत्पन्न होते हैं। इन्हीं चिह्नों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस जीव पर ईश्वर की कृपा हुई है।

गुरुवर (सद्गुरु) के लक्षण सभी शास्त्रों में वर्णित हैं। ऐसे ही गुरुवर (आचार्य) को आलम्बन बना कर भगवान् शिव जीव पर अनुग्रह करते हैं। ऐसा गुरुवर शास्त्रों में शिवस्वरूप ही माना जाता है। ऐसा ही गुरु होत्री दीक्षा रूप क्रियाशक्ति और कर्तरी रूप ज्ञानशक्ति की सहायता से शक्तिपात-सम्पन्न शिष्य के पाशों का छेदन कर देता है। यह सद्गुरु शिष्य में शिवत्व की अभिव्यक्ति कर शक्तिपात के आधार पर रुद्रपद, विद्येश्वरपद, मन्त्रेश्वरपद अथवा शिवपद को प्रदान करते हैं। चतुर्विध शक्तिपात के आधार पर यह सब संभव हो पाता है। इसकी चर्चा क्रियापाद के चतुर्थ श्लोक में की गई है।

यहाँ (पृ.७६,८४) उद्धृत वरुणशिव के वचन में चतुर्विध शक्तिपात का उल्लेख मिलता है। उक्त चतुर्थ श्लोक की टीका में इन्हीं के लक्षण बताये गये हैं। मन्द, मन्दतर और तीव्र, तीव्रतर के भेद से यह शक्तिपात चार प्रकार का होता है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—तीव्रतर शक्तिपात वाले का दीक्षा की समाप्ति के तत्काल बाद देहपात हो जाता है, तीव्र शक्तिपात वाले को दीक्षा के बाद मूर्छा आ जाती है, मन्द शक्तिपात वाले के शरीर में कम्पन होता है और मन्दतर शक्तिपात वाले को दीक्षा के बाद रोमांच। इन लक्षणों के आधार पर विभिन्न दीक्षाएँ दी जाती हैं। जैसे कि मन्दतर शक्तिपात वाले को समय दीक्षा, मन्द को विशिष्ट दीक्षा, तीव्र को असद्योनिर्वाण और तीव्रतर शक्तिपात वाले को सद्योनिर्वाण दीक्षा दी जाती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ऊपर जिन चिह्नों की चर्चा की गई है, उनका ज्ञान तो दीक्षा देने के बाद होगा, दीक्षा के पहले उनका ज्ञान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि सद्गुरु को अपनी सामर्थ्य से और शिष्य की बाह्य क्रियाओं को देखकर इनको जानना पड़ता है। अन्यथा यहाँ गुरु ही दोष का भागी होगा, क्योंकि गलत दीक्षा देने से शिष्य को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकेगी। पृ.८६ पर उद्धृत वचनों में इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

दीक्षा

ऊपर चतुर्विध शक्तिपात के आधार पर समय, विशिष्ट, असद्योनिर्वाण और सद्योनिर्वाण नामक चतुर्विध दीक्षा का उल्लेख हुआ है। आगे (श्लो. ३०-३१) विभिन्न दीक्षाओं के स्वरूप का और उनसे प्राप्त होने वाले फल का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि दीक्षा शब्द का दीकार दानार्थक और क्षाकार क्षयार्थक है। दीक्षा दीक्षित व्यक्ति को शिवत्व प्रदान करती है और उसके पाशों का क्षय करती है। इस तरह से इन दोनों अर्थों की इस शब्द में संगति बैठती है। संक्षेप में परमेश्वर के द्वारा उपदिष्ट और फिर विद्येश्वर आदि के क्रम से देव-मुनि-मनुष्य पर्यन्त अध्येता और श्रोता की परम्परा के रूप में प्राप्त, सभी मानवों को अभिप्रेत भोग और मोक्ष फल को देने वाली तथा उनके मल आदि पाशों का नाश करने वाली [१]क्रिया दीक्षा कहलाती है। इस अर्थ के प्रतिपादक अनेक श्लोक तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में मिलते हैं।

दीक्षा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देती है। इसी के आधार पर दीक्षा पहले दो प्रकार की होती है। भौतिकी और नैष्ठिकी इनके नाम हैं। भूति का अर्थ विचित्र अभिमत भोगों की प्राप्ति है। भौतिकी दीक्षा प्रथमतः इस तरह के भोगों को देती हुई साधक को मुक्ति भी प्रदान करती है। निष्ठा का अर्थ है कैवल्य। कैवल्य को देने वाली दीक्षा नैष्ठिकी कहलाती है। निरन्तर बिना किसी आकांक्षा के तपस्या में निरत साधक नैष्ठिक कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को दी गई नैष्ठिकी दीक्षा से किसी ग्रहपद की प्राप्ति नहीं होती। ग्रहपद का अर्थ है विभिन्न भुवनों के विविध भोग।

सापेक्षा भौतिकी और निरपेक्षा भौतिकी एवं सापेक्षा नैष्ठिकी और निरपेक्षा नैष्ठिकी के रूप में इनके पुनः दो-दो भेद होते हैं। यहाँ साधक और आचार्य के लिये सापेक्षा तथा अन्यत्र सामर्थ्य और असामर्थ्य की संभावना के अनुसार किसी को सापेक्षा और अन्य को निरपेक्षा दीक्षा दी जाती है। मतान्तर के अनुसार शिवधर्मिणी दीक्षा के ही भौतिकी और नैष्ठिकी नामक भेद माने गये हैं। इनमें पहली भौतिकी दीक्षा के लोकधर्मिणी और शिवधर्मिणी नामक दो भेद हैं। इनमें पहली लौकिकी इसलिये कहलाती है कि इसमें लौकिक धर्म के साथ शिवधर्म का भी कुछ मात्रा में समावेश रहता है। यह

---

[१] तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इन दीक्षाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के इस प्रकरण का स्वच्छन्दतन्त्र के प्रथम पाँच पटलों में और श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के विभिन्न निबन्धों में विस्तार देखा जा सकता है।

दीक्षा देहपात के बाद अष्टविध अणिमा आदि ऐश्वर्यों (गुणाष्टक) को प्रदान करने वाली है, अपने अभीष्ट भुवन में यह दीक्षा साधक को सभी प्रकार के भोगों को देने वाली है। इससे साधक का लक्षण भी सूचित हो जाता है कि जो लोकशिव-धर्मिणी दीक्षा से संयुक्त है, वही साधक है। दूसरी दीक्षा का नाम शिवधर्मिणी है। शिवधर्मिणी दीक्षा प्राप्त हो जाने के बाद साधक लौकिक और वैदिक आचारों को छोड़कर केवल शिवधर्म का पालन तत्परता से करता है। शिवधर्म के अनुष्ठान से प्राप्त फल का उपभोग पूरा हो जाने पर शिवधर्मिणी दीक्षा से आत्मा में सर्वज्ञता आदि षड्विध गुणों का आविर्भाव हो जाता है। शिवधर्मिणी दीक्षा में लिंगियों की शिखा का भी छेद कर दिया जाता है, जब कि लोकधर्मिणी दीक्षा में गृहस्थों का शिखाछेद नहीं किया जाता। इस द्विविध दीक्षा की चर्चा यहाँ (पृ.७९) पहले भी हो चुकी है। प्रस्तुत स्थल पर उद्धृत वचन में द्विविध निर्वाण दीक्षा के रूप में इनका विवरण दिया गया है।

ऊपर वर्णित पहली भौतिकी दीक्षा सबीजा कहलाती है। सबीजा का अभिप्राय है दीक्षा द्वारा प्राप्त होने वाले फल के लिये उसके साधनभूत समयाचारों की सापेक्षता। इसीलिये इसे सबीजा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यह सबीजा दीक्षा नित्य, नैमित्तिक आदि समयाचारों के पालन में समर्थ व्यक्ति को ही देनी चाहिये।

दूसरी नैष्ठिकी दीक्षा निर्बीजा कहलाती है। समयाचार के पालन में असमर्थ बालक, वृद्ध, स्त्री, रोगी आदि को यह दी जाती है। यह निर्बीजा दीक्षा समयाचार का पालन करने में असमर्थ व्यक्तियों को भी मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है। यह शुद्ध भुवनों के भोगों को चाहने वाले अज्ञानियों और निरन्तर तपस्या में लगे हुए मोक्ष की इच्छा वाले योगियों को भी समान रूप से दी जा सकती है।

सबीजा दीक्षा साधिकारा और निरधिकारा के भेद से भी दो तरह की मानी गई है। यहाँ साधिकारा दीक्षा साधक और आचार्य को दी जाती है, जिसके कारण इनको स्थापन (प्रतिष्ठा) आदि उन-उन कर्मों के सम्पादन का अधिकार मिलता है। समयी और पुत्रक को निरधिकारा दीक्षा दी जाती है, इसलिये इनको स्थापन आदि कर्मों के सम्पादन का अधिकार नहीं मिलता।

समयाचार-वर्जित असमर्थ व्यक्तियों के लिये जिस निर्बीजा दीक्षा का विधान है, वह भी सद्योनिर्वाण और असद्योनिर्वाण के भेद से दो प्रकार की है। इनमें से सद्योनिर्वाण दीक्षा उन शिव-भक्तों को दी जाती है, जिनके मल का तीव्रतर परिपाक हो गया है, जो अत्यन्त विरक्त हैं और इस मनुष्ययोनि में रहते हुए भी दीक्षा प्राप्त हो जाने के उपरान्त नित्य और नैमित्तिक समयाचारों का पालन करते हुए अपने सारे मलों का शोधन कर चुके हैं। ऐसे व्यक्तियों को दीक्षा-प्राप्ति के बाद तत्काल देहपात के साथ

मुक्ति मिल जाती है। असद्योनिर्वाण दीक्षा में प्रारब्ध कर्मों के फल का उपभोग पूरा होने के बाद देहपात होता है। इन चतुर्विध दीक्षाओं का संक्षिप्त उल्लेख चतुर्विध शक्तिपात के प्रसंग में आ चुका है।

निराधारा और साधारा के भेद से यह दीक्षा पुनः दो प्रकार की होती है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल नामक आत्माओं को भगवान् शिव के द्वारा दी गई दीक्षा निराधारा कहलाती है। निराधार का अर्थ है निरधिकरण और साधार का अर्थ साधिकरण है। आधार का अर्थ अधिकरण, अधिष्ठान, स्थान। साधारा दीक्षा में आचार्य की स्थिति इसी रूप में रहती है। निराधारा दीक्षा में गुरु की भूमिका नहीं रहती, वह तो साक्षात् परमशिव द्वारा दी जाती है। इसीलिये तीव्र शक्तिपात से सम्पन्न जीव को परशिव के द्वारा जो दीक्षा दी जाती है, वह निराधारा दीक्षा है। सकल नामक आत्माओं को गुरुमूर्ति में अधिष्ठित शिव के द्वारा दी गई दीक्षा साधारा कहलाती है। यहाँ आचार्य की मात्र अधिकरणता मानी गई है। गुरुमूर्ति में अधिष्ठित होकर मात्र शिव ही **सकल** आत्माओं को दीक्षा देते हैं, क्योंकि शिव के सिवाय किसी अन्य में मल आदि पाशों से जीवात्माओं को मुक्त करने की सामर्थ्य नहीं है। ऊपर बताये गये सारे भेद साधारा दीक्षा के ही हैं।

दीक्षा-संस्कार किसका?

अब प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यह दीक्षा-संस्कार शरीर का होता है? या जाति का होता है? या आत्मा का? इसका समाधान यह है कि यहाँ शैवसिद्धान्त में वैदिक द्विजों की तरह शरीर का दीक्षा-संस्कार नहीं होता। ब्राह्मण आदि जाति का भी यह नहीं होता, किन्तु अनादि मल से आवृत आत्मा को शिवत्व की प्राप्ति हो, इस अभिप्राय से यह संस्कार किया जाता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार ने 'शैवात्मनः' पद दिया है। वेदविहित द्विजत्व संस्कार शरीर का ही बताया गया है। स्मृतियाँ श्रुतियों में प्रतिपादित अर्थ का ही निरूपण करती हैं और मनुस्मृति (२.२६-२७) में बताया गया है कि गर्भाधान आदि सारे संस्कार शरीर के ही होते हैं। शरीर तो जड़ है, उसका संस्कार कैसे हो सकता है? यदि ब्राह्मण आदि जातियों का यह संस्कार माना जायगा, तब तो एक जाति का संस्कार हो जाने पर उस जाति की सभी व्यक्तियों का संस्कार हो जायगा और उनसे उत्पन्न सन्ततियों का भी यह संस्कार अपने आप हो जायगा। किन्तु लोक में ऐसा व्यवहार प्रचलित नहीं है। इसलिये जाति का भी यह संस्कार नहीं माना जा सकता। अन्ततः आत्मा के ही अनादि काल से चले आ रहे मल के अपसारण के लिये दीक्षा-संस्कार की उपयोगिता माननी पड़ेगी, शरीर अथवा जाति के संस्कार के लिये नहीं। शैवागमों

में यह विषय सयुक्तिक प्रतिपादित है। विशेष जिज्ञासुओं को पृ.१५३ की टिप्पणी देखनी चाहिये।

समयाचार-पालन

ऊपर विविध दीक्षाओं का परिचय दिया गया है। दीक्षा-प्राप्ति के उपरान्त समयी, पुत्रक और साधक को गुरुप्रदत्त समयाचारों का पालन अवश्य करना चाहिये, अन्यथा वह प्रायश्चित्त का भागी होता है और प्रायश्चित्त न करने पर पिशाचयोनि को प्राप्त करता है। इन समयाचारों का वर्णन तन्त्रागमशास्त्र की प्रत्येक शाखा के ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ (पृ.७७) भी समयाचारों के साथ नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इन समयाचारों का पालन करने वाला शरीरपात के बाद शिवपद को प्राप्त करता है। शैव धर्म के अनुयायी को इनका पालन अवश्य करना चाहिये। यहाँ (पृ.७८-७९) कामिकागम के वचनों को उद्धृत किया गया है। इन समयाचारों का लोप होने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

समयाचार का यह लोप सकाम और अकाम के भेद से दो तरह का होता है। जान-बूझ कर किया गया लोप सकाम और दैव आदि के कारण हुआ अकाम कहलाता है। अकस्मात् किसी विघ्न के आजाने पर, रोग अथवा मोहवश, राजा, चोर आदि का भय उपस्थित होने पर हुआ क्रियालोप अकाम, अन्यथा सकाम कहलाता है। यहाँ 'मोह' का तात्पर्य शास्त्र के अर्थ को सही रूप में न समझना है। जैसे कि लोकधर्मिणी दीक्षा में ही श्रौत एवं शैव उभय धर्मों का अनुष्ठान विहित है, शैवधर्मिणी में नहीं। समयाचार का लोप होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है, अन्यथा दीक्षा निष्फल हो जाती है।

इस स्थिति में दीक्षित व्यक्ति अपनी मृत्यु के समय ज्ञानपाद के प्रथम श्लोक की व्याख्या में बताई गई पद्धति से हृदय आदि स्थानों में ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के त्याग के साथ मूलाधार से उत्थित नाद-स्वरूप प्रासाद मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग करे। ऐसा करने में असमर्थ व्यक्ति ब्रह्मरन्ध्र के भेदन की भावना करता हुआ द्वादशान्त पद में स्थित परशिव के साथ एकीकार की भावना करता हुआ शान्तभाव से प्राणत्याग करे। त्रिशतिकालोत्तर (पृ.८०) में इसकी विधि वर्णित है। इस पद्धति का पालन करने में असमर्थ व्यक्ति के लिये देशिक (कुलगुरु) को अथवा अन्य शुभचिन्तक को यह सब करना चाहिये।

प्रस्तुत स्थान पर अन्त्ययाग, अर्थात् अन्त्येष्टि से शिवत्व की प्राप्ति बताई गई है। यह उचित नहीं है, क्योंकि शिवत्व की प्राप्ति तो दीक्षा के कारण पाशों के

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY

कट जाने से उसी समय हो जाती है? इसका समाधान यह है—दीक्षा हो जाने के बाद व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण समयाचार का लोप कर बैठता है और अज्ञान के कारण ही वह इस दोष की शान्ति के लिये प्रायश्चित्त नहीं करता। ऐसी स्थिति में अन्त्येष्टि के समय इन दोषों का परिहार होने पर ही शिवत्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसीलिये आगमों में बताया गया है कि समयाचारों का पालन करने वाले की अन्त्येष्टि तत्त्वशुद्धि के बिना केवल शिवाग्नि से की जाती है। इसके विपरीत समयाचारों का लोप करने वालों की अन्त्येष्टि में तत्त्वशुद्धि आवश्यक हो जाती है। अन्त्येष्टि संस्कार के द्वारा शिवभाव की प्राप्ति हो जाने पर उसमें सर्वज्ञता आदि गुण अभिव्यक्त हो उठते हैं और वह परमशिव के समान हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जान-बूझ कर समयाचार का लोप करने वाले की मुक्ति केवल दीक्षा-संस्कार से नहीं होने पाती, अतः उसकी मुक्ति के लिये अन्त्येष्टि संस्कार के समय तत्त्वशुद्धि आवश्यक हो जाती है।

चर्या शब्द का अर्थ समयाचार का विधिवत् पालन और नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करना है। इन समयाचारों का परित्याग यदि जान-बूझ कर किया जाता है, अथवा अज्ञान से हुए दोषों का यदि प्रायश्चित्त नहीं किया जाता, तो ऐसे दोषों की शुद्धि अन्त्येष्टि संस्कार से भी नहीं होने पाती। व्यक्ति यदि जान-बूझकर क्रियालोप करता है अथवा स्वकृत दोषों का प्रायश्चित्त नहीं करता, ऐसी स्थिति में भी यदि अन्त्येष्टि कर्म से इनकी शुद्धि मानी जायगी, तो फिर प्रायश्चित्त शास्त्र की उपयोगिता ही समाप्त हो जायगी। शास्त्र कहते हैं कि समयाचार का उल्लंघन करने वालों को पिशाचयोनि[१] की प्राप्ति होती है। दीक्षा में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाने पर भी यदि दीक्षित व्यक्ति समयाचार का सही ढंग से पालन करता है, तो उसे शिवपद की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसके विपरीत समयाचार से भ्रष्ट और जो कुछ मैं करता हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं? इस विषय में संदिग्ध व्यक्ति कभी शिवपद को प्राप्त नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि दीक्षा में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाने पर भी यदि दीक्षित व्यक्ति समयाचार का नियमानुसार पालन करता है, तो अवश्य ही शिवपद को प्राप्त कर लेता है। समयाचार के पालन की वरीयता भी इससे स्पष्ट हो जाती है। समयाचारों के संबन्ध में पर्याप्त सामग्री यहाँ उपलब्ध है। विशिष्ट-विषयानुक्रमणी की सहायता से उसको देखा जा सकता है।

---

१. "काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस सिद्धान्त में भैरव-यातना की व्याख्या इसी पद्धति से की जा सकती है।

दीक्षा-विधान

प्राय: पूरा क्रियापाद दीक्षा-विधान को ही समर्पित है। तदनुसार ऊपर विविध दीक्षाओं का स्वरूप बताया गया है। शुभ मुहूर्त में यह दीक्षा ली जाती है। इसलिये दीक्षा के योग्य काल[१] मास, नक्षत्र, वार, योग और करण का विधान क्रियापाद के ३२ वें श्लोक में विस्तार से बताया गया है। दीक्षा संस्कार में शिष्य को गुरु से मन्त्र प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में शिव द्वारा स्कन्द[२] गुरु को उपदिष्ट प्रासाद मन्त्र को वरीयता दी गई है। इसका स्वरूप ऊपर बताया जा चुका है। प्रासाद मन्त्र के जप से शिवपद की प्राप्ति होती है। शास्त्र-निर्दिष्ट पद्धति से मन्त्र का जप करता हुआ साधक कारणेश्वरों का क्रमश: परित्याग करता हुआ ही वहाँ तक पहुँच पाता है। अत: कारणेश्वरों के त्याग की प्रक्रिया से हमारा परिचित होना जरूरी है।

कारणेश्वर-त्याग

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाहत शिव—ये छ: कारणेश्वर माने जाते हैं। "षट्त्यागात् सप्तमे लय:" यह वचन नेत्रतन्त्र (२२.२०) और स्वच्छन्दतंन्त्र (४.२६७) में भी उपलब्ध है। प्रस्तुत प्रकरणों में इसकी प्रक्रिया भी वहाँ वर्णित है। प्रस्तुत ग्रन्थ और टीका में यह विषय प्रासाद मन्त्र की पृष्ठभूमि में अनेक स्थलों पर चर्चित है। उसको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

टीकाकार ने पृ.५-६ पर बताया है कि प्रासाद मन्त्र का ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से पंचविध उच्चारण होता है। बिन्दु पर्यन्त उच्चारण ह्रस्व, अर्धेन्दु पर्यन्त दीर्घ, निरोधिनी पर्यन्त प्लुत, नाद पर्यन्त सूक्ष्म और व्यापिनी पर्यन्त उच्चारण अतिसूक्ष्म कहलाता है। प्रासाद मन्त्र के ह्रस्व उच्चारण से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक कारणेश्वरों का त्याग हो जाता है। प्रासाद मन्त्र में स्थित मकार रुद्र का वाचक है। इसका तालुमध्य में त्याग हो जाता है। प्रासाद मन्त्र के दीर्घ और

---

१. दीक्षा के काल का निर्णय करते समय यहाँ (पृ.१५६) संक्रान्ति-काल एवं चन्द्र-सूर्य ग्रहण के काल के विषय में दी गई सूचना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

२. पृ.९० पर उद्धृत—"सदाशिवमनन्तं च श्रीकण्ठं पुनरम्बिकाम्। गुहं विष्णुं च धातारं सदा सप्तगुरून् स्मरेत्।।" इस श्लोक में आया 'गुह' पद स्कन्द गुरु का ही सूचक है।

प्लुत उच्चारण से बिन्दु, अर्थात् भ्रूमध्य में ईश्वर का त्याग हो जाता है। बिन्दु में अर्धचन्द्र और निरोधिनी का भी अन्तर्भाव माना जाता है। ब्रह्मबिल से एक अंगुल ऊपर शक्ति का और उससे तीन अंगुल ऊपर व्यापिनी का स्थान है। सदाशिव की व्याप्ति यहीं तक मानी गई है। इस प्रकार [1]नवकल प्रासाद मन्त्र के पंचविध उच्चारण से ब्रह्मा आदि पाँच कारणेश्वरों के त्याग की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। व्यापिनी से चार अंगुल ऊपर समना स्थित है। यह अनाहत शिव का स्थान है। यहाँ आकर अनाहत शिव का भी त्याग हो जाता है। इसके आगे प्रासाद मन्त्र का जापक अमनस्क परमशिव के रूप में उन्मना में प्रतिष्ठित हो जाता है।

कारणेश्वरों के त्याग की एक दूसरी भी पद्धति है। बिन्दु, अर्धचन्द्र और रोधिनी कलाओं के अधिपति ईश्वर हैं। ईश्वर के त्याग से इन कलाओं का त्याग सम्पन्न हो जाता है। सदाशिव के त्याग से नाद और नादान्त का और अनाहत शिव के त्याग से शक्ति, व्यापिका और समना कलाओं का त्याग हो जाता है। इस व्याख्या में व्योम पद से शक्ति आदि तीन कलाओं का ग्रहण होगा। प्रासाद मन्त्र के सूक्ष्म उच्चारण से सदाशिव का और अतिसूक्ष्म उच्चारण से अनाहत शिव का त्याग हो जाता है। इस विषय की चर्चा ज्ञानशिवाचार्य ने अपने पूजास्तोत्र में की है। इन द्वादश कलाओं की चर्चा स्वच्छन्दतन्त्र (४.२५५-२५६) में भी मिलती है

कारणेश्वरों की व्याप्ति का क्रम आगे (पृ.९९-१००) इस प्रकार बताया गया है—मूलाधार से लेकर नाभि पर्यन्त स्थान को व्याप्त कर हकार स्थित है। नाभि से लेकर हृदय (ब्रह्मस्थान) पर्यन्त स्थान में तीन मात्रा वाले औकार (मेधा कला) की व्याप्ति है। यहाँ कु (पृथिवी) से लेकर अकृत (अव्यक्त) पर्यन्त तत्त्व और कारणेश्वर ब्रह्मा स्थित हैं। कण्ठ में कारणेश्वर विष्णु स्थित हैं। यहाँ कला तत्त्व पर्यन्त तत्त्वों में ऊकार कला की व्याप्ति है। मकार कला की व्याप्ति तालु-स्थान पर्यन्त है। यहाँ माया तत्त्व स्थित है और कारणेश्वर रुद्र हैं। भ्रूस्थान तक बिन्दु कला की व्याप्ति है। यहाँ शुद्धविद्या और ईश्वर तत्त्व स्थित हैं और कारणेश्वर अनन्त (ईश्वर) हैं। आगे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त नामक चार कलाओं की व्याप्ति है। यहाँ सदाशिव और शक्ति नामक दो तत्त्वों की तथा कारणेश्वर के रूप में सदाशिव की स्थिति है, अर्थात् भ्रूमध्य से लेकर ब्रह्मबिल पर्यन्त पौने तीन अंगुल स्थान में क्रमशः

---

१. इसी पद्धति से प्रणव की पंचविध उच्चारण की प्रक्रिया नेत्रतन्त्र में बताई गई है। ऊपर पृ.१५ की ३ री टिप्पणी देखिये।

अर्धचन्द्र आदि कलाएँ स्थित हैं। शिवतत्त्व का अन्तर्भाव शक्ति कला में ही हो जाता है (पृ.१००), अत: इसके आगे किसी तत्त्व की स्थिति नहीं रहती। इसके ऊपर द्वादशांगुल स्थान में क्रमश: शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना कलाएँ स्थित हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—ब्रह्मबिल से एक अंगुल ऊपर शक्ति कला की, उसके तीन अंगुल ऊपर व्यापिनी कला की, चार अंगुल ऊपर समना की और पुन: चार अंगुल ऊपर उन्मना कला की स्थिति है। कारणेश्वर के रूप में यहाँ अनाहत शिव विराजमान हैं।

इस प्रक्रिया की पुष्टि में टीकाकार ने आगे (पृ.१०४-१०५) वातुलागम का विस्तृत उद्धरण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्म कल्प में प्रकृति पर्यन्त चौबीस तत्त्वों का विलय हो जाता है। इसलिये इनसे उत्पन्न बन्धन को काटने के लिये ब्रह्मा के स्थान हृदय में इनका त्याग प्रदर्शित है। विष्णु के परार्ध काल में काल पर्यन्त तत्त्वों का विलय हो जाता है, अत: विष्णु के स्थान कण्ठ में इनका त्याग कर दिया जाता है। माया तत्त्व में सभी का उपसंहार हो जाता है, अत: रुद्र के स्थान तालु में इनका त्याग विहित है। शुद्धविद्या और ईश्वरस्वरूपा वैखरी और मध्यमा वाणी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों में कारण बनती हैं और जाग्रदवस्था में ये प्रवृत्त होती हैं, अत: जाग्रदवस्था के स्थान भ्रूमध्य में, जो कि ईश्वर का स्थान है, इनका त्याग कर दिया जाता है। सदाशिव और शक्तितत्त्व की स्थिति मूर्धा में मानी गई है, अत: सदाशिव के इस स्थान में इनका त्याग किया जाता है।

कारणेश्वरों में [१]पुर्यष्टक-त्याग की प्रक्रिया कालोत्तरसूत्र (१७.६) में इस प्रकार वर्णित है—ब्रह्मस्थान हृदयाकाश में शब्द और स्पर्श का त्याग किया जाता है, क्योंकि शब्द और वायु की स्थिति आकाश में मानी गई है। विष्णु के स्थान कण्ठ में रस का त्याग करे, क्योंकि रसनेन्द्रिय का मूल कण्ठ में ही है। रुद्र के स्थान तालु में रूप और गन्ध का त्याग करे, क्योंकि इनकी उत्पत्ति का स्थान यही है। बुद्धि और अहंकार पद से बाह्य और आन्तर करणवर्ग का ग्रहण होता है। ईश्वर-स्थान में इनका त्याग किया जाता है, क्योंकि माया के कार्यों को यही नियन्त्रित करता है। मन ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होने से माया के अन्तर्गत आता है और बिन्दु शुद्ध प्रकृति है। इसलिये माया और महामाया से उत्पन्न सारे कार्य-वर्ग का उपसंहार सदाशिव

---

१. कालोत्तरसूत्र (१७.४) में पुर्यष्टक शब्द का प्रयोग भगवद्गीता (७.४) में वर्णित अष्ट प्रकृति के अर्थ में हुआ है।

के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में किया जाता है। आत्मा बीजरूप में शिव में लीन हो जाता है। यही स्थिति मन्त्र की भी मानी गई है। इस तरह से स्थूल और सूक्ष्म विविध कार्य-वर्ग की अपने-अपने स्थानों में विलय की प्रक्रिया पूरी की जाती है। यह प्रक्रिया दीक्षाकाल में और उत्क्रान्ति-काल में समान रूप से चलती है। इनमें अन्तर इतना ही है कि निर्बीज दीक्षा में इन्द्रिय-दोषों के परिहार के लिये और उत्क्रान्ति-काल में सभी प्रकार के पाशों के परिहार के लिये यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसीलिये प्रस्तुत प्रकरण में इनका एक साथ विवरण दिया गया है। बाह्य एवं आन्तर इन्द्रिय-जन्य दोषों (विप्लुति) की निवृत्ति के लिये ब्रह्मा आदि पाँच कारणेश्वरों को शब्द-स्पर्श आदि के रूप में पुर्यष्टक को शुल्क के रूप में समर्पित करने की विधि आगे ८० वें श्लोक (पृ.२३६-२३९) में देखनी चाहिये। अकार आदि स्वरों के रूप में ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के परित्याग के क्रम से भी शिव में विलयन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है (पृ.१०७)।

मन्त्र की अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद नामक पाँच कलाओं के हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र ये क्रमशः पाँच स्थान हैं। इनमें से हृदय-स्थित अकार की दस कलाएं हैं। कण्ठ-स्थित उकार की सोलह, तालु-स्थित मकार की चौबीस, ललाट-स्थान में स्थित बिन्दु की चार[१] और ब्रह्मरन्ध्र-स्थित नाद की दस कलाएँ— ये सब मिल कर चौसठ कलाएँ होती हैं। इनके नाम पृ.१२९ पर दिये गये हैं। इनमें[२] संशोधन अपेक्षित है। इन चौसठ कलाओं के अधिपति क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं। अपने-अपने स्थानों में इनका त्याग कर देना पड़ता है।

यह कारणत्याग आवाहन की प्रक्रिया से संबद्ध है। तदनुसार साधक पहले पुष्पांजलि को मूलाधार में स्थापित करता है। क्रमशः उसको ऊपर ले जाते हुए हृदय-स्थान में कुछ क्षण ठहर कर मूल मन्त्र के अकार का और उसके अधिपति ब्रह्मा का वहाँ त्याग कर देता है। आगे कण्ठ-स्थान में भी कुछ क्षण ठहर उकार का और उसके अधिपति विष्णु का त्याग कर देता है। इसके ऊपर तालु-स्थान में कुछ क्षण ठहर

---

[१] कूर्मपुराण (१.११.२६-२७) में शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नामक चार शक्तियाँ उल्लिखित हैं। संभव है उनका संबन्ध इन बिन्दु-कलाओं से ही हो।

[२] यहाँ (पृ.१२९) का पूरा प्रकरण अशुद्ध एवं अधूरा लगता है। नामावली भी सही नहीं है।

कर वह मकार का और उसके अधिपति रुद्र का, उसके भी ऊपर भ्रूमध्य में ठहर कर बिन्दु का और उसके अधिपति ईश्वर का और उसके भी आगे ब्रह्मरन्ध्र-स्थान में कुछ क्षण ठहर कर नाद के साथ सदाशिव का त्याग कर देता है। इससे भी आगे उठ कर द्वादशान्त स्थान में पहुँच कर वहाँ उन्मनी कला के अन्त में स्थित परशिव का, "मैं ही परशिव हूँ" इस प्रकार की एकाकारता की — अभिन्नता की भावना कर पुष्पांजलि समर्पित करता है। इसके बाद साधक भ्रूमध्य तक उतर कर वहाँ कुछ क्षण ठहरे और वहाँ ललाट में घण्टानाद की ध्वनि का ध्यान करे। उसके बाद यह पुष्पांजलि हृदयप्रदेश में स्थित ज्योतिर्मय लिंग को समर्पित कर दे। प्रस्तुत स्थल पर (पृ.१३०) प्रदर्शित पराख्यसंहिता आदि के वचनों में आवाहन की यह श्रेष्ठ प्रक्रिया प्रदर्शित है।

पवित्रार्पण के प्रसंग (पृ.३००) में यह द्रष्टव्य है कि चतुर्विध पवित्रों का समर्पण चार ही कारणेश्वरों को किया जाता है। ब्रह्मा आदि पाँच कारणेश्वरों की व्युत्पत्ति आगे (पृ.३०२) बताई गई है। वहाँ यह भी कहा गया है कि सद्योजात आदि पंचब्रह्म इन कारणेश्वरों के अधिष्ठाता हैं।

दीक्षित व्यक्ति की चर्या

इस प्रकार दीक्षा के उपरान्त सद्गुरु से प्राप्त प्रासाद मन्त्र का कारणेश्वर-त्याग पूर्वक जप करने वाला साधक शिवस्वरूप हो जाता है। "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" यह शास्त्र का सिद्धान्त है। अतः यह शिव-स्वरूप साधक शाक्त क्षोभ से प्रवाहित हो रहे अमृतप्रवाह से अपने देह के अन्दर-बाहर से अभिषिक्त होने की भावना करता है। इसी को मानस स्नान कहा जाता है। अष्टविध स्नानों में इस मानस स्नान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसके साथ ही शिवदीक्षा-प्राप्त साधक भूतशुद्धि करते समय अपने शरीर की वृक्ष के रूप में भावना करता है एवं त्रिविध प्राणायामों की सहायता से शोषण, दाहन और आप्लावन नामक संस्कार-विशेषों से शरीर को शुद्ध कर तदनन्तर देवपूजन करता है। देवपूजन करते समय वह अपने शरीर के विभिन्न अंगों में पंचब्रह्म मन्त्रों की अड़तीस कलाओं का भी विन्यास करता है।

मानस-स्नान, भूतशुद्धि और कला-न्यास की यह प्रक्रिया यहाँ १३-१७ श्लोकों (पृ.११०-१२०) में स्पष्ट रूप से वर्णित है। ये सब विषय अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु भूतशुद्धि और [1]कलान्यास का जिस प्रकार सांगोपांग परिचय यहाँ प्रस्तुत

---

१. कला-न्यास के प्रकरण में वामदेव की तेरह कलाओं के न्यास का विवरण त्रुटिपूर्ण लगता है।

किया गया है, वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। कलान्यास का संक्षिप्त परिचय नेत्रतन्त्र (२२.२५-३४) और स्वच्छन्दतन्त्र (१.४१-६२) में भी मिलता है। स्वच्छन्द का क्रम अधिक स्पष्ट है। भूतशुद्धि के प्रकरण में त्रिविध प्राणायाम की प्रक्रिया से पंचभूतों में शोष, दाह और आप्याय की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण यहाँ मिलता है और अमूर्त आकाश के ध्यान की विधि को भी स्पष्ट किया गया है।

आन्तर और बाह्य पूजा

आन्तर और बाह्य नामक दो प्रकार की शिवपूजा में से आत्मज्ञानियों के लिये आन्तर तथा क्रियाधिकारियों के लिये बाह्य पूजा का विधान है। आन्तर पूजा के उपरान्त ही बाह्य पूजा करनी चाहिये, ऐसा भी शास्त्रों का विधान है। यहाँ (पृ.१२१) भी बताया गया है—"अन्तर्यागं पुरा कृत्वा बाह्ययागमथाचरेत्"। मानस शिवपूजा पूरी करने के उपरान्त [1]नाभिकुण्ड में शिवाग्नि की प्रतिष्ठा कर उसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। इस पूरी आन्तर पूजा-प्रक्रिया का विवरण यहाँ (पृ. १२०-१२५) विस्तार से देखा जा सकता है। आभ्यन्तर पूजा की दो विधियाँ, भाव पद का अर्थ, अहिंसा आदि अष्टविध भावपुष्प जैसे विषय यहाँ सुस्पष्ट रूप से वर्णित हैं।

आन्तर योग-प्रक्रिया से सम्पन्न होने वाली शिव की मानस पूजा के बाद बाह्य पूजा का यहाँ (पृ.१२५-१३५) वर्णन है। स्वमूर्ति, गुरुमूर्ति आदि की अपेक्षा शिवलिंग में ही शिवपूजा का विधान श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रसंग में [2]आसन-परिकल्पन एवं षडध्वन्यास की विधि का टीकाकार ने विस्तार से वर्णन किया है। आगे पूजा के अधिष्ठान शिवलिंग में भगवान् शिव के आवाहन के उत्कृष्ट क्रम को बताया गया है। इसकी पहले भी चर्चा आ चुकी है। परशिव की पूजा के आवाहन, स्थापन, संनिधान, निरोधन, अवकुण्ठन, अमृतीकरण, [3]पाद्य, आचमन, अर्घ्य और पुष्पदान नामक दस संस्कारों का सुन्दर विश्लेषण यहाँ किया गया है। टीकाकार ने सर्वव्यापक भगवान् का आवाहन कैसा? इस शंका का समाधान करते हुए बताया है कि जैसे काष्ठ

---

१. तुलना के लिये योगिनीहृदय (३.१०६-१०८) की टीकाओं को देखिये।

२. यहाँ (पृ.१२५-१२८) विवृत सिंहासन की परिकल्पना पारमेश्वरागम (१०.२६-३३) में भी है। यहाँ चौसठ केसरों की संगति सही नहीं बैठती। योगिनीहृदयदीपिका (पृ.२६) में दी गई टिप्पणी की पद्धति से मकार को हटाने पर यह संभव हो सकेगी।

३. पाद्य आदि के दान की पद्धति पृ.१३३ पर देखी जा सकती है।

में सर्वत्र विद्यमान अग्नि किसी एक स्थान पर मथन करने से प्रकट हो जाती है, उसी तरह से सर्वत्र विद्यमान शिव [1]आवाहन क्रिया से वहाँ प्रकट हो उठते हैं।

पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता (२५.१२१) में इसके साथ व्यजन और पवन का दृष्टान्त भी दिया है। जैसे सर्वत्र विद्यमान पवन व्यजन (पंखा) के चलाने से प्रकट हो उठता है, वैसे ही भक्त के द्वारा श्रद्धा के साथ आवाहन करने पर भगवान् [2]पूज्य स्थल पर प्रकट हो जाते हैं। टीकाकार ने यहाँ आवाहन के दो प्रकारों का विवरण देकर इन दशविध [3]संस्कारों के पारिभाषिक अर्थ को स्पष्ट किया है, जो कि अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। प्रसंगवश यहाँ मुद्रा पद का निर्वचन और आवाहिनी, स्थापनी आदि मुद्राओं का स्वरूप भी प्रदर्शित है।

इसके बाद शिवपूजा के लिये स्वीकृत उपचारों की पंचभूतों में व्याप्ति होने से पंचोपचारों का स्वरूप बताया गया है (पृ.१३४)। पंचोपचारों का यह स्वरूप आगम-तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में अपनी-अपनी पद्धति से वर्णित है। तन्त्रशास्त्र की बौद्ध[4] एवं क्रम शाखा में इसकी परापरा पूजा के अन्तर्गत व्याख्या की गई है। टीकाकार के द्वारा उद्धृत (पृ.१३४) वचन में जलीय उपचार में पट (वस्त्र) का समावेश किया गया है। इस पर हमने वहाँ शंका उपस्थित कर उसका समाधान भी देने का प्रयत्न किया है। प्रबुद्ध पाठकों को इस पर विचार करना चाहिये।

जप-निवेदन

इस प्रकार विस्तार से आन्तर और बाह्य पूजा की पद्धति को बताने के बाद ग्रन्थकार भक्तिपूर्वक जप करने के लिये शिव मन्त्र के जप की भावना के क्रम को दिखाते हैं। इसके क्रम को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि ब्रह्मरन्ध्र-स्थान से भी ऊपर विद्यमान द्वादशान्त पद में स्थित परशिव में लीन होकर जप करना चाहिये। इस आन्तर जपविधि का स्वरूप योगिनीहृदय (३.१७४-१८९) में और उसकी दीपिका

---

[1] पंचवक्त्र शिव का आवाहन ईशान नामक ऊर्ध्ववक्त्र में किया जाता है (पृ.१३१)।

[2] पृ.१३२ पर बताई गई अवकुण्ठन प्रक्रिया से भक्तों के हृदय में शिव प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित हो उठते हैं। वैष्णव प्रक्रिया—"हृदयान्माऽपयातु मे" के अनुसार तब भक्त अपने हृदय से भगवान् को जाने नहीं देता।

[3] प्रस्तुत प्रकरण में सकलीकरण का लक्षण प्रदर्शित नहीं है।

[4] पंचोपचार पूजा के विविध स्वरूप ऋजुविमर्शिनी (पृ.१३३-१३४, २६४), महार्थ-मंजरी परिमल (पृ.८०) तथा हेवज्रतन्त्र (१.१०.३८-४०) में देखिये।

टीका में विस्तार से देखा जा सकता है। शून्यषट्क, अवस्थापंचक और विषुवसप्तक की भावना का प्रकार अलग-अलग स्थलों पर यहां भी देखने को मिलता है, इसकी सूचना हम पहले ही दे चुके हैं। मन्त्र-जप के मानस, उपांशु और भाष्य नामक त्रिविध भेदों का स्वरूप सर्वत्र उपलब्ध होता है। यहाँ (पृ.१३७) भी उनकी व्याख्या मिलती है। यहाँ उद्धृत (पृ.१३७) वचन की यह विशेषता है कि इस त्रिविध जप को, क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस बताया गया है और कहा गया है कि क्रूर कर्म के लिये तामस भाष्य जप का उपयोग करना चाहिये।

अक्षनिकर से अभिप्राय [1]जपमाला में विद्यमान रुद्राक्षों से है। यहाँ (पृ.१३६) उद्धृत आगमशास्त्र के वचन में इनका लक्षण बताया गया है। जप करते समय मध्यमा अंगुलि से एक-एक दाने को खींचा जाता है। यहाँ भुक्ति (भोग) की कामना वाला मध्यमा अंगुलि के निचले भाग से और मुक्ति (मोक्ष) की कामना वाला ऊपर के भाग से दानों को खींचे। अंगुष्ठ और तर्जनी से दानों के कर्षण का भी विधान है। विधिवत् शिव मन्त्र का जप करने के उपरान्त उसे शिव को समर्पित कर दे। जप के समर्पण का प्रकार यह है— जपमाला को दाहिने हाथ पर रखकर उस हाथ का षडंग मन्त्रों से अर्चन कर क़वच और अस्त्र मन्त्र से उसकी रक्षा करे। बाद में हृदय-प्रदेश तक हाथ को ले जा कर भूमि पर दाहिना घुटना टेक कर "गुह्यातिगुह्य" इत्यादि मन्त्र को पढे। इसके बाद "जपं गृहाण स्वाहा" ऐसा कहते हुए जल को सदाशिव के वरद हस्त पर छोड़ दे। यहाँ हम देखते हैं कि मन्त्रजप से संबद्ध यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्व का है। इससे हमें अनेक नई जानकारियाँ मिलती हैं।

अग्निकार्य

इस प्रकार (पृ.१३५-१३७) जप-संबन्धी सूचनाओं को देकर आगे यहाँ (पृ.१३७-१४७) दीक्षा के प्रसंग में दी जाने वाली आहुतियों की पद्धति को बताने के लिये कुण्ड-संस्कार आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। टीकाकार ने यहाँ सर्वप्रथम नेमि (मेखला) और नाभि (कुण्ड-योनि) आदि कुण्ड के विभिन्न अवयवों के निर्माण की पद्धति को बताकर कुण्ड के निरीक्षण, प्रोक्षण आदि अठारह प्रकार के संस्कारों का स्वरूप बताया है। कुछ आचार्य अक्षपाट नामक संस्कार की भी चर्चा करते हैं। टीकाकार ने इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है और बताया है कि यह संस्कार कुण्ड का नहीं, मण्डप का है। कुण्ड के इन संस्कारों को करने के बाद उसमें वागीश्वरी

---

१. यहाँ (पृ.१३६) उद्धृत आगम-वचन में मेरुहीन अक्षमाला की भी चर्चा है।

और वागीश्वर का आवाहन किया जाता है। तब अरणि से अथवा सूर्यकान्त मणि से उत्पन्न, द्विज (श्रोत्रिय) के घर से अथवा अपने घर से मृत्पात्र अथवा ताम्रपात्र में रखकर लाई गई वह्नि को कुण्ड में स्थापित करे। कुण्ड में स्थापित वह्नि की नाभिकुण्ड में स्थित वह्नि से अभेद-भावना की जाती है। कुण्ड में स्थापित वह्नि में यह भी भावना की जाती है कि इसकी उत्पत्ति वागीशी के गर्भ से हुई है। इससे अग्नि के गर्भाधान आदि संस्कारों की सूचना मिलती है। टीकाकार ने विस्तार से इनका स्वरूप बताया है। इस अग्नि की पंचवक्त्र शिव से अभिन्नता मानकर उसकी अड़तीस कलाओं का न्यास भी इसमें किया जाता है और इस अग्नि को [1]शिवाग्नि नाम दिया जाता है। पंचवक्त्र शिव के विभिन्न वक्त्रों में कामना-भेद से आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रसंग में वक्त्राभिघारण, वक्त्रसन्धान और वक्त्रैकीकरण की प्रक्रिया विशेष रूप से अवलोकनीय है। कुण्ड और अग्नि के संस्कारों के बाद यहाँ घृत के अठारह संस्कारों को भी बताया गया है। स्रुक् में शक्ति का और स्रुवा में शिव का न्यास कर पूर्णाहुति की प्रक्रिया को यहाँ बताया गया है और अन्त में अनेक प्रकार के काम्य-फलों की प्राप्ति के लिये काम्य होम के क्रम को बताया गया है। हम यहाँ देखते हैं कि यह पूरा प्रकरण वैदिक विधि के अनुकूल है। यही नहीं, अग्निकार्य की सारी विधि बौद्ध तन्त्रों में भी इसी पद्धति से वर्णित है।

दीक्षार्थ मण्डप, कुण्ड, मण्डल का विधान

इस प्रकार यहाँ दीक्षित व्यक्ति की चर्या का स्वरूप बताया गया है। अग्निकार्य के लिये मण्डप और कुण्ड[2] का निर्माण अपेक्षित है और शिष्य की दीक्षा [3]मण्डल में की जाती है। अतः इसके आगे (पृ.१४७-२०२) विभिन्न दीक्षाओं के स्वरूप का और उनसे प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करने के बाद दीक्षा के योग्य मास, नक्षत्र, वार आदि का विचार कर दीक्षाविधि की सम्पन्नता के लिये बनाये जाने वाले मण्डपों का लक्षण बताया गया है। इन मण्डपों को भी अठारह प्रकार के संस्कारों

---

१. शिवाग्नि का स्वरूप शिवपुराण की प्रथम विद्येश्वरसंहिता (१८. ६२-६७) में बताया गया है।

२. पारमेश्वरागम (४.२-४) में तीन प्रकार के स्थण्डिल एवं पंचविध कुण्ड चर्चित हैं।

३. कारणागम क्रियापाद के प्रथम एवं चतुर्थ पटल में क्रमशः कुण्ड, स्थण्डिल, मण्डप की तथा रंगवल्ली के साथ पद्म-भद्र-तत्त्व मण्डलों की संक्षिप्त चर्चा है।

से संस्कृत किया जाता है। इसी प्रसंग में वेदिका का विस्तार और उसका लक्षण बताते हुए चतुष्कोण आदि विविध आकारों वाले कुण्डों के सामान्य लक्षणों को बताकर आगे (श्लो.३६-३९) योनि, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, वृत्त, षडश्र, पद्म और अष्टकोण नामक कुण्डों का स्वरूप और इन कुण्डों में संपाद्य विविध काम्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। इन अष्टविध कुण्डों के नाम तो बौद्ध तन्त्रों में भी मिलते हैं, किन्तु इन कुण्डों के निर्माण की पद्धति आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में हमें सर्वप्रथम यहीं देखने को मिली। स्रुक् और स्रुवा नामक होमपात्रों का तथा विष्टर, परिधि, इध्म, समिधा, ज्ञानखड्ग आदि यागोपकरणों का स्वरूप भी पूरी तरह से वैदिक विधि का अनुसरण करता है। टीकाकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि स्रुक् और स्रुवा का निर्माण एक ही काष्ठ-खण्ड से किया जाता है।

होम के साधन तिल, घृत, चरुपाक आदि तथा दीक्षा के कर्तरी, सप्तविध विकिर, पाशसूत्र आदि विभिन्न उपकरणों का संग्रह, कुम्भ (कलश) में शिवदेह की भावना, वेदी के निर्माण के लिये चतुरश्र क्षेत्र का विस्तार जैसे विषयों का निरूपण करने के उपरान्त यहाँ अगले उन्नीस श्लोकों (४७-६५) में विस्तार से मण्डलों के निर्माण की विधि को स्पष्ट किया गया है। प्रथमतः पद्ममण्डल की रचना का क्रम और उसके रंजन की पद्धति को यहाँ स्पष्ट किया गया है। श्वेत आदि चूर्णों के उपादान-द्रव्य भी यहाँ (पृ.१८४) परिगणित हैं। तब पद्म-पीठ के वर्ण-विशेषों का और सत्त्व-रज-तमोमय रेखाओं का विस्तार प्रदर्शित है। आगे पीठ के निर्माण की विधि को बता कर क्रमशः लतालिंग, नवनाभ, अनन्तविजय, भद्र, पुराकार, गौरीलताकार, सुभद्र, उमाकान्त और स्वस्तिक नाम के मण्डलों का स्वरूप बताया गया है। इस प्रकरण के अन्त में चण्डेश्वर की पूजा के लिये उपयोगी टंक नामक अर्धचन्द्र मण्डल का स्वरूप प्रदर्शित है। इन मण्डलों में न्यसनीय देवताओं में से तत्पुरुष आदि पंच-ब्रह्म देवताओं का वर्ण पृ.१८६ पर तथा आठ दिक्पालों का पृ.१९१ पर दिखाया गया है।

दीक्षा-संस्कार

दीक्षोपयोगी मण्डप, कुण्ड, मण्डल आदि के निर्माण का प्रकार बताने के बाद यहाँ पाँच श्लोकों (६६-७०) में समय दीक्षा के उपयोगी ३१ संस्कारों का विधान विस्तार से बताया गया है। विस्तरार्था में मण्डल-रचना के बाद गुरु के द्वारा विधीयमान [१]कृत्यों का क्रम बताकर दीक्षणीय शिष्य का मण्डल में आवाहन, अक्षिबन्धन एवं

---

[१] दीक्षा-संस्कार के अवसर पर गुरु शिष्य के पाशों का छेदन करने के लिये उसके शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रक्रिया का वर्णन यहाँ पृ.२२९ पर किया

पुष्पपात-विधि, नामकरण एवं शिवहस्त-स्थापन, नाडीसन्धान आदि दीक्षा के सात प्रमुख संस्कारों का विशेष रूप से व्याख्यान किया है। आगे विशेष दीक्षा के आवश्यक अंग, दीक्षणीय शिष्य का वागीश्वरी के [1]गर्भ से जन्म, यज्ञोपवीत धारण, वागीश्वरी के गर्भ से उत्पन्न जीव के विविध संस्कार, पूर्वात्मयोग, गुरुपूजन एवं समयाचारों का पालन जैसे विषयों का विस्तार से विवरण दिया गया है।

दीक्षा के क्रम में षडध्वशुद्धि अपेक्षित है। अंगले छः श्लोकों (७१-७६) में यह विषय चर्चित है। पहले पाँच श्लोकों में निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता नामक पाँच कलाओं में ध्येय १२ पदार्थों का विवरण दिया गया है और छठे श्लोक में षडध्व के व्याप्यव्यापकभाव की प्रक्रिया को दिखाया गया है। टीकाकार ने इसके समर्थन में प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। अन्वयार्था में भी यह विषय अधिक विस्तार से व्याख्यात है। अन्यत्र इस प्रसंग में केवल षडध्वों के ही विलापन की प्रक्रिया दिखाई जाती है। यहाँ छः अतिरिक्त पदार्थों का भी समावेश किया गया है। अन्यत्र अन्तिम विलापन कला या वर्ण में बताया जाता है। प्रस्तुत स्थल में कलाओं तक ही इस प्रक्रिया को सीमित रखा गया है।

गया है। नेत्रतन्त्र (२०.२८-२९) की व्याख्या करते हुए क्षेमराज ने कल्लट की तत्त्वार्थचिन्तामणि में प्रदर्शित गोलक-विधि का निरूपण (पृ.१९९) किया है। यहाँ बताया गया है कि इस विधि से शिष्य के पुर्यष्टक के साथ गुरु-पुर्यष्टक का अभेद स्थापित हो जाता है। सूक्ष्मागम के परिशिष्ट में संगृहीत पाठ (पृ.१५५) में गोलक-न्यास का विधान भी इसी प्रक्रिया से संबद्ध लगता है।

[1] वागीशी के गर्भ से दीक्षित व्यक्ति के अन्तिम शरीर की उत्पत्ति की भी यहाँ (पृ.२३१-२३२) चर्चा है। इससे एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त की पुष्टि होती है, क्योंकि वागीशी के गर्भ से उत्पन्न विद्याशरीर की उपलब्धि हो जाने के बाद उसे दूसरा शरीर धारण नहीं करना पड़ता। यही उसका अन्तिम जन्म (अपश्चिम शरीर) माना जाता है। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" के सिद्धान्त की भी इसी पद्धति से व्याख्या की जा सकती है। दीक्षा के उपरान्त निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से जन्य दोषों की निवृत्ति अन्त्येष्टि-संस्कार के समय की जाती है। इसके साथ ही यहाँ बताया गया है कि अनजाने में किये गये दोषों की ही निवृत्ति इससे होगी। जान-बूझ कर किये गये दुष्कृत का तो फल भोगना ही पड़ेगा। ऐसा न मानने पर प्रायश्चित्त शास्त्र का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायगा। इस विषय की चर्चा पहले समयाचार प्रकरण (पृ.५१-५२) में आ चुकी है।

अगले ७७ वें श्लोक में निर्वाण दीक्षा की विधि चर्चित है। यहाँ पाशसूत्र में चैतन्य के आधान की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है और विस्तरार्था में शिवशक्ति की पाशात्मकता पर विचार प्रस्तुत है। तब अगले तीन श्लोकों में आत्माग्नि में विद्यमान वागीश्वरी में गर्भाधान आदि संस्कारों की सिद्धि के लिये हवन की विधि को और पाशच्छेदन की प्रक्रिया को बता कर छिन्न पाशपिण्ड की शिवाग्नि में आहुति देने की विधि बताई गई है। शिष्य के ताडन आदि अठारह संस्कारों की प्रक्रिया को दिखाकर यहाँ बताया गया है कि विहित कर्मों के न करने पर और निषिद्ध कर्मों का आचरण करने पर इन दोषों की निवृत्ति के लिये पुर्यष्टक के रूप में कारणेश्वरों को शुल्क प्रदान करना पड़ता है। इसके साथ ही क्रियालोप, मन्त्रलोप और भावनालोप से उत्पन्न दोषों के परिहार के लिये शिवाग्नि में आहुतियाँ देनी पड़ती हैं। ये आहुतियाँ आत्म-विद्या-शिव नामक तीन तत्त्वों के निमित्त दी जाती हैं। इन त्रिविध तत्त्वों और उनसे संबद्ध त्रिविध जप की प्रक्रिया को ८१ वें श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

पूर्णाहुति

इस प्रकार दीक्षा की प्रक्रिया और उसमें समागत दोषों के परिहार की विधि के पूरा हो जाने के बाद पूर्णाहुति की प्रक्रिया को सम्पन्न करना पड़ता है। इसका विधान यहाँ अगले पाँच श्लोकों (८२-८६) में बताया गया है। प्रथमत: शिवभावना के क्रम में स्रुक् और स्रुवा पात्रों में षडध्वन्यास पूर्वक शिव और शक्ति के आवाहन-क्रम को दिखा कर शुद्धविद्या की यागधाम के रूप में भावना, शिवपूजा के पंचविध स्थान एवं स्रुक् में षडध्वन्यास के क्रम को समझाया गया है। पूर्णाहुति के समय सात विषुवों की भावना करनी पड़ती है। इसके क्रम को सप्रमाण प्रस्तुत कर पूर्णाहुति-प्रदान की विधि को बताया गया है। इस प्रसंग में स्रुक् के आन्तर स्वरूप के ध्यान की पद्धति और उससे शिष्य की आत्मा के आप्लावन की प्रक्रिया को भी समझाया गया है। यहाँ आकर शिष्य का दीक्षासंस्कार परिपूर्ण हो जाता है।

अभिषेक

इस तरह से पूर्णाहुति पर्यन्त दीक्षाव्यापार को सम्पन्न कराने वाले शिष्य के स्वात्मस्वरूप में सर्वज्ञत्व आदि षाड्गुण्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। पति-पशु-पाश नामक त्रिविध पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता और ज्ञान-क्रिया-योग-चर्या नामक चार पादों वाले भोगमोक्षप्रद शिवागम शास्त्र का भलीभाँति ज्ञान रखने वाला शिवभावापन्न शिष्य अभिषेक की योग्यता अर्जित कर लेता है। ऐसे षाड्गुण्य-सम्पन्न शिष्य का आचार्याभिषेक किया जाता है। आचार्य पद पर अभिषिक्त होने के उपरान्त ही उस दीक्षित शिष्य को अन्य व्यक्तियों

को दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त होता है। टीकाकार ने यहाँ विस्तार से अभिषेक की पद्धति को बताकर **गुरुवर** पद की व्याख्या की है और दीक्षा एवं अभिषेक की योग्यता का निरूपण किया है। सिद्धान्तशास्त्र की दृष्टि से दीक्षा एवं अभिषेक का अधिकारी कौन हो सकता है, यह विषय भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

दीक्षा का अधिकार

दीक्षा के उपरान्त शूद्र को भी नूतन नाम दिया जाता है (पृ.२०७)। उसको यज्ञोपवीत धारण कराने का भी यहाँ (पृ.२११-२१२) विधान है। शूद्र जाति के व्यक्ति को शूद्र जाति का आचार्य दीक्षा भी दे सकता है (पृ.२५२)। किन्तु इससे स्वच्छन्दतन्त्र में प्रदर्शित—"प्राग्जातिं नह्युदीरयेत्" (४.५४३) इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होने पाती, क्योंकि इस प्रक्रिया में तो पूर्व जाति के आधार पर ही नामकरण का विधान है। स्पष्ट है कि शैवसिद्धान्त में दीक्षा का अधिकार सीमित है। वीरशैव मत में इसका अधिक विस्तार हुआ है।

शैवकुल परम्परा

इस प्रकार ८७-८८ संख्या के श्लोकों में अभिषेक की विधि को समझाने के बाद ग्रन्थकार ने यहाँ क्रियापाद के अन्तिम दो श्लोकों (८९-९०) में दीक्षा एवं अभिषेक के क्रम से बिन्दु तत्त्व से चली आ रही शैवकुल परम्परा, शैवमठ परम्परा और आमर्दक मठ की परम्परा का निरूपण कर इन परम्पराओं में अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है। टीकाकार ने यहाँ [1]स्थावर-जंगमात्मक जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए, मुनि [2]दुर्वासा से शैव सम्प्रदाय की प्रवृत्ति, भारतवर्ष में आमर्दक मठ की स्थापना, उससे चली रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि मठों की परम्परा, कौशिक आदि ऋषियों की शैवी सृष्टि, सात गोत्रपुरुष एवं आमर्दक मठीय सम्प्रदाय और ग्रन्थकार की गुरु-परम्परा पर प्रकाश डाला है। पूर्व गुरु के रूप में ग्रन्थकार ने यहाँ व्यापकशंभु को स्मरण किया है और टीकाकार ने ग्रन्थलेखक त्रिलोचन शिवाचार्य की पूर्व कथा को प्रस्तुत किया है।

---

[1] स्थावर-जंगमात्मक जगत् का परिचय टीकाकार ने पहले (पृ. २-४) विस्तार से दिया है।

[2] शिवदृष्टि (७.११०) में सोमानन्द ने भी दुर्वासा मुनि को ही शैवमत के आद्य प्रवर्तक के रूप में प्रस्तुत किया है।

आमर्दकमठ परिचय

ग्रन्थ के प्रारंभ में ही अन्वयार्था (पृ.१) में बताया गया है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता त्रिलोचन शिवाचार्य आमर्दक मठ के निवासी हैं। इसी मठ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। स्वयं ग्रन्थकार ने आमर्दक आश्रम के विषय में यह सूचना दी है कि इसकी स्थापना दुर्वासा ऋषि ने की थी (२.८९)। इनकी गुरु-परम्परा व्यापकशम्भु से चली, इसका निर्देश भी ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में किया है। टीकाकार प्रमाण-वचनों को उद्धृत कर कहते हैं कि रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि नाम के पीठ आमर्दक मठ से ही संबद्ध हैं। इन सभी मठों की स्थिति गोदावरी नदी के तट पर विद्यमान शैवों की मन्धरकाली नामक वसति में स्थित मन्धरकालीश मन्दिर के चारों तरफ थी। इन मठों से संबद्ध कदम्ब, अर्जुन, जम्बूक और न्यग्रोध नामक वृक्षों का उल्लेख यहाँ (पृ.२५५) मिलता है। यहीं मण्डप-निर्माण के प्रसंग (पृ.१५८) में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ और प्लक्ष नामक वृक्षों से तोरण बनाने की सूचना मिलती है। नामों में अन्तर अवश्य है।

तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों के प्रमाण से विविध शैव मठों का परिचय हम आगममीमांसा (पृ.३६) में दे चुके हैं। पूर्व-सूचित (पृ.१३) निबन्ध में डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय ने भी आमर्दक, मत्तमयूर एवं माधुमतेय मठों का एवं उनके आचार्यों का विस्तृत विवरण दिया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी ने प्राच्यविद्या निबन्धावली के चतुर्थ खण्ड में संगृहीत "पतंगशम्भु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" शीर्षक निबन्ध (पृ.१७५) में बताया है कि उज्जयिनी ही आमर्दक तीर्थ है। इसके विपरीत डॉ. हरप्रसाद शास्त्री [१]ग्वालियर के आसपास कहीं इसकी स्थिति मानते हैं। डॉ. मिराशी अरणिपद्र या रणिपद्र मठ की भी चर्चा करते हैं (पृ. १७४, १७६-१७८)। डॉ. वी. एस. पाठक रणिपद्र के अतिरिक्त गोलकी मठ की भी चर्चा करते हैं। इन सब मठों की स्थिति मालवा में ही मानी जाती है, किन्तु प्रस्तुत स्थल पर इनकी स्थिति गोदावरी नदी के तट पर मानी गई है। यह भी अवधेय है कि यहाँ रणभद्र नाम दिया गया है, रणिपद्र नहीं। पुष्पगिरि नाम उक्त दोनों ही स्थलों पर नहीं मिलता।

---

[१] ईशानशिवगुरुदेवपद्धति के यशस्वी सम्पादक म. म. टी. गणपति शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ के भाग २ की प्रस्तावना में म. म. हरप्रसाद शास्त्री जी की टिप्पणी को उद्धृत करते हुए बताया है कि शास्त्री जी के मत के अनुसार कदम्बगुहा, शंखमठिका, तेरम्बी और आमर्दक मठ की भी स्थिति ग्वालियर स्टेट में है।

इस विषय पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि त्रिलोचन शिवाचार्य की पूर्वकथा के सूचक इन वचनों को टीकाकार ने कहाँ से उद्धृत किया है। तन्त्रालोक आदि के प्रमाण से इनकी मूल स्थिति मध्यप्रदेश में ही माननी होगी। यह संभव है कि बाद में आमर्दक मठ की शाखाओं की स्थापना गोदावरी नदी के तट पर हुई हो।

योगपाद

नाडी-चक्र

इस तरह से क्रियापाद में दीक्षा-संबन्धी विषयों का निरूपण कर इन संस्कारों से संस्कृत साधक को योगाभ्यास की विधि बताने के लिये योगपाद का उपक्रम करते हुए सर्वप्रथम सुषुम्ना आदि समस्त नाड़ियों के उत्पत्ति-स्थान कन्द का स्वरूप प्रदर्शित है। यहाँ कन्द (देहमध्य), कुण्डलिनी एवं नाभिस्थान का परिचय दिया गया है। तब बताया गया है कि कन्द से विनिर्गत ७२ हजार[१] नाडियों में बत्तीस नाडियाँ मुख्य हैं। उनमें चौदह नाडियाँ मुख्यतर और इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन नाड़ियाँ मुख्यतम हैं। इनमें भी सुषुम्ना नाड़ी सर्वोत्तम है। इड़ा और पिंगला नामक दो नाड़ियाँ क्रम से सुषुम्ना के वाम और दक्षिण भाग में स्थित हैं। सुषुम्ना से मिलकर ये ब्रह्मरन्ध्र तक व्याप्त होकर द्वादशान्त के नीचे दोनों नासा-रन्ध्रों से उच्छ्वास-निश्वास को चलाती रहती हैं।

आधारदशक

नाडी-चक्र का निरूपण करने के बाद पूरे शरीर में मूलाधार से लेकर द्वादशान्त तक के समस्त आधार-कमलों एवं उनके दलों में परमशिव के आसन के रूप में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि ऐसा करते समय कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना नाडी स्थित आधार आदि दस चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर उठती है। आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक

---

[१] योगशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में ७२ हजार नाड़ियाँ सर्वत्र मान्य हैं। नेत्रतन्त्र (७.३) में इनकी संख्या साढे तीन करोड़ मानी गई है। बत्तीस या छत्तीस नाड़ियों का वर्णन बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है। योगिनीहृदयदीपिका में भी ३२ चक्रों के रूप में इनको प्रस्तुत किया गया है। चौदह नाड़ियों का विवरण शारदातिलक की टीका (पृ.३८-३९) में मिलता है। वहाँ मूल ग्रन्थ (१.४०) में दस नाड़ियाँ ही मान्य हुई हैं।

छः चक्र सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चार अन्य आधार भी यहाँ वर्णित हैं। इन सभी [१]आधारों का स्वरूप यहाँ (पृ.२६४) देखा जा सकता है। सुषुम्ना नाड़ी पैरों के दो अंगूठों से लेकर देह के मध्य-स्थान में स्थित कन्द पर्यन्त दो शाखाओं में विभक्त रहती है। इसके ऊपर मध्य-स्थान से ब्रह्मरन्ध्र तक वह एक में मिलकर षट्चक्रों का भेदन करती हुई उसके ऊपर द्वादशान्त तक स्थित चार चक्रों को भी व्याप्त कर लेती है। यह ब्रह्मरन्ध्र तक सकल नाम से और उसके ऊपर द्वादशान्त (ब्रह्मनाडी) तक निष्कल नाम से जानी जाती है।

प्राणायाम द्वारा नाड़ी-शुद्धि एवं वायु-जय

इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिये नाड़ी-शुद्धि एवं वायु-जय की अपेक्षा रहती है। [२]प्राणायाम की प्रक्रिया से ही यह संभव हो सकता है। प्राणायाम के अभ्यास के लिये योगाभ्यास योग्य स्थान और शुभ मुहूर्त का पहले चयन करना पड़ता है। टीकाकार ने सर्वप्रथम द्विविध आसनों के स्वरूप को स्पष्ट कर उनके भेदों की नामावली प्रस्तुत की है। आसन-परिकल्पन के बाद नाड़ी-शुद्धि एवं वायु-जय के लिये निर्दिष्ट [३]रेचक-पूरक-कुम्भक प्राणायाम के क्रम से त्रिविध प्राणायाम की पद्धति को, उसके

---

१. आधारों या चक्रों के विषय में भी योग एवं तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अनेक मत हैं। योगिनीहृदयदीपिका में ३२ आधार (चक्र) वर्णित हैं। कौल-तन्त्रों एवं नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में आधारों की संख्या सोलह मानी गई है। प्रस्तुत स्थल पर दस आधार स्वीकृत हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय में प्रधानतया नौ आधार मान्य हैं। परवर्ती काल में षट्चक्रों के छः आधारों को प्रधान रूप से मान्यता मिली। आधारों के साथ ही ग्रन्थियों का भी वर्णन शास्त्रों में मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मन्त्रविषुव के प्रसंग (पृ.२४५) में दस ग्रन्थियों का उल्लेख है। नेत्रतन्त्र एवं नाथ-योग के ग्रन्थों में इनकी संख्या बारह है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने ब्रह्म-विष्णु-रुद्र नामक तीन ग्रन्थियों का वर्णन किया है।

२. प्राणायाम की यह प्रक्रिया भूतशुद्धि के अवसर पर (पृ.११४-११७) प्रदर्शित है। शोष, दाह और आप्याय के नाम से शास्त्रों में वर्णित यह प्राणायाम-प्रक्रिया देह की शुद्धि के लिये की जाती है।

३. प्राणायाम का क्रम सर्वत्र पूरक-कुम्भक-रेचक के रूप में मान्य है। किन्तु यहाँ रेचक को प्रथम स्थान दिया गया है। महार्थमंजरीपरिमल (पृ.१११) में भी स्वच्छन्द के प्रमाण से यही क्रम प्रदर्शित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्य सभी स्थानों पर सर्वमान्य क्रम को ही दिखाया गया है।

कनिष्ठ, मध्य और श्रेष्ठ नामक त्रिविध भेदों को और अगर्भ एवं सगर्भ नामक प्राणायाम के स्वरूप को भी सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। ताल, अर्थात् मात्रा का यहाँ दो प्रकार का [१]अर्थ बताया गया है (पृ.२६७)। अगर्भ और सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से प्राप्त हुए फल का तथा पृथिवी आदि पंचभूतों में [२]धारणाओं के अभ्यास से प्राप्त होने वाली विभूतियों का भी विवरण दिया गया है।

इस तरह सें प्रतिदिन योगाभ्यास करने वाला साधक द्वादशान्त पदवी में स्थित परमशिव का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। टीकाकार का कहना है कि चन्द्र, सूर्य और अग्नि के रूप में विद्यमान बाह्य ज्योति अपर, हृदयाकाश में प्रकाशमान ज्योति परापर और परशिव के रूप में प्रकाशमान ज्योति पर कहलाती है। योगी अपने हृदयाकाश में इस ज्योति का साक्षात्कार करता है और अन्ततः अपने द्वादशान्त पद में इसके साथ एकाकार हो जाता है (पृ.२६९)। इसके लिये आवश्यक है कि योगी चारों सन्ध्याओं (प्रातः-मध्याह्न-सायं-मध्यरात्रि) में निरन्तर आदरपूर्वक शिव के ध्यान-क्रम को चलाता रहे। इन चारों सन्ध्याओं के ध्यान-क्रम को टीकाकार ने स्पष्ट किया है।

अन्ततः यहाँ बताया गया है कि मलों से आवृत सामान्य आत्मा तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत[३] नामक पाँच अवस्थाओं से घिरी हुई रहती है, किन्तु निर्मल आत्मा परमसाम्यापत्ति नामक शिवदशा को प्राप्त कर लेती है। उपनिषद्

---

[१] इस विषय को क्रियापाद (पृ.११५-११६) में अधिक विस्तार से समझाया गया है।

[२] विविध धारणाओं का वर्णन योग-तन्त्रशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलता है। पृथिवी से लेकर बुद्धि पर्यन्त तत्त्वों में इन धारणाओं की प्रक्रिया को मालिनीविजय तन्त्र के १२-१६ अधिकारों में विस्तार से बताया गया है। अन्त में वहाँ (१६.२५) कहा गया है कि यह वेदान्त-विज्ञान यहाँ संक्षेप में वर्णित है। इसका विस्तार से उपदेश पहले कपिल महर्षि को दिया गया था। विज्ञानभैरव में ११२ प्रकार की धारणाएँ वर्णित हैं। उनका स्वरूप भिन्न प्रकार का है। "त्रयमेकत्र संयमः" (३.४) योगसूत्र की इस परिभाषा का वहाँ अनुसरण किया गया है।

[३] तुरीयातीतावस्था का विवरण देते हुए यहाँ (पृ.२७३) बताया गया है कि इस स्थिति में प्राण का भी व्यापार शान्त हो जाता है। क्या यहाँ प्राण का स्पन्दन-व्यापार भी अवरुद्ध हो सकता है? हमें ऐसा लगता है कि दशविध प्राण (वायु) की अनियन्त्रित हलचल ही यहाँ रुक पाती है, प्राणापान व्यापार नहीं। क्या श्वास-प्रश्वास का निरोध भी यहाँ अपेक्षित है?

में भी तो यही कहा गया है—"निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति" (मुण्ड. ३.१.३)। टीकाकार ने यहाँ मलिन आत्मा की इन पाँच अवस्थाओं के साथ निर्मल आत्मा में शिवत्व के उदय की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है। योगाभ्यासी को एक बार अवश्य इस प्रकरण पर ध्यान देना चाहिये। यहाँ (पृ.२७२) अन्त:करण में चित्त की भी गणना की गई है। इसी के साथ यह योगपाद समाप्त होता है।

चर्यापाद

अट्ठाईस शैवागम

योगपाद के बाद चर्यापाद का उपक्रम करते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम कामिक आदि आगमों का शिवभेद और रुद्रभेद के रूप में विभाजन करते हैं। यहाँ बताया गया है कि शिवज्ञान अवबोध-रूप और शब्द-रूप के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से अवबोध-रूप ज्ञान परशिव में ही रहता है और समस्त आगमों का समावेश शब्दरूपी शिवज्ञान में माना जाता है। यह नादरूपी शिवज्ञान महौघ-क्रम और गुरु-क्रम नामक द्विविध गुरु-परम्परा के क्रम से मानवों तक पहुँचता है। शिव के प्रणव आदि दस मानसपुत्रों का, दशधा विभक्त नादरूप शिवज्ञान का, कामिक आदि शिवागमों के वक्ताओं एवं श्रोताओं का तथा विजय आदि अठारह [१]रुद्रागमों के वक्ताओं और श्रोताओं का भी परिचय देकर शब्दरूपी शिवज्ञान को महिमामण्डित किया गया है। वक्ता एवं श्रोता के भेद से शैवागमों के [२]षड्विध अथवा पंचविध संबन्ध शास्त्रों में वर्णित हैं। महौघक्रम एवं गुरुक्रम की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए यहाँ [३]आगमों के प्रामाण्य पर भी सुस्पष्ट

---

१. एक सौ अठारह रुद्रों में परिगणित अठारह रुद्रों एवं रुद्रागमों के प्रवक्ता अनादि आदि नाम वाले रुद्रों की नामावली पूरी तरह से भिन्न है। अत: इनकी स्थिति परस्पर भिन्न ही माननी होगी।

२. इन संबन्धों की चर्चा लुप्ता. उपो. (पृ. १२०-१२१) में भी की गई है। षड्विध एवं पंचविध संबन्धों के भेद का मुख्य आधार कामिक आदि की परम्परा में तीन-तीन और विजय आदि की परम्परा में दो-दो वक्ता-श्रोताओं की स्थिति के कारण है। पंचविध पक्ष में 'अन्तराल' संबन्ध की स्थिति नहीं है।

३. वेदों की अपौरुषेयता के विपरीत आगमशास्त्र की प्रत्येक शाखा में आगमों की ईश्वरकर्तृता स्वीकृत है। अपने-अपने इष्टदेव की और उनके द्वारा उपदिष्ट दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ परम्परा की परम आप्तता प्रत्येक आगम-तन्त्र शाखा में विवृत है। यह परम्परा शैवागमों में षड्विध एवं पंचविध संबन्धों के रूप में मान्य है।

विचार प्रस्तुत किये गये हैं। अन्त में दस शिवागमों और अठारह रुद्रागमों की नामावली देकर शिव के पाँच मुखों से इनके निर्गमन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए भगवान् शिव की परमाप्तता सिद्ध की गई है।

अट्ठाईस शैवागमों के प्रामाण्य के विषय में यहाँ (पृ.२८४-२८५) विशेष विचार किया गया है। पृ.७९ पर उद्धृत वचन में श्रुति, स्मृति, पुराण आदि को सामान्य शास्त्र तथा आगमों को विशेष शास्त्र बताया गया है। इन आगमों में शैवागमों का विशेष महत्त्व है। शैवागमों के अविरोधी वैदिक कर्मों के अनुष्ठान की ही यहाँ अनुमति दी गई है। आगे (पृ.३०७) निश्वास आगम की उक्ति के अनुसार कहा गया है कि शिवज्ञान-सम्पन्न एक ही आचार्यप्रवर को भोजन कराना वेद आदि के ज्ञाता करोड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराने के समान है। कौल आगम इससे भी आगे बढ़ कर स्वकीय आगम को कुलवधू का स्थान देते हैं।

पृ.२८४ पर उद्धृत वचन में [१]सद्योजात आदि पांच मुखों से इन अट्ठाईस आगमों की उत्पत्ति मानी गई है। यहाँ प्रत्येक मुख में पुनः पाँच-पाँच मुखों की कल्पना कर लौकिक आदि पंचविध शास्त्रों के पुनः पाँच-पाँच भेदों को, अर्थात् शास्त्रों के पचीस[२] भेदों को बताया गया है। आगे (पृ.२८५) मृगेन्द्रागम (वि.२.१०-११) के प्रमाण से वेदान्त, सांख्य आदि की अपेक्षा शिवज्ञान के वैशिष्ट्य को दिखाया गया है।

तन्त्रशास्त्र का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने संहिता, आगम और तन्त्र शब्दों का प्रयोग क्रमशः वैष्णव, शैव और शाक्त शास्त्रों के लिये किया है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में २८ शैवागमों के लिये संहिता और तन्त्र शब्द भी प्रयुक्त हैं, अर्थात् ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस विषय में हम अपने ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ.१-६) में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। यहाँ (पृ.२८३-२८४) कारणागम से उद्धृत वचनों में ये शब्द मिलते हैं। पृ.५१ पर उद्धृत वचन में मतंगपारमेश्वर भी अपने को तन्त्र

---

[१] तन्त्रालोक (१.१८) की विवेकव्याख्या में इस विषय का अधिक विस्तार है और उसको श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी ने अपने ग्रन्थ "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" (पृ.४६-४८) में प्रस्तुत किया है।

[२] सिद्धान्तप्रकाशिका में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। मकुटागम के उत्तर भाग (२.१.२) में शिव को पंचपंचमुख बताया गया है। भगवान् की पंचपंचमुखता आगमों के इन पचीस भेदों के विभिन्न २५ मुखों से उपदेश देने के कारण मान्य हो सकती है।

कहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों की पर्यायता प्राचीन काल से चली आरही है।

पवित्रोत्सव

इस प्रकार चर्यापाद के प्रथम चार श्लोकों में शैवागमों की परमाप्तता को स्पष्ट करने के बाद यहाँ अगले चार श्लोकों में पवित्रोत्सव का विधान वर्णित है। पूरे वर्ष में अनुष्ठित कर्मों की पूर्ति, अर्थात् मन्त्रलोप, क्रियालोप और द्रव्यलोप-जन्य कर्मों की विकलता के दोष (त्रुटि) का परिहार करने के लिये इसका अनुष्ठान किया जाता है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में इस कर्म के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। यहाँ भी सर्वप्रथम अतिविस्तार से पवित्र-समर्पण के काल पर नाना प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए विचार किया गया है। आगे आत्म-विद्या-शिव नामक तीन पवित्रों के और चौथे गंगावतार नामक पवित्र के, उनकी तन्तुसंख्या, ग्रन्थिसंख्या एवं ग्रन्थियों में स्थित देवताओं के स्वरूप को प्रदर्शित कर इनके समर्पण की पद्धति का और उनसे प्राप्त होने वाले फल का निरूपण सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। कालनिर्णय के प्रसंग में यहाँ सौर एवं चान्द्र मास का स्वरूप, विष्णुशयन विषयक काल का निर्णय, मलमास का निर्णय जैसे प्रसंगप्राप्त विषयों की चर्चा की गई है। साथ ही पवित्र के निर्माण की विधि, चतुर्विध पवित्रों का स्वरूप (लक्षण), ग्रन्थियों में देवताओं और कलाओं[१] का विन्यास, पवित्रार्पण की नित्यकर्मांगता, वार्षिक पवित्रोत्सव की विधि जैसे विषय भी चर्चित हैं।

भोजनविधि एवं प्रायश्चित्त

पवित्रोत्सव-विधि को निरूपित करने के बाद यहाँ भोजनविधि का वर्णन किया गया है। साथ ही अस्थान-भोजन, दान-ग्रहण जैसे दोषों के परिहार के लिये अष्टविध प्रासाद मन्त्र के न्यास के क्रम को भी अगले छः श्लोकों (९-१४) में दिखाया गया है। विच्छिन्न सम्प्रदाय वालों के यहाँ भोजन करने से दीक्षित व्यक्ति दोष का भागी हो जाता है। इस दोष के परिहार के लिये भोजन किस प्रकार करना चाहिये, इसकी

---

[१] कलाओं के विन्यास के प्रकरण (पृ.२९८) में प्रासाद मन्त्र और चन्द्रमा की सोलह-सोलह कलाओं की चर्चा है। षोडशकल प्रासाद मन्त्र से ही इनका संबन्ध मानना होगा, नवकल या द्वादशकल से नहीं। चन्द्रमा की सोलह कलाओं के यहाँ प्रदर्शित नाम अन्यत्र उपलब्ध नामावली से कुछ भिन्न लगते हैं।

शास्त्रीय पद्धति यहाँ बताई गई है। भोजन-विधि में समापन्न दोषों के निवारण के लिये देशिक को अष्टविध प्रासाद मन्त्र का न्यास करना पड़ता है। इसकी विधि को भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। इसी तरह से पापिष्ठ व्यक्तियों के यहाँ से दान के रूप में द्रव्य का परिग्रहण करने पर दीक्षित व्यक्ति दोष का भागी हो जाता है। इस दोष के परिहार के लिये भी अष्टविध प्रासादमन्त्र का न्यास अपेक्षित है। इसकी पूरी प्रक्रिया यहाँ स्पष्ट की गई है और अन्य न्यासों की अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता भी बताई गई है (पृ. ३१०-३१२)।

अन्त्येष्टि-विधान

अगले तीन श्लोक अन्त्येष्टि-विधान को समर्पित हैं। कन्नड़ संस्करण में ये उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत व्याख्या में ये उपलब्ध हैं। यहाँ अन्त्येष्टि संस्कार के लिये उपयोगी मण्डप, कुण्ड आदि के निर्माण की विधि को बताकर दीक्षित व्यक्ति की अन्त्येष्टि के अवसर पर भी षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया को उस स्थिति में आवश्यक माना गया है, जब कि दीक्षित व्यक्ति अपने दोषों की परिशुद्धि के लिये अनजाने में ही प्रायश्चित्त नहीं कर पाता। इस विषय की चर्चा पहले (पृ. ४७) समयाचार प्रकरण में की जा चुकी है। स्पष्ट है कि दीक्षा-संस्कार के समय जैसे षडध्वशुद्धि की जाती है, उसी तरह से समयाचार का अनजाने में लोप होने पर अन्त्येष्टि-संस्कार के अवसर पर भी इसकी अपेक्षा हो सकती है। इस अवसर पर शिवश्राद्ध-विधि का भी विवरण दिया गया है। वीरशैव आगमों में वर्णित आराधन (श्राद्ध) विधि से यह पूरी तरह से मिलती है। वैदिक वाङ्मय में पितृमेध और चन्द्रज्ञानागम (चर्या.१.८) में शिवमेध के नाम से यह चर्चित है। इस प्रकरण के अन्त में पाँच प्रकार के श्राद्धों का भी परिचय दिया गया है।

प्रतिष्ठा-विधान

इस प्रकार शैवागमों का ज्ञाता एवं प्रायश्चित्त के सम्यक् अनुष्ठान से पवित्र हुआ दीक्षित व्यक्ति शिवलिंग की प्रतिष्ठा करता है। प्रतिष्ठा, स्थापन, स्थितस्थापन, उत्थापन और आस्थापन के भेद से यह प्रतिष्ठा पाँच प्रकार की होती है। इनके लक्षण यहाँ विस्तार से बताये गये हैं। साथ ही लिंग एवं पीठ की निर्माण-विधि भी प्रदर्शित है। शिवपूजा के लिये प्रमुख लिंगों के लक्षणों का आगम-ग्रन्थों में बहुत विस्तार है। उनमें से आढ्य, अनाढ्य, सुरेड्य और सर्वसम नामक चार लिंगों के ही लक्षण एवं उनके निर्माण की पद्धति यहाँ बताई गई। चल और अचल के भेद से लिंग की दो प्रकार की प्रतिष्ठा की जाती है। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त

और अव्यक्त। समग्र आकार वाला लिंग व्यक्त, सकल-निष्कल मुखलिंग व्यक्ताव्यक्त और निष्कल लिंग अव्यक्त कहलाता है। गृहस्थ के घर में पूजित लिंग चल और प्रासाद (मन्दिर) में स्थापित लिंग अचल, अर्थात् स्थिर कहलाता है। स्वायम्भुव, दैविक, गाणक, आर्ष और मानुष के भेद से यह पाँच प्रकार का है। सिद्धान्तशेखर के प्रमाण से इन सबका स्वरूप यहाँ बताया गया है।

ऊपर बताये गये चारों प्रकार के लिंगों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक भागों की स्थिति, चतुर्विध लिंगों के शिरोभाग के चतुर्विध आकार, शिरोभाग के आधार पर लिंगों की आकृतियों में भेद, जैसे विषयों की चर्चा कर बाद में आढ्य और सुरेड्य लिंगों में चिह्नों की संख्या का और सर्वसम लिंग में मुखलिंग की संख्या का विवरण दिया गया है। सर्वसम लिंग में विशेष रूप से पंचवक्त्र, चतुर्वक्त्र आदि मुखलिंगों की रचना करनी चाहिये। इनका विधान सिद्धान्तशेखर के आधार पर यहाँ वर्णित है (पृ.३२८)। आढ्य, अनाढ्य और सुरेड्य लिंगों में मुखलिंगों का निर्माण नहीं किया जाता। इसी प्रकरण में बाणलिंग के लक्षणों का और उसकी पूजा से प्राप्त होने वाले फल का भी निरूपण किया गया है। बाणासुर के द्वारा चौदह करोड़ लिंगों की स्थापना, बाणलिंग का लक्षण, प्रतिष्ठा एवं प्रमाण, बाणलिंग की कान्ति एवं वर्ण के अनुरूप ही पीठिका की रचना, दिक्पालों के द्वारा पूजित बाणलिंग का स्वरूप जैसे विषयों का निरूपण कर बताया गया है कि यह बाणलिंग गाय के स्तन की जैसी अथवा कुक्कुट के अण्डे की जैसी आकृति का तथा दर्पण के समान निर्मल, श्लक्ष्ण (चिकना) होना चाहिये। ऐसे बाणलिंग की पूजा से भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पूजनीय बाणलिंग का स्वरूप बताने के बाद यहाँ पूजा के लिये वर्ज्य (निषिद्ध) बाणलिंग का लक्षण वर्णित है। साथ ही यहाँ गृहस्थ और संन्यासी के लिये उपादेय और अनुपादेय बाणलिंगों का भी विवरण दिया गया है। इस प्रकरण के अन्त में बाणासुर के द्वारा स्थापित १४ करोड़ लिंगों का विवरण इस प्रकार दिया गया है—अमरेश्वर पर्वत, नेपालस्थित पर्वत, महेन्द्र पर्वत, कन्या तीर्थ और उसके समीप के वन में से प्रत्येक में एक-एक कोटि शिवलिंगों की स्थिति है। इस तरह ये पाँच करोड़ शिवलिंग हुए। श्रीशैल पर्वत, लिंगशैल और कपालीगर्त पर्वत पर प्रत्येक में तीन-तीन करोड़ शिवलिंग विराजमान हैं। इनकी संख्या नौ करोड़ हुई। पहले के पाँच करोड़ शिवलिंगों को इनके साथ मिलाने पर यह संख्या चौदह करोड़ हो जायगी। प्रमाणस्वरूप यहाँ सिद्धान्तशेखर को उद्धृत किया गया है (पृ.३३६)। यहीं बाणलिंग का लक्षण भी बताया गया है। वीरशैव मत के ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि (२१.२६-२७) में नवकोटि लिंगों की चर्चा मिलती है।

वास्तुपूजा

लिंग आदि की प्रतिष्ठा के लिये प्रासाद (देवमन्दिर) का निर्माण कराया जाता है। इसके लिये सर्वप्रथम वास्तुपूजा करनी पड़ती है। प्रधानतः उसी का विधान बताते हुए यहाँ चार श्लोकों (२५-२८) में मण्डूकवास्तु के नाम से प्रसिद्ध चौसठ पदों के वास्तुक्षेत्र में तिरपन देवताओं से अधिष्ठित वास्तुपुरुष के उद्धार-क्रम को बता कर ८१ पदों (कोष्ठों) में विभक्त क्षेत्र में वास्तुपुरुष के उद्धार-क्रम को भी दिखाया गया है। यहाँ वास्तु-क्षेत्र में पूजनीय ५३ देवताओं[१] की पूरी नामावली के साथ उनके विन्यास-स्थानों को भी दिखाया गया है। आठ रज्जुओं की सहायता से बनाये गये वास्तुपुरुष को बाँधने वाले आठ पाशों का स्वरूप यहाँ विशेष रूप से अवलोकनीय है। टीकाकार ने वास्तुपद (मण्डल) के निर्माण की विधि को भी स्पष्ट किया है। वास्तु-पुरुष की उत्पत्ति की दो प्रकार की कथाएँ यहाँ (पृ. ३३९-३४०) दी गई हैं। इसी प्रसंग में मर्म-स्थानों का विवरण भी दिया गया है (पृ. ३४१)।

त्रितत्त्व, पंचमूर्ति एवं अष्टमूर्ति न्यास

वास्तुपुरुष के उद्धार-क्रम को बताने के बाद यहाँ दो श्लोकों (२९-३०) में लिंग एवं पीठ आदि में ध्यातव्य आत्मा, विद्या एवं शिव नामक तीन तत्त्वों का आधारशक्ति रूप पादशिला में विन्यास का क्रम बताया गया है। टीकाकार ने इन तीन तत्त्वों, इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक तीन शक्तियों एवं उनके अधिपतियों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आधारशक्ति कुण्डलिनी के रूप में पादशिला की व्याख्या की है। यह पादशिला पत्थर से बनने वाले देवालय में पत्थर की तथा ईंट से बनने वाले प्रासाद में ईंट की बनाई जाती है। इस शिला को शास्त्रों में पादशिला कहा जाता है। शिलान्यास के प्रकरण में इसका अधिक महत्त्व है। इस पादशिला के स्वरूप का निरूपण करते हुए यहाँ नवशिला और पंचशिला की स्थापना का प्रकार बताया गया है। इस अवसर पर स्थापित किये जाने वाले कुम्भों का भी स्वरूप यहाँ वर्णित है। इसके बाद इन सबमें त्रितत्त्व-न्यास, पंचमूर्ति-न्यास एवं अष्टमूर्ति-न्यास के क्रम को स्पष्ट किया गया है। आत्मा, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों की व्याप्ति को बताने के बाद यहाँ पंचब्रह्म स्वरूप पृथ्वी आदि पांच तत्त्वों की तथा अष्टमूर्ति स्वरूप भगवान् शिव की

---

[१] पारमेश्वरागम (४.४३-५४) में मेखला-पूजन के प्रसंग में ५३ देवताओं की नामावली दी गई है, किन्तु वह नामावली इससे पूरी तरह से भिन्न है।

आठ मूर्तियों की व्याप्ति को बताकर उन-उन स्थानों में इनके अधिपतियों का न्यास करना चाहिये, इस विषय की सप्रमाण स्थापना की है। यह पूरी प्रक्रिया प्रासाद-निर्माण से संबद्ध है।

आत्मा, शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्वों का निरूपण नेत्रतन्त्र (२१.१-४७) में त्रिविध मन्त्रों के प्रसंग में किया गया है। अमृतानन्द योगी ने सौभाग्यसुधोदय (१.४९) में मायान्त आत्मतत्त्व की, सदाशिवान्त विद्यातत्त्व की और शक्ति-शिव में शिवतत्त्व की स्थिति बताई है। यहाँ भी इसी अर्थ में इन शब्दों की प्रवृत्ति हुई है, किन्तु विभिन्न अवसरों पर इनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ भी की गई हैं। लिंग, पीठ, प्रासाद, चूलिका, तटाक आदि में इन तीन तत्त्वों का न्यास करते समय इनकी व्याप्ति के विभिन्न प्रकार यहाँ निर्दिष्ट हैं। त्रितत्त्व-व्याप्ति शब्द की सहायता से इनको देखा जा सकता है।

पंचब्रह्म पद से शिव के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव नामक पाँच वक्त्रों एवं इसी नाम के पाँच मन्त्रों का ग्रहण होता है। ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में इनकी क्रमशः स्थिति मानी गई है, तो भी शास्त्रों में सर्वत्र वामदेव के [1]बाद सद्योजात का उल्लेख मिलता है। इसका कारण अन्वेषणीय है। तत्पुरुष वक्त्र की सर्वत्र पूर्व दिशा में स्थिति मानी गई है, किन्तु अन्वयार्था (पृ.३५८) में पूर्व आदि दिशाओं के क्रम में सद्योजात को प्रथम स्थान दिया गया है। यहाँ आनुपूर्वी से दिशाओं को न जोड़ना ही उचित होगा, क्योंकि पूरे ग्रन्थ (पृ.१३२,२५१,३२९) में पूर्व दिशा में तत्पुरुष की तथा पश्चिम दिशा (पृ.१४२,१४४) में सद्योजात की स्थिति स्पष्ट रूप से प्रदर्शित है। शिव की ये पाँच मूर्तियाँ पाँच महाभूतों का प्रतिनिधित्व करती हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव नामक पाँच कारणेश्वर इन पंचमूर्तियों के अधिपति हैं (पृ.३५८)। ऊर्ध्व आदि मुखों के क्रम से इनका वर्ण शुक्ल, पीत, कृष्ण, श्वेत और रक्त है (पृ. १८६)। इन्द्र आदि दिक्पालों का वर्ण क्रमशः पीत, रक्त, कृष्ण इन्द्रनील, धवल, हरित, पीत एवं स्फटिकसदृश बताया गया है (पृ.१९१)। मण्डलों में देवताओं के इन न्यास-स्थानों को इन्हीं वर्णों की धूलि से रँगा जाता है।

अष्टमूर्ति के विषय में ऊपर प्रस्तावना (पृ.२१-२२) में बताया जा चुका है। वामा आदि नौ शक्तियों में से प्रथम आठ शक्तियाँ अष्टमूर्तिस्वरूपिणी हैं। भव, शर्व आदि इनके नाम हैं। ऊपर प्रदर्शित पंचमहाभूतात्मक पाँच मूर्तियों के साथ चन्द्र, सूर्य

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ.३२९) में भी इस क्रम को देखा जा सकता है।

और यजमान मूर्ति का समावेश कर अष्टमूर्ति शिव की आराधना की जाती है। महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रारंभ में अष्टमूर्ति शिव का नमन किया है। त्रितत्त्व के ही समान पंचमूर्ति एवं अष्टमूर्ति न्यासों का भी लिंग आदि में विधान है। पृ.३४६-३७१ तक इसको देखा जा सकता है।

चिह्नांकन एवं तत्त्वव्याप्ति

लिंग एवं पीठ की स्थापना (प्रतिष्ठा) के अवसर पर उन्हें चिह्नों से अंकित किया जाता है। लिंग के ब्रह्म-विष्णु-रुद्र नामक तीन भागों के विषय में ऊपर बताया जा चुका है। इनमें से रुद्र-भाग में ही चिह्नों का निर्माण किया जाता है। इसी तरह से लिंग के आधारभूत पिण्डिका नामक पीठ में भी चिह्न अंकित किये जाते हैं। इनके स्वरूप को अगले दो श्लोकों (३१-३२) में स्पष्ट किया गया है। इन सबमें भी ऊपर बताये गये त्रितत्त्व, पंचतत्त्व एवं अष्टमूर्ति न्यास के क्रम में उनकी व्याप्ति के अनुसार देवताओं का न्यास किया जाता है। पिण्डिका में मूर्तिन्यास करते समय धारिका आदि शक्तियाँ इन मूर्तियों की अधिदेवता बन जाती हैं। अतः यहाँ उन्हीं का न्यास करना चाहिये। इसी तरह ब्रह्मशिला, प्रतिमा आदि में भी उक्त त्रिविध न्यास किया जाता है। यहाँ भी न्यसनीय देवता भिन्न हो जाते हैं। उनका स्वरूप टीकाकार ने सप्रमाण प्रस्तुत किया है।

लिंग परमशिव का सूक्ष्मशरीर और प्रासाद स्थूलशरीर माना जाता है। प्रासाद में चैतन्य की सिद्धि के लिये उसके मध्य में स्थापित कलश (कुम्भ) को हृदय-कुम्भ कहते हैं। इस कुम्भ में एक पुरुषाकार प्रतिमा रखी जाती है। इन प्रासाद, प्रतिमा आदि में भी तीन भागों की कल्पना का उनमें उक्त त्रिविध न्यास सम्पन्न किये जाते हैं। इसी तरह से प्रासाद-चूलिका में, शिखरयुक्त प्रासाद में, ह्रद, तटाक, कूप आदि जलाशयों में भी त्रितत्त्व की व्याप्ति लिंग के समान त्रिभाग-कल्पना के द्वारा की जाती है। इसके क्रम को भी यहाँ (पृ.३६४) स्पष्ट किया गया है। अभिप्राय यह है कि लिंग और प्रासाद की प्रतिष्ठा के अवसर पर जिनका भी निर्माण कराया जाता है, उसमें चैतन्य की जागृति के लिये यह त्रिविध (त्रितत्त्व, पंचतत्त्व एवं अष्टमूर्ति) न्यास अपेक्षित है। पृ.३६६ पर यह वर्णित है कि पीठवर्जित लिंग पूजनीय नहीं होता। इसीलिये बाणलिंग प्रकरण (पृ.३३६) में बताया गया है कि बाणलिंग की स्थापना के अवसर पर तदनुरूप पीठ का निर्माण कर लेना चाहिये। इस प्रकरण के अन्त (पृ.३६९-३७०) में पूजा के विविध आधारों का वर्णन कर उनमें लिंग की श्रेष्ठता को बताते हुए लिंग पद की ब्रह्मपरक व्युत्पत्ति भी कालोत्तर के प्रमाण से दी गई है।

फलश्रुति

शिवलिंग एवं पीठिका की प्रतिष्ठा करने वाले को भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रसंग में टीकाकार ने यह श्लोक उद्धृत किया है—"पीठादिपरमाणूनां संख्या यावच्छिवालये। तावत् कल्पसहस्राणि कर्ता शैवपुरं वसेत्।।" (पृ.३६७)। शिवलिंग और पीठिका की स्थापना के समान इनकी पूजा से भी भुक्ति और मुक्ति मिलती है। शिवलिंग की पूजा से श्रेष्ठ मुक्ति की तो प्राप्ति होती ही है, साथ ही शैवशास्त्र में विहित पूजा-योग्य स्थण्डिल आदि स्थानों में पूजा करने से इस लोक में और शुद्ध भुवनों में प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ भी उसे प्राप्त होती है। यहाँ (पृ.३६८) लिंग के विविध भेदों की चर्चा के साथ उन स्थण्डिल[१] आदि विविध आधारों (पृ.३६९) का भी विवरण देकर कहा गया है कि इन सबकी अपेक्षा लिंग में शिवपूजन का विशेष महत्त्व है। शिवपूजा में छः अंग-मन्त्रों, पाँच ब्रह्म-मन्त्रों और प्रासाद मन्त्र का विशेष महत्त्व है। सदाशिव के साथ समवाय संबन्ध से संबद्ध पराशक्ति-स्वरूप मनोन्मनी नामक शक्ति ही इनकी भार्या है। लिंग में मनोन्मनी नाम से स्थित यह मूर्ति नृत्त करते समय गौरी का रूप धारण कर लेती है। समस्त भुवनेश्वरों की भी स्थिति परशिव के अनुग्रह से ही होती है। इतना ही नहीं, ब्रह्मा आदि देवताओं को भी विभिन्न तत्त्वों में अधिकार पद की प्राप्ति भगवान् शिव के अनुग्रह से ही होती है। इनकी नामावली एवं तत्त्वव्याप्ति का परिचय ३९-४० श्लोकों में देखा जा संकता है।

ग्रन्थ-समाप्ति

चर्यापाद के अन्तिम ४१ वें श्लोक में ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की समाप्ति के अवसर पर ग्रन्थ का और अपना नाम बताने के साथ ग्रन्थ-रचना के प्रयोजन को भी स्पष्ट किया है। इसी के साथ ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पादों में पति, पशु, पाश नामक तीन पदार्थों का एवं दीक्षा आदि अन्य विविध विषयों का विवेचन करने वाला त्रिलोचन शिवाचार्य रचित यह सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ पूरा होता है।

इस प्रकार हम मूल ग्रन्थ और उसकी टीका में प्रतिपादित विषयों पर पर्याप्त विचार कर चुके हैं। ऐसा करते समय हमें लगा कि वीरशैव एवं बौद्ध मत में भी इनमें से कुछ विषय चर्चित हैं। अब संक्षेप में यहाँ उन्हीं को प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

[१] पृ. ३६८ की टिप्पणी देखिये। पारमेश्वरागम (४.२-५) में त्रिविध स्थण्डिल के साथ पंचविध कुण्ड की भी चर्चा मिलती है।

वीरशैव मत

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।

वीरशैवागम के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि (५.१४) का यह वचन है। तदनुसार सिद्धान्तसारावलि में व्याख्यात अनेक विषयों का उसी रूप में वीरशैव मत में भी समावेश हो, यह कोई अस्वाभाविक नहीं है। वीरशैव आगमों में तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान को [1]पंचयज्ञ के रूप में मान्यता दी गई है और वहाँ इनकी विस्तार से चर्चा हुई है। यहाँ (पृ. ७७ एवं ३०३) नित्य कर्म के रूप में स्नान, पूजा, जप, ध्यान और होम का विधान है। वीरशैव मत के वातुलशुद्धाख्य तन्त्र के आधार पर षड्विध ब्रह्म का यहाँ (पृ.९) प्रतिपादन मिलता है, किन्तु वस्तुतः उस तन्त्र के पूरे सातवें पटल में ब्रह्म के पाँच ही प्रकार वर्णित है, छः नहीं। साकल्य आदि पाँच प्रणवों का यहाँ (पृ.९) उल्लेखमात्र मिलता है। इनके लक्षण, स्वरूप आदि का विशद वर्णन सूक्ष्मागम उत्तर भाग के क्रियापाद के चतुर्थ पटल (श्लो. ४-३४) में मिलता है। वीरशैव [2]आगमों में कुशिक (कौशिक) आदि आदिशैवों की चर्चा मिलती है। यहाँ (पृ.२५२, २५४) भी इनके लिये आदिशैव पद प्रयुक्त है और प्रमाण के लिये कामिकागम को उद्धृत किया गया है (पृ.२५६)। अन्त्येष्टि याग (आराधन विधि) के प्रसंग (पृ.३१६-३१८) में शिवश्राद्ध की पद्धति वर्णित है। यहाँ विश्वेदेव आदि का जो विवरण दिया गया है, वह पूरी तरह से वीरशैव मत में भी मान्य है। पंचविध श्राद्धों का भी उल्लेख यहाँ (पृ.३१८) मिलता है। इनका विवरण कूर्मपुराण आदि में तो है ही; चन्द्रज्ञान, मकुट आदि आगमों के वीरशैवमत-संमत उत्तर भागों में भी इनका स्वरूप प्रदर्शित है। स्थण्डिल आदि पूजा-स्थान, अष्टत्रिंशत् कला-न्यास, अष्टविध कुण्ड और विविध मण्डलों का यहाँ विस्तार से निरूपण हुआ है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। वीरशैव

---

१. शिवपुराण की वायवीय संहिता के पूर्व भाग (३२.३) एवं उत्तर भाग (१०.४८-५४) में ये पाशुपत व्रत के रूप में चर्चित हैं। पाशुपत मत के ग्रन्थों में इनका क्रियालक्षण योग में अन्तर्भाव है। वीरशैव-ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि (९.२१-२५), सूक्ष्मागम (६.२६-३५), मकुटागम (१.२.३९) एवं पारमेश्वरागम (१७.८०-८२) भी द्रष्टव्य।

२. मूल ग्रन्थ में २५४ पृष्ठ पर दी गई टिप्पणी देखिये।

मत के पारमेश्वरागम (४.२-४) में तीन प्रकार के स्थण्डिल एवं पंचविध कुण्डों की संक्षिप्त चर्चामात्र है। कारणागम क्रियापाद के प्रथम और चतुर्थ पटल में भी क्रमशः कुण्ड, स्थण्डिल, मण्टप की तथा रंगवल्ली के साथ पद्म-भद्र-तत्त्व मण्डलों की संक्षिप्त चर्चा मिलती है।

बौद्ध मत

अष्टविध कुण्ड, विविध मण्डल, अग्नि कार्य विधि आदि विषयों का प्रतिपादन बौद्ध मत में आश्चर्यजनक रूप से वैदिक एवं आगमिक पद्धति से मिलता-जुलता है[1]। कालचक्र तन्त्र की टीका विमलप्रभा में पंचब्रह्मलक्षण पंचबुद्धों का विवरण इस प्रकार दिया गया है—"अत्र सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः" (भा.२, पृ.१८६)। स्पष्ट है कि यहाँ शैव पंचब्रह्म की बौद्ध पंचबुद्धों से अभिन्नता स्थापित की गई है। दीक्षा के समय नामकरण की प्रक्रिया शैवों में पंचब्रह्म के आधार पर की जाती है (पृ.२०७)। इसी तरह से बौद्धों में यह पंचबुद्ध कुल की पद्धति से सम्पन्न होती है। षडंग और पंचांग मन्त्रों का निरूपण दोनों ही तन्त्रों में उपलब्ध है। यहाँ (पृ.११०) इसका प्रयोजन भी प्रदर्शित है कि नेत्र मन्त्र को क्यों छोड़ा जाता है। अभिषेक के प्रसंग में अभिषेक के लिये प्रयुक्त होने वाले जल में रत्न, ओषधी आदि का समान रूप से ग्रहण किया जाता है (पृ.२५१)। पालनीय समयाचारों में भी पर्याप्त समानता है। बौद्धों की पूरी अभिषेक-पद्धति यहाँ वर्णित दीक्षाविधि के समतुल्य है।

पंच महाभूतों पर आधारित पंचोपचार पूजा की प्रक्रिया [2]बौद्ध एवं क्रम (शाक्त) तन्त्रों में अवश्य भिन्न प्रकार की है। इनका परापरा पूजा से संबन्ध है, जब कि प्रस्तुत ग्रन्थ में बाह्य और आन्तर पूजा के रूप में अपरा और परा पूजा का ही विधान मिलता है। "न तस्य नियमैः कार्यम्" (पृ.१५१) इस तरह के वचन उत्कृष्ट साधकों के लिये तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं में उपलब्ध हैं। अनावृष्टि के लिये जम्भ (यक्षविशेष) को लवण की आहुति देने का विधान बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है। यहाँ (पृ.१४७) इसका सही अर्थ नहीं किया गया है।

---

[1] 'धी' के प्रथम एवं द्वितीय अंक में प्रकाशित—"बौद्ध-शैव-शाक्त तन्त्रों में तुलनात्मक सामग्री" शीर्षक निबन्ध देखिये।

[2] हेवज्रतन्त्र (१.१०.३८-४०) तथा महार्थमंजरीपरिमल (पृ.८०) देखिये।

योग-प्रक्रिया में बौद्ध तन्त्रों में भी ७२ हजार, बत्तीस, दस, तीन और एक संख्या की नाडियाँ स्वीकृत हैं। वहाँ छत्तीस [1]नाड़ियों का भी निरूपण हुआ है। [2]ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र शब्दों की यहाँ (पृ.३०२) जिस तरह की निरुक्ति दी गई है, वैसी ही बौद्ध तन्त्रों में भी मिलती है। 'अशून्यं शून्यमित्युक्तम्'' (पृ.९७-९८) शून्य की यह परिभाषा बौद्ध तन्त्रों से मिलती-जुलती है। "बौद्ध तन्त्रों के अनुशीलन के नये आयाम'' शीर्षक निबन्ध में हमने इसी तरह के अन्य विषयों पर भी विचार किया है।

एक सामयिक चेतावनी के साथ अब हम अपने इस आलेख को पूरा करना चाहते हैं।

युगों की स्थिति

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग की कल्पना से सारा भारतीय साहित्य अभिभूत है। यहाँ (पृ. ६६-६८) भी कालमान के प्रसंग में इनकी चर्चा आई है। कालमान की दृष्टि से इनकी उपयोगिता मानी जा सकती है, किन्तु युगधर्मों की और उनके अनुसार वर्ण, आश्रम और पुरुषार्थों की व्याख्या करना कहाँ तक उचित है? इस पर आज की परिस्थिति को देखते हुए विचार करना हमें अपेक्षित लगता है। आजकल वर्णों[3] और आश्रमों की स्थिति गड़बड़ा गई है। तथाकथित धर्मनिरपेक्षता ने पुरुषार्थों की स्थिति को भी अस्थिर कर दिया है। कलियुग की महिमा मानकर हम इस ओर से आँख मूँद लेते हैं। इससे हममें उस साहस की स्थिति शून्य के बराबर हो जाती है, जिसके आधार पर कि हम अपसंस्कृतियों के आक्रमण से अपने को बचाते हुए आज भारतीय संस्कृति के जिन अवदानों की नितान्त अपेक्षा है, उनको पूरे विश्व के सामने दृढता से स्थापित कर सकें। आज हमारी स्थिति बिल्ली के आने पर कबूतर के आँख मूँद लेने जैसी हो गई है। मृत्युंजय भट्टारक (नेत्रतन्त्र, १९.२१९) में स्पष्ट

---

१. "एता द्वात्रिंशत्, सन्ध्यानाडीचतुष्टयेन सह षट्त्रिंशत्'' (व. टी., पृ. ४३)।

२. तुलना कीजिये—"ब्रह्मा निर्वृतितो बुद्धो विषणाद् विष्णुरुच्यते। शिवः सदा सुकल्याणाच्छर्वः सर्वात्मना स्थितः।।'' (हेवज्र. १.५.१३)। अनंगयोगी के डाकिनीजालशम्बररहस्य (पृ.५) में भी यह व्युत्पत्ति उपलब्ध है। गुह्यसमाज (१७.१९) तन्त्र भी देखिये।

३. हमारे—"आगम और तन्त्रशास्त्र'' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "वर्णाश्रमधर्म······ (पृ.१६७-१७५) शीर्षक निबन्ध देखिये।

घोषणा की गई है कि नेत्रनाथ के साम्राज्य पर सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आज इसी भगवदादेश का अनुसरण करने की आवश्यकता है। अन्यथा भारतीय मानस युगधर्मों से त्राण नहीं पा सकेगा। नेत्रतन्त्र के इस मृत्युंजयस्वरूप की उपासना से ही वह भयमुक्त हो सकता है।

आभार प्रदर्शन

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान की शोध ग्रन्थमाला में भाषानुवाद एवं अंग्रेजी अनुवाद के साथ आगम-ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना है। तदनुसार गत वर्षों में अनेक आगमों का प्रकाशन हुआ है। आज शिवरात्रि के पावन अवसर पर अन्वयार्था एवं विस्तरार्था के साथ सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ का यह नवीन संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। काशी ज्ञानसिंहासन के वर्तमान जगद्गुरु श्री १००८ डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी की प्रेरणा से यह ज्ञानसत्र प्रवृत्त है। पूरे ग्रन्थ पर और उसके भाषानुवाद पर आचार्यश्री की एवं पण्डितप्रवर आचार्य जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी की सूक्ष्मेक्षिका इसको परिमार्जित रूप दे सकी हैं। जंगमवाड़ी मठ में शोधरत एवं अध्ययनरत सुबुद्ध छात्रों ने विशेषकर श्री सिद्धराम देव हिप्परगि, श्री स्वरूपानन्द और श्री तोण्टदार्य देव मरेगुद्दि, श्री सिद्धलिंग देव चिप्पलकट्टि एवं नूरोन्द देव कक्कलमेलि ने परिशिष्टों के निर्माण में पूरा सहयोग दिया है। डॉ. जी. सी. केण्डदमठ, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपनी देखरेख में जंगमवाड़ी मठ के शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस में कार्यरत श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी) तथा श्री राजशेखर जी. हिरेमठ से आकर्षक अक्षर-संयोजन कराया है। हम इन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं, धन्यवाद प्रदान करते हैं।

महाशिवरात्रि, संवत् २०५४
शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी
निदेशक

विषयसूची

शुभाशीर्वचन I–II

प्रस्तावना 1-82

सामान्य परिचय — पृ. १, ग्रन्थ-सम्पादन — ४, मूल ग्रन्थ एवं टीका — ५, ग्रन्थकार त्रिलोचन शिवाचार्य — ६, टीकाकार अनन्तशम्भु — ६, टीका में उद्धृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार — ७ ; **ज्ञानपाद**, निष्कल प्रासाद मन्त्र — १४, पदार्थत्रय, पति — १८, पशु — २२, विज्ञानाकल — २३, प्रलयाकल — २५, सकल — २६, पाश, मल — २८, रोधशक्ति — ३०, कर्म — ३१, माया — ३२, बिन्दु (महामाया) — ३३, शुद्धाध्वा — ३४, मिश्राध्वा — ३५, अशुद्धाध्वा — ३७, नाद-बिन्दु-लिपि — ४०, कुण्डलिनी शक्ति — ४१, पंचकृत्यकारी शिव — ४३, सृष्टि — ४३, संहार — ४४, अनुग्रह — ४४ ; **क्रियापाद**, मल-परिपाक, कर्मसाम्य एवं शक्तिपात — ४५, दीक्षा — ४८, दीक्षा-संस्कार किसका ? — ५०, समयाचार-पालन — ५१, दीक्षा-विधान — ५३, कारणेश्वर-त्याग — ५३, दीक्षित व्यक्ति की चर्या — ५७, आन्तर और बाह्य पूजा — ५८, जप-निवेदन — ५९, अग्निकार्य — ६०, दीक्षार्थ मण्डप, कुण्ड, मण्डल का विधान — ६१, दीक्षा-संस्कार — ६२, पूर्णाहुति — ६४, अभिषेक — ६४, दीक्षा का अधिकार — ६५, शैवकुल परम्परा — ६५, आमर्दक मठ परिचय — ६६ ; **योगपाद**, नाड़ी चक्र — ६७, आधारदशक — ६७, प्राणायाम द्वारा नाड़ी-शुद्धि एवं वायु-जय — ६८, पाँच अवस्थाएँ — ६९ ; **चर्यापाद**, अट्ठाईस शैवागम — ७०, पवित्रोत्सव — ७२, भोजनविधि एवं प्रायश्चित्त — ७२, अन्त्येष्टि-विधान — ७३, प्रतिष्ठा-विधान — ७३, वास्तुपूजा — ७५, त्रितत्त्व, पंचमूर्ति एवं अष्टमूर्तिन्यास — ७५, चिह्नांकन एवं तत्त्वव्याप्ति — ७७, फलश्रुति — ७८, ग्रन्थसमाप्ति — ७८, वीरशैव मत — ७९, बौद्ध मत — ८०, युगों की स्थिति — ८१, आभार प्रदर्शन — ८२ ;

विषयसूची 83-96

ज्ञानपाद

परशिव नमस्काररूप मङ्गल श्लोक १-७

जगन्निर्माण में परशिव (पति) की निमित्तकारणता २-३

स्थावर-जंगमात्मक जगत् ३

शुद्ध-अशुद्ध तत्त्व एवं भुवन ३
शिवतत्त्व और बिन्दुतत्त्व ३-४
शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि में क्रमशः बिन्दु (महामाया) और माया की उपादानकारणता ४
विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नामक त्रिविध जीव ४
आणव, मायीय तथा कार्म मल (पाश) ४
मन्त्र और मन्त्रेश्वर (अनन्त आदि आठ विद्येश्वर) ४
मल, माया, कर्म, बिन्दु और रोधशक्ति नामक पाँच पाश ४
शक्तिपात एवं मुक्तावस्था ४-५
प्रासाद मन्त्र का पंचविध उच्चारण ५
षड्विध कारणेश्वरों का त्याग ५
मुण्डक-वचन की आगमपरक व्याख्या ५
कारणेश्वरों के त्याग की दूसरी पद्धति ६
इस पूरी सृष्टि का प्रकाश परमशिव से ६
प्रासाद मन्त्र के अभ्यास से निष्कल शिव का साक्षात्कार ६-७

पराशक्ति से सम्पन्न परशिव का नाना रूप धारण करना ७-१०

शिव की स्वयंप्रकाशता ८
बिन्दु की स्थिति ८-९
षड्विध ब्रह्म ९
सादाख्य तत्त्व (सदाशिव) ९
शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के कर्ता ९-१०

शिव और शक्ति का धर्मधर्मिभाव संबन्ध १०-११

अनाहत शिव १०
तत्त्व, मूर्ति और भाव (शिव, सदाशिव और सादाख्य) ११

शक्ति का स्वरूप एवं भेद ११-१४

सविकल्पक ज्ञान एवं शिव की भोग और अधिकार अवस्था ११
निर्विकल्पक ज्ञान एवं शिव की लयावस्था ११
संकल्परूपा एवं करणरूपा द्विविध क्रिया ११
शक्ति का स्वरूप १२-१३
वामा आदि नानाविध शक्तियाँ १३
अष्टमूर्ति शिव १३
पक्वमल और अपक्वमल विज्ञानाकल जीव १३
तिरोधान एवं अनुग्रह व्यापार १३
सकल जीव की सोलह कलाएँ १३-१४

पुर्यष्टक देह (सूक्ष्म शरीर) १४

प्रलयाकल जीव १४

आत्म(पशु)तत्त्व और उसके त्रिविध भेद १५-१८

जीवात्मा (पशु) का सामान्य लक्षण १५-१६

जीवात्मा के त्रिविध भेद १६-१७

मल शब्द के पर्याय १७

मलपाक १७-१८

अधिकार पद या सायुज्य लाभ १८

आणव मल एवं रोधशक्ति (पाश) का स्वरूप १९-२२

पशु शब्द के पर्याय १९

मल (अज्ञान) का स्वरूप और प्रयोजन १९-२२

तिरोधान और अनुग्रह व्यापार २२

अनुग्रह शक्ति में पाश पद का औपचारिक प्रयोग २२

कार्म नामक पाश का स्वरूप २२-२५

प्राणियों में इन्द्रियों और विषयों का वैशिष्ट्य २३-२४

कार्म नामक पाश का स्वरूप एवं कृत्य २४-२५

कर्मसाम्य, शक्तिपात एवं शिवत्व की अभिव्यक्ति २५

मायीय एवं बैन्दव पाश का स्वरूप २५-२८

माया का स्वरूप एवं कृत्य २६-२८

बिन्दु (महामाया) का स्वरूप एवं कृत्य (पाँच कलाएँ) २८

पाँच शुद्ध तत्त्वों का स्वरूप २८-३१

बिन्दु और शिव की तीन अवस्थाएँ (लय, भोग और अधिकार) २९-३१

इकतीस अशुद्ध तत्त्वों का निरूपण ३१-३४

शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्वों की प्रवृत्ति ३२-३३

सात ग्रन्थियाँ एवं पुरुष तत्त्व ३३

राग तत्त्व में विद्यमान रुद्र ३३-३४

विज्ञानाकलों एवं प्रलयाकलों की ईश्वर एवं शुद्धविद्या के भुवनों में अधिकार-प्राप्ति ३५-३८

सदाशिव पदवाच्य शिव का स्वरूप ३५-३६

माया और शुद्धविद्या के अन्तराल में विज्ञानाकलों की स्थिति ३६-३७

अधिकारप्राप्त विज्ञानाकल (मन्त्र एवं मन्त्रेश्वर) ३७

अष्टादशोत्तर शतरुद्र ३७-३८

कुण्डलिनी (बिन्दु) शक्ति एवं कला तत्त्व का स्वरूप ३८-४४
नाद, बिन्दु और लिपि का स्वरूप एवं इनके भेद ३९-४०
वाणी के परा आदि चतुर्विध भेद ४०
वर्णों की उत्पत्ति के आठ स्थान ४०
नाद से स्थावरजंगमात्मक जगत् की सृष्टि ४१
नाद और बिन्दु की कलाएँ ४१-४२
कुण्डलिनी शक्ति ४२-४४
अणु (जीवात्मा) की कर्तृशक्ति ४४
विद्या तत्त्व और राग तत्त्व का स्वरूप ४४-४७
विद्या तत्त्व की बुद्धि तत्त्व से भिन्नता ४५-४७
काल और नियति तत्त्व का स्वरूप ४७-४८
पंचकंचुक से आवृत पुरुष तत्त्व का एवं प्रकृति तत्त्व का स्वरूप ४८-५०
गुण तत्त्व एवं बुद्धि तत्त्व का स्वरूप ५०-५२
बुद्धिगत भावों और प्रत्ययों का स्वरूप एवं उनके भेद ५२
अहंकार तत्त्व एवं मनस्तत्त्व का स्वरूप ५२-५६
अहंकार की वृत्तियाँ एवं त्रिविध सृष्टि ५३
पंचविध प्राण की वृत्तियाँ ५३-५५
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ ५६-५७
पाँच तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत ५७-५९
शब्द आदि गुणविषयक न्याय-वैशेषिक मत की समालोचना ५८
तत्त्वों के शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध नामक तीन प्रकार ५९-६१
अधिकार, भोग और लय नामक तीन अवस्थाएँ ६०
तत्त्व का लक्षण ६०-६१
पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त तत्त्वों का परिमाण ६१-६३
भगवान् शिव का प्रत्येक आत्मा को भोगप्रदान ६३-६४
भगवान् के संरक्षण (स्थिति) और लय (संहार) कृत्यों का स्वरूप ६४-६५
अवान्तर प्रलय और महासंहार का स्वरूप ६६-६८
मानुष और दैव वर्ष, युग आदि का स्वरूप ६६-६८
एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या ६८-६९

शिव के अनुग्रह कृत्य का स्वरूप ६९-७०
संहार काल में शतरुद्र आदि की स्थिति ७०
जीवों के भोग और मोक्ष संपादन-हेतु शिव की पंचकृत्यकारिता ७०-७२
महाप्रलय का प्रयोजन ७१-७२
महासंहार काल में भी शिव, जीव और माया की स्थिति ७२

क्रियापाद

मलपरिपाक, शक्तिपात, दीक्षा एवं समयाचार का पालन ७३-७७
कर्मसाम्य एवं शक्तिपात का स्वरूप ७४
शब्दों का गौण (औपचारिक) प्रयोग ७४
शक्तिपात का प्रयोजन एवं उसके चिह्न ७४-७५
गुरुवर (सद्‌गुरु) के लक्षण ७५-७६
दीक्षा के द्वारा शिष्य के पाशों का छेदन ७६
समयी, पुत्रक और साधक द्वारा पालनीय समयाचार ७६-७७
नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म ७७
समयाचार-पालक को शरीरपात के बाद शिवपद की प्राप्ति ७७-८२
शैव समयाचार-पालन की विशेष मान्यता ७८-७९
समयाचार का लोप होने पर प्रायश्चित्त का विधान ७९
दीक्षित व्यक्ति के उत्क्रान्तिकालीन कर्तव्य ८०
अन्त्येष्टिकालीन प्रायश्चित्त ८१
षाड्‌गुण्य की अभिव्यक्ति एवं शिवसमता ८१-८२
मुक्तात्मा और शिव की भिन्नता ८२
विज्ञानाकल और प्रलयाकल के लिये दीक्षाविधान ८३-८४
विज्ञानाकल में कर्मसाम्य की उपपत्ति ८३-८४
चतुर्विध शक्तिपात ८४
शक्तिपात के चिह्नों के अनुसार दीक्षाविधान ८४-८७
मुक्त जीव को शिवभाव की प्राप्ति ८७
समयाचारों का लोप होने पर प्रायश्चित्त का विधान ८७-८८
चर्या शब्द का अर्थ ८८
समयाचार के उल्लंघन से पिशाचयोनि की प्राप्ति ८८
शिव द्वारा स्कन्द गुरु को उपदिष्ट नवकल प्रासाद मन्त्र ८९-९२

सदाशिव आदि सात गुरु ९०
प्रासाद पद की व्युत्पत्ति और प्रासाद मन्त्र का स्वरूप ९०-९२
बारह और सोलह कलाओं वाला प्रासाद मन्त्र ९२-९५
हकार के पर्याय नाम ९३
बारह और सोलह कलाओं का विवरण ९३-९४
कलाओं के उच्चारण के विषय में शंका-समाधान ९४-९५
प्रासाद मन्त्र की मात्रासंख्या एवं षड्विध शून्य ९५-९८
नादात्मक हंस मन्त्र में षड्विध शून्यों की स्थिति ९६-९८
द्वादशकल प्रासाद मन्त्र का प्रस्तार एवं ध्यानक्रम ९८-९९
प्रासाद मन्त्र की कलाओं का आकार ९८-९९
प्रासाद मन्त्र में कलाओं की स्थिति, षडध्वव्याप्ति एवं कारणेश्वर ९९-१००
प्रासाद मन्त्र की कलाओं की कान्ति १००-१०३
प्रासाद मन्त्र से पंचब्रह्म, षडंग आदि मन्त्रों की उत्पत्ति १०१-१०२
अष्टसिद्धिप्रद अष्टविध प्रासाद मन्त्र १०२
प्रासाद मन्त्र की प्रयोगविधि १०२-१०३
प्रासाद मन्त्र के जप से शिवपद की प्राप्ति १०३-११०
प्रणव पद के पर्याय और षडक्षर मन्त्र १०३-१०४
प्रासाद आदि मन्त्रों की जपविधि १०४-१०५
कारणेश्वरत्याग विषयक शंका-समाधान एवं क्रम १०५-१०७
मन्त्रपद की व्युत्पत्ति १०७-१०८
जलाभिषेक (स्नान) का विधान १०८
चिच्छक्ति का विकास १०८
पाँच अंग वाला प्रासाद मन्त्र १०९
निष्कल प्रासाद मन्त्र ११०
शाक्त क्षोभ से उत्पन्न अमृत-प्रवाह में मानस स्नान ११०-११२
स्नान के भेद और मानस स्नान की विधि १११-११२
भूतशुद्धि के समय शरीर की अश्वत्थ वृक्ष के रूप में भावना ११२-११४
शोषण, दाहन और आप्यायन के द्वारा शरीर की शुद्धि के उपरान्त देवपूजा ११४-११७
त्रिविध प्राणायाम और मात्राकाल का निरूपण ११५-११६
अमूर्त आकाश की भावना का प्रकार ११७

पंचब्रह्म मन्त्र की अड़तीस कलाएँ एवं साधक के शरीर में इन कलाओं के न्यास के स्थान **११७-१२०**

आन्तर और बाह्य शिवपूजा का विधान **१२०-१२३**

बाह्य और आभ्यन्तर पूजा १२१
आभ्यन्तर पूजा की दो विधियाँ १२१-१२३
भाव पद का अर्थ, अहिंसा आदि अष्टविध पुष्प १२३

नाभिकुण्ड स्थित शिवाग्नि में आहुतिदान **१२३-१२५**

बाह्य पूजा के क्रम में लिंगपूजा की श्रेष्ठता **१२५-१२८**

आसन-परिकल्पन एवं षडध्वन्यास की विधि १२६-१२८

आवाहन का प्रकार **१२८-१३०**

भगवान् के आवाहन का उत्कृष्ट क्रम १२९-१३०

आवाहन, स्थापन आदि दस संस्कार **१३०-१३३**

आवाहनविषयक शंका-समाधान १३१
आवाहन के दो प्रकार १३२
मुद्रा पद की निरुक्ति एवं विभिन्न मुद्राओं के लक्षण १३२-१३३

पंचोपचारों का स्वरूप **१३३-१३५**

शिवमन्त्र के जप की भावना का क्रम **१३५-१३७**

त्रिविध जप, जपविधि एवं जपमाला (अक्षसूत्र) १३५-१३७

अग्निकार्य (हवन) की विधि **१३७-१४६**

कुण्ड की शुद्धि के अठारह संस्कार १३८-१३९
अक्षपाट संस्कारविषयक शंका-समाधान १३९-१४०
अरणिज आदि वह्नियों में से किसी एक की कुण्ड में स्थापना १४०-१४१
कुण्ड में स्थापित शिवाग्नि के गर्भाधान आदि संस्कार १४१
शिवाग्नि की शिव के पंचवक्त्रों से अभिन्नता १४१-१४३
विभिन्न वक्त्रों में कामना-भेद से आहुतिदान १४४
घृत के अठारह प्रकार के संस्कार १४५
स्रुक् में शक्ति और स्रुवा में शिव का न्यास १४५
पूर्णाहुति का क्रम १४६

काम्य होम का विधान **१४६-१४७**

विभिन्न दीक्षाओं का स्वरूप एवं फल **१४७-१५४**

दीक्षा पद की व्युत्पत्ति तथा क्रिया दीक्षा का लक्षण १४८-१४९
भौतिकी और नैष्ठिकी दीक्षा एवं उनके भेदोपभेद १४९
शिवधर्मिणी एवं लोकधर्मिणी दीक्षा १५०-१५१
सबीजा और निर्बीजा दीक्षा एवं उनके भेद १५१-१५२
निराधारा और साधारा दीक्षा १५२-१५३
दीक्षा-संस्कार विषयक प्रश्न एवं समाधान १५३-१५४
दीक्षा-योग्य मास, नक्षत्र, वार आदि का विचार १५४-१५७
यागधाम (यज्ञशाला=मण्डप) की निर्माणविधि १५७-१५९
वेदिका का विस्तार और लक्षण १५९-१६१
चतुष्कोण आदि विविध कुण्डों का सामान्य लक्षण १६१-१६३
योनिकुण्ड और अर्धचन्द्र कुण्ड का लक्षण १६३-१६५
त्रिकोण, वृत्त और षट्कोण कुण्ड का लक्षण १६५-१६६
पद्म और अष्टकोण कुण्ड का निर्माण १६६-१६८
इन कुण्डों का काम्य कर्मों में उपयोग १६६-१६८
स्रुक् और स्रुव नामक होमपात्रों का लक्षण १६८-१७४
विष्टर, परिधि, इध्म और समिधा का लक्षण १७४-१७६
यागोपयोगी ज्ञानखड्ग आदि उपकरणों और द्रव्यों का संग्रह १७६-१७८
कर्तरी, सप्तविध विकिर एवं पाशसूत्र १७८
कुम्भ (कलश) की शिवदेह के रूप में भावना १७८-१७९
वेदी के निर्माण के लिये चतुरस्र क्षेत्र का विस्तार-क्रम १७९-१८१
पद्ममण्डल का रचना-क्रम १८१-१८२
पद्ममण्डल का रंजन-क्रम १८२-१८३
पद्मपीठ में सत्त्व-रज-तमोमय रेखाओं का विस्तार १८३-१८४
पीठनिर्माण-विधि एवं पद्ममण्डल का विस्तार १८४-१८५
लतालिंग मण्डल के पद्म का लक्षण १८५-१८७
लतालिंग मण्डल की रचना का दूसरा प्रकार १८७-१८८
मतंगागम-वर्णित नवनाभ मण्डल का स्वरूप १८८-१८९
स्वायम्भुवागम वर्णित अनन्तविजय मण्डल का स्वरूप १८९-१९२
षट्साहस्त्री संहिता वर्णित भद्रमण्डल का स्वरूप १९२-१९३

किरणागम वर्णित पुराकार मण्डल का स्वरूप १९३-१९५
मृगेन्द्रागम वर्णित पुराकार मण्डल का स्वरूप १९५-१९७
गौरीलताकार लिंग नामक मण्डल का स्वरूप १९७-१९९
सुभद्र नामक मण्डल का स्वरूप १९९
उमाकान्त नामक मण्डल का स्वरूप १९९-२००
स्वस्तिक नामक मण्डल का स्वरूप २००-२०१
चण्डेश्वर का टंक नामक अर्धचन्द्राकार मण्डल २०१-२०२
समयी दीक्षा का विस्तार से वर्णन, शिष्य के इकतीस संस्कार २०२-२१५
मण्डल-रचना के बाद विधीयमान कृत्य २०३-२०४
गुरु द्वारा शिष्य का मण्डल में आवाहन २०४
शिष्य की दीक्षा-संस्कार विधि २०४-२०५
अक्षिबन्धन एवं पुष्पपात विधि २०५-२०६
नामकरण एवं शिवहस्तस्थापन २०७-२०८
नाडीसन्धान आदि दीक्षा के सात संस्कार २०८-२१०
विशेष दीक्षा के आवश्यक अंग २१०-२११
दीक्षणीय व्यक्ति का वागीश्वरी के गर्भ से जन्म २११-२१२
यज्ञोपवीत धारण २१२
वागीश्वरी-गर्भ से उत्पन्न जीव के संस्कार २१२-२१४
पूर्वात्मयोग २१४
गुरुपूजन एवं समयाचारों का पालन २१४-२१५
षडध्व-विलापन विधि का विस्तार से वर्णन २१५-२२७
निवृत्ति कला में स्थित बारह पदार्थ २१५-२१८
प्रतिष्ठा कला में स्थित बारह पदार्थ २१८-२१९
विद्या कला में स्थित बारह पदार्थ २१९-२२१
शान्ति कला में स्थित बारह पदार्थ २२१-२२३
शान्त्यतीत कला में स्थित बारह पदार्थ २२३-२२४
षडध्व में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव २२४-२२७
निर्वाण दीक्षा के प्रसंग में पाशसूत्र-विन्यास २२७-२३०
शिवशक्ति की पाशात्मकता पर विचार २२९-२३०
वागीश्वरी के गर्भाधान आदि संस्कार एवं पाशच्छेदन २३०-२३३

छिन्न पाशपिण्ड की शिवाग्नि में आहुति, शुल्कदान एवं पूर्णाहुति २३३-२३९
शिष्य के ताडन आदि अठारह संस्कार २३५-२३६
विहितानाचरण एवं निषिद्धाचरण दोष की निवृत्ति के लिये शुल्कप्रदान २३६-२३९
त्रितत्त्व में क्रियालोप आदि दोषों की निवृत्ति के लिये आहुतिविधान २३९-२४०
आत्म, विद्या, शिव नामक तीन तत्त्व और त्रिविध जप २४०
स्रुक् में षडध्वन्यासपूर्वक शक्ति एवं शिव का आवाहन २४१-२४३
शुद्धविद्या की यागधाम के रूप में भावना २४१-२४२
शिवपूजा के पंचविध स्थान एवं स्रुक् में षडध्वन्यास २४२-२४३
पूर्णाहुति के समय सात विषुवों का ध्यान-क्रम २४४-२४७
पूर्णाहुति-प्रदान की विधि २४७-२४९
स्रुक् के आन्तर स्वरूप का ध्यान २४७-२४८
शिष्य की आत्मा का आप्लावन २४८-२४९
दीक्षाप्राप्त शिष्य में षाड्गुण्य का आपादन २४९-२५०
शिष्य का अभिषेक एवं आचार्यत्वापादन २५०-२५२
गुरुवर पद का अभिप्रेतार्थ २५२
बिन्दुतत्त्व से चली शैव कुल-परम्परा एवं मठ-परम्परा २५३-२५६
स्थावर-जंगमात्मकं जगत् की उत्पत्ति २५३-२५४
मुनि दुर्वासा से शैव सम्प्रदाय की प्रवृत्ति २५४
भारतवर्ष में आमर्दक मठ की स्थापना २५४
रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरिं मठों की परम्परा २५५
कौशिक आदि ऋषियों की शैवी सृष्टि २५५-२५६
आमर्दक मठ की परम्परा में ग्रन्थकार की स्थिति २५६-१५८
सात गोत्रपुरुष एवं आमर्दक आदि मठों के सम्प्रदाय २५७
ग्रन्थकार की गुरु-परम्परा २५८

योगपाद

सुषुम्ना आदि समस्त नाडियों के उत्पत्ति-स्थान कन्द का स्वरूप २५९-२६२
कन्द (देहमध्य), कुण्डलिनी एवं नाभिस्थान का परिचय २५९-२६१
कन्द से विनिर्गत ७२ हजार नाड़ियाँ २६१-२६२
बत्तीस मुख्य एवं तीन प्रधान नाड़ियाँ २६२

सुषुम्ना के द्विविध मार्ग २६२
मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त स्थित विभिन्न कमल २६२-२६४
आधार आदि दस चक्र एवं ब्रह्मनाडी २६३
वामा आदि नौ शक्तियाँ एवं रवि-सोम-अग्नि मण्डल २६४
प्राणायाम से नाडीशुद्धि एवं वायुजय २६४-२६८
योगाभ्यास के योग्य स्थान, द्विविध आसन एवं शुभ मुहूर्त २६५-२६६
योगाभ्यास की विधि २६६
त्रिविध प्राणायाम एवं नाड़ीशुद्धि २६६-२६७
मात्रा (ताल) का लक्षण २६७
निर्गर्भ एवं सगर्भ प्राणायाम एवं उसका फल २६७-२६८
योगाभ्यास द्वारा द्वादशान्त पदवी में परमशिव का साक्षात्कार २६८-२६९
योगी के द्वारा हृदयाकाश में ज्योतिदर्शन २६९
चार सन्ध्याओं में शिव का ध्यान-क्रम २६९-२७१
पंचावस्थातीत आत्मा की परमशिव-साम्यापत्ति दशा २७१-२७४
मलिन आत्मा की पाँच अवस्थाएँ २७२-२७४
निर्मल आत्मा में शिवत्व का उदय २७४

चर्यापाद

कामिक आदि आगमों का शिवभेद और रुद्रभेद में विभाजन २७५-२७९
अवबोधरूप एवं शब्दरूप द्विविध शिवज्ञान २७६
द्विविध गुरु-परम्परा (महौघक्रम एवं गुरुक्रम) २७७-२७९
शिव के प्रणव आदि दस मानस पुत्र २७७
दशधा विभक्त नादरूप शिवज्ञान २७७
कामिक आदि दस शिवागमों के वक्ता एवं श्रोता २७८
विजय आदि अठारह रुद्रागमों के वक्ता एवं श्रोता २७८-२७९
वक्ता एवं श्रोता के भेद से शैवागमों का षड्विध अथवा पंचविध संबन्ध २७९-२८२
महौघक्रम एवं गुरुक्रमविषयक प्रश्नोत्तर २८१
आगमों का प्रामाण्य २८१-२८२
दस शिवागमों तथा अठारह रुद्रागमों की नामावली २८२-२८५
शिव के पाँच मुखों से आगमों का निर्गमन २८२-२८४

भगवान् शिव की परमाप्तता २८४-२८५

पवित्रोत्सव कालनिर्णय २८५-२९२

सौर और चान्द्र मास २८६-२८८

विष्णुशयन कालनिर्णय २८८-२९०

मलमास का निर्णय २९१-२९२

चतुर्विध पवित्रों की तन्तु-ग्रन्थि संख्या एवं उनमें स्थित देवता २९२-२९९

पवित्र के निर्माण की विधि २९३-२९४

चतुर्विध पवित्रों का स्वरूप (लक्षण) २९४-२९५

ग्रन्थियों में देवताओं और कलाओं का विन्यास २९५-२९९

चतुर्विध पवित्रों का समर्पण-क्रम एवं उससे प्राप्त होने वाला फल २९९-३०६

पवित्रार्पण की नित्यकर्मांगता एवं वार्षिक पवित्रोत्सव ३०२-३०६

भोजन-दोष की निवृत्ति के लिये अष्टविध प्रासाद मन्त्र का द्विविध न्यास ३०६-३१०

भोजनविधि का विस्तार से वर्णन ३०९-३१०

दानग्रहण आदि दोषों के परिहार के लिये प्रासाद मन्त्र का द्विविध न्यास ३१०-३१२

प्रासाद मन्त्र के न्यास की श्रेष्ठता ३१२

[दीक्षित व्यक्ति की अन्त्येष्टि का विधान ३१२-३१८

मण्डप, कुण्ड आदि का निर्माण ३१२-३१४

षडध्वशुद्धि ३१४-३१६

शिवश्राद्धविधि (पंचविध श्राद्ध) ३१६-३१८]

प्रतिष्ठा के पाँच भेदों का स्वरूप ३१८-३२०

पीठ और लिंग के निर्माण की विधि ३१९-३२०

आढ्य आदि चतुर्विध लिंगों का लक्षण ३२०-३२५

चल और अचल लिंग की प्रतिष्ठा ३२२-३२३

लिंग में ब्रह्म-विष्णु-रुद्रांश का प्रमाण ३२३-३२४

चतुर्विध लिंगों का स्वरूप-विस्तार ३२४-३२५

चतुर्विध लिंगों के शिरोभाग का आकार ३२५-३२७

शिरोभाग के आधार पर लिंग की आकृति में भेद ३२६-३२७

आढ्य और सुरेड्य लिंगों में चिह्नों की संख्या ३२७-३२९

सर्वसम लिंग में मुखों की संख्या ३२९

बाणलिंग का लक्षण एवं उसकी पूजा का फल ३३०-३३३

बाणासुर के द्वारा चतुर्दश कोटि लिंगों की स्थापना ३३०-३३१
बाणलिंग का लक्षण, प्रतिष्ठा एवं प्रमाण ३३१
बाणलिंग की कान्ति, वर्ण आदि के सदृश पीठिका ३३१-३३२
दिक्पालों के द्वारा पूजित बाणलिंग का स्वरूप ३३२-३३३

पूजा के लिये वर्ज्य (निषिद्ध) बाणलिंग ३३३-३३५

गृहस्थ और संन्यासी के लिये उपादेय एवं अनुपादेय बाणलिंग ३३५

चौदह करोड़ बाणलिंगों की विभिन्न प्रदेशों में स्थिति ३३५-३३७

चौसठ पदों के वास्तुक्षेत्र में ५३ देवताओं वाले वास्तुपुरुष का उद्धार ३३७-३४२

वास्तुपद (मण्डल) की निर्माणविधि ३३८-३३९
वास्तुपुरुष की उत्पत्तिकथा ३३९-३४०
वास्तुमण्डप में ५३ देवताओं का विन्यास-क्रम ३४१-३४२

इक्यासी पदों के क्षेत्र में वास्तुपुरुष का उद्धार-क्रम ३४२-३४३

तिरपन देवताओं की नामावली ३४३-३४६

लिंग और पीठ में ध्यातव्य तीन तत्त्व एवं आधार शक्ति ३४६-३४८

तीन तत्त्व, तीन शक्तियाँ और उनके अधिपति ३४७
आधार शक्ति कुण्डलिनी ३४७-३४८

पादशिला का विन्यास-क्रम ३४८-३५२

पादशिला का लक्षण ३४९
नवशिलान्यास, पंचशिलान्यास एवं त्रितत्त्वन्यास ३४९-३५०
कुम्भस्थापन एवं त्रितत्त्व की व्याप्ति ३५०-३५१
पंचमूर्तिन्यास एवं अष्टमूर्तिन्यास ३५१-३५२

लिंग में अंकनीय चिह्नविशेषों का लक्षण ३५२-३५४

रुद्रभाग में चिह्नों का निर्माण ३५३-३५४

पिण्डिका में अंकनीय चिह्नविशेषों का लक्षण ३५४-३५५
पिण्डिका भाग में चिह्नों का निर्माण ३५५

लिंग के तीन कण्ठों में एवं पृथिवी आदि अष्टमूर्तियों में तत्त्व-व्याप्ति ३५५-३५७

पंचमूर्ति पक्ष में त्रिकण्ठ (त्रितत्त्व) न्यास ३५७-३५९

ब्रह्मशिला आदि में त्रिकण्ठ-व्याप्ति ३५९-३६१

पंचमूर्तिन्यास एवं अष्टमूर्तिन्यास ३६०-३६१

हृदय-कुम्भ में स्थित प्रतिमा में तत्त्व-व्याप्ति ३६१-३६४

प्रासाद में चैतन्य का आधान ३६३

शिखर-चूलिका आदि में त्रितत्त्व-व्याप्ति २६३-३६४

शिवलिंग एवं पीठिका की प्रतिष्ठा से भोग और मोक्ष की प्राप्ति ३६४-३६७

मूर्तियों में शिवशक्ति-न्यास का क्रम ३६७-३७१

लिंग, पीठिका आदि की प्रतिष्ठा का फल ३६८

नौ प्रकार के पीठों की रचना का प्रकार ३६८-३६९

शिवलिंग एवं पीठिका की पूजा (आराधना) का फल ३६९

पूजा के विविध आधार ३६९-३७०

लिंगाराधन की श्रेष्ठता ३७०

छः अंगमन्त्र, पंचब्रह्म मन्त्र एवं प्रासाद मन्त्र ३७०

मनोन्मनी शक्ति (गौरी) एवं भुवनेश्वर ३७०-३७१

ब्रह्मा आदि विभिन्न देवताओं की तत्त्व-व्याप्ति ३७१-३७२

ग्रन्थ और ग्रन्थकार एवं ग्रन्थरचना का प्रयोजन ३७२-३७३

विविध परिशिष्ट

२२४ भुवननामावली ३७५-३७८

८१ पदनामावली ३७९-३८२

९४ पदनामावली ३८२-३८३

सिद्धान्तसारावलि-श्लोकार्धानुक्रमणी ३८४-३८८

उद्धृतग्रन्थ-ग्रन्थकार नामावली ३८९-३९२

विशिष्टविषयानुक्रमणी ३९३-४१४

संकेतसूची ४१५-४१६

व्याख्योद्धृतश्लोकार्धानुक्रमणी ४१७-४५३

सहायक ग्रन्थसूची ४५४-४५९

* * *

।। ॐ ।।

सिद्धान्तसारावलिः

त्रिलोचनशिवाचार्यविरचिता

अन्वयार्थविस्तरार्थाभिध-
भाषाव्याख्यानद्वयसहिता

ज्ञानपादः प्रथमः

अन्वयार्था

आमर्दक मठ निवासी, आगमों के ज्ञाता, श्री त्रिलोचन शिवाचार्य अपने परम्परानुगत ज्ञान से कामिकागम और उसके अवान्तरभेद मृगेन्द्र आदि आगमों के सिद्धान्तों का भलीभाँति विचार कर, इन्हीं आगमों को प्रमाण मान कर अर्थस्थिति का निश्चय करते हुए तीन (पति, पशु, पाश) पदार्थों का निरूपण करने वाले, चार पादों (ज्ञान, क्रिया, योग, चर्या) वाले सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ की श्लोकबद्ध रचना करते समय ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से निष्कल मूल मन्त्र के उच्चारण के क्रम से परशिव के नमस्कार के रूप में प्रथमतः मंगल श्लोक की रचना करते हैं —

ओतं येन जगच्चराचरमिदं प्रोतं च सर्वं सदा
च्योतन्ते पशवोऽपि पाशनिकराद् यस्य प्रसादेन तत् ।
ओमित्यादिमनूच्चरध्वनिगतं ज्योतिष्मतां द्योतकं
व्योमव्यापि परं शिवाख्यमकलं ज्योतिः प्रपद्ये धिया ।।१।।

येन प्रपंच के लिये निमित्तकारण मात्र निष्कल शिवस्वरूप जिस ज्योति में, **चराचरं** स्थावर-जंगमात्मक, **इदं जगत् सर्वं** यह सारा जगत् (प्रपंच), **सदा** हमेशा, **ओतं प्रोतं च** अन्दर-बाहर, नीचे-ऊपर चारों तरफ से व्याप्त है; **पशवोऽपि** तीन प्रकार की आत्माएँ भी, **यस्य** जिस परशिव के, **प्रसादेन** अनुग्रह से, **पाशनिकरात्** मल, माया, कर्म, बिन्दु और तिरोधानशक्ति नामक

पाँच प्रकार के पाशसमूह से, **च्योतन्ते** दूर हो जाते हैं (मुक्त हो जाते हैं); जो **ओमित्यादिमनूच्चरध्वनिगतं** ॐकार के आदि भाग में स्थित प्रासाद मन्त्र के उच्चारण से उत्पन्न नाद, नादान्त आदि ध्वनियों में रहने वाले, **ज्योतिष्मतां** तेजोविशिष्ट अनाहत शिव, सदाशिव, महेश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि के **द्योतकं** प्रकाशक, **व्योमव्यापि परं** व्यापिन् से चार अंगुल ऊपर स्थित व्योम के समान स्थानों में व्यापक रूप से रहने वाले, अनाहत शक्ति से भी उच्च स्थिति वाले, **शिवाख्यं** शिव नाम के, **अकलं** निष्कल ज्योति से परिपूर्ण प्रकाशमय तेज की, **धिया** सोऽहं भावना बुद्धि से, **प्रपद्ये** शरण में जाता हूँ।।१।।

विस्तरार्थः

कपड़ा बुनने में जैसे जुलाहे को निमित्तकारण माना जाता है, वैसे ही इस चराचरात्मक जगत् के निर्माण में परशिव की [१]निमित्तकारणता मानी गई है। यहाँ चर शब्द से जंगमात्मक और अचर शब्द से स्थावरात्मक जगत् का ग्रहण किया जाता है।

---

[१] महान् नैयायिक उदयन की भगवान् जगन्नाथ के सामने कही गई यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है — "उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः"। बौद्ध दार्शनिकों ने ईश्वर की ही नहीं, आत्मा की भी असत्ता को दृढ प्रमाणों से स्थापित कर दिया था। उस समय आचार्य उदयन ने कुसुमाञ्जलि की रचना कर बौद्धों की ही तर्कपद्धति से ईश्वर की तथा आत्मतत्त्वविवेक के द्वारा आत्मा की सत्ता स्थापित की थी। ईश्वर की सिद्धि के लिये उनकी — "कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।" (कु. ५.१) यह कारिका प्रसिद्ध है। संभव है आचार्य उदयन को शैव आगमों और उनके सद्योज्योति शिवाचार्य जैसे प्राचीन व्याख्याकारों से प्रेरणा मिली हो। खेटकनन्दन, खेटपाल आदि नामों से प्रसिद्ध सद्योज्योति शिवाचार्य ने अपने महान् ग्रन्थ "नरेश्वरपरीक्षा" में आत्मा और परमात्मा के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के मतों का खण्डन कर इनका शैवागमसंमत स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। इनका अनुसरण करते हुए मृगेन्द्रागम के वृत्तिकार भट्ट नारायणकण्ठ ने, उनके पुत्र नरेश्वरपरीक्षा के व्याख्याकार भट्ट रामकण्ठ द्वितीय ने, भोजदेवविरचित तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमारदेव (पृ. ५८-६८) और मृगेन्द्रागम की भट्ट नारायणकण्ठ की वृत्ति पर दीपिका व्याख्या के रचयिता अघोरशिवाचार्य ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नैयायिकों और सिद्धान्तशैवों की दार्शनिक दृष्टि मिलती-जुलती मानी गई है, क्योंकि द्वैतवादी शैवागमों में भी शिव को जगत् का निमित्तकारण ही माना गया है। इस विषय पर अभी गहरा तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

आचार्य उदयन ने वेदान्त दर्शन के महान् आचार्यों के सामने "किमार्द्रकवणिजो वहित्रचिन्तया" कहकर अपनी नम्रता को भी प्रकट करने में कोई संकोच नहीं दिखाया है।

पशु, पक्षी, मनुष्य आदि की जंगमात्मक और वृक्ष, पर्वत आदि की स्थावरात्मक जगत् में गणना होती है। जंगमात्मक जगत् में आत्मा से जुड़े हुए स्थूल-सूक्ष्म शरीर और विभिन्न भुवनों में उत्पन्न शरीरों का भी समावेश होता है। इसी तरह स्थावरात्मक जगत् में विभिन्न भुवनों की भी गणना की जाती है।

यह चराचरात्मक जगत् पुनः शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। शान्त्यतीत कला में पन्द्रह और शान्ति कला में अठारह भुवन स्थित हैं। मिलकर ये ३३ भुवन शुद्ध विभाग में आते हैं। इन शुद्ध भुवनों में स्थित आत्माओं के शरीर भी शुद्ध माने गये हैं। विद्या कला में २७ भुवन, प्रतिष्ठा कला में ५६ भुवन और निवृत्ति कला में १०८ भुवन स्थित हैं। ये १९१ भुवन [१]अशुद्ध कोटि में आते हैं। इन भुवनों में स्थित आत्माओं के शरीर भी अशुद्ध ही माने जाते हैं।

जगत् शब्द से इन सबका ग्रहण किया जाता है। सर्व शब्द महत् से विशेष पर्यन्त सारे जगत् का बोधक है। वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों में प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जगत् का समावेश माना जाता है, जब कि शैव दर्शन में महच्छब्द से शिव तत्त्व की और विशेष पद से पार्थिव तत्त्व में स्थित समस्त भुवनों की गणना की जाती है। शिव शब्द से यहाँ शक्तितत्त्व के ऊपर विद्यमान [२]बिन्दुतत्त्व का भी ग्रहण होता है। इस तरह

---

१. शिवादि-भूम्यन्त छत्तीस तत्त्वों की शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध विभागों में गणना की जाती है। शिव से लेकर शुद्धविद्या पर्यन्त पाँच तत्त्व शुद्ध, माया से लेकर पुरुष पर्यन्त सात तत्त्व शुद्धाशुद्ध तथा प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त चौबीस तत्त्व अशुद्ध कहलाते हैं। अन्यत्र इन तत्त्वों के शुद्ध और अशुद्ध नामक दो ही विभाग किये गये हैं। प्रस्तुत प्रकरण में यही मत मान्य है। इस मत के अनुसार उक्त पाँच शुद्ध तत्त्वों के भुवनों का शुद्ध भुवनों में और अन्य सभी का अशुद्ध भुवनों में अन्तर्भाव माना जायगा। तदनुसार यहाँ उक्त शुद्ध तत्त्वों के अन्तर्गत विद्यमान तैंतीस भुवनों को शुद्ध और अन्य १९१ भुवनों को अशुद्ध कहा गया है।

२. अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ. २५-२६ एवं ३२) में अघोरशिव के मत की समालोचना करते समय हमने देखा है कि सभी छत्तीस तत्त्व उनके मत में जड़ हैं। सर्वात्मशम्भु की सिद्धान्तप्रकाशिका (पृ. १४) में भी बिन्दु से शिव को अभिन्न बता कर बिन्दु को जड़ माना है। उपलब्ध शैवागमों से इसकी पुष्टि नहीं होती। अघोरशिव भोजदेव के तत्त्वप्रकाश की ३२ वीं कारिका (पञ्चानामप्येषां…) को प्रक्षिप्त मानते हैं, क्योंकि यह उनके मन्तव्य के विपरीत पड़ती है। इस प्रसंग में देखना यह है कि सिद्धान्तसारावलि के प्रस्तुत व्याख्याकार अनन्तशम्भु और सिद्धान्तप्रकाशिकाकार सर्वात्मशम्भु भी अघोरशिवाचार्य के मत का ही समर्थन करते हैं। ये सभी दाक्षिणात्य शैव हैं। यह भी स्पष्ट है कि अनन्तशम्भु सर्वात्मशम्भु को उद्धृत करते हैं। इस मतवैभिन्य के बीज हमें तमिल शैव साहित्य में, अब तक अप्रकाशित शैवागमों में अथवा अघोरशिव के ग्रन्थों में खोजने होंगे।

से शुद्ध और अशुद्ध भुवनों में फैला हुआ यह समस्त जगत् इसीमें घुला-मिला है, अर्थात् ऊर्ध्व भुवन के रूप में शान्ति और विद्या कला के भुवन तथा अधो भुवन के रूप में प्रतिष्ठा और निवृत्ति कला के भुवन इसीमें समाविष्ट हैं।

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च त्वधोभागप्रवर्तिके।
विद्या शान्तिस्तथाप्यूर्ध्वे शान्त्यतीता त्वधिष्ठिता॥
(स्व. त. ४.२४३-२४४)

स्वच्छन्दतन्त्र के इस श्लोक में इसी स्थिति को दिखाया गया है।

जैसे पट (कपड़ा) के निर्माण में तन्तु (धागा) को समवायीकारण माना जाता है, उसी तरह से शुद्ध भुवनों के निर्माण में समवायी-कारणभूत बिन्दु की उपादान-कारणता शैव-शास्त्रों में मानी गई है। शिव की निमित्तकारणता की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इसी तरह अशुद्ध सृष्टि के प्रति समवायी-कारणभूत माया की उपादानकारणता और अनन्त की निमित्तकारणता शास्त्र-सिद्ध है —

निमित्तमीश्वरस्तेषामुपादानं च बिन्दुराट्।
शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः॥
मायोपरि महामाया - - - - - -।

यहाँ महामाया शब्द बिन्दु का पर्याय है। इस तरह परशिव पशुओं (आत्माओं) के भोग के लिये विभिन्न भुवनों की और तदनुरूप शरीरों की सृष्टि करता है तथा कर्मों के परिपाक के लिये संहार की प्रक्रिया को निरन्तर चलाता रहता है। ये पशु विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से तीन प्रकार के हैं। इनमें से केवल आणव मल से युक्त जीव विज्ञानाकल, मल और कर्म से आवृत प्रलयाकल तथा मल-कर्म-माया नामक त्रिविध पाश से आवृत जीव सकल कहलाते हैं। मल का विशिष्ट परिपाक हो जाने पर ये जीव अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों की, मन्त्रों और मन्त्रेश्वरों की पदवी को प्राप्त कर लेते हैं। अन्त में परशिव की कृपा होने पर ये मल, माया, कर्म, बिन्दु और रोधशक्ति नामक पाँचों पाशों से छूट कर मुक्ति पदवी में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। शिव की कृपा (शक्तिपात) के बिना ये जीव केवल ज्ञान की सहायता से कभी मुक्त नहीं हो सकते। इस मुक्तावस्था में भी शैवागमों में जीव की स्थिति शिव से भिन्न ही मानी गई है। जैसा कि भोजदेव कहते हैं —

मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥
(त. प्र. ६)

प्रस्तुत मंगल श्लोक में प्रासाद मन्त्र की चर्चा आई है। इस मन्त्र का ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से पंचविध उच्चारण होता है। बिन्दु पर्यन्त उच्चारण ह्रस्व, अर्धेन्दु पर्यन्त दीर्घ, निरोधिनी पर्यन्त प्लुत, नाद पर्यन्त सूक्ष्म और व्यापिनी पर्यन्त उच्चारण अतिसूक्ष्म कहलाता है। प्रासाद मन्त्र के ह्रस्व उच्चारण से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक कारणेश्वरों का त्याग हो जाता है। प्रासाद मन्त्र में स्थित मकार रुद्र का वाचक है। इसका तालुमध्य में त्याग हो जाता है। प्रासाद मन्त्र के दीर्घ और प्लुत उच्चारण से बिन्दु, अर्थात् भ्रूमध्य में ईश्वर का त्याग हो जाता है। बिन्दु में अर्धचन्द्र और निरोधिनी का भी अन्तर्भाव माना जाता है। ब्रह्मबिल से एक अंगुल ऊपर शक्ति का और उससे तीन अंगुल ऊपर व्यापिनी का स्थान है। सदाशिव की व्याप्ति यहीं तक मानी गई है। इस प्रकार प्रासाद मन्त्र के पंचविध उच्चारण से ब्रह्मा आदि पाँच कारणेश्वरों के त्याग की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। व्यापिनी से चार अंगुल ऊपर समना स्थित है। यह अनाहत शिव का स्थान है। यहाँ आकर अनाहत[1] शिव का भी त्याग हो जाता है। इसके आगे वह प्रासाद मन्त्र का जापक अमनस्क परशिव के रूप में उन्मना में प्रतिष्ठित हो जाता है। **सिद्धान्तसारावलि** के टीकाकार अनन्तशंभु यहां **मुण्डकोपनिषत्** को उद्धृत करते हुए उसकी प्रसंगानुकूल व्याख्या करते हैं —

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
(मुण्डक. ३.२.६)

यहाँ वेद शब्द से प्रणव का और अन्त शब्द से नाद का ग्रहण किया गया है। प्रणव में स्थित नाद तत्त्व के विशेष ज्ञान से प्रतीत हो रहे अर्थ को जो स्पष्ट रूप से ग्रहण कर लेते हैं, ऐसे जितेन्द्रिय योगी दीक्षा संस्कार के द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल बना लेते हैं। वे ब्रह्मलोक (ब्रह्मबिल), अर्थात् सदाशिव भुवन में तद्रूप में प्रतिष्ठित होकर आगे उन्मनी कला का भी लय हो जाने पर संन्यास द्वारा, अर्थात् अकार आदि वर्णों के अधिपतियों के अपने-अपने कारणों में लय हो जाने पर परशिव के ज्ञान की सहायता से अपने को शिव के साथ संयुक्त कर इस संसार से मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ।
युक्तचित्तस्तथात्मानं शिवे संयोजयेत् परे ॥

याज्ञवल्क्य के इस वचन में भी यही विषय प्रतिपादित है।

---

[1] "कारणानि षडेव तु।। ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्चापीश्वरश्च सदाशिवः। शिवश्चेति स्वशक्त्या तु षट्त्यागात् सप्तमे लयः।।" (२२.१९-२०) नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) में वर्णित षष्ठ कारणेश्वर शिव को ही प्रस्तुत स्थल पर अनाहत शिव कहा गया है।

कारणेश्वरों के त्याग की एक दूसरी भी पद्धति है। बिन्दु, अर्धचन्द्र और रोधिनी कलाओं के अधिपति ईश्वर हैं। ईश्वर के त्याग से इन कलाओं का त्याग सम्पन्न हो जाता है। सदाशिव के त्याग से नाद और नादान्त का और अनाहत शिव के त्याग से शक्ति, व्यापिका और समना कलाओं का त्याग हो जाता है। इस व्याख्या में व्योम पद से शक्ति आदि तीन कलाओं का ग्रहण होगा। प्रासाद मन्त्र के सूक्ष्म उच्चारण से सदाशिव का और अतिसूक्ष्म उच्चारण से अनाहत शिव का त्याग हो जाता है। इस विषय की चर्चा ज्ञानशिवाचार्य ने अपने पूजास्तोत्र में भी की है —

श्रीमन्मूलमनूत्थनादशिखया ब्रह्मादिसादाशिव-
स्थानत्यागगतिक्रमोर्ध्वविमलव्योमान्तसंस्थायिने ।

स्वच्छन्दतन्त्र में इन कलाओं को स्पष्ट रूप से दिखाया गया है —

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च॥

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता।
उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम्॥
(४. २५५-२५६)

मूल श्लोक में आये 'ज्योतिष्मतां' शब्द से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाहत शिव नामक छः [१]कारणेश्वरों का ग्रहण किया जाता है। इन सब ज्योतियों का प्रकाशक परशिव ही है। इस विषय की पुष्टि आगमशास्त्र और श्रुति आदि के इन वचनों से भी होती है —

सर्वेषां तेजसां चैव निधिश्च भगवान् शिवः।
प्रकाशकारकत्वाच्च तेजो ज्योतिरिति स्मृतः॥
"दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"
(मा. सं. ३४.१)

यदिन्धनाग्निसंयोगात् सोमार्कमणिजं च यत्।
तेजस्तस्मात् सुसम्पूर्णं प्रकाशं ज्योतिरुत्तमम्॥

---

[१] ऊपर की टिप्पणी देखिये। कारणेश्वरों के रूप में इन्हीं का ग्रहण किया जाता है और इन छः कारणेश्वरों का त्याग कर देने पर साधक सप्तम कारणेश्वर परशिव में सारे शक्तिप्रपंच के साथ लीन हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि बुद्धि तो अन्तःकरणों में से ही एक है। अन्तःकरण की सहायता से हमें नाम, जाति आदि से मिला हुआ सविकल्पात्मक ज्ञान ही हो सकता है। शिवज्ञान तो निर्विकल्पक है, अतः उसका ग्रहण अन्तःकरण से नहीं हो सकता। सद्योज्योति शिवाचार्य अपने ग्रन्थ मोक्षकारिका में इसी बात को कहते हैं —

[1]अन्तःकरणवृत्तिर्या बोधाख्या सा महेश्वरम्।
न प्रकाशयितुं शक्ता पाशत्वान्निगडादिवत्॥
(श्लो. १०६)

ऐसी स्थिति में मूल श्लोक के 'धिया प्रपद्ये' इन पदों की संगति कैसे बैठेगी? इस शंका के परिहार के लिये यहाँ दीक्षित व्यक्ति की गुरु-परम्परा प्राप्त प्रासाद मन्त्र के पूर्वोक्त क्रम से निरन्तर आदरपूर्वक अभ्यास से निर्मल हुई बुद्धि से निष्कल शिव के साक्षात्कार की बात कही गई है। सद्योज्योति शिवाचार्य भी अपने उसी ग्रन्थ में इसी तरह का समाधान देते हैं —

[2]शिवार्कशक्तिदीधित्या समर्थीकृतचिद्दृशा।
शिवं शक्त्यादिभिः सार्धं पश्यत्यात्मा गतावृतिः॥
(श्लो. १११)

इस प्रकार टीकाकार अनन्तशम्भु ने इस प्रथम श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है॥१॥

शान्तः सर्वकृदव्ययः सकलवित् स्वान्यप्रकाशोऽचलोऽ-
मेयो ब्रह्मपरो ह्यनादिरतुलः सूक्ष्मो महांश्चिद्घनः।
व्यापी मुक्तसखः सशक्तिरमलोऽप्युद्योगवान् ब्रह्मगः
सादाख्यः सकलाधिपोऽध्वनि सितेऽनन्तश्च रुद्रोऽसिते॥२॥

शान्तः मल आदि के न रहने से राग-द्वेष आदि को छोड़ कर शान्त रहने वाला, **सर्वकृत्** स्वतन्त्र रह कर बिना किसी की सहायता के सभी कार्यों को करने वाला, **अव्ययः** परिपूर्ण महाप्रलय दशा में भी शक्तिरूप में स्थित रहने से नाशरहित, **सकलवित्** ज्ञान शक्ति से सब कुछ जान लेने के कारण सर्वज्ञ, **स्वान्यप्रकाशः** अपने को भी अन्य वस्तुओं के समान प्रकाशित करने

---

[1] यह श्लोक नारदीय महापुराण पूर्वभाग (६३.१११) में भी उपलब्ध है। वहाँ के पूरे अध्याय की तुलना अष्टप्रकरण-ग्रन्थों से की जा सकती है।

[2] यह श्लोक भी नारदीय महापुराण पूर्वभाग (६३.११०) में मिलता है।

वाला, **अचलः** चलन क्रिया से रहित, **अमेयः** सभी तरह के परिच्छेद से रहित, **ब्रह्मपरः** चतुर्मुख ब्रह्मा से श्रेष्ठ, **अनादिः** कालातीत स्वरूप वाला अथवा कारण-रहित (स्वत:सिद्ध), **अतुलः** उपमान से रहित, **सूक्ष्मः** सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, **महान्** बृहत् से भी बृहत्, **चिद्घनः** ज्ञानैकस्वरूप, **व्यापी** सर्वत्र व्याप्त (विद्यमान), **मुक्तसखः** मुक्त लोगों का प्रिय मित्र, **सशक्तिः** परा शक्ति से सम्पन्न, **अमलः** अनादि मलों से रहित, **उद्योगवान्** सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह नामक पाँच कृत्यों (कार्यों) को सदा करते रहने वाला, **ब्रह्मगः** मूर्तिब्रह्म, तत्त्वब्रह्म, भूतब्रह्म, पिण्डब्रह्म, कलाब्रह्म और पदब्रह्म नामक छः प्रकार के ब्रह्म के स्वरूप वाला शिव, **सादाख्यः** सदाशिव नाम धारण कर, **सितेऽध्वनि** शुद्ध अध्वा में, **सकलाधिपः** अनन्त आदि का स्वामी और **असितेऽध्वनि** माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त अशुद्ध सृष्टि के लिये, **अनन्तश्च रुद्रः** अनन्त और श्रीकण्ठ का स्वरूप धारण करता है।।२।।

'स्वान्यप्रकाशः' इस पद के दो अर्थ हैं— स्वयं ही अन्य है, अर्थात् अपने सिवाय दूसरा कोई नहीं है, स्वयं एक ही सर्वत्र प्रकाशमान है। अथवा स्वयं भी है और अन्य भी है, इन दोनों का प्रकाशक है, अर्थात् वह शिव स्वयंप्रकाश है और पर का भी प्रकाशक है, स्वयं अपने तो वह प्रकाशन-सामर्थ्य से सम्पन्न है ही, वह दूसरों को भी इस शक्ति से सम्पन्न करता है।[1] जैसे भगवान् सूर्य अन्धकार को दूर कर सारे जगत् को प्रकाशित कर स्वयं भी प्रकाशित होते हैं और अपने से भिन्न सूर्यकान्त मणि में भी तेज का आधान कर उसमें भी प्रकाशन-सामर्थ्य को पैदा करते हैं, उसी तरह यह परमशिव शुद्ध भुवनों में रहने वाली आत्माओं की आवरण-स्वरूप मलशक्ति को हटाकर अपनी शक्ति की किरणों से स्वयं प्रकाशित होने के साथ अपनी सामर्थ्य से कल्पित अनन्तेश्वर आदि को भी प्रकाशन-शक्ति से सम्पन्न कर देते हैं।

व्यापी का अर्थ यह है कि यह परमशिव बिन्दु इत्यादि में भी व्याप्त हैं। इससे भिन्न अन्य किसी व्यापक तत्त्व की स्थिति न रहने से यह सर्वत्र व्यापनशील हैं। रत्नत्रय में यही स्थिति वर्णित है—

व्यापको भुवनादीनामभिव्याप्तः स बिन्दुना।
बिन्दुः शक्त्या शिवेनैषा नान्येन व्याप्यते शिवः॥

(श्लो. ११८)

---

[1] "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।" (कठो. ५.१५; मुण्डको. २.२.१०; श्वेता. ६.१४)।

इसका अभिप्राय यह है कि कलाध्वा शेष पाँच भुवन आदि अध्वाओं की अपेक्षा व्यापक है। कलाध्वा बिन्दु से, बिन्दु शक्ति से और शक्ति शिव से व्याप्त है। शिव को व्याप्त करने वाला अन्य कोई नहीं है।

ब्रह्म पद से यहाँ मूर्ति, तत्त्व, भूत, पिण्ड, कला और पद नामक षड्विध ब्रह्म परिगृहीत है। वातुलशुद्धाख्य तन्त्र में इनके नाम इस प्रकार परिगणित हैं–

मूर्तिब्रह्म तथा पूर्वं तत्त्वब्रह्म द्वितीयकम्।
भूतब्रह्म तृतीयं स्यात् पिण्डब्रह्म चतुर्थकम्॥
पञ्चमं तु कलाब्रह्म [1]पदब्रह्म समीरितम्।
(७.४-५)

साकल्य[2] आदि पाँच प्रणव मूर्तिब्रह्म है। शुद्ध, मूल, तत्त्व, आद्य और आत्मा नामक पाँच प्रासाद मन्त्र तत्त्वब्रह्म है। ल व र य ह–नामक पाँच बीजाक्षरों के प्रतिनिधि पाँच महाभूत भूतब्रह्म है। सद्योजात, वामदेव आदि पाँच स्वरूप पिण्डब्रह्म है। ईशान आदि के बोधक पाँच मन्त्र कलाब्रह्म हैं। व्योमव्यापी आदि पद पदब्रह्म कहलाते हैं।

सादाख्य पद से यहाँ सदाशिव गृहीत है। यह सदाशिव ही शुद्धाध्वा के अनन्त आदि का स्वामी है, अर्थात् उनका कर्ता है। अशुद्ध [3]अध्वा के स्वामी अनन्त और श्रीकण्ठरुद्र को माना गया है। इनमें शुद्धाशुद्ध सृष्टि के कर्ता अनन्त और अशुद्ध सृष्टि के श्रीकण्ठ हैं। परशिव से सदाशिव, सदाशिव से अनन्तेश और अनन्त से श्रीकण्ठ की सृष्टि होती है। श्रीमान् ज्ञानशिव ने निम्न श्लोक में इस क्रम को बताया है —

आग्राही किल ईश्वरः परशिवस्तस्मात् सदेशः शिवो
नादात्मा सकलाकलः प्रभुरतोऽनन्तेशभट्टारकः।
तस्मादण्डजविष्णुवासवविधिः श्रीकण्ठरुद्रस्तथा
तन्त्राणामवतारको मुनिवरो दुर्वासनामा गुरुः॥

मुनि दुर्वासा के बाद की गुरुपरम्परा का वर्णन आगे (पृ. २५४) किया गया है ॥ २॥

---

१. मूल ग्रन्थ में "ब्रह्मपञ्चकमीरितम्" ऐसा पाठ मिलता है। वहाँ पंचविध ब्रह्म का ही लक्षण पूरे सातवें पटल में विस्तार से वर्णित है।

२. साकल्य आदि पंचविध प्रणवों के लक्षण, स्वरूप आदि का विवरण सूक्ष्मागम उत्तरभाग, क्रियापाद के चतुर्थ पटल (श्लो. ४-३४) में देखिये।

३. "शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः" (वि. ३.२७) किरणागम के इस वचन में शुद्ध सृष्टि के कर्ता शिव को और अशुद्ध सृष्टि का कर्ता अनन्त को माना गया है। प्रस्तुत स्थल में प्रदर्शित क्रम इससे थोड़ा भिन्न प्रकार का है। टीकाकार ने आगे (पृ. ४४) किरणागम के क्रम को मान्यता दी है।

शिव और शक्ति परस्पर धर्मधर्मिभाव से रहते हैं, इस विषय का अब निरूपण किया जा रहा है —

परानपेक्षं शिवसंज्ञमस्य रूपं परापेक्षमपि श्रुतिज्ञाः
शक्त्याख्यमाहुस्तदभिन्नरूपः स धर्म ईशः स च धर्मिरूपः ।।३।।

श्रुतिज्ञाः आगम शास्त्र के निष्णात विद्वान्, **अस्य शिवसंज्ञं रूपं** इसके शिव नामक स्वरूप को, **परानपेक्षं** किसी दूसरे की अपेक्षा से रहित और **शक्त्याख्यं** शक्तिनामक स्वरूप को, **परापेक्षमपि** दूसरे की अपेक्षा से युक्त भी **आहुः** मानते हैं। (वास्तव में) **तदभिन्नरूपः** शिव और शक्ति का यह स्वरूप परस्पर अभिन्न रूप में स्थित है। (अन्तर इतना ही है कि) **स धर्मः** वह शक्तितत्त्व धर्मस्वरूप है, **स च ईशो धर्मिरूपः** और वह शिव धर्मिस्वरूप है ।।३।।

परशिव से अनाहतशिव और अनाहतशिव से सदाशिव की उत्पत्ति मानी जाती है। अतः सदाशिव परशिव से अनपेक्ष है, क्योंकि उसका साक्षात् संबन्ध अनाहतशिव से है, [१]परशिव से नहीं। वह सदाशिव परशिवसापेक्ष भी माना जा सकता है, क्योंकि परशिव और अनाहतशिव दोनों के व्योमव्यापी, अतएव निष्कल होने से इनको एक ही माना जाता है। इस तरह से इन दोनों में कोई भेद न रहने से यह सदाशिव परापेक्ष भी है। इस सदाशिव तत्त्व को आगमशास्त्र के विद्वान् परा शक्ति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। जो आचार्य परशिव और पराशक्ति को समवाय संबन्ध से परस्पर समवेत मानते हैं, उनके मत के अनुसार यह शक्तितत्त्व है। परशिव से अभिन्न होने के कारण यह सदाशिव परशिव के समान ही ज्योतीरूप से सर्वत्र उसी प्रकार प्रकाशित हो उठता है, जैसे कि विद्युत् का प्रकाश पूरे आकाश में छा जाता है। इस प्रकार यह सदाशिव तत्त्व (ज्योति) धर्मस्वरूप है और परशिव धर्मी रूप में विद्यमान है। परशिव और सदाशिव की धर्म-धर्मी रूप में स्थिति होने के कारण सदाशिव परशिव की ही मूर्ति है और परशिव सदाशिव में व्याप्त रहता है। इस तरह से इन दोनों के योग से ही सकल स्वरूप का भावतत्त्व के रूप में उदय होता है। निम्न दो श्लोकों में इसी स्थितिं का वर्णन किया गया है —

शिवश्च तत्त्वमित्युक्तो मूर्तिश्चैव सदाशिवः ।
तयोर्योगेन यद्रूपं तद्रूपं भाव उच्यते ॥

---

[१] टीका और मूल के अर्थ में कुछ अन्तर प्रतीत होता है।

सततं चैव भावत्वात् सादाख्यमिति कथ्यते।
सर्वेषां ध्यानपूजार्थं निष्कलं सकलं भवेत्॥
(वा. शु. १.३८-३९,४२)

शिव को तत्त्व कहते हैं और सदाशिव उसकी मूर्ति है। इन दोनों के योग से जो रूप अभिव्यक्त होता है, उसीको भाव कहते हैं। इसकी भावरूप में ही सदा स्थिति रहती है, अतः यह सादाख्य के नाम से प्रसिद्ध है। भक्त-जनों के ध्यान और पूजन रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये निष्कल परशिव ही सकल स्वरूप धारण लेता है ॥ ३॥

अब अगले श्लोक में शक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं —

शक्तिश्चित्तनुरीश्वरस्य करणं ज्ञेयेषु कार्येषु तद्
भेदैः सोपहिता प्रयाति गुणतो भेदं क्रियाज्ञानतः ।
नित्यं तत्सकलान्यकर्तृनिहिता वर्त्मन्यशुद्धे सिते
कृत्यं सैव करोति पत्यनुगता वामादिशक्त्यात्मिका ।।४।।

चित्तनुः ज्ञान और क्रियास्वरूप, **शक्तिः** परा शक्ति, **ईश्वरस्य** ईश्वर की, **ज्ञेयेषु** जानने योग्य (और) **कार्येषु** करने योग्य विषयों में, **करणं** प्रधान साधन है। **तद्भेदैः** इस तरह ज्ञेय और कार्य के भेद से, **सा** वह शक्ति, **उपहिता सती** उपाधि से विशिष्ट होकर, **गुणतः** उपसर्जन रूप से (अप्रधान विशेषण के रूप में), **क्रियाज्ञानतः** क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति आदि के रूप में, **भेदं** नाना भेदों को, **प्रयाति** प्राप्त हो जाती है। **वामादिशक्त्यात्मिका** वामा आदि नौ शक्तियों के रूप में, **पत्यनुगता** पतिरूपी शिव के साथ सदा समवाय संबन्ध से रहने वाली, **सैव** वही शक्ति, **सिते वर्त्मनि** शुद्धाध्वा में, **नित्यं** सदा, **कृत्यं** सृष्टि आदि पंचविध कृत्यों को, **करोति** करती है। **सकला** (सती) कर्म आदि में स्थापित किये जाने पर **अशुद्धवर्त्मनि** अशुद्ध अध्वा में, **तत्** उन पंचविध कृत्यों को करती है।।४।।

सविकल्पक और निर्विकल्पक के भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। सविकल्पक ज्ञान शिव की भोग और अधिकार अवस्था से और निर्विकल्पक ज्ञान लयावस्था से संबद्ध है। सविकल्पक का अर्थ है नाम, जाति, रूप आदि से संयुक्त वस्तु का ज्ञान। निर्विकल्पक केवल वस्तु का बोध कराता है। पौष्करागम के निम्न श्लोकों में यह विषय स्पष्ट रूप से वर्णित है —

विकल्पयोगायोगाभ्यां तच्च द्विविधमिष्यते ।
वस्तुस्वरूपमात्रस्य ग्रहणं निर्विकल्पकम् ॥

शक्तोऽयं शक्तयो यस्मादुद्योगादिक्रियाच्युताः ।
शिव एवावतिष्ठन्ते निष्कलश्च स एव तु ॥

उपसंहृतकार्यात्मा यदा बिन्दुर्व्यवस्थितः ।
तदा लयाह्वयं तत्त्वं शिवतत्त्वं तदेव हि ॥

नामजात्यादिसंबन्धसहितं सविकल्पकम् ।
एतच्चेन्द्रियसापेक्षं निरपेक्षं तथैव च ॥

तत्रेन्द्रियानपेक्षं च सर्वथा त्यक्तबन्धया ।
चिच्छक्त्या निखिलार्थेषु योगः स्वाभाविको मतः ॥

ज्ञान की ही तरह क्रिया भी दो प्रकार की है। एक संकल्परूपा और दूसरी करणरूपा। परमशिव की और मुक्तों की क्रिया संकल्परूप होती है और करणरूप क्रिया बद्ध आत्माओं से संबद्ध है। इनका भी वर्णन पौष्करागम में मिलता है—

नहि संकल्पमात्रेण कुलालैः क्रियते घटः ।
शिवः संकल्पमात्रेण बिन्दुक्षोभकरः सदा ॥

अधिकारे क्रियोद्रिक्ता कार्येष्वधिकृता यतः ।
कार्यं च करणीयं च गुणसंकल्पसंस्कृतिः ॥

न तु व्यापार इत्युक्ता विभोस्तद्विषया कृतिः ।
तस्माद् ज्ञातृत्वकर्तृत्वे ज्ञानरूपे हृदि स्थिते ॥

शिव की यह क्रियाशक्ति सृष्टि आदि कृत्य के भेद से पाँच प्रकार की मानी गई है। जैसे अग्नि की एक ही शक्ति लोह, काष्ठ, लवण और ओदन आदि उपाधियों के भेद से द्राविका, दाहिका, स्फोटिका और पाचिका जैसे नाम धारण कर लेती है, वैसे ही शिव की एक ही शक्ति औपाधिक भेद से अनेक रूपों में भासित होने लगती है— "एकैवानेकतां याति शिवशक्तिरुपाधितः"[1]। इस शक्ति का स्वरूप मृगेन्द्रागम में इस प्रकार से वर्णित है —

करणं च न शक्त्यन्यत् शक्तिर्नाचेतना चितः ।
विषयानियमादेकं बोधे कृत्ये च तत् तथा ॥
(वि. ३ . ४-५)

---

[1] भोजदेव कृत तत्त्वप्रकाश की वृत्ति (श्लो. ३) में अघोरशिव ने इसको श्रुतिवचन कहा है। वे अन्यत्र भी आगमवचन को श्रुतिवचन कहकर उद्धृत करते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति से भिन्न शिव का कोई करण (साधन) नहीं है, अर्थात् शिव में समवाय संबन्ध से स्थित शक्ति ही सृष्टि आदि कृत्यों में उसका प्रधान साधन है। चैतन्यस्वरूपिणी शक्ति कभी अचेतन नहीं हो सकती, अर्थात् वह भी चैतन्यस्वरूपा ही है। विषयों का कोई नियम न होने से, अर्थात् कार्यों की अनेकता के रहने पर भी बोध (ज्ञान) और [1]कृत्य (कार्य) में करण की एकता ही रहती है।

वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरणी, बलविकरणी, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी और मनोन्मनी नामक नवविध शक्तियाँ भी एक ही शिवसमवेता शक्ति का विलास हैं। इनमें वामा पृथिवीमयी, ज्येष्ठा जलरूपिणी, रौद्री तेजोमयी, काली वायु के आकारवाली, कलविकरणी आकाशरूपिणी, बलविकरणी चन्द्राकारा, बलप्रमथनी सूर्याकारा और सर्वभूतदमनी आत्म(यजमान)स्वरूपिणी है। मनोन्मनी साक्षात् पराशक्ति ही है। इस प्रकार इन शक्तियों की सहायता से भगवान् शिव पृथिवी आदि की रचना करते हैं और शर्व, पशुपति आदि अष्टविध नाम धारण करते हैं। टीका में उद्धृत अनेक श्लोकों में इस विषय का विस्तार किया गया है (पृ. ४६-४७)।

साक्षात् परशिव के अनुग्रह के योग्य विज्ञानकेवल पक्वमल और अपक्वमल के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें पक्वमल अनन्त आदि आठ विद्येश्वर और अपक्वमल सात करोड़ महामन्त्र कहलाते हैं। परमेश्वर इन सबकी सृष्टि कर इनको शुद्धाध्वा में शुद्ध शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ शुद्ध भुवनों में प्रतिष्ठित कर शुद्ध भोग प्रदान कर उनकी रक्षा करते हैं। वही उनके भोगों का उपसंहार कर अपनी संहार-प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं। यहाँ तक भगवान् का तिरोधान व्यापार (कृत्य) चलता है। इसके आगे उन पर अनुग्रह करने के लिये परमशिव अपनी चिच्छक्ति का उनमें उन्मीलन कर देते हैं।

सकल शब्द का अर्थ है कलाओं से सम्पन्न। इनकी संख्या सोलह मानी गई है। कर्म, बुद्धि, मन, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, विद्या और वाक् — ये ही सोलह [2]कलाएं मानी गई हैं। इनमें से पुण्य और अपुण्य के भेद से कर्म दो प्रकार के हैं। राजस, तामस और सात्त्विक के भेद से बुद्धि तीन प्रकार की है। इसी तरह से मन

---

[1] टीकाकार ने प्रस्तुत स्थल पर क्रियाशक्ति ही कुण्डलिनी है, इस मत का खण्डन किया है (पृ. ४३-४७)। विस्तार के भय से उसका अनुवाद नहीं किया गया।

[2] "स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।।" (६.४) प्रश्नोपनिषत् के इस वचन में पुरुष की सोलह कलाएँ निर्दिष्ट हैं। यहाँ वर्णित क्रम से इसमें साम्य और वैषम्य दोनों देखने को मिलते हैं। यही विषय आगे (पृ. ४१-४२) भी चर्चित है।

और अहंकार के भी तीन-तीन भेद हैं। ज्ञान और कर्म के भेद से इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। विद्या और वाक्शक्ति के साथ कलाओं की सोलह संख्या पूरी होती है। [१]कालोत्तर के किसी संस्करण में उनका इस प्रकार परिगणन किया गया है —

करणस्थेन भेदेन स्वचित्यापि चतुर्दश।
वाक्शक्तिभेदौ द्वौ चेति पुंस्कलाः षोडश स्मृताः ॥

कर्म, बुद्धि, मन और अहंकार — इन चार के साथ दस इन्द्रियों को एवं विद्या और वाक्शक्ति को मिला कर यह संख्या सोलह होती है। इसीको शैवशास्त्रों में पुर्यष्टक देह कहा गया है। इसीके माध्यम से शिव मिश्राध्वा के जीवों के लिये पंचकृत्य का सम्पादन करता है। प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिये नियमित रूप से सृष्टि के प्रारंभ से महाप्रलय पर्यन्त अथवा मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त जो सूक्ष्म शरीर निर्धारित रहता है, उसी को पुर्यष्टक नाम दिया गया है। तत्त्वसंग्रह के—"वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम्" (श्लो. २४) इस वचन में यही बात कही गई है। अर्थात् पृथिवी से लेकर कलातत्त्व पर्यन्त तीस तत्त्वों के समाहार को सूक्ष्म शरीर अथवा पुर्यष्टक कहा जाता है।

ऊपर बताई गई सोलह कलाओं से युक्त पुरुष पद से उसकी भोग-क्रिया के अन्तरंग साधन कला, काल, विद्या, नियति, राग और गुण तत्त्वों का भी ग्रहण किया जाता है। कर्म और बुद्धि शब्द से कर्मेन्द्रियों और बुद्धीन्द्रियों के अध्यवसाय से गृहीत होने वाले आकाश आदि पाँच महाभूतों और उनकी कारणभूत शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं का संग्रह किया जाता है। प्रलयाकल और सकल आत्माओं का यह स्वरूप भोजदेव ने इस प्रकार बताया है —

प्रलयाकलेषु येषां पक्वे मलकर्मणी व्रजन्त्यन्ये।
पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात् ॥
(श्लो. ११)

यहाँ योनि शब्द से विभिन्न भुवनों का ग्रहण किया जाता है, मातृयोनि का नहीं ॥ ४॥

---

१. सार्धत्रिशतिकालोत्तर की वृत्ति (२.३) में रामकण्ठ ने बिना किसी नाम के इस वचन को उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ के सम्पादक प्रो. एन. आर. भट्ट ने अपने उपोद्घात में कालोत्तर के तेरह संस्करणों का परिचय दिया है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ गुह्यसिद्धि (८.१२) में भी कालोत्तर को निःश्वासतत्त्वसंहिता के साथ उद्धृत किया है। बौद्ध सम्प्रदाय में प्रज्ञापारमिता शास्त्र के समान शैव सम्प्रदाय में कालोत्तर के अनेक संस्करण प्रस्तुत हुए हैं।

यहाँ तक 'पति' नामक पदार्थ का स्वरूप बताने के बाद अब आगे 'पशु' नामक पदार्थ का स्वरूप बताया जा रहा है। प्रस्तुत श्लोक में आत्म(पशु)तत्त्व का और उसके त्रिविध भेदों का लक्षण प्रदर्शित है —

देहान्यः समलः पशुः सहजचिन्नैकः प्रबोधाकलः
सेशश्च प्रलयाकलः कृतिमली रुक्कर्ममायी विभुः ।
सूक्ष्माङ्गी सकलोऽल्पवित् स्वकृतभुक् कर्ता च नित्योऽप्रभु-
र्देही भुक्तकृतिः क्रमेण सुचिराच्छर्वेण मुक्तो भवेत् ।।५।।

देहान्यः देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि — इन सबसे भिन्न, **सहजचित्** स्वाभाविक चैतन्य से युक्त, **समलः** अनादि मल से संबद्ध आत्मा **पशुः** पशु के नाम से जाना जाता है। **नैकः** यह एक नहीं है, अर्थात् इसके अनन्त भेद हैं। **सेशः** भोग आदि की प्रवृत्ति में यह ईश्वर के द्वारा प्रेरित है। **विभुः** व्यापक स्वरूप वाला, **अल्पवित्** अल्पज्ञ, **स्वकृतभुक्** स्वयं अपने द्वारा किये गये पुण्य-पाप कर्मों के फल को भोगने वाला, **कर्ता** ईश्वर के अधीन होकर कर्मों को करने वाला, **नित्यः** उत्पत्ति-नाश से रहित, **अप्रभुः** स्वयं अपने देह आदि के परिग्रहण और त्याग में भी असमर्थ है। यह आत्मा इस शास्त्र में 'पशु' के नाम से जाना जाता है। यह तीन प्रकार का है। इनमें से **प्रबोधाकलः** विज्ञानाकल नामक पशु केवल आणव मल से युक्त है। **कृतिमली च** आणव और कार्म मल से युक्त तथा **सूक्ष्माङ्गी** सूक्ष्म पुर्यष्टक शरीरवाला **प्रलयाकलः** प्रलयाकल नाम से जाना जाता है। **रुक्कर्ममायी** आणव, कार्म और मायीय नामक तीनों मलों से संयुक्त पशु **सकलः** सकल नाम से जाना जाता है। **देही** स्थूल और सूक्ष्म शरीर को धारण करने वाला यह त्रिविध पशु, **भुक्तकृतिः** अपने द्वारा किये गये कर्मों के फल को भोगते हुए ज्ञान, योग और संन्यास की सहायता से, **क्रमेण** मलपरिपाक के अनुसार, **सुचिरात्** बहुत समय बीत जाने के बाद, **शर्वेण** शिव का अनुग्रह प्राप्त कर, **मुक्तो भवेत्** मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है।।५।।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में पशु के सहजचित्, समल, पशु, सेश, अल्पवित् जैसे विशेषणों की संगति के लिये शास्त्रों के वचन उद्धृत किये गये हैं। किरणागम के प्रमाण से बताया गया है कि अनादि काल से चले आ रहे मल से आबद्ध होने के कारण ही जीवात्मा अल्पज्ञ और उससे मुक्त होने से शिव सर्वज्ञ है —

अनादिमलबद्धत्वात् किञ्चिज्ज्ञोऽणुर्मयोदितः ।
अनादिमलमुक्तत्वात् सर्वज्ञोऽसौ शिवस्ततः ॥
(कि. वि. २.३)

पराख्यसंहिता के प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि यह पशु अपने किये कर्मों के कारण ही परतन्त्र हो जाता है —

पशुत्वरुद्धचिच्छक्तेः स्वातन्त्र्यं न पशोरतः ।
कर्म चिद्रहितं तस्माद् योजकं तदपेक्षते ॥
योजकः स महेशानः स्वेच्छया बलवान् यतः ।

यही बात महाभारत में भी दुर्योधन के मुख से कहलाई गई है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

यहाँ टीकाकार बताते हैं कि [1]कुछ आचार्य कर्मफल की भोक्तृता मन और बुद्धि में भी मानते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि जन्मान्तर होने पर उनमें परिवर्तन हो जाता है।

जीवात्मा का सामान्य लक्षण बताने के बाद यहाँ उसके विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नामक तीन भेदों का भी स्वरूप बताया गया है। प्रबोधाकल शब्द विज्ञानाकल का पर्याय है। विज्ञान, योग, संन्यास आदि की सहायता से यह माया और कर्म नामक मलों से मुक्त हो जाता है और सहज मलशक्ति के कारण तिरोहित उसका शिवत्व शिव की कृपा (शक्तिपात) से अभिव्यक्त हो उठता है। मृगेन्द्रागम के प्रस्तुत श्लोक का यही अभिप्राय है—

मायातीताणवोऽपि स्युः सहजाशुद्धिसंयुताः ।
यावन्नो वीक्षते शम्भुरध्वातीतो निरञ्जनः ॥

प्रबोधाकल पद में एकवचन जाति का सूचक है, अर्थात् उनकी अनेकता को बताता है। माया और शुद्धविद्या के बीच में विज्ञानाकल नाम के अनेक प्राणियों की स्थिति शास्त्रों में मानी गई है। जैसे कि —

---

१. सूक्ष्म शरीर में मन और बुद्धि की भी स्थिति मानी जाती है और नियत रूप से प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्म शरीर जुड़ा हुआ है, अतः यह समाधान उचित नहीं है। तब भी भोक्तृता जीव में ही मानी जायगी। मन और बुद्धि तो उसके साधन हैं।

आत्मानो बहवः सन्ति चिद्रूपा मलदूषिताः।
मायाकर्ममलोपेता[ः] कलाद्यवनिगोचरे॥
कर्माशुद्धियुतश्चान्यो मायायां प्रलयाकलः।
मायोर्ध्वं शुद्धविद्याथो(धो) मलमात्रावृतोऽपरः॥
विज्ञानाकल इत्यास्ते स्थितिरेषा समीरिता।

इसी तरह प्रलयाकल और सकल प्राणियों की संख्या भी असंख्य है। इनमें से प्रलयाकल कर्म और मल नामक पाशों से बद्ध माना गया है। यह केवल सूक्ष्म शरीर से संबद्ध रहता है, जब कि सकल जीव स्थूल शरीर को भी धारण करता है। सूक्ष्म शरीर को ही यहाँ पुर्यष्टक देह कहा गया है। इस पुर्यष्टक में पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन-बुद्धि-अहंकार, गुणत्रय, प्रकृति और कलापंचक नामक आठ समूहों की गणना की जाती है।

सकल जीव मल, माया और कर्म नामक तीन पाशों से बद्ध रहता है। मल शब्द के आणव, पशुत्व, अज्ञान, आवृति, मूल, मृत्यु, रुक्, मूर्छा, अंजन, नीहार, अविद्या, पाप, क्षपा — ये सब पर्याय हैं। माया शब्द से कला से पृथ्वी पर्यन्त कार्यसमूह का ग्रहण किया जाता है — **''माया कलादिपृथ्व्यन्ता यद्भवा तत्त्वसंहतिः''** वरुणशिव के इस वचन से यह बात स्पष्ट होती है। विज्ञान, योग, संन्यास अथवा भोग के द्वारा कर्मों का क्षय हो जाने पर मलपाक के क्रम से सकल को प्रलयाकल पद की और प्रलयाकल को विज्ञानाकल पद की प्राप्ति होती है। इसके बाद रुद्रपद, मन्त्र(विद्या)पद, मन्त्रेश्वरपद और शिवपद की भी प्राप्ति होती है —

रुद्रमन्त्रपतीशानपदभाजो भवन्ति ते।
स्थितौ याननुगृह्णाति गुरुमास्थाय चिद्वतः॥
(वि. ५.३)

मृगेन्द्रागम के इस वचन से यह बात स्पष्ट होती है। प्रलयाकल और विज्ञानाकलों में से कुछ को मल-परिपाक के क्रम से अधिकार पद की अथवा सायुज्य पद की प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा गया है —

केवलद्वयमध्ये तु परिपक्वविवक्षया।
शक्त्या या क्रियते दीक्षा शिवेनैव कृपात्मना॥
सायुज्यं कस्यचिज्ज्ञेयं स्वाधिकारः परात्मनः।

यहाँ सायुज्य का अर्थ शिव की समानता है। क्रम शब्द मल-परिपाक के तारतम्य को बताता है। जब मल का अत्यन्त परिपाक हो जाता है, तभी शिवपद की प्राप्ति होती है।

उक्त तीनों प्रकार के पशु पक्वमल और अपक्वमल के भेद से दो–दो प्रकार के होते हैं। पक्वमल विज्ञानाकल के पुनः दो भेद होते हैं। इसमें से अत्यन्त परिपक्व मल वाले अनन्त आदि आठ विद्येश्वर ईश्वर तत्त्व के भुवनों में निवास करते हैं। इनकी अपेक्षा जिनका मल–परिपाक कम हुआ है, ये सात करोड़ महामन्त्र शुद्धविद्या तत्त्व के भुवनों में निवास करते हैं। इन सबका पति–पदार्थ में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनके मल का परिपाक हो गया है। इन सबको साक्षात् परमेश्वर ही पहले अधिकार मल से बाँध कर अन्त में मोक्षपदवी प्रदान करते हैं। जिनका मल परिपक्व नहीं हुआ है, ऐसे अनन्त आदि विद्येश्वर (विज्ञानाकल) शुद्धविद्या और मायातत्त्व के अन्तर्वर्ती भुवनों में निवास करते हैं। परमेश्वर इनके मलपाक के तारतम्य को देखकर तदनुसार मन्त्रों और मन्त्रेश्वरों का पद प्रदान कर अन्त में शिवपद को, अर्थात् मोक्षपदवी को देते हैं।

प्रलयाकल भी पक्व मलकर्म और अपक्व मलकर्म के भेद से दो प्रकार के हैं। जिनके मल और कर्म पूरी तरह से परिपक्व हो गये हैं, ऐसे प्रलयाकल माया के गर्भ में निवास करने वाले[1] गहनेश आदि के पद को प्राप्त करते हैं। इनकी अपेक्षा जिनके मल और कर्म का परिपाक कम हुआ है, वे एक सौ अठारह रुद्र[2] इस पूरे ब्रह्माण्ड के अधिपतियों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इन्हींके भीतर कालाग्निरुद्र आदि शतरुद्रों की स्थिति मानी गई है। कला आदि से इनका संबन्ध नहीं रहता, अतः मल के परिपाक के तारतम्य से विद्येश्वर आदि पदवी को देकर तदनन्तर परमेश्वर इनको मोक्षपदवी में प्रतिष्ठित करते हैं। इनसे भिन्न, जिनके मल का परिपाक नहीं हुआ है, उन असंख्य मिश्राध्वा के निवासी प्रलयाकलों को भी परमेश्वर मोक्षमार्ग की ओर अग्रेसर करते हैं।

मल, कर्म और माया नामक तीनों मल जिनके परिपक्व नहीं हुए हैं, ऐसे सकल जीव ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित भुवनों में निवास करते हैं। कर्मसाम्य और शक्तिपात के अनुसार इनके त्रिविध मल का जब परिपाक होता है, तब संसार के प्रति द्वेषबुद्धि, मुक्ति की प्राप्ति के लिये श्रद्धा, शिव के प्रति भक्ति, गुरु की सेवा करने की इच्छा जैसे गुण उनमें उत्पन्न होते हैं। इन चिह्नों के अभाव में समझ लेना चाहिये कि अभी उनके मल का परिपाक नहीं हुआ है। जिनके मल का परिपाक हो जाता है, उनको शिव क्रमशः मन्त्रेश्वर पर्यन्त पदवी प्रदान करते हैं तथा अन्त में मोक्ष–पद में प्रतिष्ठित कर देते हैं ॥५॥

---

१. कला के मस्तक पर स्थित गहनेश आदि मण्डली देवताओं के नाम स्वच्छन्दतन्त्र (१०.११२४) आदि में देखिये।

२. “तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधेशास्तत्समाश्च वीरेशः। श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम्।।” (श्लो. १४) तत्त्वप्रकाश के इस श्लोक में एक-सौ अठारह रुद्र चर्चित हैं।

इस तरह 'पशु' पदार्थ का स्वरूप बता कर अब 'पाश' पदार्थ का निरूपण करते हुए आणव मल और रोधशक्ति के स्वरूप को बताते हैं —

नीहारोऽनादिरेको मनुजसहभवस्ताम्रगा कालिकेव
स्वाधीकारान्तनाशि-प्रतिपुरुषदृगावारितानेकशक्तिः ।
पाश्यः शोध्यश्च बोध्यः स तु भवति यतो भोक्तृता पारतन्त्र्यं
कर्मादेर्योग एतत्कृतिमनुकलिता रोधयित्रीशशक्तिः ।।६।।

नीहारः नीहार (मल) नाम से जाना जाने वाला पाश, **अनादिः** अनादि काल से चला आ रहा, **एकः** अनित्य जड़ पदार्थ की तरह अनेक होकर नित्य होने से केवल एक, **ताम्रगा कालिकेव** तांबे के साथ जुड़ी हुई कालिमा के समान, **मनुजसहभवः** मानव आत्मा के साथ सहज रूप से जुड़ा हुआ है। **स्वाधीकारान्तनाशि-प्रतिपुरुषदृगावारितानेकशक्तिः** यह अपने अधिकार की समाप्ति के बाद स्वयं अपने आप नष्ट हो जाने वाला, हर एक आत्मा (पुरुष) की ज्ञान शक्ति पर पर्दा डाल देने वाला और अनेक तरह की शक्तियों से सम्पन्न है, **यतः सः** क्योंकि यह, **पाश्यः** पशु को पाश में बाँधने वाला, **शोध्यः** दीक्षा संस्कार से शुद्ध होने वाला, **च** और, **बोध्यः** सर्वज्ञता आदि शिव के षड्विध गुणों का बोधन कराने वाला, **भवति** है। **कर्मादेः** कर्म, माया आदि के, **योगे** योग (संबन्ध) के होने पर, **भोक्तृता** पुरुष का भोक्तृत्व स्वभाव, **पारतन्त्र्यं** पराधीनता, **यतो भवति** जिस मल के कारण होती है, वह आणव मल है। **रोधयित्री** आत्मा के वास्तविक स्वरूप का तिरोधान करने वाली, **ईशशक्तिः** ईश्वर के पाँच कृत्यों में से एक तिरोधान नामक शक्ति, **एतत्कृतिं** इस आणव मल के बन्धन आदि कार्यों का, **अनुकलिता** अनुसरण करती हुई चलती है।।६।।

मृगेन्द्रागम के विद्यापाद (७.७) में पशु, नीहार, मृत्यु, मूर्छा, मल, अंजन, अविद्या, आवृति, रुक्, ग्लानि, पाप, मूल, क्षपा — ये सब मल के पर्यायवाची शब्द गिनाये गये हैं। इनमें नीहार शब्द भी आया है। आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती। अतः मल की आत्मा के साथ उत्पत्ति का अभिप्राय यह समझना चाहिये कि यह आत्मा के साथ अनादि काल से संबद्ध है। यह मल वस्तुस्वरूप है। आत्मा के साथ यह उसी तरह से जुड़ा रहता है, जैसे कि चक्षु के साथ मोतियाबिन्द। आँख का डाक्टर जैसे आपरेशन कर उसको निकाल देता है, उसी तरह से गुरु दीक्षा-व्यापार की सहायता से इस मल को दूर करता है। मल (अज्ञान) को यदि अभावात्मक माना जायगा, तो खरगोश के

सींग की जैसी उसकी स्थिति रहेगी और ऐसी अवस्था में दीक्षा आदि व्यापारों की कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी। ताम्रधातु (ताँबे) में जैसे कालिमा स्वाभाविक रूप से रहती है, वैसी ही स्थिति आत्मा में मल की मानी गई है। किरणागम में इस स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

अनादिमलसंबन्धान्मलिनत्वमणौ स्थितम्।
अनादिमलमुक्तत्वान्निर्मलत्वं शिवे स्थितम्॥
ईदृग्रूपं स्थितं ताभ्यां शुद्धाशुद्धं यथार्थतः॥
विशुद्धः स्फटिकः कस्मात् कस्मात् ताम्रं सकालिकम्।
यथाऽस्मिन् न निमित्तं हि तावानेव शिवात्मनोः॥

(वि. २. ३-५)

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ताँबे की कालिख को औषधियों के प्रयोग से हटाया जा सकता है, उसी तरह से आत्मा के आच्छादक इस मल को भी दीक्षाव्यापार की सहायता से हटाया जा सकता है। तण्डुल (धान) का तुष जैसे अंकुर की उत्पत्ति में निमित्त है, उसी तरह से यह मल आत्मा के साथ विभिन्न शरीरों को जोड़ता चला जाता है। मोतियाबिन्द के पक जाने पर जैसे उसको आपरेशन से हटा दिया जाता है, उसी तरह से कर्मसाम्य, शक्तिपात आदि की सहायता से मल का परिपाक हो जाने पर उसे दीक्षा-व्यापार के द्वारा हटाया जा सकता है। प्रत्येक आत्मा में इसकी स्वतन्त्र स्थिति मानी गई है और यह विविध शक्तियों से सम्पन्न है। इसीलिये एक आत्मा में मल की निवृत्ति हो जाने पर उसी की मुक्ति होती है, अन्य की नहीं। अग्नि की दाहिका शक्ति जैसे मन्त्र के प्रयोग से अवरुद्ध हो जाती है, उसी तरह से ईश्वर की अनुग्रह शक्ति से मल की शक्ति निष्प्रभाव हो जाती है। इसी स्थिति को औपचारिक रूप में कहा जाता है कि अमुक आत्मा से मल हट गया है, वह निर्मल हो गया है। इस स्थिति का किरणागम में इस प्रकार वर्णन है —

विभोरपि मलस्यास्य तच्छक्तेः क्रियते वधः॥
उपायाच्छक्तिसंरोधः कथञ्चित् क्रियते मले।
यथाग्नेर्दाहिका शक्तिर्मन्त्रेणाशु निरुद्ध्यते॥
तद्वत् तच्छक्तिसंरोधाद् विश्लिष्ट इति कथ्यते।

(वि. २.२८-३०)

शिव की यह शक्ति भी स्वाभाविक रूप से मल का परिपाक हो जाने पर ही मलशक्ति को निरुद्ध कर सकती है, जैसे कि तण्डुल पर चिपका हुआ तुष धान के पक जाने पर ही हटाया जा सकता है। तण्डुल (धान) यदि पका नहीं है, तो उस पर

मुषल आदि का आघात करने पर तण्डुल ही नष्ट हो जाता है; उसी तरह मल के परिपक्व हुए बिना ही उसको हटाने का प्रयत्न करने पर आत्मा के भी विकृत होने का प्रसंग आवेगा, किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि किरणागम में बताया गया है कि ताम्र के मैल को हटा देने पर भी जैसे ताम्र धातु का क्षय नहीं होता, उसी तरह से आत्मा में किसी विकार के आये बिना भी उसके मल का क्षय हो जाता है —

सहजा कालिका ताम्रे तत्क्षयान्न च तत्क्षयः ।
यद्वत् ताम्रे क्षयस्तद्वत् पुरुषस्य मलक्षयः ॥
(वि. २.३१)

रस का संयोग होने के साथ ही ताम्र की कालिमा का परिपाक हो जाता है, उसी तरह से तीव्र शक्तिपात के होने पर मल की परिपाकावस्था भी स्पष्ट हो जाती है। इस स्थिति को मृगेन्द्रागम में स्पष्ट किया गया है—

तदेकं सर्वभूतानामनादि निबिडं महत् ।
प्रत्यात्मस्थस्वकालान्तापायि शक्तिसमूहवत् ॥
(वि. ७.८)

मलशक्ति के कारण ही पशु पाश्य, शोध्य और बोध्य होता है, जैसा कि किरणागम में बताया गया है —

तत्स्वभावात् पशुः पाश्यः शोध्यो बोध्यो मतस्त्विह ।
पाश्यादिवृत्तयो यास्तु तस्य भेदा व्यवस्थिताः ॥
मले सति भवन्त्येता भोक्तृत्वे च न केवलम् ।
(वि. २.२२-२३)

यहाँ शंका उठ सकती है कि भोक्तृत्व की सिद्धि तो पशु में कर्म के कारण होती है और यह भोग ही राग आदि का कारण बन जाता है। ऐसी स्थिति में मल का क्या प्रयोजन हो सकता है? इसका समाधान भी किरणागम में ही किया गया है —

चौर्यं हि बीजमावेक्ष्य यथा निगडबन्धनम् ।
तथा पशुत्वमालोक्य रागतत्त्वं प्रवर्तते ॥
(वि. ३.३-४)

पशुत्वेन हि भोक्तृत्वं मायाबन्धस्तनुस्थितः ।
सुखदुःखात्मको भोगः कर्मणा संस्थितः पशोः ॥
नान्यथाऽस्य विनिर्दिष्टं भोगभोक्तृत्वबन्धनम् ।
(वि. ३. ५-६)

लोक में चोरी करने पर पुरुष को जैसे हथकड़ी पहनाई जाती है, उसी तरह से आत्मा भी मल के कारण ही राग आदि दोषों से बँध जाता है। इसलिये भोगों के प्रति आकृष्ट कराने में साक्षात् कारणता मल की ही मानी जाती है। माया का बन्धन परम्परा से देह की उत्पत्ति में तथा कर्मबन्धजन्य सुखदुःखात्मक भोग में कारण है।

यहाँ शिव की शक्ति में कर्तृता नहीं मानी जाती। कर्ता तो केवल ईश्वर है। शक्ति उसकी सहायिका मानी जाती है। तिरोधान शक्ति की सहायता से ही शिव निरोध (तिरोधान) व्यापार में प्रवृत्त होते हैं और अनुग्रह शक्ति की सहायता से वे जीव को बन्धन से मुक्त कर देते हैं। मृगेन्द्रागम में इस विषय को स्पष्ट किया गया है —

तासां माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते ॥

परिणामयत्येताश्च रोधान्तं कार्कचित्त्विषा।
यदोन्मीलनमाधत्ते तदानुग्राहिकोच्यते ॥
(वि. ७. ११-१२)

सब पर अनुग्रह करने वाली माहेश्वरी शक्ति प्राणियों की चिच्छक्ति के अवरोधक रूपों का अनुवर्तन करने के कारण ही पाश कहलाती है। यह अनुग्रहशक्ति ही रोधशक्ति पर्यन्त मल-शक्तियों को जब ईश्वररूपी सूर्य की ज्ञानरूपी किरणों से निरुद्ध कर देती है, तो उस स्थिति में अनुग्राहिका शक्ति का उन्मीलन होता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाशशक्ति का व्यापार तिरोधानशक्ति तक ही चलता है। अनुग्रहशक्ति में तो पाश शब्द का प्रयोग औपचारिक ही माना जायगा ॥ ६॥

विज्ञानाकल पशु से संबद्ध आणव मल और तिरोधान शक्ति नामक दो पाशों का स्वरूप बताकर अब प्रलयाकल पशु से संबद्ध कर्म नामक तीसरे पाश का लक्षण कहते हैं —

देहाद्यैर्योगहेतुर्विविधमपि च नुश्चित्रभोगप्रसूति-
र्नाशोत्पत्त्याऽप्यनादि प्रतिनरनियतं सूक्ष्मभावाददृष्टम्।
वाग्धीकार्यार्थसाध्यं फलजनकधरं कर्म धर्मादि भोग्यं
स्वापे मायाप्तपाकं स्थितिमतिसहितं भोगदं स्यात् कलान्तम् ।।७।।

देहाद्यैः स्थूल-सूक्ष्म-शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, शब्द आदि विषय, इन सबके साथ, **योगहेतुः** आत्मा का संबन्ध कराने वाला, **विविधं** नानाविध, पुण्य-पाप के भेद से अनेक प्रकार का, **अपि च** और **नुः** पुरुष के, **चित्तभोगप्रसूतिः** नाना प्रकार के सुख-दुःखात्मक भोगों का जनक,

नाशोत्पत्त्या (सहितमपि) नाश और उत्पत्ति से संबद्ध रहते हुए भी, **अनादि** मल पाश के समान अनादि काल से चला आ रहा, **प्रतिनरनियतं** प्रत्येक पुरुष के साथ नियमित रूप से संबद्ध रहते हुए भी, **सूक्ष्मभावात्** सूक्ष्म संस्कार के रूप में संलग्न, **अदृष्टं** इन्द्रियों के अगोचर, **वाग्धीकार्यार्थसाध्यं** वाणी, बुद्धि, कार्य (शरीर) और अर्थ (द्रव्य) से संपादन करने योग्य, **फलजनकधरं** सुख-दुःख आदि फलों को नियत काल पर्यन्त धारण करने वाला, **भोग्यं** भोगने के लायक, धर्मादि पुण्य-पाप रूप, **कर्म** 'कर्म' नामक पाश, **स्वापे** सर्वभूत संहार रूप प्रलयकाल में, **मायाप्तपाकं** माया शक्ति की सहायता से परिपाक को प्राप्त कर, **स्थितिमतिसहितं** माया में संस्कार रूप में रहते हुए, **कलान्तं** पृथिवी से लेकर कलापर्यन्त तत्त्वों में व्याप्त होकर, **भोगदं** आत्मा (पुरुष) को सुख-दुःख आदि भोगों को देने वाला **स्यात्** बनता है।।७।।

देह शब्द से यहाँ स्थूल और सूक्ष्म शरीर का, इन्द्रिय से अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का तथा अर्थ शब्द से इन्द्रियों से गृहीत होने वाले शब्द आदि विषयों का ग्रहण किया जाता है। विभिन्न प्राणियों के नाना प्रकार के शरीर, इन्द्रियाँ और विषय उपलब्ध होते हैं। देव, असुर, किंनर, गन्धर्व, पिशाच, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के अनेक प्रकार के शरीर हैं। इन्द्रियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे कि हाथियों की जिह्वा उलटी होती है, सर्प चक्षु की सहायता से सुनता है, उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता, बिल्ली की आँखें रात में खूब चमकती हैं, जब कि मनुष्यों को रात में नहीं दिखाई पड़ता। **कामिकागम** का कहना है —

यथा विलक्षणं चक्षुः क्षपायां नृविडालयोः।

दुर्गासप्तशती में बताया गया है —

दिवान्धाः प्राणिनः केचिद् रात्रावन्धास्तथापरे।
केचिद् दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः॥
(१.४८-४९)

इसी तरह से विषयों की भी भिन्नता देखने में आती है। चातक स्वाति नक्षत्र में गिरी वर्षा की बूँद को ही पीता है। हंस, मधुकर (भ्रमर) आदि कमल के पराग-रस का ही पान करते हैं। पशु का आहार तृण है। देव अमृत का पान करते हैं। मनुष्य चावल आदि अन्न का भोजन करता है। इनके रहने के स्वर्ग, भूलोक आदि स्थान भी भिन्न हैं। मनुष्यों में कोई राजा, कोई धनाढ्य तो कोई दरिद्र होता है। देह, इन्द्रिय आदि के

उत्पत्ति-नाश की प्रक्रिया भी चलती रहती है और प्रत्येक पुरुष में इन भोगों की स्थिति भी भिन्न-भिन्न रहती है। शैवशास्त्रों में इन सबका कारण **कर्म** नामक पाश को माना गया है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि सुख-दुःख रूप भोग की उपलब्धि में कर्म ही प्रधान कारण है, कर्म की सहायता से ही यदि देह की उपलब्धि होती है, तो सृष्टि के प्रारम्भ में, जब कि कर्म की कोई स्थिति नहीं रहती, देह की उपलब्धि कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि बीज और वृक्ष की अनादि परम्परा के समान सृष्टि की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है। आत्मा के साथ मल, कर्म आदि का और नानाविध शरीरों का संबन्ध भी अनादि काल से प्रवृत्त है। **किरणागम** में इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

यदेतत् कर्म देवेश प्रोक्तं भोगनिबन्धनम् ॥
कर्मार्जनं तनौ सत्यां सृष्टिकाले तनुः कुतः ।
यथानादिर्मलस्तस्य कर्माप्येवमनादिकम् ॥
यद्यनादि न संसिद्धं वैचित्र्यं केन हेतुना ।
(वि. ३. ६-८)

भट्ट रामकण्ठ ने अपनी वृत्ति में इस विषय को स्पष्ट किया है कि आत्माओं के शरीरों और भोगों की विविधता की उपपत्ति उनके कारणभूत कर्म को बिना माने कभी भी नहीं हो सकती। सृष्टि के प्रारंभ में भी पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, स्थावर, मनुष्य आदि में विचित्रता देखने को मिलती है, अतः महाप्रलय काल में भी कर्म की स्थिति माननी पड़ती है। जल के प्रवाह के समान अनादि काल से यह कर्म का प्रवाह भी निरन्तर चला आ रहा है। इसीलिये बीजांकुर न्याय की तरह कर्म की भी अनादि सत्ता माननी पड़ती है। बीज के बिना अंकुर नहीं निकल सकता, जो कि भविष्य में वृक्ष का आकार ग्रहण करता है और वृक्ष से ही बीज निकलता है। इस अनवस्था को दूर करने के लिये जैसे बीज और अंकुर की सत्ता अनादि मानी जाती है, उसी तरह से कर्म की भी सत्ता अनादि काल से चली आ रही है, ऐसा माना जाता है। यह कर्म आत्मा में संस्कार रूप में विद्यमान रहता है। सूक्ष्म रूप से रहने से इसे अदृष्ट भी कहते हैं। जैसा कि **मृगेन्द्रागम** में बताया गया है— **"कर्म व्यापारजन्यत्वाददृष्टं सूक्ष्मभावतः" (वि. ८.३)।**

किसी मनुष्य को जमीन खोदने पर खजाना मिल जाता है और कोई दूसरा मनुष्य छाया के लिये जब वृक्ष के नीचे खड़ा होता है, तो उसके ऊपर अचानक बिजली गिर पड़ती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। मनुष्य के पूर्व जन्म के अदृष्ट

रूप में संचित धर्म और अधर्म को ही इसमें कारण मानना पड़ेगा। मनुष्य अपनी वाणी, मन, शरीर अथवा धन से इनको जुटाता है। शिवस्तोत्र का पाठ वाणी से, शिव का ध्यान मन से, शिव की पूजा शरीर से और शिवमन्दिर का निर्माण धन से किया जाता है। टीकाकार ने यहाँ मृगेन्द्रागम और पुराण के वचनों को उद्धृत कर कर्म के विविध पक्षों को स्पष्ट किया है। जैसे कि —

ईशविद्याद्यपेक्षित्वात् सहकारि तदुच्यते (मृ. वि. ८.३)
जनकं धारकं भोग्यमध्यात्मादित्रिसाधनम् (मृ. वि. ८.४)।
मायायां वर्तते चान्ते नाभुक्तं क्षयमेति च (मृ. वि. ८.५)।

अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥
(ना. पु. १.३१.६९-७०)

अनेक पुराणों में उपलब्ध इस वचन से मृगेन्द्रागम के ऊपर उद्धृत अन्तिम वचन की पुष्टि होती है।

शिवत्व की अभिव्यक्ति भी कर्मसाम्य दशा में ही हो पाती है। जैसा कि किरणागम में बताया गया है —

समे कर्मणि संजाते कालान्तरवशात् ततः॥
तीव्रशक्तिनिपातेन गुरुणा दीक्षितो यदा।
शिवत्वव्यक्तिः सम्पूर्णा संसारी न पुनस्तदा॥
(कि. १.२०-२२)

उचित समय पर कर्मसाम्य की स्थिति आने पर और तीव्र शक्तिपात, अर्थात् ईश्वर का परम अनुग्रह होने पर जब गुरु के द्वारा दीक्षा प्राप्त हो जाती है, तो उस जीव में पूरी तरह से शिवभाव की अभिव्यक्ति हो उठती है। वह पुनः संसार-सागर में निपतित नहीं होता ॥७॥

ऊपर के श्लोक में 'कर्म' नामक पाश का स्वरूप बता कर अब सकल आत्मा में विशेष रूप से रहने वाले 'माया' नामक पाश का और शुद्धाध्वा के प्रवर्तक 'बिन्दु' (महामाया) नामक पाश का स्वरूप प्रस्तुत श्लोक में बताते हैं —

मायाख्यं चित्रशक्त्या परिगतमकलं कष्टवर्त्मैकबीजं
नित्यं कर्मान्तरोधि स्वकृतिनिवसनं तत्कृतेर्व्यापकं च।
कार्याचित्त्वप्रकाशादचिदशिवकरं मोहकं स्वापकाले
सर्वात्मावासमेवं परमपि च सितं कारणं बोधकं तत् ॥८॥

मायाख्यं माया नामक पाश, **चित्रशक्त्या** नाना प्रकार की शक्तियों से, **परिगतं** परिवृत, **अकलं** सूक्ष्म स्वरूप वाला, **कष्टवर्त्मैकबीजं** अशुद्ध सृष्टि का मुख्य उपादान कारण, **नित्यं** नित्य स्वभाव वाला, **कर्मान्तरोधि** कर्म के अधिकार तक बन्धन का कारण, **स्वकृतिनिवसनं** अपने द्विविध कार्यों में निवास करने वाला, **तत्कृतेः** उन कार्यों में, **व्यापकं च** व्यापक रूप से रहने वाला है। **कार्याचित्त्वप्रकाशात्** वह अपने शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यों में जड़ता को भर देता है, **अचित्** स्वयं भी जड़ है, **अशिवकरं** अज्ञान की उत्पत्ति का स्थान, **मोहकं** और जीव को मोह में डालने वाला है। **स्वापकाले** प्रलय काल में, **सर्वात्मावासं** सभी प्रकार के पशुओं का निवासस्थान है। **परमपि च** इसके अतिरिक्त बिन्दु (महामाया) नामक पाश भी, **एवं** उक्त लक्षणों से युक्त है। **अपि च,** इसके अतिरिक्त, **तत्** वह **सितं कारणं** शुद्धाध्वा का उपादानकारण, **बोधकं च** और सभी विषयों का ज्ञान कराने वाला है।।८।।

कला आदि तत्त्वों में स्थित समस्त भुवनों का और उनमें उत्पन्न होने वाले समस्त शरीरों का उपादानकारण मायातत्त्व है। यह एक और नित्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि अनेक तन्तुओं से मिलकर पट (कपड़ा) का निर्माण होता है, उसी तरह से जगत् के उपादानकारण मायातत्त्व की भी अनेकता मानना क्या उचित नहीं होगा? इसका समाधान यह है कि पट का उपादानकारण भी एक ही तन्तु-जाति है, क्योंकि तन्तु का निर्माण एक ही द्रव्य कपास से होता है। इसी तरह से एक ही मायातत्त्व से जगत् की उत्पत्ति मानना उचित है। अपनी विचित्र शक्तियों के कारण यह इस विचित्र जगत् की रचना में समर्थ है। जैसा कि **मृगेन्द्रागम** में कहा गया है —

> **पटस्तन्तुगणाद् दृष्टः सर्वमेकमनेकतः ।**
> **तदप्यनेकमेकस्मादेव बीजात् प्रजायते ॥**
> **(वि. ९.७)**

यह मायातत्त्व नित्य भी है, क्योंकि [१]महासंहार काल में भी शिव और आत्मा के साथ माया की भी स्थिति मानी गई है। माया को यदि अनित्य माना जायगा, तो

---

[१] "माया पुरुषः शिव इत्येतत्त्रितयं महार्थसंहारे। अवशिष्यते पुनस्तत् प्रवर्तते पूर्ववत् सृष्टौ।।" (श्लो. ६९) तत्त्वप्रकाश के इस श्लोक में यही विषय वर्णित हैं।

जगत् की उत्पत्ति ही नहीं हो पावेगी। महासंहार काल में माया का नाश होजाने पर उपादान के अभाव में पुनः जगत् की उत्पत्ति कैसे होगी? अतः माया को नित्य ही मानना पड़ेगा कि संहार काल में भी शक्ति के रूप में यह स्थित रहती है। लोक-व्यवहार में जैसे मिट्टी आदि उपादान द्रव्य के साथ चक्र आदि सहकारी कारण की अपेक्षा रहती है, उसी तरह से जगत् की उपादानभूत माया को भी सहकारी कारण के रूप में कर्म की अपेक्षा रहती है। जैसे कि —

तदेकमशिवं बीजं जगतश्चित्रशक्तिमत्।
सहकार्यधिकारान्तसंरोधि व्याप्यनश्वरम्॥
(वि. ९.२)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में प्रतिपादित है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से इस माया के द्विविध कार्य हैं। सृष्टि के समय कला आदि तत्त्वों में स्थित भुवन आदि की उत्पत्ति बाह्य कार्य है और संहार दशा में माया के गर्भ में सूक्ष्म रूप से निरन्तर चल रहा परिणाम इसका आभ्यन्तर कार्य है। मृगेन्द्रागम में इन दोनों स्थितियों को बताया गया है —

तदाधाराणि कार्याणि शक्तिरूपाणि संहृतौ।
विकृतौ व्यक्तिरूपाणि व्याप्रियन्तेऽर्थसिद्धये॥
(९.१३)

यह माया अचेतन है। लोक में देखा जाता है कि मिट्टी आदि अचेतन उपादान से अचेतन घट आदि की उत्पत्ति होती है, उसी तरह से माया से उत्पन्न भुवन आदि के अचेतन होने से माया को भी अचेतन मानना उचित है। "तदचेतनमेव स्यात् कार्यस्याचित्त्वदर्शनात्" (वि. ९.४) मृगेन्द्रागम के इस वचन में इसी स्थिति को स्पष्ट किया गया है। चित् से अचित् की उत्पत्ति माननेवालों के पक्ष की समालोचना वहाँ इस प्रकार की गई है —

येषां चिद्धर्मकाद्धेतोरचिदप्युपजायते।
तेषां धूमेन लिङ्गेन जलं किं नानुमीयते॥
(वि. ९.८)

इस माया शक्ति के कारण ज्ञानशक्ति संकुचित हो जाती है और वह अनात्म में आत्माभिमान को पैदा कर देती है। इसीलिये माया को मोहिनी[१] कहा गया है। जैसे घने

---

[१] "माया विमोहिनी नाम" (श्लो. ९३) विज्ञानभैरव का यह श्लोक, इसकी रहस्यार्था व्याख्या और वहाँ दी गई टिप्पणियाँ (पृ. १०४-१०५) देखिये।

अन्धकार में दीपक का प्रकाश नीलोत्पल में रक्तोत्पल का आभास करा देता है, ऐसी ही स्थिति माया से उत्पन्न ज्ञान की है। इसीलिये मायातत्त्व को मोहक माना जाता है।

बिन्दु और महामाया एक ही तत्त्व है। यह शुद्धाध्वा का उपादान कारण है। इसी की सहायता से शुद्ध शिवस्वरूप का बोध भी होता है। इसीलिये यह माया के समान मोहक नहीं है। माया के समान यह विभिन्न शक्तियों से सम्पन्न अवश्य है। माया के समान इसके भी बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध कार्य हैं। शक्ति से लेकर शुद्धविद्या तक के तत्त्वों में स्थित भुवनों की सृष्टि इसका बाह्य कार्य है और संहार दशा में बिन्दुस्वरूप शिवतत्त्व में सूक्ष्म रूप में शुद्ध भुवनों की स्थिति आन्तर कार्य। शान्त्यतीता आदि पाँच कलाएँ बिन्दु[1] की ही परिणतियाँ मानी जाती हैं। इसीलिये यह शुद्ध और अशुद्ध सभी भुवनों में व्याप्त है। यह अचित्-स्वरूप है, क्योंकि इससे अचित् कार्यों की ही उत्पत्ति होती है। संहार काल में मन्त्र, मन्त्रेश्वर और अनन्त आदि विद्येश्वर बिन्दुतत्त्व में ही विश्राम करते हैं ॥८॥

आणव आदि पाशों का स्वरूप बताने के बाद अब विज्ञानाकल आदि आत्माओं और मन्त्र-मन्त्रेश्वरों की भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये परशिव से सृष्ट शिव आदि ३६ तत्त्वों का परिचय देने के प्रसंग में प्रस्तुत श्लोक में पाँच शुद्ध तत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में बताते हैं —

उद्योगाच्छक्तितत्त्वं प्रसरति च विभोस्तत्कलाढ्यं सिसृक्षो-
र्बिन्दोः प्राग् दृक्क्रियाभ्यां सदृशमधिकृताद्यत् सदेशाख्यतत्त्वम् ।
आधिक्येनेशतत्त्वं मनुपतिसहितं तत्क्रियाशक्तियोगाद्
ज्ञानाख्याशक्तियोगान्मनुनिवहमुखैः शुद्धविद्याख्यतत्त्वम् ।।९।।

सिसृक्षोः प्रपंच की सृष्टि के लिये इच्छुक, **विभोः** व्यापक परशिव के, **उद्योगात्** उद्यम से, **बिन्दोः** बिन्दुस्वरूप शिवतत्त्व से, **प्राक्** पहली बार, **कलाढ्यं** शान्ति कला से सम्पन्न, **तत्** उस **शक्तितत्त्वं** शक्ति तत्त्व का, **प्रसरति** प्रसार होता है। **अधिकृतात्** सृष्टि कार्य में अधिकार प्राप्त, **विभोः** परमेश्वर की, **दृक्क्रियाभ्यां** ज्ञान और क्रिया शक्ति की, **सदृशं** समान स्थिति रहने पर, **तत्** उस, **सदेशाख्यतत्त्वं** सदाशिव तत्त्व का **प्रसरति** प्रसार होता है। **आधिक्येन** प्रधान रूप से, **क्रियाशक्तियोगात्** क्रियाशक्ति का संयोग

---

[1] "कलास्ता बिन्दुवृत्तयः" (श्लो. ८६) रत्नत्रय का यह पूरा प्रकरण देखिये।

होने पर, **मनुपतिसहितं** मन्त्रेश्वर अनन्त आदि के रूप में, **ईशतत्त्वं** ईश्वर तत्त्व का, **प्रसरति** प्रसार होता है। **आधिक्येन** प्रधान रूप से, **ज्ञानाख्याशक्तियोगात्** ज्ञानशक्ति का संयोग होने पर, **मनुनिवहमुखैः सहितं** सप्तकोटि महामन्त्रों के साथ, **शुद्धविद्याख्यतत्त्वं** शुद्धविद्यातत्त्व का, **प्रसरति** प्रसार होता है।।९।।

जब बिन्दुतत्त्व भोग और अधिकार दशा को छोड़ कर समस्त कार्यजगत् को अपने भीतर समेट लेता है, तब वह अपनी इन दशाओं से ऊपर उठ कर केवल चिद्रूप शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह शिवतत्त्व की लयावस्था है। उस समय इसमें समवेत शक्ति भी उदासीन हो जाती है, क्योंकि उस समय शिव सृष्टिकार्य से विरत रहते हैं। बिन्दु के अचेतन होने से ही बिन्दु की अधिष्ठानभूत एकमात्र शिव के साथ समवेत शक्ति भी लयावस्था में प्रविष्ट हो जाती है और इस शक्ति से संबद्ध भगवान् शिव भी उस समय लयावस्था में ही रहते हैं। जब शिव सृष्टि के लिये उद्यत होते हैं, तो शक्ति भी कार्योन्मुख हो जाती है। सृष्टि आदि कार्यों के लिये उद्यत इस बिन्दुशक्ति को उपादान के रूप में ग्रहण कर शिव कार्य करते हैं —

अस्मिन्निलीय निखिला इच्छाद्याः शक्तयः स्वकं कृत्यम्।
कुर्वन्ति तेन तदिदं सर्वानुग्राहकं प्राहुः॥
(श्लो. ३६)

तत्त्वप्रकाश के इस वचन में यही बात कही गई है। बिन्दु की इस लयावस्था का वर्णन **पौष्करागम** में भी मिलता है —

उपसंहृतकार्यात्मा यदा बिन्दुर्व्यवस्थितः।
तदा लयाह्वयं तत्त्वं शिवतत्त्वं तदेव हि॥

इस प्रकार सृष्टि के लिये उद्यत परमेश्वर के शिवतत्त्वस्वरूप प्रथम उपादान बिन्दु से शान्ति कला से युक्त शक्ति तत्त्व का प्रसार होता है। चकार से शान्ति कला के ऊपर स्थित शिवतत्त्व का और उसमें विद्यमान शान्त्यतीत कला के भुवनों का ग्रहण किया जाता है। जैसे कि —

प्रकृतित्वादयं बिन्दुः क्षोभ्यस्तेनाखिलात्मना।
तत्र यः क्षुब्धभागोऽस्य शान्त्यतीतकला तु सा॥

शान्त्यादिभुवनात्मा यः परिणामस्तु बैन्दवः।
शिवतत्त्वं तदेवोक्तं - - - - - - -॥

परमेश्वर जब सृष्टि करने में प्रवृत्त होकर बिन्दु को उपादान के रूप में ग्रहण करता है, उस समय ज्ञान और क्रिया शक्ति की साम्यावस्था में उसका दूसरा परिणाम सदेशाख्य तत्त्व, अर्थात् सदाशिव के रूप में होता है। यह सदाशिव स्रष्ट्र रूप और सृज्य रूप के भेद से दो प्रकार का है। शिव और शक्ति में जब यह अनुभूति होती है कि अब हम सदाशिव का स्वरूप ग्रहण करने वाले हैं, उस समय वह स्रष्ट्र रूप में रहता है। जब उसकी सृष्टि हो जाती है, उस समय छत्तीस तत्त्वों के मध्य में अपने भुवनों के साथ इसकी जो स्थिति रहती है, वही इसका सृज्य रूप है। इनमें से सदाशिव का स्रष्ट्र-स्वरूप शिव की भोग और अधिकार अवस्था का द्योतक है। जैसा कि मतंगागम में वर्णित है —

लयभोगाधिकाराख्यत्रितत्त्वोक्तिनिबन्धनः ।
पदार्थः पतिनामाऽसौ प्रथमः परिकीर्तितः ॥
(वि. २.१४)

यहाँ (स्रष्ट्र-रूप में) अलग से किसी उपादान की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि एक ही शक्ति के व्यापार-भेद से इन तत्त्वों की भिन्नता दिखाई पड़ती है। वास्तव में इनमें परस्पर कोई भेद नहीं है। जैसा कि तत्त्वप्रकाश में कहा गया है —

तत्त्वं वस्तुत एकं शिवसंज्ञं चित्रशक्तिशतखचितम् ।
शक्तिव्यापृतिभेदादस्यैते कल्पिता भेदाः ॥
(श्लो. ३३)

सृज्य रूप के लिये उपादान के रूप में कर्म की अपेक्षा रहती है। यहाँ सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक तीन औपाधिक रूपों से विशिष्ट शिव ही कर्ता है, उसकी शक्ति करण और उससे विभक्त बिन्दुशक्ति ही उपादान है। इसका अभिप्राय यह है कि सदाशिव आदि तत्त्व और उनमें स्थित भुवन आदि की सृष्टि करने की इच्छा से भगवान् शिव जब सृष्टि-व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, तब प्रथमतः उनमें ज्ञान और क्रिया शक्ति की समान स्थिति रहती है, उस समय सादाख्य तत्त्व की ; क्रियाशक्ति की प्रधानता रहने पर ईश्वरतत्त्व की और ज्ञानशक्ति की प्रबलता होने पर विद्यातत्त्व की उत्पत्ति होती है। तत्त्वप्रकाश के तीन श्लोकों में इनका वर्णन है —

ज्ञानक्रियाख्यशक्त्योरपकर्षोत्कर्षयोरभावेन ।
यः प्रसरस्तं प्राहुः सदाशिवाख्यं बुधास्तत्त्वम् ॥
न्यग्भवति यत्र शक्तिर्ज्ञानाख्योद्रिक्ततां क्रिया भजते ।
ईश्वरतत्त्वं तदिह प्रोक्तं सर्वार्थकर्तृ सदा ॥

न्यग्भवति कर्तृशक्तिर्ज्ञानाख्योद्रेकमश्नुते यत्र।
तत् तत्त्वं विद्याख्यं प्रकाशकं ज्ञानरूपत्वात्॥
(श्लो. २८-३०)

यहाँ प्रथम तत्त्व भोगतत्त्व और सदाशिवतत्त्व कहलाता है। यह बिन्दुशक्ति की सहायता से अपने भुवनों की सृष्टि करता है। करण के रूप में यहां ज्ञान और क्रिया शक्ति का उन्मेष परिगृहीत है। क्रियाशक्ति की अधिकता होने पर वही परमेश्वर अधिकारतत्त्व और ईश्वरतत्त्व कहलाता है। बिन्दुशक्ति की सहायता से यह अपने भुवनों की सृष्टि करता है। करण से यहाँ क्रियाशक्ति का उन्मेष परिगृहीत है। ज्ञानशक्ति की अधिकता होने पर वही परमेश्वर स्थूल अधिकारतत्त्व और विद्यातत्त्व कहलाता है। यह भी बिन्दुशक्ति की सहायता से ही अपने भुवनों की सृष्टि करता है। इस प्रकार सृज्यमान सदाशिव आदि तीन शुद्ध तत्त्वों, उनमें विद्यमान भोगभूमियों (भुवनों) तथा उन भुवनों में विद्यमान [१]विज्ञानकेवलियों, विद्या-विद्येश्वरों के शरीरों, स्वभाव-सुन्दर रमणियों, कभी पुराने न पड़ने वाले भोगों और तदनुरूप इन्द्रियों की सृष्टि स्वयं परमेश्वर अपनी ज्ञान और क्रिया शक्ति की सहायता से करते हैं —

तत्त्वेषु तेषु विज्ञानकेवलानां महात्मनाम्।
भुवनानि विचित्राणि स्वभावललिताः प्रियाः॥
भोगानप्यपरिम्लानानङ्गानि करणानि च।
विदधाति शिवः शक्तेरनन्यायाः क्रियात्मनः॥
(श्लो. १३१-१३२)

रत्नत्रय के इन दो श्लोकों में यही विषय वर्णित है। ग्रन्थकार ने यहाँ तक के श्लोकों में पाँच शुद्ध तत्त्वों का स्वरूप बताया है॥९॥

पाँच शुद्ध तत्त्वों के प्रसारक्रम को बताने के बाद शेष इकतीस अशुद्ध तत्त्वों के प्रसार के क्रम को भी संक्षेप में ही बताते हैं —

मायातोऽनन्तयोगात् प्रसरति च कला कालतत्त्वं नियत्या
विद्या रागः कलातः प्रकृतिसखमितो रुद्रयुग् गौणमस्मात्।
बुद्धिश्चातोऽप्यहङ्कृत् त्रिविधगुणयुता धीन्द्रियैर्मानसं प्राक्
कर्माक्षाण्येव मात्राः स्वगुणगतभिदाः पञ्चभूतानि ताभ्यः॥१०॥

मायातः अशुद्ध तत्त्वों के उपादान कारणभूत मायातत्त्व से, अनन्तयोगात् अशुद्ध सृष्टि के कर्ता अनन्तेश्वर के संकल्प से, कला कलातत्त्व और

---

[१] जैन दर्शन में वर्णित केवली से इसकी तुलना अपेक्षित है।

नियत्या नियति के साथ **कालतत्त्वं** कालतत्त्व का प्रसार होता है। **कलातः** कलातत्त्व से, **विद्या रागः** विद्यातत्त्व और रागतत्त्व का प्रसार होता है। **इतः** कलातत्त्व से, **प्रकृतिसखं** प्रकृतितत्त्व के साथ, **रुद्रयुक्** पुरुषतत्त्व उत्पन्न होता है। **अस्मात्** इस प्रकृतितत्त्व से, **गौणं** सत्त्व-रज-तम स्वरूप गुणतत्त्व, **प्रसरति** निकलता है। **(किं)चातः** और इस गुणतत्त्व से **त्रिविधगुणयुता** तीन प्रकार के गुणों से युक्त, **बुद्धि** बुद्धितत्त्व (महत्तत्त्व), **प्रसरति** निलकता है। अनन्तर इस बुद्धितत्त्व से, **अहङ्कृत्** अहंकार तत्त्व का **प्रसरति** प्रसार होता है। **प्राक्** सात्त्विक अहंकार से पहले **धीन्द्रियैः** पाँच बुद्धीन्द्रियों (श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना और घ्राण) के साथ, **मानसं** मन का प्रसार होता है, **कर्माक्षाणि** पाँच कर्मेन्द्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) का प्रसार राजस अहंकार से और **मात्राः** पाँच तन्मात्राएँ तामस अहंकार से, **स्वगुणगतभिदाः** अपने-अपने सूक्ष्म गुणों से युक्त **प्रसरन्ति** निलकती हैं। **ताभ्यः** इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से **पञ्चभूतानि** आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी नामक पाँच महाभूत, **प्रसरन्ति** निकलते हैं ।।१०।।

अनन्तनाथ प्रलय काल में विभिन्न आत्माओं के कर्मफल की स्थिति के अनुसार अपनी वामा आदि शक्तियों की सहायता से माया को क्षुब्ध कर उसे कला आदि तत्त्वों की सृष्टि के लिये प्रेरित करता है। जैसा कि **रौरवागम** के इस वचन में प्रतिपादित है —

वामादिशक्तिभिर्युक्तः शिवेच्छाविधिचोदितः ।
विद्याराजाधिराजेशो मायां विक्षोभ्य मन्त्रराट् ॥
कलामुत्पादयामास - - - - - - - - - - ।
(वि. १.६-७)

यह अनन्तेश्वर माया को क्षुब्ध कर उसकी सहायता से ही प्रलयाकल और सकल आत्माओं के लिये स्थूल-सूक्ष्म शरीर और तदनुरूप भुवनों की भी सृष्टि करता है। इनमें से कला, काल और नियति नामक तीन तत्त्व माया से उत्पन्न होते हैं।[१] **मृगेन्द्रागम** और **तत्त्वप्रकाश** में यह विषय वर्णित है —

---

१. कला से लेकर नियति पर्यन्त शुद्धाशुद्ध तत्त्वों की उत्पत्ति के विषय में शैवागमों में भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। इसके लिये मृगेन्द्रागम और तत्त्वप्रकाश की टीकाओं के अतिरिक्त तन्त्रालोक (९.४०-४८) और उसकी टीका विवेक का भी अवलोकन करना चाहिये।

तदनुग्राहकं तत्त्वं कलाख्यं तैजसं हरः।
मायां विक्षोभ्य कुरुते प्रवृत्त्यङ्गं परं हि तत्॥
(वि. १०.४)

नानाविधशक्तिमयी सा जनयति कालतत्त्वमेवादौ। –
नियतिर्नियमनरूपा मायातः साऽप्यनन्तरं भवति॥
(श्लो. ४१-४२)

आगे अनन्तेश्वर कलातत्त्व को अपनी शक्ति से क्षुब्ध कर विद्या और रागतत्त्व की सृष्टि करते हैं, जैसा कि निम्न वचनों में कहा गया है —

तदर्थं क्षोभयित्वेशः कलामेवांजनि प्रभाम्।
तत्त्वं विद्याख्यमसृजत् करणं परमात्मनः॥
कलातत्त्वाद् रागविद्ये द्वे तत्त्वे संबभूवतुः।
(रौ. वि. २.१५-१६)

इस प्रकार माया से कला, काल, नियति, विद्या और राग नामक पाँच तत्त्वों की सृष्टि होती है। आगे के अशुद्ध तत्त्वों की प्रवृत्ति प्रकृति से होती है और प्रकृति की प्रवृत्ति कला तत्त्व से मानी गई है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में उक्त है —

ततः प्राधानिकं तत्त्वं कलातत्त्वादजीजनत्।
सप्तग्रन्थिनिदानस्य यत् तद् गौणस्य कारणम्॥
(वि. १०. १९)

'सप्तग्रन्थिनिदानस्य' इस समस्त पद की व्याख्या करते हुए भट्ट नारायणकण्ठ ने कहा है कि यह प्रधान, अर्थात् प्रकृति महान् (बुद्धि), अहंकार और पाँच तन्मात्रा नामक सात ग्रन्थियों को उत्पन्न करता है। प्रकृति के साथ ही उसके मित्र पुरुष तत्त्व की सृष्टि भी रुद्रों के साथ मायातत्त्व से ही होती है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में बताया गया है —

पुंस्तत्त्वं तत एवाभूत् पुंस्प्रत्ययनिबन्धनम्।
आपूरकं प्रधानादेर्भौवने रुद्रसंश्रयम्॥
(वि. १०.१८)

यहाँ प्रश्न उठता है कि पुरुष तो चेतन है, अचेतन तत्त्वों में उसकी गणना कैसे की जा सकती है? अतः अचेतन षडध्वों में तत्त्वों के बीच में उसकी गणना अनुचित है। इस प्रश्न के औचित्य के विषय में कोई शंका नहीं उठाई जा सकती, तो भी कला आदि

पाँच तत्त्वों (पंचकंचुकों) से आवृत होने से यह बद्धात्मा भोक्ता के रूप में प्रकृति का मित्र होकर पुरुष तत्त्व की संज्ञा को प्राप्त करता है। वास्तव में इसकी षडध्वों में अथवा तदन्तर्गत भुवनों में कोई स्थिति नहीं रहती। इसीलिये पुरुष तत्त्व में किसी भी भुवन की स्थिति नहीं मानी जाती और षडध्वशुद्धि के प्रसंग में रागतत्त्व में ही पुरुषतत्त्व की शुद्धि का विधान आगमों में किया गया है —

वामदेवोऽथ भीमश्चाप्युग्रश्च भवसंज्ञकः।
शर्वेशानैकवीरौ च प्रचण्डश्चेश्वरः पुमान्॥

उमाभर्ता ह्यजोऽनन्त एकश्चैव शिवस्ततः।
रागतत्त्वे स्थिता ह्येते रुद्रास्तीव्रबलोत्कटाः॥

तत्रैव पुरुषो ज्ञेयः प्रधानगृहपालकः।

इसीलिये निर्वाण दीक्षा के प्रसंग में प्रकृति तत्त्व की शुद्धि के बाद पुरुष तत्त्व की शुद्धि का विधान प्रकृति और राग तत्त्व के मध्य में प्रदर्शित है। अतः तत्त्वों में गणना होने पर भी पुरुष तत्त्व की चेतनता पर कोई आरोप नहीं उठ सकता।

प्रकृतितत्त्व से गुणतत्त्व की, गुणतत्त्व से बुद्धितत्त्व की और उससे त्रिविध अहंकार की सृष्टिप्रक्रिया यहाँ तत्त्वप्रकाश (श्लो. ५१-५४) की पद्धति से ही बताई गई है। सत्त्व, रज और तम नामक गुणों को शैवागमों में तैजस, वैकारिक और भूतादि नाम दिये गये हैं। सात्त्विक (तैजस) अहंकार से मन और बुद्धीन्द्रियों की, राजस (वैकारिक) से कर्मेन्द्रियों की और तामस (भूतादि) अहंकार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति मृगेन्द्रागम (वि. १२.२-५) की पद्धति से यहाँ प्रदर्शित है।

मात्रा शब्द से शब्द आदि गुण परिगृहीत हैं। शब्द आदि गुणों की अपनी विशेषता के आधार पर ही इनके शब्दतन्मात्रा आदि नाम दिये गये हैं। जैसे कि पृथ्वी आदि में शब्द की स्थिति कट कट आदि के रूप में रहती है। स्पर्श के अनुष्णाशीत आदि, रूप के शुक्ल-कृष्ण आदि, रस के कटु-तिक्त आदि और गन्ध के सुरभि आदि भेद शास्त्रों में वर्णित हैं। हलन्त शब्द से टाप्प्रत्यय का विधान व्याकरण शास्त्र में प्रदर्शित है। तदनुसार भिद् शब्द से टाप्प्रत्यय होने पर 'भिदा' शब्द बनता है। उसके बहुवचन में 'भिदाः' यह रूप बना है। अपने-अपने गुणों की विशेष स्थिति के कारण इनको तन्मात्रा कहा जाता है। इन तन्मात्राओं से आकाश आदि पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। तन्मात्राओं में शब्द आदि गुणों की स्थिति सूक्ष्म रूप में रहती है और आकाश आदि महाभूतों में ये गुण प्रकट हो जाते हैं ॥ १०॥

इस प्रकार छत्तीस तत्त्वों के प्रसार के क्रम को संक्षेप में दिखाकर विज्ञानाकलों और प्रलयाकलों की क्रमशः ईश्वरतत्त्व और शुद्धविद्यातत्त्व के भुवनों में अधिकारप्राप्ति का उल्लेख करते हुए ईश्वर आदि तत्त्वों के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है—

ज्ञानात् केवलिषु स्थितेषु परतो ग्रन्थेश्च कांश्चित् पतीन्
मन्त्राणां मलपाकयोगसदृशान् मन्त्रान् शिवोऽन्यान् गुरून् ।
कृत्वा शुद्धपथेऽशुचौ लयकलान् सूक्ष्माङ्गकानीश्वरो
रुद्रांश्चापि विधाय देहपुरगान् शिष्टान् विधत्ते भवे ।।११।।

शिवः सदाशिव, **ग्रन्थेः परतः** माया के ऊपर, **स्थितेषु** विद्यमान, **ज्ञानात् केवलिषु** कर्म और माया के बन्धन से मुक्त होने से ज्ञानसम्पन्न विज्ञानाकलों में से, **मलपाकयोगसदृशान्** मल का पाक हो जाने से समान स्वरूप वाले **कांश्चित्** कुछ आत्माओं को, **मन्त्राणां पतीन्** मन्त्रेश्वर पदवी प्रदान करते हैं। **अन्यान्** अन्य कुछ आत्माओं को, **मन्त्रान्** सात करोड़ मन्त्रों का अधिकार प्रदान करते हैं। **अन्यान्** अन्य कुछ आत्माओं को, **गुरून्** साढ़े तीन करोड़ गुरुओं की पदवी प्रदान कर **शुद्धपथे** शुद्धाध्वा में स्थापित करते हैं। **ईश्वरः** अनन्तेश्वर, **अशुचौ** अशुद्ध अध्वा में, **सूक्ष्माङ्गकान्** कला आदि से उत्पन्न सूक्ष्म देह वाले, **लयकलान्** प्रलयाकल नाम से प्रसिद्ध आत्माओं का **रुद्रांश्चापि** और एक सौ अठारह रुद्रों का, **विधाय** सृजन कर, **देहपुरगान्** पुर्यष्टक देह वाले शिष्ट सकल नामक आत्माओं (पशुओं) को, **भवे** इस संसार में ही अपने कर्म के अनुसार, **विधत्ते** भुवनाधिपति बनाते हैं।।११।।

शिव शब्द से यहाँ सृष्टि आदि पंचकृत्यों में व्यापृत, ईशान आदि पंचब्रह्म मन्त्रों में स्थित अड़तीस कलाओं से सम्पन्न, सदाशिव तत्त्व में स्थित सदाशिव भट्टारक का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि—

तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः ।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाजैर्मस्तकादिकम् ॥
(वि. ३. ८)

सदाशिवे पवित्राङ्गः सकलादिपरिच्छदः ।
देवः सदाशिवः - - - - - - - - ॥
(वि. १३. १६०)

मृगेन्द्रागम के इन वचनों से स्पष्ट होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि सदाशिव तत्त्व के ऊपर स्थित शक्ति तत्त्व में सभी प्रकार के शक्तिमान् देवों में श्रेष्ठ भगवान् शिव ही हैं। ये सूक्ष्मनादरूप शिवतत्त्व में निवास करते हैं। ऐसी स्थिति में सदाशिव तत्त्व में विद्यमान सदाशिव का ग्रहण यहाँ कैसे किया जा सकता है? इसका समाधान यह है कि कृत्यभेद के आधार पर जैसे शक्ति की भिन्नता मानी जाती है, उसी तरह पति का भी भेद मात्र औपचारिक माना जायगा। वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है। मृगेन्द्रागम में ही इसको भी स्पष्ट किया गया है—

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् स शास्त्रे शक्तिभेदवत् ।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदः स्थानभेदजः ॥
(वि. १३. १६४)

माया और शुद्धविद्या के अन्तराल में विज्ञानाकलों की स्थिति मानी गई है— "मायोर्ध्वं शुद्धविद्याधो मलमात्रावृतोऽपरः" यह वचन इसमें प्रमाण है। परमेश्वर इन विज्ञानाकलों में से मलपरिपाक के तारतम्य के अनुसार कुछ आत्माओं को अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों के रूप में ईश्वर तत्त्व के भुवनों का अधिपति बना देते हैं तथा अन्यों को सात करोड़ महामन्त्रों के रूप में वामा आदि शक्तियों से संयोजित कर इनमें अधिकार मल की उपस्थिति रहने पर शुद्धविद्या तत्त्व के भुवनों के अधिपति के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं,

तत्रादौ केवलाणूनां योग्यानां कुरुतेऽष्टकम् ।
वामादिशक्तिभिर्युक्तं सप्तकोटिपरिच्छदम् ॥

तेषामनन्तः सूक्ष्मश्च तथा चैव शिवोत्तमः ।
एकनेत्रैकरुद्रौ च त्रिमूर्तिश्चामितद्युतिः ॥

श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च राजराजेश्वरेश्वराः ।—
सर्वज्ञत्वादियोगेऽपि नियोज्यत्वं मलांशतः ।
परस्परं विशिष्यन्ते मन्त्राश्चैवमधःस्थिताः ॥
(वि. ४.२-५)

मृगेन्द्रागम के इन वचनों से यह स्पष्ट है। मृगेन्द्रागम की वृत्ति में भट्ट नारायणकण्ठ ने 'राजराजेश्वरेश्वराः' इस समस्त पद का अर्थ करते हुए कहा है कि इन्द्र आदि लोकपालों के रूप में स्थित राजाओं के राजा शतरुद्र हैं।[१] मण्डली देवता इनके भी ईश्वर हैं और इनके भी ईश्वर अनन्त आदि आठ विद्येश्वर हैं। यहाँ अधःस्थित

---

१. ऊपर की पृ. १८ की टिप्पणियाँ देखिये।

देवताओं की अपेक्षा ऊर्ध्वस्थित देवताओं का वैशिष्ट्य स्पष्ट किया गया है। "यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व इष्यते" इस वचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। मन्त्रों की संख्या सात करोड़ मानी गई है— "सप्तकोटिप्रसंख्यातान् मन्त्रांश्च परमेऽध्वनि"। इनमें से साढे तीन करोड़ मन्त्रों को शुद्धाध्वा में प्रतिष्ठित कर स्वयं भगवान् शिव ही बिना गुरु की सहायता के उन पर अनुग्रह करते हैं। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में कहा गया है —

> जगति कृते तत्रार्धं मन्त्राणां शिवसमाहृतान् पुंसः ।
> अनुगृह्य याति हि विना देशिकमूर्तिं प्रयुक्तमीशेन ॥
> (श्लो. ३३)

बचे साढे तीन करोड़ मन्त्रों को मायीय अशुद्धाध्वा में अधिकार-सम्पन्न कर देते हैं और संहार काल में गुरु का स्वरूप धारण कर इन पर भी अनुग्रह करते हैं। जैसा कि मृगेन्द्रागम में कहा गया है —

> प्रयोक्तृदेहसापेक्षं तदर्धमखिलेऽध्वनि ।
> कृत्वाधिकारं स्थित्यन्ते शिवं विशति सेश्वरम् ॥
> (वि. ४.७)

यहाँ 'सेश्वरम्' का अर्थ है शतरुद्र आदि मन्त्रेश्वरों के साथ। अशुद्ध अध्वा के स्वामी अनन्तेश्वर कला आदि तीस तत्त्वों से बने सूक्ष्म पुर्यष्टक देह से सम्पन्न प्रलयाकलों के बीच में से एक सौ अठारह रुद्रों की सृष्टि कर इनको ब्रह्माण्ड की रक्षा का अधिकार देकर मन्त्रेश्वर पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं।

> ततोऽनन्ताद्यभिव्यक्तः पतीनां ग्रन्थितत्त्वतः ।
> कलाद्यारब्धदेहानां करोत्यष्टादशं शतम् ॥
> (वि. ४.९)

इसी तरह से सूक्ष्म पुर्यष्टक देह सम्पन्न ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि अन्य देवताओं को भी भगवान् शिव इस संसार में विभिन्न भुवनों का अधिपति बना देते हैं। मृगेन्द्रागम में ही इनका भी वर्णन है —

> तानप्याविश्य भगवान् साञ्जनान् भुवनाधिपान् ।
> येभ्यः सर्वमिदं येषां शक्तिः कर्मनिबन्धना ॥
> (वि. ४.१०)

इस श्लोक की वृत्ति में भट्ट नारायणकण्ठ ने और इस वृत्ति पर दीपिका टीका लिखने वाले अघोरशिवाचार्य ने मण्डली आदि और ब्रह्मा आदि देवताओं की चर्चा की है। अघोरशिव ने वहाँ एक श्लोक भी उद्धृत किया है —

अन्ये[१] प्राधानिका मन्त्रा ब्रह्मविष्ण्वादयोऽपरे।
साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः [सात्त्वराजसतामसाः]॥

यहीं इस श्लोक की व्याख्या पूरी होती है ॥ ११॥

शिव में समवाय संबन्ध से रहने वाली क्रियाशक्ति से अधिष्ठित शुद्धाध्वा की उपादानकारण स्वरूप कुण्डलिनी(बिन्दु)शक्ति आणव मल से आवृत आत्माओं में उसी प्रकार ज्ञान का आलोक फैलाती है, जैसे कि घने अन्धकार में दीपक। प्रस्तुत श्लोक में इसी विषय को समझाते हुए कलातत्त्व का स्वरूप बताया गया है —

सूक्ष्मस्थूलनिनादबिन्दुलिपिगैः शक्त्यादिकार्यैर्जग-
न्मायीयं निजनादगा च कुटिला धत्ते कलाभिर्जनान् ।
क्षिप्त्वा सावृतिचिद्गतां प्रकटयत्येकप्रदेशे मलं
शम्भोः सा तु नियोगशक्तिकलिता प्राक् कर्तृशक्तिं कला ।।१२।।

निजनादगा अपने स्वभावसिद्ध नाद स्वरूप वाली **कुटिला** कुण्डलिनी शक्ति (शिवसमवेत क्रियाशक्ति से अधिष्ठित होकर), **सूक्ष्मस्थूलनिनादबिन्दुलिपिगैः** सूक्ष्म और स्थूल नाद, बिन्दु और वर्णस्वरूप, **शक्त्यादिकार्यैः** कुण्डलिनी शक्ति के कार्यस्वरूप, **कलाभिः** निवृत्ति आदि पाँच कलाओं से, **मायीयं** मायात्मक, **जगत्** स्थावर-जंगमात्मक समस्त प्रपंच को तथा **जनान्** अनन्तेश्वर आदि समस्त आत्मवर्ग को, **धत्ते** धारण करती है। **सा कला तु** आत्मा में कर्तृत्व शक्ति को प्रकाशित करने वाली यह कला, **शम्भोः** अनन्तेश्वर की, **नियोगशक्तिकलिता** इच्छारूप तिरोधान शक्ति से अधिष्ठित होकर, **सावृतिचिद्गतां** मलरूपी आवरण से युक्त चेतना शक्ति वाले प्राणियों के, **मलं** अनादि काल से चले आ रहे आणव मल को, **एकप्रदेशे** एक तरफ, **क्षिप्त्वा** फैंक कर, **प्राक् कर्तृशक्तिं** स्वभावसिद्ध स्वतन्त्र ज्ञानक्रियारूप कर्तृशक्ति को, **प्रकटयति** प्रकाशित कर देती है।।१२।।

---

[१] रौरवागम के नाम से उद्धृत यह वचन मुद्रित रौरवागम में उपलब्ध नहीं होता। सार्धत्रिशतिकालोत्तर (पृ. १४६, टि. ७) देखिये।

छन्द की दृष्टि से यहाँ नाद को ही निनाद कह दिया गया है। यह नाद ध्वनिरूप है। दोनों अँगूठों से अपने कानों को बन्द कर लेने पर भीतर जो ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसे ही नाद[1] कहते हैं। जैसा कि कहा गया है —

अङ्गुष्ठाभ्यां छादयित्वा साधकः श्रवणावुभौ।
ततः शृणोति तन्नादमम्बुदप्रतिमस्वनम्॥

स्वर, वर्ण और निवृत्ति आदि पाँच कलाओं की जिससे उत्पत्ति होती है और जिसमें ये सब लीन हो जाते हैं, उसे बिन्दु कहते हैं —

यस्मात् प्रवर्तते सृष्टिः स्वरवर्णकलात्मिका।
यस्मिंश्च लीयते भूयस्तस्माद् बिन्दुरिति स्मृतः॥

लिपि अक्षर को कहते है। ये नाद, बिन्दु और लिपि स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। शक्ति शब्द से महामाया कुण्डलिनी गृहीत है। इस कुण्डलिनी शक्ति से नाद आदि की उत्पत्ति होती है। शक्ति का ध्वनिरूप पहला क्षोभ ही नाद है। नाद से उत्पन्न बिन्दु इसका दूसरा क्षोभ है। इसका बाह्य उच्चारण नहीं होता। इसका तीसरा क्षोभ वर्णात्मक है। इसकी उत्पत्ति बिन्दु से होती है। मृगेन्द्रागम के क्रियापाद के "शक्तेर्नादो भवेद् बिन्दुरक्षरं मातृका यतः" (१.२) इस वचन में यह क्रम बताया गया है। यही क्रम रत्नत्रय में भी प्रदर्शित है —

तच्च शब्दानुवेधेन शब्दराशिरभूदसौ।
शब्दराशिश्च बिन्दूत्थो बिन्दुर्नादादसावपि॥
बिन्दुरनाहतादेष कारणं शुद्धवर्त्मनाम्।
(श्लो. १७२-१७३)

नाद, बिन्दु और लिपि के स्थूल और सूक्ष्म नामक दो भेदों की चर्चा ऊपर आई है। शुद्धाध्वा में ये सूक्ष्म कार्य के रूप में और अशुद्धाध्वा में स्थूल कार्य के रूप में स्थित हैं —

यदा कुण्डलिनी शक्तिर्मायाकर्मानुसारिणी।
नादरूपादिकं कार्यं तस्याः - - - - - -॥

परात्मक बिन्दुशक्ति के प्रथम कार्य नाद और वर्ण हैं। इनमें से कार्यबिन्दु की स्थूल और सूक्ष्म दो अवस्थाएं हैं। व्यापार के भेद से मध्यमा और वैखरी स्थूल तथा सूक्ष्मा और पश्यन्ती सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। रत्नत्रय में इनका विवरण मिलता है —

---

[1] "अङ्गुष्ठाभ्यां स्वस्य श्रोत्रे पिहिते कृत्वा यं ध्वनिं शृणोति स नादः" (श्लो. १२) प्रस्तुत स्थल की टीका में नाद का यह लक्षण दिया गया है।

जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते।
स बिन्दुः परनादाख्यो नादबिन्द्वर्णकारणम्॥
(श्लो. २२)

चतस्रो वृत्तयस्तस्य याभिर्व्याप्तास्त्रिधाणवः।
वैखरी मध्यमाभिख्या पश्यन्ती सूक्ष्मसंज्ञिता॥
तत्रार्णसंज्ञा वैखरी तु - - - - - -।
(श्लो. ७२-७३)

पाणिनीय शिक्षा के निम्न वचन में वैखरी वाणी के उच्चारण के आठ स्थानों के नाम दिये गये हैं —

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥
(श्लो. १३)

वर्णों के इन उत्पत्ति-स्थानों में वायु के रुक जाने पर जो वर्णों का रूप धारण कर लेती है और बाद में वायु की जब ऊपर की ओर गति होती है, उस समय जिसका बाहर की ओर प्रसार होता है और दूसरों को समझाने के लिये घट-पट आदि शब्दों के रूप में जिसका उच्चारण होता है, वह वाणी वैखरी कहलाती है। इससे पूर्व की मध्यमा वाणी की अपेक्षा यह उसकी स्थूलावस्था है। जैसा कि रत्नत्रय में बताया गया है —

तत्र सा वैखरी श्रोत्रग्राह्या याऽर्थस्य वाचिका।
स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा॥
प्रयोक्तॄणामियं प्रायः प्राणवृत्तिनिबन्धना।
(श्लो. ७३-७४)

कार्य बिन्दु की मध्यम स्थूलावस्था मध्यमा वाक् है। इसकी प्रतीति केवल बुद्धि में होती है, अतः इसका उच्चारण शरीर के भीतर ही होता है। इसलिये यह बाहर नहीं सुनाई पड़ती। सभी वर्णों की इसमें क्रमशः स्थिति रहती है। प्राणों की हल्की-सी ऊर्ध्व गति होने पर इसकी निष्पत्ति होती है। पश्यन्ती वाणी के कार्य के रूप में यह अभिव्यक्त होती है। जैसा कि रत्नत्रय में बताया गया है —

केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमाद् वर्णानुपातिनी॥
अन्तःसंजल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य वर्तते मध्यमाह्वया॥
(श्लो. ७४-७५)

सूक्ष्म कार्य बिन्दु की प्रथम अवस्था पश्यन्ती है। यहाँ मयूर के अंडे के रस में अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान विविध रंगों के समान शब्दराशिगत सभी वर्ण बिना क्रम के विद्यमान रहते हैं। अतः यहाँ वर्णों के किसी भी रूप के स्पष्ट न होने से और इसीलिये अर्थ के साथ भी उनका कोई संबन्ध न बनने से यह पश्यन्ती वाणी स्वयं ही प्रकाशित होती है। यह सूक्ष्मा की विकृति है, अर्थात् इस पश्यन्ती वाणी की उत्पत्ति सूक्ष्मा वाणी से होती है। जैसा कि रत्नत्रय में ही —

अविभागेन वर्णानां सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वयंप्रकाशा पश्यन्ती मायूराण्डरसोपमा॥
(श्लो. ७६)

इस प्रकार उसका स्वरूप प्रदर्शित है। उक्त सूक्ष्मा वाणी ही नाद कहलाती है। समस्त विशेषणों से, अर्थात् नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित अर्थ के स्वरूपमात्र को समाधि की दशा में प्रकाशित करने वाली वाणी ही चिरस्थायिनी है। इसीका नाम सूक्ष्मा है। रत्नत्रय में ही इसका भी स्वरूप वर्णित है —

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।
यस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते॥
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृताह्वयाम्।
(श्लो. ७७-७८)

यह सूक्ष्मा वाणी, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ही शुद्धाध्वा के जीवों के बन्ध का कारण बनती है। जो योगी अपने विवेकज्ञान से इसका साक्षात्कार कर लेते हैं, वे सृष्टि आदि अधिकार कृत्यों के मोह से दूर होकर शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह सूक्ष्मा वाणी प्रलयाकलों के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो पुरुष की सोलह कलाओं में परिगणित होती है और उस शरीर को तब तक नहीं छोड़ती, जब तक जीव आवागमन के चक्कर से मुक्त नहीं हो जाता।

[१]सोलह कलाओं में कर्मेन्द्रिय-पंचक, ज्ञानेन्द्रिय-पंचक, मन, बुद्धि, अहंकार और विद्या के साथ वाणी और शक्ति की गणना की जाती है। जैसा कि निम्न लोक में प्रदर्शित है —

करणस्थेन भेदेन स्वचित्यापि चतुर्दश।
वाक्शक्तिभेदौ द्वौ चेति पुंस्कलाः षोडश स्मृताः॥

---

१. ऊपर पृ. १३ की २री टिप्पणी देखिये। यह विषय पहले (पृ. १३-१४) भी चर्चित हो चुका है।

उक्त सोलह कलाओं में शक्ति नाम की षोडशी सूक्ष्मा कला बन्ध और मोक्ष की भी कारण है। इसीलिये इसको अमृतकला कहा जाता है।

ऊपर नाद के कार्य के रूप में जंगमात्मक जगत् की सृष्टि बताई गई है। स्थावरात्मक जगत् की उत्पत्ति भी इसीसे होती है, क्योंकि स्थावरजंगमात्मक सारे जगत् की निष्पत्ति नाद से ही मानी गई है — "नादेनाधिष्ठितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्"। यहाँ स्थावरात्मक सृष्टि में पहले महामाया शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ, अर्थात् नादकला से इन्धिका आदि भुवनों की सृष्टि पहले हुई। ये भुवन शिव तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका और ऊर्ध्वगा — ये पाँच नाद की कलाएँ हैं। बिन्दु से उत्पन्न हुई निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति नामक चार कलाओं के भुवनों का अन्तर्भाव शक्ति तत्त्व में होता है। इसी तरह से आगे की सृष्टि चलती है। इनका क्रम इस प्रकार है — शक्ति तत्त्व में सूक्ष्म नाद-बिन्दु, सदाशिव तत्त्व में स्थूल नाद-बिन्दु, ईश्वर तत्त्व में सूक्ष्म लिपि के साथ अनन्तेश्वर आदि और विद्या तत्त्व में स्थूल लिपियुक्त सात करोड़ महामन्त्र एवं वैखरी वाणी में निबद्ध कामिक आदि अट्ठाईस तन्त्रों (आगमों) का समूह स्थित है,

नादो बिन्दुः सकलौ सादाख्यं तत्त्वमाश्रितौ कथितौ।
विद्येशाः पुनरीशे मन्त्रा विद्याश्च विद्याख्ये॥
(श्लो. ३१)

तत्त्वप्रकाश के इस श्लोक में इनका वर्णन है। इस समस्त मायीय जगत् का आधार स्वाभाविक नादस्वरूपा, कुटिलाकारा, कन्द-स्थान से अंकुर के रूप में उत्थित कुण्डलिनी शक्ति है और यह शिव में समन्वित क्रिया शक्ति पर आधृत है। [1]**"सा च कुण्डलिनी शम्भोः शक्तिः शुद्धा जडात्मिका"** यहाँ कुण्डलिनी शक्ति को जड़ माना गया है, अतः जडात्मक कुण्डलिनी शक्ति शिव की क्रिया शक्ति से अधिष्ठित होकर ही कार्य करती है। कालोत्तरतन्त्र में कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है —

चन्द्राग्निरविसंयुक्ता ह्याद्या कुण्डलिनी तु या।
हृत्प्रदेशे तु सा ज्ञेया अङ्कुराकारवत् स्थिता॥
(१२. १)

यह कुण्डलिनी शक्ति अशुद्ध जगत् के अंकुरों की आधारस्वरूपा और शुद्ध जगत् की उपादानस्वरूपा है, अतः समस्त जगत् इसीमें स्थित है। इसीलिये इसे

---

[1] पौष्करागम के नाम से यह वचन उद्धृत मिलता है।

आधार-शक्ति कहते हैं। यह शिव-शक्ति से अधिष्ठित है और इसकी आकृति कुटिल है। आगमों में विस्तार से यह वर्णित है —

ब्रह्माण्डस्य दले शक्तिर्जगदाधाररूपिणी।
शैवी या च क्रियाशक्तिर्विश्वविक्षोभकारिणी॥

सा विजृम्भति सत्त्वेषु सर्वतत्त्वेषु नित्यशः।
सर्वबीजेषु सा शक्तिरङ्कुरप्रभवा स्थिता॥

सा तु ब्रह्माण्डमावर्त्य निर्गता क्षीरसागरात्।
पुनरण्डं समुद्भिद्य कन्दादङ्कुरवत् स्थिता॥

असत्त्वमादितः कृत्वा यावद् गर्वान्तमुद्‌गता।
असत्त्वं सेचकं ज्ञेयमग्निरुच्छूनकारणम्॥

समीरः प्रेरकस्तस्य वृत्त्यर्थं व्योम कल्पितम्।
तन्मात्राण्यङ्कुराभाणि सुषिराणीन्द्रियाणि च॥

अहङ्कृत् सर्वमध्यस्थमोजस्कं वृद्धिकारणम्।
एवं संवर्धते नित्यमङ्कुरः सर्वकारणम्॥

इस तरह यह कुण्डलिनी शक्ति निवृत्ति आदि पाँच कलाओं के साथ समस्त जगत् को धारण करती है, अतः आधारस्वरूपा है। यही अनन्तेश्वर आदि को भी धारण करती है, क्योंकि इसीसे अनन्तेश्वर आदि के भुवनों और शरीरों का निर्माण होता है। जैसा कि —

मन्त्रयोनिः परा या तु नित्या कुण्डलिनी जडा।
उपादानं शरीराणां विद्याविद्येश्वरात्मनाम्॥

मायोपरि महामाया सर्वकारणकारणम्।
माया माया च माया च माया वै त्रिविधा स्मृता॥

ईश्वरश्चैव सादाख्यः कुटिला चाध्वधारिणी।

माया के ऊपर शुद्धाध्वा में भोगस्थान शक्ति को माना गया है। शुद्ध भुवनों में निवास करने वाले मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि भोक्ता हैं। इनके साधन देह, इन्द्रिय और विषयों के रूप में कलाएँ परिणत होती हैं और कलाओं का आधार कुण्डलिनी शक्ति को माना गया है। अतः जैसे महत् आदि अशुद्ध तत्त्वों का उपादान प्रधान (प्रकृति) को तथा राग आदि शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का आधार माया को माना जाता है, उसी तरह निवृत्ति

आदि कलाओं का कारण कुण्डलिनी शक्ति है। [1]"शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः" (कि. वि. ३.२७) इस उक्ति के अनुसार शुद्ध सृष्टि के कर्ता शिव और अशुद्ध सृष्टि के कर्ता अनन्त माने गये हैं। शिव की तिरोधान शक्ति से अधिष्ठित कला शक्ति इनमें कर्तृत्व का आधान करती है। यह भूतकला चैतन्य शक्ति पर पड़े मल के आवरण को थोड़ा सा हटाकर उसे उसी प्रकार प्रकाशित कर देती है, जैसे कि घने अन्धकार में दीपक को ले जाने पर वह उसके एकदेश में स्थित विषयों को प्रकाशित करता है।

तेन प्रदीपकल्पेन तदाच्छन्नचितेरणोः ।
प्रकाशयत्येकदेशं विदार्य तिमिरं घनम् ॥
(वि. १०.५)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में यही विषय वर्णित है। यह पहले आत्मा में विद्यमान कर्तृत्वशक्ति को प्रकाशित करती है। यह कर्तृत्वशक्ति उसमें पहले से विद्यमान होते हुए भी मल से ढकी हुई है, अतः इस शक्ति को आवरणमुक्त करने के लिये अनन्तेश्वर माया को सृष्टि के लिये उद्यत कर कर्तृत्वशक्ति के अनुग्राहक कलातत्त्व की सृष्टि करते हैं। मृगेन्द्रागम में इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है —

कर्तृशक्तिरणोर्नित्या विभ्वी चेश्वरशक्तिवत् ।
तमश्छन्नतयाऽर्थेषु नाभाति निरनुग्रहा ॥

तदनुग्राहकं तत्त्वं कलाख्यं तैजसं हरः ।
मायां विक्षोभ्य कुरुते प्रवृत्त्यङ्गं परं हि तत् ॥
(वि. १०.३-४)

इस प्रकार यहाँ कर्तृत्वशक्ति के उपादान-कारणभूत कला तत्त्व का स्वरूप विस्तार से सप्रमाण समझाया गया है ॥ १२॥

कर्तृत्व आदि शक्तियों के उपादानभूत कलातत्त्व से विषयों के ज्ञान को प्रकाशित करने वाले विद्यातत्त्व का और विद्यातत्त्व से प्रकाशित ज्ञानशक्ति से विषयों के प्रति अभिलाषा (इच्छा) उत्पन्न करने वाले रागतत्त्व का स्वरूप अब बताते हैं —

---

[1] इस विषय की चर्चा पहले (पृ. ९) भी हो चुकी है। वहाँ की ३री टिप्पणी भी देखिये।

ज्ञानं चात्मगतं प्रकाश्य मनुजान् प्राक् कर्तृशक्त्यन्वितान्
विद्याऽक्षेशगताक्षगोचरधियं संग्राहयत्यान्तरी ।
बौद्धाद् वैषयिकात् परश्च गुणतो रागः प्रवृत्ते नृणां
भोगे व्यक्तदृशां स्पृहां जनयति ज्ञाताऽखिलार्थेष्विह ।।१३।।

वेद्य विषयों को बताने के लिये कारणीभूत विद्यातत्त्व **प्राक् कर्तृशक्त्यन्वितान्** पहले स्वभावसिद्ध कर्तृत्वशक्ति से संबद्ध, **मनुजान्** मलबद्ध चेतन जीवों के प्रति, **आत्मगतं ज्ञानं** अपने अन्तरंग में स्थित विषयों के ज्ञान को **प्रकाश्य** प्रकाशित कर, **अक्षेशगताक्षगोचरधियं** इन्द्रियों के स्वामी मन में प्रतीत हो रहे बाह्य इन्द्रियों की विषयवस्तु को, निश्चयात्मक बुद्धि को, **संग्राहयति** भलीभाँति समर्पित करती है। इसीलिये यह विद्या **आन्तरी** अन्तरंग विषयों को ग्रहण कराने वाली है। **बौद्धाद् गुणतः** बुद्धिगत गुणों से, **वैषयिकाच्च गुणतः** और गन्ध, पुष्प आदि विषयगत गुणों से, **परः** भिन्न, **रागः** रागतत्त्व, **इह** यहाँ, **प्रवृत्ते भोगे** सुख-दुःख रूप से प्रवृत्त भोग में, **व्यक्तदृशां** प्रकाशित ज्ञान वाले, **नृणां** बद्ध आत्माओं को, **ज्ञाताखिलार्थेषु** चन्दन, कुसुम, ताम्बूल आदि समस्त ज्ञात बाह्य विषयों में, **स्पृहां** लालसा को, **जनयति** उत्पन्न कर देता है।।१३।।

अभी बताया गया है कि कला कुछ अंश में मल का विदारण कर आत्मा में ज्ञानशक्ति को प्रकाशित कर देती है। अब कला से अतिरिक्त विद्या तत्त्व की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि इसकी सहायता से ही प्रधानतः विषयों का ज्ञान होता है। कर्तृत्वशक्ति से सम्पन्न आत्माओं में विद्यातत्त्व ही ज्ञानशक्ति को अभिव्यक्त करता है और उसको विषयों के ग्रहण में समर्थ बनाता है। जैसा कि तत्त्वप्रकाश में कहा गया है —

आवरणं भित्त्वैषा ज्ञानाख्यायाः स्वकर्मणा शक्तेः ।
दर्शयति विषयजातं करणं सेहात्मनः परमम् ॥
(श्लो. ४६)

यहाँ प्रश्न उठता है कि बोध (ज्ञान) का करण तो बुद्धि है, बुद्धि की सहायता से ही विषय का ग्रहण होता है। तब इसके लिये अलग से विद्यातत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि विद्या आत्मा की ज्ञानशक्ति को अभिव्यक्त करती है और बुद्धि मन से संयुक्त बाह्य विषयों को ग्रहण करती है। यही

दोनों में अन्तर है। विद्यातत्त्व और बुद्धितत्त्व की भिन्नता को **मृगेन्द्रागम** में भी बताया गया है —

विद्या व्यक्ताणुचिच्छक्तिर्नुन्नाक्षेशाक्षगोचरान् ।
स्वीकृत्य पुंस्प्रयुक्तस्य करणस्यैति कर्मताम् ॥
मतिस्तेनेतरा - - - - - - - - - - ।
(वि. ११.१४-१५)

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदि विषयों को ग्रहण करती हैं, विषय के ग्रहण में मानसिक अवधान की आवश्यकता रहने पर भी विषयों का ग्रहण बुद्धि ही करती है, उसी प्रकार आत्मा के आन्तरिक ज्ञान के प्रकाशन में बुद्धि की अपेक्षा विद्या ही अन्तरंग साधन है। जैसा कि **तत्त्वप्रकाश** में कहा गया है —

बुद्धिर्यदास्य भोग्या सुखादिरूपा तदा भवेत् करणम् ।
विद्येयं करणं स्याद् विषयग्रहणे पुनर्बुद्धिः ॥
(श्लो. ४७)

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए **अघोरशिवाचार्य** कहते हैं कि बुद्धि आन्तर आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकती, अतः उसके ग्रहण में समर्थ विद्यातत्त्व की सिद्धि होती है।

विद्या के द्वारा प्रकट की गई ज्ञानशक्ति की सहायता से पुरुष में भोग्य विषयों के प्रति लालसा जगती है। इस लालसा को जगाने वाला तत्त्व राग है। यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है कि बुद्धि-संबन्धी वैराग्य गुण से इसकी उत्पत्ति होती है। अन्य आचार्यों के अनुसार फूल-माला, चन्दन, वनिता आदि विषयों के संबन्ध से राग की उत्पत्ति होती है। इन दोनों पक्षों का खण्डन कर **टीकाकार** ने बताया है कि भोक्ता में विषय के प्रति लालसा को जगाने वाला राग बुद्धिगत और विषयगत गुणों से भिन्न ही है। माया के मोहक रूप को भी राग नहीं कह सकते, क्योंकि माया में साक्षात् मोहकता नहीं है, किन्तु कार्य के द्वारा ही यह संभव होती है, जब कि राग साक्षात् लालसा का जनक है। **शैवसिद्धान्त** में यह रागतत्त्व ही विषयों के प्रति आसक्ति को पैदा करता है। इसीके कारण व्यक्ति में सुख-दुःख आदि की प्रतीति होती है। जैसा कि **स्वायंभुवागम** में बताया गया है— **"भोगोऽस्य वेदना पुंसः सुखदुःखादिलक्षणा" (१.१२)**। यह रागतत्त्व मल-बद्ध आत्माओं में ही विषयों के प्रति आसक्ति को जगाता है, विद्येश्वर आदि निर्मल आत्माओं को यह नहीं लुभा पाता —

तदभिव्यक्तदृक्शक्तिर्दृष्टार्थोऽप्यपिपासितः ।
नैति तज्जनकं रागं तस्मादेवासृजत् प्रभुः ॥
स तेन रञ्जितो भोग्यं मलीमसमपि स्पृहन् ।
आदत्ते न च भुञ्जानो विरागमधिगच्छति ॥
(वि. १०.११-१२)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार मलिन आत्मा में विषयों के प्रति लालसा जगाना ही रागतत्त्व का व्यापार है ॥ १३॥

जल के बुद्बुद (बुलबुले) के समान अस्थिर स्वभाववाली बाल्य, कौमार, यौवन, वार्धक्य आदि अनेक तरह की अवस्थाओं से युक्त शरीर का परिणाम कालकृत है। कला, विद्या, राग—इन तत्त्वों से भी पहले काल नामक तत्त्व स्थित है। आत्मा को पूर्व कर्मों के अनुसार विभिन्न देश-काल में अनेक तरह के सुख-दुःख आदि का नियत अवधि में नियत परिमाण में अनुभव करना पड़ता है। नियति के कारण यह सब होता है। इन्हीं दो तत्त्वों (काल और नियति) का स्वरूप अब बताया जा रहा है—

कालो भूतभवद्विभाविविकृतो जातः पुराऽत्रेशितुः
शक्त्या क्षिप्रचिरादिबोधकलनात् पुंसः क्षिपत्यादितः ।
भुक्तौ स्वार्जितकर्मणां नियतिरप्याज्ञेव राज्ञां नृणां
कृष्यादेश्च नियामकाख्यबलतः शम्भोर्नियन्त्री स्थिता ।।१४।।

अत्र यहाँ **पुरा** कला आदि **तत्त्वों** से पहले, **जातः** उत्पन्न, **कालः** काल नामक तत्त्व, **ईशितुः** परमेश्वर की, **शक्त्या** शक्ति से (अधिष्ठितः=अधिष्ठित होकर) **भूतभवद्विभाविविकृतः** भूत, वर्तमान और भविष्य नामक तीन प्रकार के परिणामों को प्राप्त कर, **पुंसः** आत्मा के, **क्षिप्रचिरादिबोधकलनात्** शीघ्रता अथवा विलम्ब से फलोत्पत्ति का बोध करा कर, **क्षिपति** शरीर आदि में परिवर्तनों को स्थापित करता है। **अपि च** और, **नृणां** आत्माओं (पुरुषों) के **आदितः** पूर्वकाल में **स्वार्जितकर्मणां** अपने द्वारा किये गये कर्मों के, **भुक्तौ** फलभोग के लिये, **कृष्यादेः** कृषि आदि कर्मों के फलभोग के लिये, **नियन्त्री** उनका नियमन करने वाली **राज्ञाम् आज्ञेव** राजा के आदेश की तरह **नियतिः** नियति (तत्त्व), **शम्भोः** परमेश्वर की, **बलतः** नियामक शक्ति की तरह **नियन्त्री सती** सबका नियमन करती हुई **स्थिता** रहती है।।१४।।

शैवागमों के अनुसार कला आदि तत्त्वों से भी पहले काल विद्यमान है। ऐसी स्थिति में माया के बाद और कला से पहले उसका ही वर्णन होना चाहिये था। तब यहाँ रागतत्त्व के बाद उसका वर्णन क्यों किया जा रहा है? इसका समाधान यह है कि आत्मा काल से अवच्छिन्न नहीं है। कला, विद्या और राग नामक तीन कंचुकों से आवृत होने पर ही उसमें काल की प्रवृत्ति होती है। इसी स्थिति को बताने के लिये यहाँ राग के बाद काल तत्त्व का निरूपण किया गया है। "नानाविधशक्तिमयी सा जनयति कालतत्त्वमेवादौ" (श्लो. ४१) तत्त्वप्रकाश के इस वचन की व्याख्या करते हुए अघोरशिवाचार्य कहते हैं कि मतंग आदि आगमों में कला, विद्या और राग तत्त्व के बाद कालतत्त्व का निरूपण किया गया है। वहाँ प्रवृत्तिक्रम को दिखाने के लिये ऐसा किया गया है और तत्त्वप्रकाश में सृष्टिक्रम को प्रधानता दी गई है।

आत्मा को अपने पूर्व जन्म में अर्जित कर्मों के अनुसार फल के रूप में जिस अवस्था में, जिस समय, जिस देश में, जितना सुख-दुःख आदि भोगना पड़ता है, इसका नियमन नियति नामक तत्त्व करता है। इसीके कारण यह भोग न तो न्यून हो सकता है और न अधिक ही। राजा की आज्ञा के समान यह नियति शक्ति ही सर्वत्र शिव की इच्छा के अनुसार अनुशासन बनाये रखती है। इसमें कर्म की नियामकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह तो मात्र फल को उत्पन्न कर चरितार्थ हो जाता है। कर्मफल के उपभोग में जैसे शरीर आदि की अपेक्षा रहती है, उसी तरह कर्मफल के नियमन के लिये नियति तत्त्व की अपेक्षा है —

अथ देहादिसापेक्षं तत्पुमर्थप्रसाधकम्।
ततो नियतिसापेक्षमस्तु कर्म नियामकम्॥
(वि. १०.१७)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में इसी स्थिति को स्पष्ट किया गया है ॥ १४॥

अनन्तेश्वर के व्यापार से क्षुब्ध माया से कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक ऊपर वर्णित पाँच तत्त्वों को कंचुक के रूप में धारण कर आत्मा विषय-भोग की सिद्धि के लिये जब संकोच-लाभ करता है, तो उसे पुरुष तत्त्व कहते हैं। भोग में प्रवृत्त पुरुष के भोग की निष्पत्ति के लिये भोगसाधन गुणतत्त्व का आश्रय लेने वाली प्रकृति की उत्पत्ति होती है। प्रस्तुत श्लोक में इन्हीं दोनों तत्त्वों का स्वरूप बताते हैं —

आत्मा पञ्चभिरेभिरत्र कलितो भोक्तृत्वयुक्तो यदा
तत्त्वं नो पुरुषत्वमेति गणनात् पुंस्त्वाद् विशुद्ध्यै मलात्।

भोक्तृत्वं प्रथमं प्रवृत्तिविषयं पूर्वैर्गतस्यात्मनो
भोगार्थं प्रकृतिर्गुणादिविकृतेस्तत्साधनस्याश्रया ।।१५।।

अत्र यहाँ **आत्मा** बद्ध जीव **एभिः पञ्चभिः** कला आदि पाँच तत्त्वों से **कलितः** बँध कर **यदा** जब **भोक्तृत्वयुक्तः** कर्मफल का उपभोग करने की सामर्थ्य से युक्त होता है, **तदा** उस समय **पुरुषत्वं** पुरुष तत्त्व **एति** बन जाता है। **इदं च** यह पुरुष तत्त्व दीक्षा ग्रहण करते समय **पुंस्त्वाद् मलात्** कला आदि पाँच तत्त्वों का कंचुक पहनने से प्राप्त आणव मल की **विशुद्ध्यै** विशुद्धि के लिये, उसको दूर हटाने के लिये **गणनात्** पचीसवें तत्त्व के रूप में परिगणित हो **तत्त्वं** तत्त्वभाव को प्राप्त करता है। वस्तुतस्तु सही स्थिति पर विचार किया जाय, तो **नो तत्त्वं** इसकी तत्त्व में गणना नहीं होती। **पूर्वैर्गतस्य** पूर्वोक्त कला आदि पाँच तत्त्वों से संबद्ध **आत्मनः** समस्त बद्ध आत्माओं की **भोक्तृत्वं** फलभोग की इच्छा ही **प्रथमं प्रवृत्तिविषयं** उसकी प्रवृत्ति का पहला कारण बनता है। वह जब भोग में प्रवृत्त होना चाहता है, तो उस आत्मा को **भोगार्थं** भोग सुलभ कराने के लिये, **तत्साधनस्य** सुख आदि भोगों में **गुणादिविकृतेः** गुणतत्त्वरूप कार्य वर्ग की **आश्रया** उपादान कारणभूत **प्रकृतिः** प्रकृति तत्त्व की **जायते** उत्पत्ति होती है।।१५।।

शैवसिद्धान्त में अनन्तनाथ कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक पाँच तत्त्वों (पंचकंचुकों) से आवृत आत्मा में भोक्तृभाव को उत्पन्न कर उसे मलिन (संकुचित) कर देता है। दीक्षा के समय इस पुंस्त्व मल की भी निवृत्ति करनी पड़ती है। इसीलिये इसकी एक अलग पचीसवें तत्त्व के रूप में गणना की जाती है। वास्तव में इसकी तत्त्वों में गणना नहीं होनी चाहिये। इसीलिये पुरुष तत्त्व के भुवनों की शुद्धि राग तत्त्व में की जाती है। प्रस्तुत श्लोक में 'यदा' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि जब आत्मा कला आदि पाँच कंचुकों से संयुक्त होता है, तभी उसकी गणना पुरुष तत्त्व में होती है। इससे पहले पुंस्तत्त्व की कोई स्थिति नहीं मानी जाती। इसीलिये सकल आत्मा की ही गणना पचीसवें तत्त्व में होती है, प्रलयाकल और विज्ञानाकल की नहीं। **"पुंस्तत्त्वं तत एवाभूत् पुंप्रत्ययनिबन्धनम्" (मृ. वि. १०.१८)** इत्यादि श्लोक की व्याख्या करते हुए **भट्ट नारायणकण्ठ** ने **'पुंप्रत्ययनिबन्धन'** पद की व्याख्या **"पुरुष तत्त्व के रूप में उसकी प्रतीति का हेतु"** की है और बताया है कि इस विशेषण से सकल आत्माओं की अपेक्षा माया के गर्भ में स्थित अधिकार पदों पर प्रतिष्ठित रुद्र आदि आत्माओं की और उनके भुवनों की

विलक्षणता स्पष्ट होती है। यह सकल जीव कला आदि से बँधा हुआ है और त्रिगुणों की आधार-स्वरूप प्रकृति के गर्भ से निकले बुद्धि आदि तत्त्वों की सहायता से सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है।

तस्याशुद्धस्य संबन्धं समायाति शिवात् कला।
तयोद्वलितसामर्थ्यो विद्याख्यापितगोचरः॥

रागो हि रञ्जकत्वेन प्रधानं च गुणात्मना।
बुद्ध्यादिकरणानीकसंबन्धाद् बुद्ध्यते पशुः॥

ततो नियतिसंश्लेषात् स्वार्जितेऽपि नियम्यते।
कालोऽपि कालसंख्याने भवेत् तदनुषङ्गतः॥
(वि. १.१६-१८)

किरणागम के इन श्लोकों में उक्त स्थिति को स्पष्ट किया गया है ॥ १५॥

प्रकृति तत्त्व से संबद्ध गुणतत्त्व और बुद्धितत्त्व का तथा उनके विशेष कार्यों का स्वरूप अब बताते हैं —

सत्त्वादेर्लघुताप्रकाशनमथोपष्टम्भकं व्यावृति-
गौरव्या नियमश्च वृत्तय इदं गौणं विमिश्रं पशौ।
बुद्धिः सा पुरुषस्य खादिकरणैः संग्राहिका भोग्यका
भास्वत्खाद्यवसायिका च विषये सप्रत्यया भावगा॥१६॥

अथ अब **इदं** यह प्रकृति तत्त्व **सत्त्वादेः** सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों की क्रमशः **लघुताप्रकाशनं** हलकापन और प्रकाशन, **उपष्टम्भकं व्यावृतिश्च** उपष्टंभन और आवरण **गौरव्या नियमश्च** गुरुता और नियमन **वृत्तयः** इन व्यापारों को प्रेरित करता है। **गौणं** सत्त्व, रज और तम नामक गुणों का यह व्यापार **पशौ** बद्धात्मा में, उसके सूक्ष्म-स्थूल शरीर में **विमिश्रं** सुख, दुःख और मोह के रूप में मिला हुआ रहता है। **सा बुद्धिः** पूर्वोक्त बुद्धितत्त्व **पुरुषस्य** बद्धात्मा के **खादिकरणैः** आकाश आदि भूतों से संबद्ध ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सहायता से **संग्राहिका** समस्त विषयों को भलीभाँति प्रकाशित कर **भोग्यका** भोग संपादित करती हुई **विषये** द्रव्य, गुण आदि विषयों में **भास्वत्खाद्यवसायिका** सम्यक् रूप से अध्यवसाय, अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान को जन्म देती है। **भावगा** यह बुद्धि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नामक चार सात्त्विक भावों को एवं अधर्म, अज्ञान और

अनैश्वर्य नामक तीन तामस भावों को तथा अवैराग्य नामक राजस भाव को प्राप्त करती है **सप्रत्यया च स्यात्** और धर्म आदि से प्राप्त पचास प्रकार के प्रत्ययों से संबद्ध हो जाती है।।१६।।

सुवर्ण जैसे कटक, मुकुट आदि आभूषणों के रूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह से प्रकृतितत्त्व सत्त्व-रज-तम नामक तीन गुणों का आकार ग्रहण कर लेता है। सांख्य दर्शन में सत्त्व आदि गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति माना गया है, जबकि यहां प्रकृति से इन गुणों की स्थिति भिन्न मानी गई है[1]। गुणों के व्यापारों का स्वरूप सर्वत्र समान है। इन सत्त्व आदि तीन गुणों के क्रमशः प्रकाशन, प्रवृत्ति और नियमन नामक प्रधान व्यापार हैं। मतंगागम में इनके अन्य व्यापारों का भी परिगणन किया गया है —

स्थैर्यं धैर्यं धृतिर्दाक्ष्यमार्जवं लघुता तथा।
सन्तोषो मार्दवं शौचं व्यवसायः क्षमा स्मृतिः॥

सौहित्यं पटुता क्षान्तिर्दया दानं घृणा सदा।
औत्सुक्यं चेति सत्त्वस्य वृत्तयः समुदाहृताः॥

क्रौर्यं शौर्यं मदोत्साहौ संकल्पः साभिमानता।
दार्ढ्यं च निर्दयत्वं च भेदो दम्भश्च वृत्तयः॥

राजसाः प्रतिपत्तव्यास्तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे।
अरतिर्मन्दता दैन्यं पैशुन्यं गुरुता सदा॥

निद्राधिक्यं मदालस्ये निरोधो मुग्धता च या।
तमसो वृत्तयः ख्याताः सिद्धाः सर्वेषु जन्तुषु॥
(वि. १६. १७-२२)

तत्त्वप्रकाश में अव्यक्त (प्रकृति) से गुणतत्त्व की उत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है —

अव्यक्ताद् गुणतत्त्वं प्रख्याव्यापारनियमरूपमिह।
सत्त्वं रजस्तमोऽपि च सुखदुःखमोह इत्यपि च॥
(श्लो. ५१)

---

[1] तत्त्वप्रकाश का "अव्यक्ताद् गुणतत्त्वम्" (श्लो. ५१) इत्यादि श्लोक देखिये।

आत्मा का बुद्धि से, बुद्धि का इन्द्रियों से, इन्द्रियों का अर्थों (विषयों) से जब सम्पर्क होता है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस तरह से आत्मा को विषयों का ज्ञान कराने में बुद्धि प्रधान सहायक है। चक्षु आदि इन्द्रियों की सहायता से विषयों को ग्रहण कर उन विषयों के प्रति यह बुद्धि एक निश्चित धारणा बनाती है कि यह वस्तु ऐसी ही है और तदनुसार ही वह पुरुष को भोग में प्रवृत्त कराती है। तत्त्वप्रकाश में बुद्धि का स्वरूप ऐसा ही बताया गया है —

भवति गुणत्रयतो धीर्विषयाध्यवसायरूपिणी चेह।
साऽपि त्रिविधा गुणतः प्राक्तनकर्मानुसारेण॥
(श्लो. ५२)

यह बुद्धि धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य नामक आठ भावों से समन्वित है। ये भाव बुद्धि में वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। "भावयन्ति यतो लिङ्गं तेन भावा इति स्मृताः" पौष्करागम के इस वचन में 'भाव' पद की निरुक्ति बताई गई है। धर्म आदि भाव ही प्रकर्ष दशा को प्राप्त कर, अर्थात् स्थूल रूप ग्रहण कर भोग्य दशा को प्राप्त हो प्रत्यय बन जाते हैं। "प्रत्याययन्ति क्षेत्रज्ञं प्रत्ययास्तेन ते स्मृताः" पौष्करागम के ही इस वचन में 'प्रत्यय' पद की निरुक्ति बताई गई है। इन भावों और प्रत्ययों का स्वरूप यहाँ सांख्य दर्शन की पद्धति से ही वर्णित है। सिद्धि आठ प्रकार की, तुष्टि नौ प्रकार की, (अ)शक्ति अट्ठाईस प्रकार की तथा बुद्धिविपर्यय पाँच प्रकार का है। इस प्रकार इन प्रत्ययों की संख्या पचास हो जाती है। इनके नाम और लक्षण मतंगागम (वि. १७ प.) में वर्णित हैं। बुद्धितत्त्व का स्वरूप संक्षेप में मृगेन्द्रागम में भी वर्णित है —

बुद्धितत्त्वं ततो नानाभावप्रत्ययलक्षणम्।
परं तदात्मनो भोग्यं वक्ष्यमाणार्थसंस्कृतम्॥
(वि. १०.२३)

इस प्रकार यहाँ बुद्धितत्त्व और गुणतत्त्व का लक्षण वर्णित हुआ है॥ १६॥

गुणतत्त्व और बुद्धितत्त्व का स्वरूप बताने के बाद अहंकारतत्त्व और मनस्तत्त्व का लक्षण बताते हैं —

चेष्टन्ते मरुतः शरीरनिलयाः पुंसां यतो ग्राहके
संरम्भाद् व्यवसायमेव कुरुते सत्त्वादिकाऽहङ्कृतिः।
अक्षाणां विषयप्रवृत्तिकरणं संचारि शीघ्रं सदा
संकल्पं कुरुतेऽवधानजनकं त्विच्छास्वरूपं मनः॥१७॥

पुंसां बद्ध जीवों के **शरीरनिलयाः** शरीर में अपना घर बनाकर रहने वाले **मरुतः** प्राण आदि पाँच वायु **यतः** जिसकी सहायता से **चेष्टन्ते** अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, **अहङ्कृतिः** वह अहंकार तत्त्व **सत्त्वादिका** सत्त्व आदि तीन गुणों में **ग्राहके** शब्द आदि विषयों में भोक्ता के रूप में स्थित पुरुष के **संरम्भाद्** प्रयत्न से **व्यवसायमेव** अपना व्यापार, **कुरुते** करता है। **अक्षाणां** भोक्ता पुरुष के भोगसाधन भूत दस ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की **विषयप्रवृत्तिकरणं** शब्द आदि विषयों में प्रवृत्ति कराने वाला **शीघ्रं** तीव्र वेग से **संचारि** बाह्येन्द्रियों के विषयों में संचरण करने वाला **इच्छास्वरूपं** उनको प्राप्त करने की इच्छा वाला **मनः** मन नामक आन्तर इन्द्रिय **सदा** हमेशा **अवधानजनकं** इन्द्रियों के विषयों के प्रति सावधान रहकर **संकल्पं** संकल्प व्यापार का **कुरुते** जनक है ।।१७।।

जीवन, संरम्भ और गर्व — ये तीन अहंकार की वृत्तियां हैं। 'जीवामि' यह जीवनाहंकार की, 'अहं करोमि' यह संरम्भाहंकार की और 'प्रबलोऽस्मि, रूपवानस्मि' ये क्रियाएँ गर्वाहंकार को जताती हैं। इनमें से संरम्भ वृत्ति से ही शरीर में विद्यमान प्राण की पाँच वृत्तियाँ अपना अपना कार्य करती हैं। **''संरम्भोऽहङ्कृतेर्वृत्तिः''** (श्लो. ३३) **भोगकारिका**[१] में इस वृत्ति की विशेष रूप से चर्चा की गई है और **''संरम्भाद् यस्य चेष्टन्ते शारीराः पञ्च वायवः''** (वि. ११.२०) **मृगेन्द्रागम** के इस वचन में स्पष्ट किया गया है कि शरीरस्थित[२] पाँच प्राणों की प्रवृत्ति अहंकार की संरम्भ नामक वृत्ति से होती है। **''प्राणापानादयस्ते तु भिन्ना वृत्तेर्न वस्तुतः''** (वि. ११.२१) **मृगेन्द्रागम** के इस वचन में बताया गया है कि वस्तुतः एक ही वायु प्राण, अपान आदि के भेद से पंचविध हो जाता है। इनमें से प्राण के चार प्रधान व्यापार हैं। देहस्थित वायु का बाह्य द्वादशान्त पर्यन्त गमन पहला व्यापार है। जीवन इसका दूसरा व्यापार है। लोक में शरीर में प्राण के रहने पर ही कहा जाता है कि यह

---

[१] भोगकारिका (श्लो. ६४) की व्याख्या करते हुए अघोरशिवाचार्य कहते हैं — "एषां च भावप्रत्ययानां प्रपञ्चः श्रीमन्मतङ्गादौ विस्तरेण दर्शितः, प्रकाशितश्चास्माभिर्मृगेन्द्रवृत्तिदीपिकायामिति तत एवावधार्यः" (पृ. २१८)। मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के १७ वें पटल में यह विषय देखा जा सकता है।

[२] "सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" (का. २९) सांख्यकारिका के इस वचन में त्रिविध अन्तःकरण की सामूहिक वृत्ति से पाँच प्राणों की प्रवृत्ति मानी गई है, जब कि यहाँ केवल अहंकार की संरम्भ नामक वृत्ति से पाँच प्राणों की उत्पत्ति मान्य है।

जीवित है। मन में तर्क-वितर्क के उठने पर विमर्शात्मक बुद्धि की सहायता से जीव को जो प्रेरणा प्राप्त होती है, यह प्राण की तृतीय वृत्ति है और बल का आधान उसकी चतुर्थ वृत्ति। जैसा कि मृगेन्द्रागम में बताया गया है—

वृत्तिः प्रणयनं नाम यत्तज्जीवनमुच्यते।
यत्तदूहं मतिः पुंसां भ्रमत्यन्धेव मार्गती॥

तत्कुर्वन्नुच्यते प्राणः प्राणो वा प्राणयोगतः।
चित्यातिवाहिके शक्तौ प्राणशब्दः कलासु च॥
(वि. ११.२२-२३)

खाये गये अन्न और पिये गये दूध आदि पदार्थों का जाठराग्नि से पाचन हो जाने के बाद विष्ठा, मूत्र, शुक्र आदि के रूप में गुदा आदि अधोमार्ग से जो निःसरण होता है, वह अपान वायु का व्यापार है, जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

तथापनयनं भुक्तपीतविण्मूत्ररेतसाम्।
कुर्वन्नपानशब्देन गीयते तत्त्वदर्शिभिः॥
(वि. ११.२४)

भुक्त-पीत अन्न-पान के रस को पूरे शरीर में समान रूप से पहुँचा देना समान वायु का व्यापार है। मृगेन्द्रागम में —

समन्ततोऽन्नपानस्य समत्वेन समर्पणम्।
कुर्वन् समान इत्युक्तः..................॥
(वि. ११.२५)

इस प्रकार उसका वर्णन किया गया है। "व्यानो विमननात् तनोः" (वि. ११.२५) इस श्लोक में वहीं व्यान का भी संक्षिप्त स्वरूप बताया गया है। कालोत्तर का यह श्लोक इसी विषय का विस्तार करता है —

व्यानो विनमयत्यङ्गं व्यानो व्याधिप्रकोपनः।
प्रीतेर्विनाशकरणो व्यापनाद् व्यान उच्यते॥
(१०.१२)

अर्थात् व्यान वायु भुक्त-पीत अन्न-पान में दोष उत्पन्न कर शरीर को कमजोर बना देता है, उसमें रोग पैदा कर देता है और मनुष्य के सुखी जीवन को नष्ट कर देता है। यह सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है, अतः इसे व्यान कहते हैं। वक्ता पुरुष जब कुछ बोलने की इच्छा करता है, तब देह में विद्यमान आकाश से आकाश के गुण शब्द का मुख

के विभिन्न अवयवों से सम्पर्क होने पर वागिन्द्रिय के सहारे विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। इसका भी वर्णन मृगेन्द्रागम में इस प्रकार है—

विवक्षायत्नपूर्वेण कोष्ठव्योमगुणध्वनेः ।
वागिन्द्रियसहायेन क्रियते येन वर्णता ॥
स उदानः शरीरेऽस्मिन्……. …….।
(वि. ११.२६-२७)

पाणिनीय शिक्षा (वृद्धपाठ) और आपिशलि शिक्षा में भी इसका वर्णन है—

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥

कालोत्तर में भी इसका स्वरूप कुछ ऐसा ही बताया गया हैं—

स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं नेत्रगात्रप्रकोपनः ।
उद्वेजयति मर्माणि चोदानो नाम मारुतः ॥
(१०.११)

चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क होने पर भी मन यदि सावधान नहीं है, तो मनुष्य की विषयों के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिये मृगेन्द्रागम में मन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है — "देवप्रवर्तकं शीघ्रचारि संकल्पधर्मि च" (वि. १२.७)। यह मन इन्द्रियों का प्रवर्तक, गतिशील और संकल्प का साधन है। मन की त्वरित गति के अभाव में अनेक विषयों का लाभ एक साथ नहीं होने पावेगा। जैसा कि मृगेन्द्रागम में उक्त है —

ज्ञानं तदक्षयोगात् तत्क्रमयोगितया क्रमात् ।
तथाप्याभाति युगपन्नाशुसंचारणाद् ऋते ॥
(वि. १२.११)

अपने संकल्पात्मक व्यापार और एकाग्रता के कारण ही मन की बुद्धि और अहंकार से भिन्नता सिद्ध होती है। यह मन आन्तर मानस व्यापार का और बाह्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यापार का भी नियमन करता है। जैसा कि मतंगागम में वर्णित है —

द्विधाधिकारि तच्चित्तं भोक्तुर्भोगोपपादकम् ।
बहिष्करणभावेन स्वोचितेन यतः सदा ॥

इन्द्रियाणां च सामर्थ्यं संकल्पेनात्मवर्तिना।
करोत्यन्तःस्थितं भूयस्तेनान्तःकरणं मनः॥
(वि. १८. ८१-८२)

शास्त्रों ने बुद्धि और अहंकार के साथ मन को भी अन्तःकरण माना है — "अन्तःकरणं त्रिविधं चित्ताहङ्कारबुद्धिनिर्वाच्यम्" (श्लो. ७) तत्त्वसंग्रह के इस वचन से यह स्पष्ट है॥ १७॥

अब पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार प्रस्तुत श्लोक में दिखाये जा रहे हैं —

श्रोत्राद्यं विग्रहाङ्गं स्वविषयनिनदस्पर्शरूपादिबोधान्
चित्तर्द्धं कर्तृभावानुसरणबलतः पञ्चकं नुः करोति।
वागाद्यं देहसंस्थं स्वविषयवचनादानपूर्वं स्वकृत्यं
चित्ताप्तं पूर्वकर्मव्यतिकरवशतः पञ्चकं नुर्विधत्ते ।।१८।।

विग्रहाङ्गं शरीर के मुख्य अवयव श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का वर्ग **चित्तर्द्धं** (सत्) मन इन्द्रिय से समृद्ध (संबद्ध) होकर **कर्तृभावानुसरणबलतः** श्रोत्र आदि इन्द्रियों की सहायता से शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने में कर्ता के रूप में स्थित **नुः** पुरुष को **स्वविषयनिनदस्पर्शरूपादिबोधान्** अपने-अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान **करोति** करता है। **देहसंस्थं** शरीर में स्थित **वागाद्यं पञ्चकं** वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों का वर्ग **चित्ताप्तं** (सत्) मन से संबद्ध होकर **पूर्वकर्मव्यतिकरवशतः** पूर्वजन्म में कृत पुण्य-पाप कर्मों से संबद्ध होने से **स्वविषयवचनादानपूर्वं** अपने-अपने विषय वचन, आदान (ग्रहण) आदि कृत्यों को **नुः** भोक्ता पुरुष को **विधत्ते** समर्पित करता है।।१८।।

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ क्रमशः शब्द आदि विषयों का ग्रहण करती हैं, इससे भिन्न रूप आदि के ग्रहण में वे असमर्थ हैं। अतः इन सब इन्द्रियों का व्यापार निश्चित है। तत्त्वप्रकाश के — "शब्दादीनां ग्रहणं व्यापाराः कीर्तिताः क्रमेणैषाम्" (श्लो.५८) इस वचन से भी इस विषय की पुष्टि होती है। 'स्वकृत्यम्' इस पद में 'स्व' शब्द का पुनः ग्रहण वाक् आदि की कर्मेन्द्रियता न मानने वालों के पक्ष का खण्डन करने के लिये है। अन्यथा 'स्वविषयवचनादान' इत्यादि समस्त पद में आये स्व-पद के रहते पुनः स्व-पद निरर्थक हो जायगा। हम सर्वत्र देखते हैं कि वाणी से प्रेरित होकर ही व्यक्ति किसी क्रिया को करता है। इससे वाणी की भी कर्मेन्द्रियता सिद्ध होती है। इस

पर प्रश्न उठ सकता है कि तब तो भ्रूलता-स्फुरण, कम्प आदि क्रियाओं के लिये भी अलग से इन्द्रिय की कल्पना करनी पड़ेगी? इसका समाधान यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ दूर की और कर्मेन्द्रियाँ पास की वस्तु का ग्रहण करती हैं, **''विप्रकृष्टं बुद्धिदेवानां सन्निकृष्टं क्रियात्मनाम्''** यह **शास्त्रवचन** भी उपलब्ध है। इसके अनुसार भ्रूलता-स्फुरण, कम्प आदि सारे व्यापारों का समावेश त्वगिन्द्रिय में ही हो जायगा, क्योंकि इस सभी स्थानों में त्वगिन्द्रिय संनिकृष्ट है ॥ १८॥

आकाश आदि स्थूल पाँच महाभूतों का और उनके कारण स्वरूप सूक्ष्म शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्राओं का स्वरूप और व्यापार अब बताते हैं —

तन्मात्रं ह्यविशिष्टमेव तु गुणैः शब्दादिकैकाधिकै-
र्युक्तं तद्रवपूर्वनाम कथितं भूताश्रयं पञ्चधा ।
भूतान्यत्र धरा तु पञ्चगुणयुक् तोयादि चैकैकशो
हीनं तैर्धरणग्रहाख्यपचनव्यूहावकाशाः क्रियाः ।।१९।।

तन्मात्रं तन्मात्रा तत्त्व **पञ्चधा** शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा के भेद से पाँच प्रकार से विभक्त है। **तत्** यह तन्मात्रपंचक **शब्दादिकैकाधिकैः** शब्द से लेकर एक-एक अधिक **गुणैः** गुणों से **युक्तं** संबद्ध है, परन्तु **अविशिष्टमेव** उन गुणों के उद्बुद्ध न होने के कारण वह उनसे विशेषित नहीं है, इसीलिये तन्मात्र कहलाता है। किञ्च **तत्** अपि च, वह तन्मात्रपंचक **रवपूर्वनाम** शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नाम वाला **कथितं** शास्त्रकारों के द्वारा कहा गया है। **भूताश्रयं** यह स्थूल पाँच महाभूतों का आश्रय-स्थान है। **भूतानि** आकाश आदि पाँच महाभूत एक-एक गुणवृद्धि के क्रम से गुणों से युक्त होते हैं। **अत्र** इनमें **धरा** भूमि **पञ्चगुणयुक्** शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच गुणों से संयुक्त है। **तोयादि च** और जल आदि बचे चार भूतों में **तैरेकैकशो हीनं** उन गुणों में से एक-एक गुण कम हो जाते हैं। **धरणग्रहाख्यपचनव्यूहावकाशाः क्रियाः** धारण, ग्रहण, पचन, व्यूहन और अवकाश — ये पाँच धरा आदि के क्रमशः व्यापार हैं।।१९।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी तत्त्वों के गुण हैं। सूक्ष्म भूतों (तन्मात्राओं) से इनकी उत्पत्ति होती है। इनमें से आकाश-तन्मात्रा में मात्र सूक्ष्म शब्द गुण विद्यमान है। वायु-तन्मात्रा में शब्द और स्पर्श, तेजस्तन्मात्रा में शब्द, स्पर्श और रूप, जल-तन्मात्रा में शब्द, स्पर्श, रूप और

रस तथा पृथिवी-तन्मात्रा में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं, ऐसा शैवागमों में वर्णित है। शब्द के ध्वनि-वर्ण आदि, स्पर्श के शीत-उष्ण आदि, रूप के शुक्ल-कृष्ण आदि, रस के मधुर-अम्ल आदि और गन्ध के सुरभि-असुरभि आदि भेदों का भी ग्रहण इन्हींसे होता है। बीज में वृक्ष की तरह तन्मात्राओं में ये गुण छिपे रहते हैं और पंचमहाभूतों में ये प्रकट हो जाते हैं, ''तन्मात्राणीह घटवन्महाभूतानि लेपवत्'' (वि. १९.२१) मतंगागम के इस वचन में इनके भेदों को स्पष्ट किया गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि शब्द केवल आकाश का गुण है। यहाँ इसको स्वीकार नहीं किया गया है और बताया गया है कि पाँचों महाभूतों में शब्द विद्यमान है। जैसे कि आकाश में प्रतिध्वनि के रूप में, वायु में कम्पन का बोधक शकशक शब्द, तेज में प्रज्वलन का सूचक धमधम शब्द, जल में प्रवाह का सूचक छलछल शब्द और पृथ्वी में कठोरता का बोधक घटघट शब्द सुनाई पड़ता है। वायु आदि में शब्द आपस की टकराहट से पैदा होता है और आकाश में उन उन वर्णों की आनुपूर्वी वाली प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है,

व्योमप्रभञ्जनाग्न्यम्बुभूमयो भूतपञ्चकम्।
शब्दाद्येकोत्तरगुणमवकाशादिवृत्तिमत् ॥

धूननज्वलनप्लावखरत्वावेदिनो गुणाः।
शब्दा वाय्वादिषु व्योम्नि सवर्णप्रतिशब्दगाः॥
(वि. १२.१९-२०)

मृगेन्द्रागम के इन वचनों में इसका विवरण मिलता है। पृथिवी में पाँच गुण इस प्रकार हैं — घटघट आदि शब्द, अनुष्णाशीत स्पर्श, शुक्ल-रक्त-कृष्ण आदि रूप, कटु-अम्ल-लवण-तिक्त-मधुर-कषायात्मक षड्विध रस, सुरभि-असुरभि गन्ध। जल में चार गुण ये हैं — छलछल आदि शब्द, शीत स्पर्श, शुक्ल रूप, मधुर रस। वह्नि में तीन गुण ये हैं — धमधम आदि शब्द, उष्ण स्पर्श, प्रकाशमान रूप। वायु में दो गुण हैं — शकशक शब्द, अशीतानुष्ण स्पर्श। आकाश में एक मात्र शब्द की स्थिति है और यह प्रतिध्वनि रूप है। यह विषय भी मृगेन्द्रागम के निम्न श्लोकों में वर्णित है —

इति पञ्चसु शब्दोऽयं स्पर्शो भूतचतुष्टये।
अशीतोष्णो महीवाय्वोः शीतोष्णौ वारितेजसोः॥

भास्वदग्नौ जले शुक्लं क्षितौ शुक्लाद्यनेकधा।
रूपं त्रिषु रसोऽम्भस्सु मधुरः षड्विधः क्षितौ॥

गन्धः क्षितावसुरभिः सुरभिश्च मतो बुधैः ।
(वि. १२.२७-२९)

धारण, संग्रह, पचन, व्यूहन और अवकाशदान ये क्रमशः पृथिवी आदि भूतों के व्यापार हैं। जैसे कि कठिन होने के कारण पृथ्वी सबको धारण करती है। द्रवस्वरूप होने के कारण जल सबका संग्रह करता है, इकट्ठा करता है, मिट्टी आदि का पिण्ड बना देता है। गरम होने के कारण अग्नि सबको पका देती है। कम्पन-चलनशील होने के कारण वायु सबका व्यूहन कर देती है, पदार्थों को आपस में मिला देती है। अवकाश स्वरूप निराकार होने के कारण आकाश सभी पदार्थों को अपने में रहने का ठिकाना बनाता है,

व्यूहोऽवकाशदानं च पक्तिसंग्रहधारणाः ।
वायुव्योमहुताशाम्बुधरणीनां च वृत्तयः ॥
(वि. १२.२१)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में यह विषय स्पष्ट है ॥१९॥

इस प्रकार शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का स्वरूप बताने के बाद अब इनके शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध नामक तीन प्रकारों को यहाँ बताया जा रहा है —

ऊर्ध्वोऽध्वा सकलोऽपि बोधकतया शुद्धोऽधरो ग्रन्थितो
मोहाढ्यादशुचिर्विपर्ययहतेः शुद्धोऽपि पुंस्त्वात् परः ।
तत्त्वान्येव सहायभूतभुवनेशानैर्युतान्यात्मनां
तिष्ठन्त्या विलयादमूनि च बहिर्भोगप्रदायीन्यलम् ।।२०।।

ऊर्ध्वः मायातत्त्व से ऊपर का **अध्वा सकलोऽपि** शुद्धविद्या से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त समस्त तत्त्वसमूह **बोधकतया** उन तत्त्वों के भुवनों में रहने वाले समस्त चेतन जीवों में सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुणों का उद्बोधक होने से **शुद्धः** शुद्ध कहलाता है। **ग्रन्थितः** मायातत्त्व से पृथिवीतत्त्व पर्यन्त **अधरः** नीचे स्थित अध्वा (तत्त्वसमूह) **मोहाढ्यात्** मोह से परिवृत होने से **अशुचिः** अशुद्ध कहलाता है। इसमें **पुंस्त्वात् परः** पुरुषतत्त्व से लेकर ऊपर का राग से मायातत्त्व पर्यन्त अध्वा **विपर्ययहतेः** सीमित मिथ्याज्ञान से आवृत हो जाने के कारण **शुद्धोऽपि** शुद्धाशुद्ध विभाग में भी परिगणित होता है। **अमूनि तत्त्वानि** पृथिवी से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त ये सब तत्त्व

सहायभूतभुवनेशानैः भोगसाधनभूत उन-उन भुवनों और भुवनाधिपतियों से **युतान्येव** संबद्ध होकर ही **आत्मनां** विज्ञानाकल आदि जीवों के **अलं** पर्याप्त **बहिर्भोगप्रदायीनि** बाह्य भोगों को देने वाले हैं, (किं) **च** और **आ विलयात्** महाप्रलय पर्यन्त **तिष्ठन्ति** विद्यमान रहते हैं ।।२०।।

शुद्धविद्या से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त तत्त्वों और भुवनों की सृष्टि परमशिव अपने द्वारा क्षोभित बिन्दु को उपादान बनाकर करते हैं। इसीलिये कला आदि के बन्धनों से रहित, कर्मपाश से मुक्त विज्ञानकेवल, प्रलयाकल आदि तथा मल-परिपाक से सम्पन्न मन्त्र-मन्त्रेश्वर-अनन्त आदि भी अधिकार मल की उपस्थिति के कारण शिवधाम को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख और आत्माभिमान की उत्पत्ति मोह के कारण होती है। प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्व सुख-दुःख-मोहात्मक हैं। सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का धारक आत्मा इन्हींके कारण अपने में इन भावों की अनुभूति करते रहने के कारण अशुद्ध स्थिति को प्राप्त कर लेता है और वह भोगोन्मुख हो जाता है। यह भोग आन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का होता है। बिन्दु की सहायता से साक्षात् परमशिव ही शुद्ध तत्त्वों की सृष्टि करते हैं और वही उनको भोग भी उपलब्ध कराते हैं। अतः शुद्ध भुवनों के भोग आन्तर कहलाते हैं। माया की सहायता से अनन्तेश्वर आदि अशुद्ध तत्त्वों की सृष्टि करते हैं। इन अशुद्ध भुवनों में उपलब्ध भोग बाह्य कहलाते हैं। आभ्यन्तर भोगों को भोग लेने के बाद शुद्ध सृष्टि के जीव मुक्त हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है —

अधिकारपदारूढो मलस्तेषां निरोधकः ।
तेन शुद्धाध्वभोगस्य पाके स्यात् तन्मलक्षयः ॥
अधिकारमले क्षीणे मोक्षः स्यादव्ययः परः ।

बाह्य भोगों का उपभोग करनेवाले पहले आन्तर भोगों का उपभोग करते हैं और उसके बाद उनको मुक्ति मिलती है। पंचावरणस्तव में भगवान् अघोरशिव ने इस स्थिति का वर्णन किया है —

ये चात्र शुद्धभुवनोद्भवभोगकामा-
स्त्वामर्चयन्ति विविधैर्यजनप्रकारैः ।
तेभ्यः प्रदाय परमेश्वर साधकेभ्यो
भोगान् ददासि तदनन्तरमेव मोक्षम् ॥

पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त तत्त्वों की स्थिति महाप्रलय पर्यन्त रहती है। इसीलिये इनको तत्त्व कहा जाता है। जैसा कि तत्त्वप्रकाश में बताया गया है—

आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम्।
तत् तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः ॥
(श्लो. ७३)

यह लक्षण उक्त तत्त्वों में ही घटता है, शरीर-घट आदि में नहीं ॥ २०॥

पृथिवी तत्त्व सौ करोड़ योजन परिमाण वाला है। उससे ऊपर जलतत्त्व, अग्नितत्त्व, वायुतत्त्व, आकाशतत्त्व, अहंकारतत्त्व, बुद्धितत्त्व और गुणतत्त्व — इन सात तत्त्वों का परिमाण उत्तरोत्तर दशगुणित है। एक हजार करोड़ योजन परिमाण जलतत्त्व का होगा। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये। गुणतत्त्व से सौ गुना ज्यादा परिमाण प्रकृतितत्त्व का, उससे भी सौ गुना रागतत्त्व का, उससे भी सौ गुना नियतितत्त्व का, उससे भी सौ गुना विद्यातत्त्व का, उससे भी सौ गुना कालतत्त्व का, उससे भी सौ गुना कलातत्त्व का और उससे भी सौ गुना मायातत्त्व का परिमाण होता है। मायातत्त्व से हजार गुना शुद्धविद्या तत्त्व का, उससे हजार गुना ईश्वर तत्त्व का, उससे हजार गुना सदाशिव तत्त्व का परिमाण होता है। सदाशिवतत्त्व से लाख गुना परिमाण शक्तितत्त्व का होता है। शिवतत्त्व का परिमाण संख्यातीत है। इस प्रकार से तत्त्वों के योजन-परिमाणों को प्रस्तुत श्लोक में दिखाते हैं —

क्ष्मातत्त्वं शतकोटियोजनमपः प्रारभ्य गौणान्तकं
पङ्क्त्या तद्गुणनात् तथा प्रकृतितो मायावसानं शतात्।
साहस्राच्च सदाशिवावधि ततः शक्त्यन्तकं लक्षतः
स्यादूर्ध्वं स शिवोऽप्यमेयविभवो बिन्दोरधिष्ठायकः ।।२१।।

क्ष्मातत्त्वं पृथिवीतत्त्व **शतकोटियोजनं** विस्तार में सौ करोड़ योजन है। **अपः प्रारभ्य** जलतत्त्व से आरंभ कर **गौणान्तकं** गुण तत्त्व पर्यन्त **पङ्क्त्या तद्गुणनात्** पृथिवी आदि के परिमाण को दस से गुना करने से लब्ध परिमाण जल आदि तत्त्वों का होता है। **तथा** वैसे ही **प्रकृतितः** प्रकृति से आरंभ कर **मायावसानं** मायातत्त्व पर्यन्त **शतात्** सौ गुना करने से लब्ध परिमाण उन उन तत्त्वों का क्रमशः होता है। **ततः** मायातत्त्व से ऊपर

सदाशिवावधि सदाशिवतत्त्व पर्यन्त **साहस्रात्** हजार गुना करने से लब्ध परिमाण उन उन तत्त्वों का **स्यात्** होता है। **ततः** अनन्तर **शक्त्यन्तकं** शक्तितत्त्व का परिमाण **लक्षतः** लाख गुना अधिक होता है। **ऊर्ध्वं** शक्तितत्त्व से ऊपर **बिन्दोः** बिन्दु का **अधिष्ठायकः** अधिष्ठाता **स शिवोऽपि** यह प्रसिद्ध शिव तो **अमेयविभवः** सीमातीत ऐश्वर्यवाला है।।२१।।

इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि पृथिवी तत्त्व का प्रमाण सौ करोड़ योजन है, तो उसका दस गुना प्रमाण जल तत्त्व का होगा। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये। जैसे कि पृथिवी तत्त्व से दस गुना जल तत्त्व का प्रमाण एक हजार करोड़ योजन का होगा। पृथिवी तत्त्व से लेकर गुण तत्त्व पर्यन्त यही क्रम चलेगा। इसके ऊपर प्रकृति से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों का योजन-प्रमाण सौ गुना अधिक होगा। इसी तरह शुद्धविद्या से लेकर सदाशिव पर्यन्त तत्त्वों का प्रमाण हजार गुना अधिक और शक्ति तत्त्व का प्रमाण लाख गुना अधिक है। शिव तत्त्व के प्रमाण की कोई इयत्ता नहीं है। आगे के पचीसवें श्लोक में एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्याओं का परिगणन किया गया है। तदनुसार पृथिवी को एक संख्या से, जल को दस संख्या से, अग्नि को शत संख्या से, वायु को सहस्र संख्या से, आकाश को दशसहस्र संख्या से, अहंकार को लक्ष संख्या से, बुद्धि को दशलक्ष संख्या से, गुणतत्त्व को कोटि संख्या से संयुक्त करना पड़ेगा। आगे संख्या को शतगुणित करना पड़ेगा। तदनुसार प्रकृति तत्त्व को पद्म संख्या से, राग तत्त्व को निखर्व संख्या से, नियति तत्त्व को महासरोज संख्या से, विद्या तत्त्व को महाशंख संख्या से, कला तत्त्व को महासमुद्र संख्या से और काल तत्त्व को परार्ध संख्या से जाना जा सकता है। इस प्रकार काल तत्त्व तक आकर यह संख्या परिपूर्ण हो जाती है। अर्थात् इन संख्याओं के अनुसार ही दशगुणित अथवा शतगुणित योजन-प्रमाण इन तत्त्वों का होगा। आगे के सहस्र-गुणित अथवा लक्ष-गुणित शुद्ध तत्त्वों को संख्या से परिभाषित नहीं किया जा सकता। अन्तिम शिव तत्त्व के प्रमाण की कोई इयत्ता नहीं है। यह शिव बिन्दुतत्त्व का अधिष्ठाता है। यह किसी अन्य से व्याप्त नहीं है। जैसा कि—"**बिन्दुः शक्त्या शिवेनैषा नान्येन व्याप्यते शिवः**" (**श्लो. ११९**) रत्नत्रय के इस श्लोक में प्रतिपादित है।

भूमेर्दशगुणं तोयं तोयादग्निस्ततोऽनिलः।
अनिलाच्चायमाकाशः शास्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ॥

आकाशाच्चाप्यहङ्कारस्तस्माच्च परतो महान् ।
महतः परतो ज्ञेयं गुणानां त्रितयं मुने ॥

गुणत्रयात् प्रधानाख्यं तत्त्वं शतगुणोत्तरम्।
शतोत्तरगुणानि स्युः शेषाण्युक्तानि शासने॥

मायान्तानि तु तत्त्वानि तेभ्यस्तूर्ध्वं सहस्रधा।
यावत् सदाशिवं तत्त्वं तत्परं लक्षधा स्थितम्॥

चतुष्कं शक्तिपर्यन्तं ततोऽमेयः परः शिवः।
(वि. २४. ४१-४५)

मतंगागम के इन श्लोकों में उपर्युक्त विषय ही वर्णित है॥२१॥

प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि यह शिव प्रत्येक आत्मा के स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में माया-बल से प्राप्त सुख-दुःख आदि के रूप में कर्मफल को प्रेरित करता है —

स्रोतांसि प्रतिपुंसि सूक्ष्मतनुगैस्तत्त्वैर्यदाऽनेकधा
मायाजान्यखिलात्मभोग्यभुवनाद्याधारतत्त्वैस्तदा ।
स्थित्यै तांश्च नरान् नियोजयति तैर्नो लक्षितोऽधिष्ठितैः
स्वार्थाप्त्यै तनुदेवभावभुवनैर्भोगे शिवः साधनैः ।।२२।।

प्रतिपुंसि प्रत्येक चेतन पुरुष में **सूक्ष्मतनुगैस्तत्त्वैः** सूक्ष्म देह में स्थित कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों से **अखिलात्मभोग्यभुवनाद्याधारतत्त्वैः** समस्त चेतन आत्माओं के भोग्य लोकों के आधारभूत तत्त्वों से **यदा** जब **अनेकधा** अनेक प्रकार के **मायाजानि** माया से उत्पन्न **स्रोतांसि** स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के योग्य विविध भुवनों (वास-स्थानों) को प्राप्त करता है, **तदा** उस समय **शिवः** भगवान् शिव **स्थित्यै** स्थिति-रक्षण आदि कार्यों को चलाने के लिये **अधिष्ठितैः** प्रेरित **तैः** उन चेतन आत्माओं से **नो लक्षितः** सन् अलक्षित रहते हुए **तान् नरान्** उन मलबद्ध जीवों को **स्वार्थाप्त्यै** अपने प्रयोजन भोग-मोक्ष की प्राप्ति के लिये **तनुदेवभावभुवनैः** शरीर, इन्द्रिय, धर्म आदि भाव और कालाग्नि आदि भुवन नामक **साधनैः** साधनों से **भोगे** सुख-दुःख आदि विविध प्रकार के भोगों की उपलब्धि में **नियोजयति** नियोजित करता है।।२२।।

प्रलयाकल और विज्ञानाकल सूक्ष्म शरीरधारी हैं और सकल आत्मा स्थूल शरीर भी धारण करते हैं। कालाग्निरुद्र आदि भुवनपति और इनके भुवनों में निवास करने वाले जीवों के लिये भोग आदि का निष्पादन उन-उन तत्त्वों की सहायता से स्वयं

भगवान् शिव ही करते हैं। इनमें से सकल जीवों के स्थूल-सूक्ष्म और प्रलयाकलों के सूक्ष्म शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि को माया के गर्भ से और विज्ञानाकलों को महामाया के गर्भ से निकाल कर उनके लिये भोगों का सम्पादन करते हैं। उनकी सृष्टि के बाद वे उनके लिये रक्षण आदि कृत्यों का भी निष्पादन करते हैं। यहाँ तनु शब्द से उस उस भुवन के योग्य शरीर का, देव शब्द से इन्द्रियों का, भाव शब्द से धर्म आदि आठ भावों का और भुवन शब्द से कालाग्नि आदि भुवनों का ग्रहण होता है। इनका निर्माण करना ही भगवान् का सृष्टि नामक व्यापार है। यह सृष्टि दो प्रकार की है। साक्षात् शिव के द्वारा बिन्दु को उपादान के रूप में ग्रहण कर शुद्ध भुवनों की और उन भुवनों में निवास करने वाले अनन्त आदि के बैन्दव शरीरों की सृष्टि प्रथम तथा अनन्त आदि के द्वारा माया को उपादान के रूप में ग्रहण कर अशुद्ध भुवनों और उनमें रहने वाले जीवों के स्थूल-सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि द्वितीय प्रकार की है। इस द्वितीय सृष्टि को अनन्त आदि विद्येश्वर शिव की प्रेरणा से ही, उन्हीं से अधिकार-पदवी को प्राप्तकर संपादित करते हैं, स्वतन्त्र रूप से यह शक्ति उनको प्राप्त नहीं है ॥ २२॥

अब भगवान् शिव के संरक्षण (स्थिति) और लय (संहार) नामक दो कृत्यों का स्वरूप बताया जा रहा है —

पाशानुग्रहणाद् यथानुगुणतो भोग्यस्य संभोजनं
पुंसां तद्बलदानतो भगवतः कृत्यं च संरक्षणम् ।
लीयन्ते परिणामतस्तु समये तत्त्वानि वैलोम्यतो
मायायां परतोऽपि तानि च महामायात्मनीशाज्ञया ।।२३।।

पाशानुग्रहणाद् मल आदि पाशों को उस उस चेतन जीव की योग्यता के अनुसार नियोजित कर **यथानुगुणतः** उन उन पाशों के प्रभाव के अनुसार **पुंसां** पुरुषों के **तद्बलदानतः** उन भोगों में बल देने से **भोग्यस्य** भोगने योग्य वस्तु का **संभोजनं** भली भाँति अनुभव कराना **भगवतः** भगवान् शिव का **कृत्यं** व्यापार **संरक्षणं** रक्षा करना है। यह भगवान् का स्थिति व्यापार है। **समये** अवान्तर संहार और महासंहार नामक दो प्रकार के संहार काल में **तत्त्वानि** कला आदि तत्त्व **वैलोम्यतः** सृष्टि क्रम के विपरीत क्रम से, अर्थात् पृथिवी, जल आदि के क्रम से **परिणामतस्तु** अपने-अपने उपादान कारण के क्रम से अन्ततः **मायायां** मायातत्त्व में **लीयन्ते** लीन हो जाते हैं। **परतोऽपि** माया से ऊपर के भी **तानि च** शुद्धविद्या आदि शुद्धतत्त्व **महामायात्मनि** उनके उपादान स्वरूप बिन्दु तत्त्व में **ईशाज्ञया** शिव की आज्ञा (अनुशासन) के अनुसार **लीयन्ते** लीन हो जाते हैं।।२३।।

भगवान् के सृष्टि-व्यापार को ऊपर के श्लोक में बताया गया है। अब प्रस्तुत श्लोक में संरक्षण (पालन) और संहार के साथ संभोजन (तिरोभाव और अनुग्रह) व्यापार का स्वरूप इस श्लोक में दिखाया गया है कि मल, कर्म और माया नामक पाशों की सहायता से यह तिरोभाव कृत्य का, अर्थात् विज्ञानाकल के मलमात्र का, प्रलयाकल के मल और कर्म का तथा सकल के मल-कर्म-माया नामक त्रिविध पाशों का विनाश कर उन पर अनुग्रह भी करते हैं। इस प्रकार यह संरक्षण शब्द स्थिति, तिरोधान और अनुग्रह नामक तीनों कृत्यों का बोधक है। संहार शब्द अवान्तरसंहार और महासंहार नामक द्विविध संहार का बोधक है। संहार काल में सृष्टि क्रम से उत्पन्न शिव आदि तत्त्वों का विपरीत क्रम से लय हो जाता है। जैसे कि पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों का गन्ध आदि पाँच तन्मात्राओं में, पाँच तन्मात्राओं, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन का भौत, वैकारिक और तैजस नामक त्रिविध अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में, बुद्धि का गुण में, गुण का प्रकृति (अव्यक्त) में, प्रकृति का राग और विद्या में, पुरुष का काल, नियति और कला में तथा इनका माया में लय हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस तत्त्व से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसीमें उसका लय हो जाता है। इसी तरह से शुद्ध तत्त्वों में भी शुद्धविद्या का ईश्वर में, ईश्वर का सदाशिव में, सदाशिव का शक्ति में और शक्ति का शान्ति कला के ऊपर स्थित शान्त्यतीत कला स्वरूप शिव तत्त्व में लय हो जाता है। यह शिव अपनी उपादान-स्वरूपा महामाया में, बिन्दु में समाविष्ट हो जाता है। शुद्ध तत्त्वों का लय शिव की इच्छा के अनुसार और माया के नीचे के अशुद्ध तत्त्वों का लय अनन्त की इच्छा के अनुसार होता है। अघोरशिवाचार्य के निम्न दो श्लोकों में —

[1]गन्धे भूः सलिलं रसे हुतवहो रूपे मरुत् स्पर्शने
शब्दे स्यात् खमहङ्कृतौ पुनरिमास्तन्मात्रिकास्तामसे ।

कर्माक्षाणि च राजसे सह मनोबुद्धीन्द्रियैः सात्त्विके
बुद्धौ तच्च गुणेषु सा गुणगणोऽव्यक्ते लयं गच्छति ॥

तद्रागविद्ये च कलां प्रयान्ति पुंस्त्वं च कालो नियतिः कला च ।
मायां सुविद्येशमसौ सदेशं स शक्तिमेषा शिवमेव बिन्दुम् ॥

ऊपर बताया गया लय-क्रम ही बहुत संक्षेप में प्रदर्शित है ॥ २३॥

---

१. तत्त्वप्रकाश की वृत्ति (पृ. १०५) में अघोरशिवाचार्य ने "तदुक्तमस्माभिः" कह कर इन्हीं दो श्लोकों को उद्धृत किया है।

प्रकृतितत्त्व पर्यन्त अवान्तर प्रलय और मायातत्त्व पर्यन्त महासंहार काल के परिमाणों को अब दिखाया जा रहा है —

दैवेष्वर्कसहस्रवर्षकयुगाब्धीनां सहस्रेष्वधो-
यातेष्वेव लयस्त्रिलोकविषयस्तस्यैव सर्गेष्वपि ।
प्राप्तेष्वत्र परार्धतां च विलयोऽव्यक्तान्तमस्मात् पुनः
सर्गेष्वस्य गुणादिकस्य च तथा ग्रन्थौ च बिन्दौ लयः ।।२४।।

दैवेषु दैव मान से **अर्कसहस्रवर्षकयुगाब्धीनां** बारह हजार वर्षप्रमाण एक दैव युग होता है। कृत, त्रेता, द्वापर, कलि नामक चार युगों के **सहस्रेषु** एक हजार बार **अधोयातेषु** बीत जाने पर **त्रिलोकविषयः** तीनों लोकों का **लयः** संहार होता है। इसे दैनन्दिन प्रलय कहते हैं। **तस्य** इस त्रिलोकी की **सर्गेष्वपि** पुनः सृष्टि का भी **एवमेव स्यात्** यही काल-परिमाण है। यह चतुर्मुख ब्रह्मा के दिन-रात का परिमाण है। **अत्र** इस तरह के तीन सौ साठ दिनों को जोड़ने से सिद्ध वर्ष की **परार्धतां** परार्ध संख्याविशेष के **प्राप्तेषु** प्राप्त होने पर **अव्यक्तान्तं** अव्यक्त (प्रकृति) तत्त्व पर्यन्त सृष्टि का **विलयः** संहार हो जाता है। यह अवान्तर प्रलय अथवा प्राकृत प्रलय के नाम से जाना जाता है। **अस्मात्** उपादान कारणभूत इन गुणादि तत्त्वसमूहों का **सर्गेषु च** सृष्टिविषयक क्रम भी **तथा स्यात्** ऐसा ही होता है, अर्थात् वह भी परार्ध काल पर्यन्त चलता है। **तथा च** इस तरह से प्रकृति आदि तत्त्वों का सृष्टि-संहार काल दो परार्ध का होता है। इसी तरह के दो परार्ध काल के बाद **ग्रन्थौ** मायातत्त्व में **बिन्दौ च** और सबके उपादानभूत महामायातत्त्व में **लयः** सकल तत्त्वों का संहार हो जाता है। इसे ही महाप्रलय कहते हैं।।२४।।

पृथिवी से गुण पर्यन्त तत्त्वों का जो प्रकृति में लय होता है, उसे अवान्तरसंहार तथा काल और कला पर्यन्त तत्त्वों का माया में लय महासंहार कहलाता है। मनुष्यों का एक वर्ष ३६० दिन का होता है। यह देवताओं के एक दिन के बराबर है। देवताओं के इस तरह के ३६० दिनों से उनका एक वर्ष पूरा होता है और इस तरह के बारह हजार वर्षों का कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युगों का काल माना जाता है। इनमें कृत (सत्य) युग का काल चार हजार वर्ष का और उसका सन्ध्याकाल आठ सौ वर्ष का, त्रेतायुग तीन हजार वर्ष का और उसका सन्ध्याकाल छः सौ चर्ष का, द्वापर युग दो हजार वर्ष का और उसका सन्ध्याकाल चार सौ वर्ष का, कलियुग एक हजार वर्ष

का और उसका सन्ध्याकाल दो सौ वर्ष का माना गया है। इस प्रकार सब मिला कर देवताओं के बारह हजार वर्ष बनते हैं। जैसा कि बताया गया है —

चत्वार्यब्दसहस्राणि वैबुधानि कृतं युगम्।
अष्टौ शतानि यावन्ति सन्ध्यांशस्तावदेव हि॥

एकैकशस्ततोऽन्यानि त्रेताद्यानि युगानि तु।
सन्ध्यासन्ध्यांशयुक्तानि .... ॥

सूतसंहिता में भी बताया गया है —

दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्वर्षैः प्रोक्तं चतुर्युगम्।
कृतं तत्र युगं विप्राः सहस्राणां चतुष्टयम्॥

तस्य सन्ध्या च सन्ध्यांशः प्रोक्तश्चाष्टशताधिकः।
त्रिभिर्वर्षसहस्रैस्तु त्रेता दिव्यैः प्रकीर्तितः॥

कृतार्धं द्वापरः प्रोक्तस्तदर्धं कलिरुच्यते।
क्रमात् सन्ध्या च सन्ध्यांशस्तुरीयांशविवर्जितः॥
(१. ८. ८-१०)

यह प्रमाण देवताओं के वर्ष के अनुसार है। मनुष्यों के वर्ष के अनुसार यह प्रमाण इस प्रकार होगा — देवताओं का एक हजार वर्ष मनुष्यों के तीन लाख साठ हजार वर्ष के बराबर होगा। तदनुसार मनुष्यों के वर्ष के प्रमाण से कृतयुग का काल सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्ष, त्रेता का प्रमाण बारह लाख छियानवे हजार वर्ष, द्वापर का प्रमाण आठ लाख चौसठ हजार वर्ष और कलियुग का प्रमाण चार लाख बत्तीस हजार वर्ष का होगा। इस प्रकार मनुष्यों के वर्ष के अनुसार चारों युगों का प्रमाण तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होगा। हिरण्य (सुवर्ण) मय अण्ड में निवास करने वाले ब्रह्मा के दिन का और रात्रि का भी इतना ही प्रमाण होता है। दिवाकाल ही स्थितिकाल है और रात्रि में सृष्टि का लय हो जाता है। ब्रह्मा की जाग्रदवस्था और स्वापावस्था ही इनमें कारण है। जैसा कि बताया गया है —

स्वव्यापारनियुक्तानामिन्द्राणामायुरुच्यते।
एकैकस्य भवेदायुर्युगानामेकसप्ततिः॥

तैश्चतुर्दशभिः शक्रैर्दिनं कमलजन्मनः।
लोकत्रयस्थितिरियं समासेन तु तावती॥

एतावती च रात्रिः स्याद्यस्यां लोकत्रयं मुने।
लयं याति तमःप्राप्ते तदवस्थमहर्मुखे॥

ब्रह्माऽप्युत्थाय शयनादाविष्टकरुणात्मना ।
रुद्रशक्तिबलाद् भूयो निर्मिणोति जगत् सदा ॥

रात्रिकाल में जो सृष्टि का लय होता है, उसे दैनन्दिन प्रलय कहा जाता है। इस प्रकार के ३६० दिन-रात का ब्रह्मा का वर्ष होता है। परार्ध संख्या पर्यन्त वर्षों की ब्रह्मा की आयु होती है। इसके पूरा हो जाने पर प्रकृतितत्त्व पर्यन्त जगत् का संहार हो जाता है। यही अवान्तर-प्रलय कहलाता है —

चतुर्युगसहस्रान्तमहर्हेमाण्डजन्मनः ।
निशा तावत्यहोरात्रमानेनाब्दपरार्धके ॥
[1]विलयोऽव्यक्तपर्यन्तं प्रकृत्यादि विचार्यते
(वि. १३.१८२-१८३)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में इसीका वर्णन किया गया है। अन्त में सभी अशुद्ध तत्त्वों का माया में और शुद्ध तत्त्वों का महामाया बिन्दु में लय हो जाता है। इसीको महासंहार कहा जाता है। इसका भी स्वरूप मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

एवं गुणादिसर्गाणां परार्धे गुणकारणम् ।
कला लेढि कलां माया स्वाधिकारपराङ्मुखी ॥

तन्निवृत्तौ निवर्तन्ते देवास्तदधिकारिणः ।
सर्गस्थित्यादिको यस्मादधिकारस्तदाश्रयः ॥

एवं मन्त्रेशमुख्येषु विशस्त्वभिमतं पदम् ।
विद्यामत्ति सदातत्त्वं तद्बिन्दुर्बैन्दवं ध्वनिः ॥

नादमत्ति परा शक्तिः शक्तिमीष्टे स्वयं हरः ।
(वि. १३. १८९-१९२)

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में दैनन्दिन [2]प्रलय के साथ अवान्तरप्रलय और महाप्रलय का स्वरूप बताया गया है ॥ २४॥

ऊपर के श्लोक में परार्ध संख्या की चर्चा हुई है। इसको जानने के लिये प्रस्तुत श्लोक में एक से लेकर परार्ध तक की उत्तरोत्तर दशगुणित संख्याओं को बता रहे हैं —

---

[1] "विलयो व्युत्क्रमेणैष प्रकृत्यादि निवार्यते" यह मूल ग्रन्थ का पाठ है।

[2] पुराणवर्णित नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक नामक चतुर्विध प्रलय का परिचय "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" (पृ. २३१-२३६) से प्राप्त किया जा सकता है।

एकं पङ्क्तिशतं सहस्रमयुतं लक्षं प्रपूर्वायुतं
कोटिश्चार्बुदकं च पद्मकमथो खर्वं निखर्वं तथा ।
वृन्दं चैव महासरोजमपरः शङ्खः समुद्रोऽन्तिमो
मध्यं चैव परार्धसंज्ञकमिमां संख्यां विदुः पण्डिताः ।।२५।।

एकं एक पहली, **पङ्क्तिः** दस दूसरी, **शतं** सौ तीसरी, **सहस्रं** हजार चौथी, **अयुतं** दस हजार पाँचवीं, **लक्षं** लाख छठी, **प्रयुतं** दस लाख सातवीं, **कोटिः** करोड़ आठवीं, **अर्बुदकं** दस करोड़ नवीं, **पद्मकं** पद्म दसवीं, **खर्वं** दस करोड़ ग्यारहवीं, **निखर्वं** निखर्व बारहवीं, **वृन्दं** वृन्द तेरहवीं, **महासरोजं** महापद्म चौदहवीं, **शङ्खः** शंख पन्द्रहवीं, **अपरः शङ्खः** महाशंख सोलहवीं, **समुद्रः** समुद्र सत्रहवीं, **अन्तिमः समुद्रः** अति महासमुद्र अठारहवीं, **मध्यः** मध्य उन्नीसवीं और **परार्धसंज्ञकं** परार्ध नाम की बीसवीं। **इमां संख्यां** उक्त बीस प्रकार की दस-दस गुणित संख्याओं को **पण्डिताः** शैवशास्त्र विद्वान् **विदुः** जानते हैं।।२५।।

पूर्व श्लोक में परार्ध संख्या का उल्लेख आया है कि परार्ध संख्या पर्यन्त वर्षों के व्यतीत हो जाने पर ब्रह्मा की भी आयु पूरी हो जाती है। यह परार्ध संख्या क्या है? इसीका वर्णन प्रस्तुत श्लोक में है ॥ २५॥

प्रकृति पर्यन्त अवान्तरप्रलय और माया पर्यन्त महाप्रलय इन दो प्रकार के प्रलयों में कालाग्निरुद्र, शतरुद्र आदि भुवनाधिपति पदों पर नियुक्त करने जैसे शिव के अनुग्रह कृत्य का वर्णन अब करते हैं —

संहारे भुवनेश्वरा हरिरथो ब्रह्मा च तत्प्रापिणो
विज्ञानाकलतां प्रयान्ति पुरतः काले तदात्वेऽपि ये ।
रुक्पाके स्वपदेच्छया विरहिताः शर्वस्य तेऽनुग्रहा-
न्मुक्ताः स्युः स्वपदं दधत्यपि परे तत्तत् परं ते परे ।।२६।।

संहारे दो प्रकार के प्रलय काल में **तत्प्रापिणः** इन संहारों में विलीन हो जाने वाले **भुवनेश्वराः**-शतरुद्र आदि भुवनाधिपति, **हरिरथो ब्रह्मा च** विष्णु और ब्रह्मा — ये सब **विज्ञानाकलतां** विज्ञानाकल नामक पदवी को **प्रयान्ति** प्राप्त करते हैं। **तदाख्ये काले** महासंहार काल से **पुरतः** पहले ये जो भुवनाधिपति **रुक्पाके** मल का परिपाक हो जाने से **स्वपदेच्छया विरहिताः** अपने-अपने पदों पर बने रहने की इच्छा नहीं रखते, **ते** वे सब **शर्वस्य**

भगवान् शिव की **अनुग्रहात्** परम कृपा से **मुक्ताः स्युः** मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। **परे तु** अपने-अपने पदों पर बने रहने की इच्छा वाले अन्य जीव **स्वपदं** माया में शक्ति रूप में स्थित अपने-अपने अधिकृत पदों को **दधति** धारण किये रहते हैं। **परे ते** शुद्धाध्वा में स्थित अनन्त आदि **तत्परं** इनसे ऊपर स्थित **तत्** उस प्रमाणसिद्ध शिवपद को **दधति** धारण करते हैं, अर्थात् शिवपद को प्राप्त कर लेते हैं।।२६।।

महासंहार काल में शतरुद्र आदि भुवनेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी विज्ञानाकल अवस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उस समय सभी अशुद्ध तत्त्व माया में लीन हो जाते हैं। अवान्तरसंहार काल में नीचे के सभी तत्त्वों का प्रकृति में लय हो जाता है। उस समय उन उन भुवनों के अधिपति अपनी-अपनी शक्ति की सहायता से सूक्ष्म शरीर के साथ विद्यमान सभी जीवों को अपने में समेट कर प्रकृति में विश्राम करते हैं। उस समय भी शतरुद्र आदि की स्वतन्त्र स्थिति रहती है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

तदा रुद्रशतं वीरश्रीकण्ठौ च प्रधानपाः ।
शक्त्याक्रम्य जगत्सूक्ष्मं सूक्ष्मदेहांश्च चिद्वतः ॥
प्रकृतिस्थाशयान् कालं यावत्स्वापान्तमासते ।
(वि. १३.१८३-१८४)

पुनः अवान्तरसृष्टि काल का प्रारंभ होने पर अनन्त आदि रुद्रों से प्रेरित होकर ये शतरुद्र आदि पुनः अपने-अपने भुवनों के अधिकार को सँभाल लेते हैं। जैसा कि मृगेन्द्रागम में ही कहा गया है —

शिवेष्टमन्त्रभृन्नुन्नमण्डलाधिपतीरिताः ।
काले जगत्समुत्पाद्य स्वाधिकारं प्रकुर्वते ॥
(वि. १३. १८५)

महासंहार काल में शक्ति रूप में माया में विद्यमान भुवनों में अतिसूक्ष्म रूप में स्थित होकर ये अधिकारीगण प्रकृति आदि के भुवनों और भुवनेश्वरों के प्रति अपने अधिकार से मुक्त होकर विज्ञानाकल रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है। मल-परिपाक हो जाने पर ईश्वर के अनुग्रह से इनमें से कुछ मुक्त हो जाते हैं और जिनका अधिकार-मल बचा रहता है, वे अनन्त आदि के रूप में शिवभाव को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २६॥

संहार काल में विभिन्न आत्माओं की स्थिति का निरूपण कर अब ज्ञानपाद के इस अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकार यह बताते हैं कि भगवान् शिव

के सृष्टि, संहार आदि सभी कार्य जीवों को भोग और मोक्ष प्रदान करने हेतु सम्पन्न होते हैं —

विश्रान्त्यै भविनां च खिन्नमनसां पाकाय कर्मावले-
र्मायावाग्बलसंभवाय कुरुते शम्भुर्महासंहृतिम् ।
शिष्यन्ते पशवः सशक्तिरमलः शम्भुश्च मायाद्वयं
सृष्ट्याद्यं दयया ततश्च कुरुते भोगाय पुंसां पुनः ।।२७।।

।। इति श्रीत्रिलोचनशिवाचार्येण विरचितायां
श्रीमत्सिद्धान्तसारावल्यां ज्ञानपादः
प्रथमः समाप्तः ।।

भविनां सांसारिक बन्धनों से बँधे हुए **खिन्नमनसां** दुःखी मन वाले आत्माओं की **विश्रान्त्यै** बार-बार के आवागमन से पैदा हुई थकावट को दूर करने के लिये, **कर्मावलेः पाकाय** अनेक जन्मों में संचित कर्म-परम्परा के परिपाक से लिये **मायावाग्बलसंभवाय च** और माया एवं महामाया के शरीर, इन्द्रिय, भुवन, भोग आदि के रूप में निरन्तर चल रहे व्यापारों को चलाते रहने के लिये **शम्भुः** भगवान् शिव **महासंहृतिं** महाप्रलय को **कुरुते** संपादित करते हैं। उस काल में **पशवः** सभी बद्ध जीव, **सशक्तिः** ज्ञान-क्रिया शक्ति से सम्पन्न, **अमलः** निर्मल, सभी प्रकार के आणव आदि मलों से अस्पृष्ट **शम्भुः** भगवान् शिव, **मायाद्वयं च** शुद्ध एवं अशुद्ध भुवनों की उपादान कारणभूत महामाया तथा माया **शिष्यन्ते** बचे रहते हैं। **ततश्च** संहार काल की समाप्ति के बाद **पुंसां** बद्ध जीवों के **भोगाय** भोग-मोक्ष के लिये **दयया** दया कर के भगवान् शिव **पुनः सृष्ट्याद्यं** पुनः सृष्टि आदि व्यापारों को **कुरुते** संचालित करते हैं।।२७।।

।। इस प्रकार श्री त्रिलोचन शिवाचार्य कृत सिद्धान्त-
सारावलि नामक ग्रन्थ का यह प्रथम
ज्ञानपाद समाप्त हुआ ।।

भगवान् शिव संसार में परिभ्रमण से थके हुए लोगों के विश्राम के लिये और संसार से विरक्त व्यक्तियों के मल का परिपाक करने के लिये महासंहार में भी प्रवृत्त रहते हैं। महासंहार काल में जीव को जीवन-मरण के चक्कर से मुक्ति मिल जाती है,

अतः उसकी थकावट दूर हो जाती है। संहारकाल में नये भोगों के अभाव में उसके वर्तमान भोगों का ही परिपाचन होता रहता है। इसी तरह से भगवान् शिव माया और महामाया (बिन्दु) को भी महासंहार काल में विश्राम देकर उनके बल का संवर्धन करते हैं। निरन्तर नये नये शरीरों, इन्द्रियों, भुवनों आदि की सृष्टि करते रहने से शुद्ध और अशुद्ध भुवनों की उपादान-स्वरूपा माया और महामाया थक जाती हैं। महासंहार काल में उनको यह सब नहीं करना पड़ता, अतः उनको विश्राम मिल जाता है, उनकी थकावट दूर हो जाती है और उनमें नये बल का संचार होता है। इस महासंहार के भी प्रवर्तक शिव ही हैं। जैसा कि तत्त्वप्रकाश में बताया गया है —

संसारे खिन्नानां निखिलानां प्राणिनां प्रभुः कृपया।
कुरुते महार्थसंहृतिमेतेषामेव विश्रान्त्यै ॥
(श्लो. ७०)

अवान्तरसंहार की प्रयोजकता अनन्तेश्वर आदि में है, क्योंकि मायान्त सृष्टि के कर्ता वे ही हैं। संहार के बाद शिव का सृष्टि-व्यापार पुनः चलता है। इस प्रकार शिव निरन्तर पंचकृत्य में प्रवृत्त रहते हैं। नई सृष्टि में पहले से संचित कर्मों के उपभोग के बाद जीव कर्मबन्धन से मुक्त हो जाय, यह अनुग्रह दृष्टि ही उनको प्रेरित करती है। किरणागम में यही विषय वर्णित है —

अनेकभविकं कर्म दग्धं बीजमिवाणुभिः।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः ॥
(वि. ६.१९)

महासंहार काल में शक्ति के साथ शिव, जीव और मायाद्वय (महामाया और माया) बचे रहते हैं, इसकी सूचना तत्त्वत्रयनिर्णय में भी दी गई है—

शम्भुः[१] पुरुषो माया नित्यं विभु कर्तृशक्तियुक्तं च।
सुप्तेऽपि विकृतिजाते त्रितयं जागर्ति तत्त्वानाम् ॥
(श्लो. ३)

यहाँ मायापद महामाया और माया दोनों का बोधक है ॥ २७॥

---

[१] भोजदेव कृत तत्त्वप्रकाश में यह विषय इस प्रकार वर्णित है —
माया पुरुषः शिव इत्येतत्त्रितयं महार्थसंहारे ।
अवशिष्यते पुनस्तत् प्रवर्तते पूर्ववत् सृष्टौ ।। (श्लो. ६९)

* * *

क्रियापादो द्वितीयः

अब ग्रन्थकार क्रियापाद का उपदेश करने के लिये उद्यत हैं। यहाँ सर्वप्रथम यह बताया जा रहा है कि दीक्षा के लिये मल-परिपाक के अनुगुण शक्तिपात को सामने रखकर तदनुसार दीक्षा स्वीकार कर शिवभक्त को समयाचारों का सदा पालन करते रहना चाहिये —

मूले कालेन पक्वे पतति नरवरे शक्तिराद्या भवेऽस्मिन्
द्वेषो निःश्रेयसेच्छा गुरुवरभजनं तद्‌गतेशोऽस्य हौत्र्या ।
पाशान् संच्छिद्य शक्त्या नयति शिवपदं व्यञ्जयंस्तच्छिवत्वं
दीक्षापूतोऽङ्ग पाशक्षयकरसमयाचारमेषोऽनुतिष्ठेत् ।।१।।

मूले अनादि काल से चले आ रहे संसार के मूल कारण आणव मल के **कालेन** समय आने पर **पक्वे** (सति) परिपक्व हो जाने पर **आद्या शक्तिः** प्रधान अनुग्रह शक्ति **नरवरे** पुरुषश्रेष्ठ पर **पतति** अनुग्रह करती है, अर्थात् उस पर शक्तिपात होता है। (तदा अस्य) उस समय उस पुरुष को **अस्मिन् भवे** इस संसार के प्रति **द्वेषः** द्वेष, **निःश्रेयसेच्छा** मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा **गुरुवरभजनं** और श्रेष्ठ गुरु की सेवा करने की इच्छा (भवति) होती है। (अथ) शक्तिपात के ऐसे चिह्नों को देखकर **तद्‌गतेशः** उस सद्‌गुरु में अधिष्ठित परमशिव **अस्य** सद्‌गुरु के संनिधान में स्थित इस शिष्य के **पाशान्** मल, माया और कर्म नामक त्रिविध पाशों को **हौत्र्या** कुण्ड-मण्डल आदि में सम्पन्न होने वाली मान्त्रिक दीक्षा नामक **शक्त्या** पाशसूत्रों का छेदन करने वाली ज्ञानशक्ति रूप खड्‌ग से **संच्छिद्य** पूरी तरह से काट कर **तच्छिवत्वं** उसके शिवस्वरूप को **व्यञ्जयन्** सन् प्रकाशित करते हुए **शिवपदं नयति** शिवपदवी को प्राप्त करा देते हैं। **दीक्षापूतः** इस प्रकार दीक्षा से शुद्ध हुआ **एषः** यह शिष्य **अनन्तरं** दीक्षा मिल जाने के बाद यावज्जीवन **अङ्ग !** **पाशक्षयकरसमयाचारं** मल आदि पाशों को नाश करने वाले शैवागमोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्मों तथा आचारों का **अनुतिष्ठेत्** अनुष्ठान करता रहे।।१।।

समय आने पर जैसे मोतियाबिन्द पक जाता है, उसी तरह से आत्मगत मल का भी परिपाक होजाता है। धर्माधर्मात्मक कर्म का समविभाग ही वह काल है, जिसके कारण मल का पाक होजाता है। धर्माधर्मात्मक कर्म में कभी समानता नहीं आने पाती। इनमें न्यूनता अथवा अधिकता सदा बनी रहती है। जिसकी अधिकता रहती है, वही फलदान में पहले प्रवृत्त हो जाता है। यह अपने फल का उपभोग करा कर जब दुर्बल पड़ जाता है, तो दूसरा फलदान में प्रवृत्त होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसी निरन्तरता में कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि भोग देने वाले पुण्य-पाप रूप दोनों कर्म समान स्थिति में आ जाँय। आत्मा स्वर्ग और नरक का एक साथ उपभोग नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और अधर्म का फल एक साथ नहीं मिल सकता। यही स्थिति **कर्मसाम्य** के नाम से **शैवागमों** में कही गई है। जैसा कि बताया जाता है —

कर्मांशो योऽधिकः पूर्वं भोगदस्त्वितरः पुनः।
समत्वे सति यो भोगः कथं तस्य प्रजायते॥
(कि. वि. ५. १०)

इस कर्मसाम्य दशा के आने पर जीव पर शक्तिपात होता है। शिव अपनी तिरोधान शक्ति के व्यापार को समेट कर उस पर अनुग्रह करता है, शक्तिपात के रूप में उस पर अपनी अनुग्रह (कृपा) दृष्टि डालता है। **शक्तिपात** शब्द पर प्रश्न उठ सकता है कि शिव की यह शक्ति तो सर्वत्र व्याप्त है, उसका पात कैसा? इसका समाधान यह है कि शब्दों के अर्थ मुख्य और गौण के भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं। यहाँ गौण अर्थ में इस शब्द की प्रवृत्ति माननी चाहिये, मुख्य अर्थ में नहीं। **किरणागम** में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। जैसे कि —

उपचारेण शब्दानां प्रवृत्तिरिह दृश्यते।
यथा पुमान् विभुर्नित्यो विनष्टः शिवतां गतः॥
(वि. ५. ३)

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे आत्मा के नित्य होने पर भी देहपात के कारण उसके नष्ट हो जाने की बात कही जाती है, उसी तरह उसके विभु (व्यापक) होने पर भी मुक्तिदशा में वह शिवभाव को प्राप्त हो गया, ऐसा कहा जाता है। उसी तरह से शक्तिपात शब्द की भी प्रवृत्ति औपचारिक माननी चाहिये।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि शक्तिपात शब्द का प्रयोग भले ही औपचारिक हो, किन्तु यह अमूर्त शक्तिपात आत्मा का क्या भला कर सकता है? उससे आत्मा में कौन

सी विशेषता आ जायगी? इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तु के गिरने पर मनुष्य भय से आक्रान्त हो जाता है। इस गाँव पर राजा की कोपदृष्टि पड़ेगी, ऐसा सुनकर गाँव के लोग वहाँ से भाग कर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच कर अपनी रक्षा करते हैं, उसी तरह से यह अमूर्त शक्तिपात भी संसार के प्रति भय उत्पन्न कर देता है। शक्तिपात से पहले व्यक्ति को संसार के सुख लुभावने लगते हैं, किन्तु शक्तिपात हो जाने के बाद उसके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और वह संसार के भय से मुक्त होने के लिये समर्थ गुरु की खोज में निकल पड़ता है। जैसा कि यहाँ कहा गया है—

निपातो भयदो यद्वद् वस्तुतः सहसा भवेत्।
तस्मादन्यत्र यात्येव तदात्मा देशिकं प्रति॥
(क्रि. वि. ५. ५)

शक्तिपात के चिह्नों को शास्त्रों में बताया गया है। सकल आत्मा में ही ये चिह्न प्रकट होते हैं, विज्ञानाकल और प्रलयाकल में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि शक्तिपात होने पर मैं कौन हूँ, दुःख का खजाना यह शरीर ही क्या मैं हूँ, ऐसा विचार करते करते मनुष्य में दुःख से मुक्ति पाने की इच्छा जाग उठती है और उसमें शक्तिपात के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। इन्हीं चिह्नों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस जीव पर ईश्वर की कृपा हुई है —

येषां शरीरिणां शक्तिः पतत्यविनिवृत्तये।
तेषां तल्लिङ्गमौत्सुक्यं मुक्तौ द्वेषो भवस्थितौ॥

भक्तिश्च शिवभक्तेषु श्रद्धा तच्छासके विधौ।
अनेनानुमितिः शिष्टहेतोः स्थूलधियामपि॥

ईषदर्थनिवृत्ते तु रोधकत्वे तमःपतेः।
भवन्त्येतानि लिङ्गानि किञ्चिच्छिष्टे च देहिनाम्॥

यदा स्वरूपविज्ञानं पतितेति तदोच्यते।
(वि. ५. ४-५, ८)

मृगेन्द्रागम के इन वचनों में भी शक्तिपात के चिह्नों को स्पष्ट किया गया है। गुरुवर (सद्गुरु) का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार से वर्णित है —

विद्यापादार्थकुशलः क्रियापादगतक्रमः।
योगपादकृताभ्यासश्चर्यापादानुवर्तकः॥

शिवशास्त्रपरो नित्यं शिवपूजाग्नितत्परः।

ऐसे ही गुरुवर (आचार्य) को आलम्बन बनाकर भगवान् शिव जीव पर अनुग्रह करते हैं। जैसा कि कहा गया है —

आचार्यमूर्तिमास्थाय चतुर्धा शक्तिपाततः।
भगवाननुगृह्णाति स एव सकलानपि॥

ऐसा गुरुवर शास्त्रों में शिवस्वरूप ही माना जाता है —

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तः यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
गुरुर्वा शिव एवाथ विद्याकारेण संस्थितः॥

यथा शिवस्तथा विद्या यथा विद्या तथा गुरुः।
शिवविद्यागुरूणां च पूजया सदृशं फलम्॥

सर्वदेवात्मकश्चासौ सर्वमन्त्रमयो गुरुः।
तस्मात् सर्वप्रकारेण तस्याज्ञां शिरसा वहेत्॥

ऐसा ही गुरु हौत्री दीक्षारूप क्रियाशक्ति और कर्तरीरूप ज्ञानशक्ति की सहायता से शक्तिपात-सम्पन्न शिष्य के पाशों का छेदन कर देता है। जैसा कि यहाँ कहा गया है —

कर्तरी ज्ञानशक्तिः स्याद् यया पाशान् छिनत्त्यसौ।
सा कला परमा सूक्ष्मा मन्त्राणां बोधिनी परा॥
कर्तरी कर्तृरूपेण ज्ञातव्या देशिकोत्तमैः।

यह सद्गुरु शिष्य में शिवत्व की अभिव्यक्ति कर शक्तिपात के आधार पर रुद्रपद, विद्येश्वरपद, मन्त्रेश्वरपद अथवा शिवपद को प्रदान करता है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में कहा गया है—

रुद्रमन्त्रपतीशानपदभाजो भवन्ति ते।
स्थितौ याननुगृह्णाति गुरुमास्थाय चिद्व्रतः॥
(वि. ५. ३)

दीक्षाप्राप्ति के उपरान्त समयी, पुत्रक और साधक को गुरुप्रदत्त समयाचारों का पालन अवश्य करना चाहिये, अन्यथा वह प्रायश्चित्त का भागी होता है और प्रायश्चित्त न करने पर पिशाच योनि को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा गया है—

समयाचारलोपेन यान्ति शैवाः पिशाचताम्।

समयाचारों का वर्णन आगमों में इस प्रकार किया गया है —

समयीपुत्रकाद्यानां साधकस्य विशेषतः ।
नित्यं क्रमेण कथितं यावज्जीवं शिवाज्ञया ॥

स्नानं पूजा जपो ध्यानं होमश्चैव तु पञ्चमः ।
इति नित्यं सदा कुर्यान्नित्याङ्गं प्रोच्यते पुनः ॥

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि ।
पञ्चदश्यां दिनध्वंसे संक्रान्तौ विषुवायने ॥

मासवृद्धौ दिनाधिक्ये षडशीतिमुखेष्वपि ।
रवीन्दुग्रहणे चैव द्विगुणार्चाजपादिकम् ॥

चातुर्मास्येऽपि तद्वत् स्याद् व्रतं नक्तं हविष्यभुक् ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां न भोक्तव्यं कदाचन ॥

इति नित्याङ्गमेवोक्तं नैमित्तिकमथोच्यते ।
दीक्षा चैव प्रतिष्ठा च ज्ञेयं नैमित्तिकं द्विधा ॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यमाचार्यस्योदितं त्रयम् ।
गुरुणापि त्रयं कार्यं व्याख्यानं देशिकेन तु ॥

नित्यं काम्यं साधकस्य स्वशास्त्रोक्तं षडानन ।
समयीपुत्रकाभ्यां तु नित्यमेव प्रकीर्तितम् ॥

स्वशास्त्रोक्तं प्रकर्तव्यं परशास्त्रं न कारयेत् ।
न निन्देत् कारणं देवं न शास्त्रं तेन भाषितम् ॥

न गुरुं साधकं चैव लिङ्गच्छायां न लङ्घयेत् ।
नाद्यान्न लङ्घेन्निर्माल्यं न दद्याच्छिवदीक्षिते ॥

शिवाग्निगुरुपूजा च कर्तव्या जीवितावधि ।
न शून्यमस्तकं लिङ्गं दृष्ट्वा यायात् कदाचन ॥

इत्यादि समयाचारः पालनीयः शिवार्थिभिः ।

इस प्रकार यहाँ नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का एवं समयाचारों का विस्तार से वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

शिवदीक्षा प्राप्त कर शास्त्रविधि के अनुसार समयाचारों का पालन करने वाला शरीरपात के बाद शिवपद को प्राप्त करता है, यही विषय अब प्रतिपादित किया जा रहा है —

स्वाम्नायज्ञानसिद्धाचरणमविकलं चाचरन् विप्लुतौ त-
न्निष्कृत्याढ्यो मृतोऽन्ते शिवनिहितमनास्त्वन्त्ययागाच्छिवत्वम् ।
लब्ध्वा व्याप्त्याप्तविश्वः परमशिवसमोऽनीशिता तेन शक्तो
नैजाह्लादैकपूर्णो निखिलपरिवृतः शङ्करप्रीतिरास्ते ।।२।।

(एवं) इस प्रकार **स्वाम्नायज्ञानसिद्धाचरणं** अपने आम्नाय (शास्त्र) कामिक आदि तन्त्रों का अध्ययन कर निश्चित समयाचारों का **अविकलं** पूरी तरह से भलीभांति **आचरन् सन्** आचरण करने वाला, **विप्लुतौ** सत्यां अज्ञानवश किसी समयाचार का लोप हो जाने पर **तन्निष्कृत्याढ्यः** शास्त्र में निर्दिष्ट विधि से प्रायश्चित्त करने वाला **अन्ते** प्राणों के निकलते समय **शिवनिहितमनाः** परशिव में अपने मन को लगा कर **मृतः** मरण प्राप्त दीक्षित **अन्त्ययागात्** अन्त्येष्टि संस्कार की सहायता से पवित्र होकर **शिवत्वं लब्ध्वा** शिवस्वरूप को प्राप्त कर **व्याप्त्या** अपने व्यापक स्वभाव के कारण **आप्तविश्वः** सर्वज्ञत्व आदि समस्त शिवगुणों को प्राप्त कर **परमशिवसमः** परमशिव के समान हो जाता है। **तेन** उस परशिव के अनुग्रह से **शक्तोऽपि** सृष्टि आदि पंचकृत्यों में समर्थ होते हुए भी **अनीशिता** सन् वह ऐसा नहीं करतां, **नैजाह्लादैकपूर्णः** किन्तु अपने स्वाभाविक आनन्द से परिपूर्ण होकर **निखिलपरिवृतः** समस्त मुक्त आत्माओं के साथ **शङ्करप्रीतिः** परशिव के समान सन्तोष का अनुभव करते हुए **आस्ते** उस मुक्त स्थिति में निवास करता है।।२।।

शैवसिद्धान्त के कामिक आदि आगमों में वर्णित सिद्धान्तों का पालन शैव धर्म के अनुयायी को अवश्य करना चाहिये, इस बात का प्रतिपादन **कामिकागम** में इस प्रकार किया गया है —

श्रुतिस्मृत्यादिसंसिद्धमनुष्ठानं तु यद् भवेत् ।
आवश्यके वा शौचे वा स्नाने वाचमनेऽपि वा ॥

संध्याया वन्दने वापि तर्पणे होमकर्मणि ।
वेदाध्ययनसंस्कारे सोमयागादिकेऽपि वा ॥

गर्भाधानादिके वापि दहने श्राद्धकर्मणि ।
अष्टकाकरणे वापि नित्यनैमित्तिकेऽपि वा ॥

वेदाध्ययनकादौ च द्विजानां विहितं तु यत् ।
तत्सर्वं चैव कर्तव्यं न वाऽवश्यं तु शैवकम् ॥

कर्तव्यं चेदनुष्ठेयं शैवकर्माविरोधि यत्।
विरुद्धं चेत् परित्याज्यं न तु शैवं परित्यजेत्॥
संग्राह्यं वैदिकं सर्वं शैववाक्याविरोधि यत्।

मोहशूरोत्तर के निम्न वचन में भी शैवागमों को विशेष स्थान दिया गया है —

श्रुतिस्मृतिपुराणाद्या आगमा धर्मदेशकाः।
सामान्यं च विशेषं च शैवं वैशेषिकं वचः॥

श्रौत और शैव धर्मों का अनुष्ठान लोकधर्मिणी दीक्षा से सम्पन्न शैवों के लिये ही है। शैवधर्मिणी दीक्षा तो उन्हीं को दी जाती है, जिन्होंने लौकिक और वैदिक आचारों का परित्याग कर दिया है। "शिवधर्मिण्यणोर्मूलं शिवधर्मफलाश्रया" यह वचन शिवधर्मिणी दीक्षा की विशेषता को बताता है। "वैदिकीं च पुरा कृत्वा ततः शैवीं समाचरेत्" यह वचन लोकधर्मिणी दीक्षा का और "इतरस्तु विरागात्मा लौकिकार्थपराङ्मुखः। कुर्याद् ब्राह्मीं न वा कुर्याच्छैवीमेव नियोगतः॥" यह शिवधर्मिणी दीक्षा का विधायक है। श्रौत सन्ध्या के अनुष्ठान में इच्छानुसार विकल्प दिया गया है, उसको मुख्य नहीं माना गया है। जैसा कि —

भौतिको नैष्ठिकस्तद्वद् ब्राह्मीं कुर्यात् पुरा न वा।
शैवी तु नियमेनैव सेव्या पतनमन्यथा॥

इस वचन में कहा गया है। समयाचार का लोप सकाम और अकाम के भेद से दो तरह का होता है। जान-बूझकर किया गया लोप सकाम और दैव आदि के कारण हुआ अकाम कहा जाता है—

दैवाद् रोगात् तथा मोहाद् राजचोरभयादिभिः।
एभिर्दोषैरकामत्वं शेषैर्ज्ञेया तु कामिता॥

इस वचन में सकाम और अकाम के भेद को स्पष्ट बताया गया है। प्रस्तुत वचन में मोह शब्द का अर्थ शास्त्र के अर्थ को सही रूप में न समझना है। जैसे कि लोकधर्मिणी दीक्षा में ही श्रौत और शैव उभय धर्मों का अनुष्ठान विहित है, शैवधर्मिणी में नहीं। समयाचार का लोप होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है, अन्यथा दीक्षा निष्फल हो जाती है। जैसा कि कहा गया है —

प्रायश्चित्तं प्रकर्तव्यं शास्त्रोक्तं गुरुभाषितम्।
अन्यथा निष्फला दीक्षा कर्मकाण्डं च तस्य हि॥

ऐसा दीक्षित व्यक्ति अपनी मृत्यु के समय ज्ञानपाद के प्रथम श्लोक की व्याख्या में बताई गई पद्धति से हृदय आदि स्थानों में ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के त्याग के साथ मूलाधार से उत्थित नाद स्वरूप [१]प्रासाद मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग करे। ऐसा करने में असमर्थ व्यक्ति ब्रह्मरन्ध्र के भेदन की भावना करता हुआ द्वादशान्त पद में स्थित परशिव के साथ एकीकार की भावना करता हुआ शान्तभाव से प्राणत्याग करे। त्रिशतिकालोत्तर में इसकी पद्धति इस प्रकार वर्णित है —

आसनं पद्मकं बद्ध्वा [२]यथासुखमथापि वा।
मूर्ध्नि चित्तं समाधाय मनसोच्चारयेद्धरम् ॥

शनैः शनैः समाकृष्य बाह्यनाड्यां व्यवस्थितम्।
रुद्रशक्त्यग्रतो ध्यायेत् कुण्डल्यग्रेऽरुणप्रभम् ॥

यावन्तं घटिकामार्गं ततो हिक्कां च कारयेत्।
सम्पूर्य प्रक्षिपेत् स्कन्द वायुं श्रोत्रे व्यवस्थितम् ॥

निष्पीड्योर्ध्वं तु कुर्वीत यावत् तत्स्वस्तिकं गतम्।
सदाशिवं तु तस्योर्ध्वं बिन्दुनादं तथोपरि ॥

बिन्दुनादं परित्यज्य ततः शक्तिमनुव्रजेत्।
शक्तिं त्यक्त्वा व्रजेदन्तः शिवं परमकारणम् ॥

यत्र गत्वा न जायेत [३]प्रतिज्ञा ननु पुत्रक।
इति संक्षेपतः प्रोक्ता चोत्क्रान्तिस्तव सुव्रत ॥

---

१. प्रासाद मन्त्र का स्वरूप अभी आगे विस्तार से बताया जायगा। "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।" (८.१२) भगवद्गीता में निर्दिष्ट पद्धति से ही यहाँ देहत्याग के समय प्रासाद मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

२. "स्थिरसुखमासनम्" (२.४६) इस योगसूत्र के व्यासभाष्य में यद्यपि स्थिरसुख और यथासुख नाम के आसनों का परिगणन किया गया है, किन्तु "स्थिरमासनमात्मनः" (६.११) भगवद्गीता की इस उक्ति के अनुसार यहाँ 'यथासुख' का अभिप्राय योगी के उस अभिप्रेत आसन से है, जिसको बाँध कर वह लम्बे समय तक स्थिरता के साथ आराम से बैठ सकता हो।

३. "सर्वचिन्तां परित्यज्य" इत्यादि श्लोक इसी आशय का बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

इस पद्धति को करने में समर्थ व्यक्ति के लिये यह विधान है। असमर्थ व्यक्ति के लिये देशिक (कुलगुरु) को अथवा अन्य शुभचिन्तक को यह सब करना चाहिये। **कामिकागम** का कहना है —

पठेदुत्क्रान्तिसमये कर्णोपान्तेऽणुसंहिताम्।
विशेषाच्छिवमन्त्रं च मन्त्रं पञ्चाक्षरं तु वा॥

एतत्सर्वं विधेयं स्याद् देशिकेनेतरेण वा।

प्रस्तुत श्लोक में अन्त्ययाग, अर्थात् अन्त्येष्टि से शिवत्व की प्राप्ति बताई गई है, यह उचित नहीं है, क्योंकि शिवत्व की प्राप्ति तो दीक्षा के कारण पाशों के कट जाने से उसी समय हो जाती है? इसका समाधान इस प्रकार है— दीक्षा हो जाने के बाद व्यक्ति अपने अज्ञान के कारण समयाचार का लोप कर बैठता है और अज्ञान के कारण ही वह इस दोष की शान्ति के लिये प्रायश्चित्त नहीं करता। ऐसी स्थिति में अन्त्येष्टि के समय इन दोषों का परिहार होने पर ही शिवत्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसीलिये आगमों में बताया गया है कि समयाचारों का पालन करने वाले की अन्त्येष्टि तत्त्वशुद्धि के बिना केवल [१]शिवाग्नि से की जाती है। इसके विपरीत समयाचारों का लोप करने वालों की अन्त्येष्टि में तत्त्वशुद्धि आवश्यक हो जाती है। जैसा कि **कामिकागम** में कहा गया है —

आचार्याः साधका वा स्युः पुत्रकाः समयस्थिताः।
गतासवो यदा तेषां कार्याऽन्त्येष्टिस्तु दीक्षितैः॥

आचार्याद्यास्त्रयश्चैते यद्याचारविवर्जिताः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणा मृताश्चान्त्येष्टिकर्मणा॥

तत्त्वशुद्ध्यादि नित्यादिकर्म सम्यगनुष्ठितम्।
परिहृत्य निषिद्धं च यैस्तेषामप्रमादिनाम्॥

तत्त्वशुद्धिं विहायैव केवलान्त्येष्टिरुच्यते।

अन्त्येष्टि संस्कार के द्वारा शिवभाव की प्राप्ति हो जाने पर उनमें सर्वज्ञता, तृप्तता, अनादिबोधता, स्वतन्त्रता, नित्यमलुप्तशक्तिता, अनन्तशक्तिता, निरामयात्मता, विशुद्धदेहता जैसे गुण अभिव्यक्त हो उठते हैं और वे परमशिव के समान हो जाते हैं। अन्य शास्त्रों की अपेक्षा सिद्धान्तशास्त्र की यही विशेषता है — "अन्यतन्त्रेषु ये मुक्ताः

---

[१] चन्द्रज्ञानागम (१.११.४७-५७), मकुटागम (१२.२४-३३), पारमेश्वरागम (४.१-४३) आदि में वैदिक पद्धति से ही शिवाग्नि के सम्पादन आदि का विधान मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी यह विषय प्रधानतः वैदिक पद्धति का ही अनुसरण करता है।

सिद्धान्ते पशवो मताः''। सर्वज्ञ परमशिव-प्रणीत शास्त्र ही मुक्ति दिला सकता है। रौरवागम में —

पशूनां भुक्तिमुक्त्यर्थमाप्तः पशुपतिः शिवः।
यदाप्तवाक्यमकरोदाप्तवाक्यं तदागमः॥

और [१]वायुपुराण के उपमन्यु-कृष्ण संवाद के इस वचन में —

शिवागमोक्तं यज्ज्ञानं तदेव ज्ञानमुत्तमम्।
श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तः शिवायैष शिवागमः॥
शिवाश्रितानां कारुण्याच्छ्रेयसामेष साधनम्।
(२. ७. ३८-३९)

यही विषय प्रतिपादित है। इस तरह मुक्तात्मा में और शिव में समानता हो जाने पर भी सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह नामक पंचकृत्य के सम्पादन की सामर्थ्य शिव में ही रहती है, मुक्त पुरुष में नहीं। जैसाकि निम्न वचन से स्पष्ट है —

जगत्सृष्टिस्थितिध्वंसतिरोभावविमुक्तयः।
कृत्यं सकारकफलं ज्ञेयमस्यै तदेव हि॥

भोजदेव ने तत्त्वप्रकाश में इस विषय को अधिक स्पष्ट और सरल रूप में प्रस्तुत किया है—

मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥
(श्लो. ६)

'मुक्तात्मानः' यहाँ बहुवचन के प्रयोग से अनेक[२] मुक्तात्माओं की स्थिति स्पष्ट होती है। इनको पुनः सृष्टि में नहीं आना पड़ता। शिवधाम में ही मुक्तात्मा के रूप में इनकी स्थिति बनी रहती है, जैसा कि मृगेन्द्रागम के विद्यापाद में कहा गया है —

शैवे सिद्धो भाति मूर्ध्नीतरेषां मुक्तः सृष्टौ पुंवरोऽभ्येति नाथः।
विश्वानर्थान् स्वेन विष्टभ्य धाम्ना सर्वेशानानीशितः सर्वदास्ते॥
(२. २९)

इस प्रकार सिद्धान्तशैव दर्शन के अनुसार मुक्ति का स्वरूप यही है॥ २॥

---

[१] यह वचन शिवमहापुराण की सातवीं वायवीय संहिता के उत्तरार्ध में मिलता है।

[२] जैन वाङ्मय में सिद्धशिला में विचरण करने वाले सिद्धों से इनकी तुलना की जा सकती है।

मलपरिपाक और शक्तिपात की मन्दता-तीव्रता के अनुसार ही शास्त्रों में विविध दीक्षाओं का विधान है। ऊपर के श्लोक में तदनुसार सकल जीवों के लिये दीक्षा का विधान बता कर अब विज्ञानाकल और प्रलयाकल जीवों के लिये दीक्षा का विधान करते हैं —

अत्यन्तं तीव्रपाके रुजि च भवमहाक्लेशदैन्यार्दितः सन्
शम्भोर्मुक्तिः कदेति स्वतनुविधरणे निस्पृहोऽन्यो विचिन्वन् ।
मां कोऽस्मादत्र शक्तः शिवपदमतुलं योक्तुमित्याकलय्य
प्राप्यैनं छिन्नपाशः स्वतनुविरहितो याति सद्यः शिवत्वम् ।।३।।

रुजि आणव मल का **अत्यन्तं तीव्रपाके** अत्यन्त तीव्र परिपाक होने पर **अन्यः** विज्ञानाकल जीव **भवमहाक्लेशदैन्यार्दितः सन्** संसार के संबन्ध से प्राप्त सीमातीत दुःखों के अनुभव के कारण आयी दीनता से पीड़ित होकर **शम्भोः** शिव के अनुग्रह से **मुक्तिः** मोक्ष **कदा स्यात्** कब मिलेगा? **इति विचिन्वन्** ऐसा अनुसन्धान करते हुए **स्वतनुविधरणे** अपने शरीर को धारण किये रहने की तरफ से भी **निस्पृहः सन्** निस्पृह होकर **अस्मात्** इस संसार को छुड़ा कर **मां** मुझे **अतुलं शिवपदं** उपमानरहित शिव-पद से **योक्तुं** जोड़ने के लिये **अत्र कः शक्तः** इस संसार में शिव के सिवाय कौन समर्थ है? **इति आकलय्य** इस बात पर भलीभाँति विचार करते-करते **एवं प्राप्य** इस शिवपद को प्राप्त कर **छिन्नपाशः** सभी प्रकार के पाशों के कट जाने के बाद **स्वतनुविरहितः** अपने शरीर को छोड़कर **सद्यः** तत्क्षण **शिवत्वं** शिवसारूप्य रूपी मोक्ष को **याति** प्राप्त कर लेता है।।३।।

कर्मसाम्य को शक्तिपात में कारण माना गया है। सकल और प्रलयाकल में कर्म की स्थिति रहने से वहाँ तो यह संभव है। विज्ञानाकल में तो कर्म की स्थिति है ही नहीं, तो फिर वहाँ कर्मसाम्य के अभाव में शक्तिपात कैसे संभव होगा? इसका समाधान यह है कि माया के कारक कर्म का ही वहाँ अभाव माना जाता है, पूरी तरह से कर्म का क्षय वहाँ नहीं होता। विज्ञानाकल अवस्था की प्रासि किसी कर्म के फल के रूप में ही उसे होती है और वह कर्म उसने सकलावस्था में ही उपार्जित किया। विज्ञानाकल के सूक्ष्म शरीर में दुर्लक्ष्य रूप में इसकी स्थिति माननी पड़ेगी। इस प्रकार विज्ञानाकल में भी शक्तिपात के कारण कर्मसाम्य की स्थिति बन सकेगी। अन्यथा विज्ञानाकल जीव में शक्तिपात के अभाव में उसकी दीक्षा ही असंभव हो जायगी और

उसके अभाव में वह मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा, क्योंकि "दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि" (२.२४) स्वायम्भुवागम के इस वचन में दीक्षा को ही मुक्ति का कारण माना गया है और "शक्तिपाताद् भवेद् दीक्षा" इस वचन में दीक्षा के लिये शक्तिपात को कारण माना गया है।

प्रस्तुत श्लोक में तीव्रतर शक्तिपात की चर्चा है। यह मुख्य रूप से विज्ञानाकल और प्रलयाकल जीव पर ही होता है, क्योंकि इनमें स्थूल शरीर के कारण प्रारंभ होने वाले फलभोग का अभाव रहता है। सकल जीव में ऐसा कभी-कभार ही संभव हो पाता है। इस तरह से विज्ञानाकल और प्रलयाकल में शुद्धात्मस्वरूप सर्वज्ञत्व आदि गुणों से सम्पन्न शिवत्व की अभिव्यक्ति तत्क्षण हो जाती है। इसके विपरीत सकल जीवों में प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा हो जाने के उपरान्त कर्मसाम्य और काल-तारतम्य के अनुसार कुछ आत्माओं पर मन्द, मन्दतर तथा अन्यों पर तीव्र, तीव्रतर शक्तिपात होता है। इस तरह से शक्तिपात की अनेक स्थितियाँ होने से सकल जीवों को सद्यः (तत्काल) शिवत्व की प्राप्ति विरल ही मानी जाती है —

आचार्यमूर्तिमास्थाय चतुर्धा शक्तिपाततः।
भगवाननुगृह्णाति स एव सकलानपि॥

श्रीमान् वरुणशिव ने यहाँ 'सकलानपि' कहकर इस स्थिति को स्पष्ट किया है ॥ ३॥

शक्तिपात के भेदों को जानने के प्रमुख चिह्न ये हैं — तीव्रतर शक्तिपात में दीक्षा के बाद तत्काल देहपात के साथ मुक्ति हो जाती है। तीव्र शक्तिपात में दीक्षा के उत्तर क्षणों में व्यक्ति मूर्छित हो जाता है। मन्द शक्तिपात में दीक्षा के उत्तर क्षणों में शरीर में कम्पन और मन्दतर शक्तिपात में दीक्षा के बाद उत्तर क्षणों में रोमांच होता है। इन चिह्नों से शक्तिपात के भेदों को जान पर उसके अनुसार दी जाने वाली दीक्षा चार प्रकार की होती है। मन्दतर शक्तिपात में समय दीक्षा, मन्द शक्तिपात में विशेष दीक्षा, तीव्र शक्तिपात में निर्वाण दीक्षा और तीव्रतर शक्तिपात में सद्योनिर्वाण दीक्षा दी जाती है। दीक्षा के अनन्तर प्रकट होने वाले मूर्छा आदि चिह्नों से दीक्षा के पहले इन चिह्नों को कैसे जाना जा सकता है? ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि दीक्षा देने वाला गुरु अपने संचित ज्ञान की सहायता से शिष्य के बाह्य व्यापारों को देखकर शक्तिपात के चिह्नों को जान लेता है और तदनुसार शिष्य की सब तरह से परीक्षा कर उसकी अर्हता का निर्धारण करता है। समय दीक्षा प्राप्त शिष्य को रुद्रपद की और विशेष दीक्षा से ईश्वरपद की

प्राप्ति होती है। वह नानाविध भोगों का दीर्घकाल तक अनुभव प्राप्त कर पुनः निर्वाण दीक्षा और सद्योनिर्वाण दीक्षा को शक्तिपात के अनुसार प्राप्त कर अन्त में शिवपद में लीन हो जाता है। इसी अभिप्राय को प्रस्तुत श्लोक में व्यक्त किया गया है —

मन्दाद्यैः केऽपि पक्वे तमसि च समयां संस्कृतिं तद्विशिष्टां
लब्ध्वा लिङ्गार्चनाद्यैर्निपतिततनवो रौद्रमैशं पदं च ।
लौकिक्या योजिता ये पतिसुयजनतः प्रेत्य भुक्त्वैव लोके
वैराग्याद् दीक्षितास्ते भुवनजगुरुभिर्यान्ति साक्षाच्छिवत्वम् ।।४।।

तमसि आणव मल के **मन्दाद्यैः** मन्द, मन्दतर आदि परिपाकों के क्रम से **पक्वे** परिपक्व हो जाने पर **केऽपि** कुछ सकल नामक जीव **समयां संस्कृतिं** मन्दतर शक्तिपात के अनुसार समय दीक्षा को **तद्विशिष्टां च संस्कृतिं** और मन्द शक्तिपात के अनुसार विशेष दीक्षा को लब्ध्वा प्राप्त कर **लिङ्गार्चनाद्यैः** स्नान-सन्ध्या, लिंगार्चन आदि नित्य कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा जीवनयापन करते हुए **निपतिततनवः** शरीरपात, अर्थात् मृत्यु के उपरान्त **रौद्रपदं** समय दीक्षा वाले रौद्रपद को **ऐशं च पदं** और विशेष दीक्षा वाले ईश्वरपद को **यान्ति** प्राप्त करते हैं। **ये** समय दीक्षा और विशेष दीक्षा को स्वीकार करने के बाद तीव्र शक्तिपात के अनुसार जो सकल नामक जीव **लौकिक्या** लोकधर्मिणी नामक निर्वाण दीक्षा से **योजिताः** संस्कृत हो जाते हैं, **ते** वे लोग **पतिसुयजनतः** पति (शिव) की सम्यक् प्रकार से पूजा में कालयापन करते हुए **प्रेत्य** मृत्यु के उपरान्त **लोके** शुद्ध भुवनों में **भोगान्** विविध भोगों को **भुक्त्वा** भोग कर बाद में **वैराग्यात्** भोगों के प्रति वैराग्य हो जाने पर **भुवनजगुरुभिः** भुवनेश्वरों के द्वारा **दीक्षिताः** तीव्रतर शक्तिपात के अनुसार सद्योनिर्वाण दीक्षा को प्राप्त कर **साक्षात्** प्रत्यक्ष रूप से **शिवत्वं** शिव की साम्यावस्था रूप मोक्षपदवी को **यान्ति** प्राप्त कर लेते हैं।।४।।

ऊपर उद्धृत **वरुणशिव** के श्लोक में चतुर्धा शक्तिपात की चर्चा आई है। मन्द, मन्दतर और तीव्र, तीव्रतर के भेद से यह चार प्रकार का होता है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं— तीव्रतर शक्तिपात वाले का दीक्षा की समाप्ति के तत्काल बाद देहपात हो जाता है, तीव्र शक्तिपात वाले को दीक्षा के बाद मूर्छा आ जाती है, मन्द शक्तिपात वाले के शरीर में कम्पन होता है और मन्दतर शक्तिपात वाले को दीक्षा के बाद रोमांच। जैसा कि कहा गया है —

चतुर्धा शक्तिपातेन तुल्यमेव फलं प्रति।
यथा तीव्रतरस्तीव्रो मन्दो मन्दतरोऽपि च॥

सद्योमुक्त्या मूर्च्छया वा कम्पाद् रोमाञ्चतस्तथा।

इन लक्षणों के आधार पर विभिन्न दीक्षाएं दी जाती हैं। जैसे कि मन्दतर शक्तिपात वाले को समय दीक्षा, मन्द को विशिष्ट दीक्षा, तीव्र को असद्योनिर्वाण दीक्षा और तीव्रतर शक्तिपात वाले को सद्योनिर्वाण दीक्षा दी जाती है। निम्न श्लोकों में यही बात कही गई है—

मन्दमन्दतरोद्देशात् कर्तव्या गुरुणा बहिः।
शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमिच्छति॥

तीव्रा तीव्रतरा चेति पाशोपक्षयभेदतः।
यदा तु निर्वृतिः सद्यः सैव तीव्रतरा मता॥

तीव्रा तु जीवतोऽन्या च पुंसः पाशविशोधिका।

यहां प्रश्न उठता है कि ऊपर जिन चिह्नों की चर्चा की गई है, उनका ज्ञान तो दीक्षा देने के बाद होगा, दीक्षा के पहले उनका ज्ञान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि गुरु को अपनी सामर्थ्य से और शिष्य की बाह्य क्रियाओं को देखकर इनको जानना पड़ता है। अन्यथा यहाँ गुरु ही दोष का भागी होगा, क्योंकि गलत दीक्षा देने से शिष्य को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकेगी,

यत्र शक्तिर्न पतिता तत्र सिद्धिर्न जायते।
न विद्या न शिवाचारो न मुक्तिर्न च सिद्धयः॥

तस्माल्लिङ्गानि संवीक्ष्य शक्तिपातस्य भूयशः।
ज्ञानेन क्रियया वाऽथ गुरुः शिष्यं विशोधयेत्॥

योऽन्यत्र कुरुते मोहात् स विनश्यति दुर्मतिः।
तस्मात् सर्वप्रकारेण गुरुः शिष्यान् परीक्षयेत्॥

उत्तमांश्चाधमे कृत्वा नीचानुत्तमकर्मसु।
आक्रुष्टास्ताडिता वापि ये विषादान्न यान्त्यपि॥

ते योग्याः संयताः शुद्धाः शिवसंस्कारकर्मणि।

इन श्लोकों में यही बात कही गई है।

सकल जीवों के बीच में मन्दतर और मन्द शक्तिपात वाले शिष्य गुरु से समय दीक्षा और विशिष्ट दीक्षा को प्राप्त कर प्रतिदिन लिंगपूजा, स्नान, सन्ध्यावन्दन, जप, अग्निकार्य आदि के रूप में जीवन पर्यन्त शिवार्चन करते हुए अन्त में क्रमशः रुद्रपद और ईश्वरपद को प्राप्त करते हैं। जैसा कि वरुणशिव ने इस श्लोक में बताया है —

यत्र रौद्रपदे योगो योगो यत्रेश्वरे पदे।
शिखाच्छेदो न यत्रास्ति दीक्षा सा समयी द्विधा॥

कामिकागम में बताया गया है कि शिखाच्छेदरहित दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति का नित्य कर्म में अधिकार रहता है— "शिखाच्छेदविहीनस्य नित्यकर्मणि योग्यता"। इसके आगे तीव्र शक्तिपात वाले सकल जीव लोकधर्मिणी निर्वाण दीक्षा को प्राप्त कर मृत्यु के उपरान्त शुद्ध भुवनों में भोगों का उपभोग कर जब भोगों के प्रति विरक्त हो जाते हैं, तो वे साक्षात् शिवभाव को प्राप्त कर लेते हैं। जैसा कि [१]रौरवागम के इस श्लोक में बताया गया है —

दीक्षापूता गणपतिगुरोर्मण्डले जन्मवन्तः
सिद्धा मन्त्रैस्तरुणदिनकृन्मण्डलोद्भासिदेहाः।
भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्रीनिकायैरुपेताः
स्रस्तोत्कण्ठाः परशिवपदैश्वर्यभाजो भवन्ति॥

इस तरह से मुक्त जीव शिवसाम्य को प्राप्त कर लेता है, इसकी चर्चा ऊपर दूसरे श्लोक में हो चुकी है॥४॥

दीक्षा प्राप्त कर समयाचारों का उल्लंघन न करने वाला शिवपद को प्राप्त करता है। दीक्षा के उपरान्त समयाचारों का लोप होने पर प्रायश्चित्त न करने वाला पिशाच योनि को प्राप्त करता है, यही विषय अब बताया जा रहा है —

नानावैकल्यहीनां शिवपदविषयां प्राप्य दीक्षां तदूर्ध्वं
चर्यामीशस्य भक्त्या भुवि चरति च यो याति तद्विप्लुतिश्चेत्।
अन्ते क्रव्यादताप्त्या शतविततसमो भुक्तितोऽन्ते शिवत्वं
दीक्षावैकल्ययुक्ताः समयनिपतिताः सन्दिहाना न यान्ति ।।५।।

यः जो जीव **भुवि** इस भूलोक में **नानावैकल्यहीनां** किसी भी तरह की न्यूनता से रहित **शिवपदविषयां** शिवपद को प्राप्त कराने वाली **दीक्षां** दीक्षा को **प्राप्य** प्राप्त कर **तदूर्ध्वं** उसके बाद **ईशस्य चर्यां** ईश्वर (शिव) की सेवा के रूप में समयाचारों का **भक्त्या** भक्तिभाव से **चरति** अनुष्ठान करता है,

---

[१] मतङ्गपारमेश्वर विद्यापाद की टिप्पणी (पृ० २६, टि. ७) में बताया गया है कि यह वचन रौरवागम में उपलब्ध नहीं है।

सः वह **शिवत्वं** शिवपदवी को **याति** प्राप्त करता है। **तद्विप्लुतिश्चेत्** यदि समयाचार का लोप हो जाता है, तो **अन्ते** मृत्यु के उपरान्त **क्रव्यादताप्त्या** पिशाच योनि को प्राप्त कर **शतविततसमः** सौ वर्ष पर्यन्त **भुक्तितः** पिशाच योनि के दुःखों को भोगकर **शिवत्वं** शिवपदवी को **याति** प्राप्त करता है। **दीक्षावैकल्ययुक्ताः** दीक्षा में न्यूनता रह जाने पर, **समयनिपतिताः** समयाचारों का पालन न करने पर **सन्दिहानाः** कर्मों के अनुष्ठान में फल-प्राप्ति के प्रति सन्देह रखने वाले शिवपदवी को **न यान्ति** नहीं प्राप्त कर सकते ।।५।।

चर्या शब्द का अर्थ समयाचार का विधिवत् पालन और नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करना है। 'विप्लुतिश्चेत्' यहाँ चेत् शब्द से यह ध्वनित होता है कि समयाचार का परित्याग यदि जान-बूझ कर किया जाता है अथवा अज्ञान से हुए दोषों का यदि प्रायश्चित्त नहीं किया जाता, तो ऐसे दोषों की शुद्धि अन्त्येष्टि संस्कार से भी नहीं होने पाती। व्यक्ति यदि जान-बूझकर क्रियालोप करता है अथवा स्वकृत दोषों का प्रायश्चित्त नहीं करता, ऐसी स्थिति में भी यदि अन्त्येष्टि कर्म से इनकी शुद्धि मानी जायगी, तो फिर प्रायश्चित्त शास्त्र की उपयोगिता ही समाप्त हो जायगी। "**समयोल्लङ्घनात् प्रोक्तं क्रव्यादत्वं शतं समाः**" इस तरह के शास्त्रवचन बताते हैं कि समयाचार का उल्लंघन करने वालों को पिशाच योनि की प्राप्ति होती है। दीक्षा में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाने पर भी यदि दीक्षित व्यक्ति समयाचार का सही ढंग से पालन करता है, तो उसे शिवपद की प्राप्ति अवश्य होती है। जैसा कि कहा गया है—

दीक्षाज्ञानविहीना ये लिङ्गाराधनतत्पराः।
तेऽपि यान्ति हरस्थानं सर्वैश्वर्यसुखावहम्॥

नाधो यान्ति पुनर्देवि संसारे दुःखसागरे।
शिवं यान्ति ततश्चोर्ध्वं श्रीकण्ठेन निरीक्षिताः॥

इससे स्पष्ट होता है कि दीक्षा में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाने पर भी यदि दीक्षित व्यक्ति समयाचार का नियमानुसार पालन करता है, तो अवश्य ही शिवपद को प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत समयाचार से भ्रष्ट और जो कुछ मैं करता हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं? इस विषय में संदिग्ध व्यक्ति कभी शिवपद को प्राप्त नहीं कर सकता ॥५॥

शिवदीक्षा प्राप्त व्यक्ति के लिये अत्यन्त प्रधान रूप से स्वीकार्य प्रासाद मन्त्र का अब यहाँ उपदेश करते हैं। प्रासाद के 'प्रा' से शिवज्ञान का, 'सा' से गति का और 'द' से दान का बोध होता है। इस प्रकार यह मन्त्र शिवज्ञान और गति, अर्थात् मुक्ति को देने वाला है। इसीलिये इसे प्रासाद मन्त्र कहते हैं। ऐसे प्रासाद मन्त्र का पाँच, छः, आठ, नौ, दस, बारह, सोलह और बीस कलाओं से आठ प्रकार का संबन्ध आगमों में वर्णित है। उनमें से नौ, बारह और सोलह कलाओं वाले तीन प्रकार के प्रासाद मन्त्र प्रधान हैं। ग्रन्थकार प्रस्तुत श्लोक में पहले नौ कला वाले प्रासाद मन्त्र का स्वरूप बताते हैं। अनेक वर्णसमूहों के मिलने से एक मन्त्र बनता है। आगमशास्त्र में प्रत्येक वर्ण कला के नाम से जाना जाता है। मन्त्रों की गोपनीयता के कारण उनके स्वरूप को शास्त्र की सांकेतिक शब्दावली में दिखाया जाता है। श्रीकण्ठेश्वर ने स्कन्द गुरु को इस मन्त्र का उपदेश दिया था, इससे यह सूचित होता है कि गुरु से प्राप्त मन्त्र ही बलशाली होता है। यही सब विषय आगे वर्णित हैं —

श्रीमत्स्कन्दगुरोः शिवेन कथितः प्रासादमन्त्रो यथा
प्राणो मेधा क्षमाख्यस्तदुपरि गरलं चेतनार्धाब्जमूर्ध्वम् ।
दण्डस्तत्परतस्तु शक्तिरपरा ज्ञेयोन्मनान्ते शिवो
वाच्यः शक्तिकलस्तथा शशिकलोऽप्येवं विवस्वत्कलः ।।६।।

श्रीमत्स्कन्दगुरोः भाग्यशाली सुब्रह्मण्य स्वामी को **शिवेन** श्रीकण्ठ परमेश्वर के द्वारा **कथितः** उपदिष्ट **प्रासादमन्त्रः** प्रासाद मन्त्र का स्वरूप **यथा** इस प्रकार का है — **प्राणः** हकार प्रथम कला (वर्ण), **मेधा** औकार द्वितीय कला, **क्षमाख्यः** ऊकार तीसरी कला है। **तदुपरि गरलं** उसके ऊपर मकार चौथी कला, **चेतना** चेतनबिन्दु पाँचवीं कला, **अर्धाब्जं** अर्धचन्द्र छठी कला है। **ऊर्ध्वं दण्डः** उसके ऊपर नाद सातवीं कला, **तत्परतस्तु** इसके ऊपर **शक्तिः** शक्ति नामक आठवीं कला है। **उन्मना** इस नाम की **अपरा** अन्तिम नवम कला को **ज्ञेया** जानना चाहिये। **अन्ते** उस उन्मनाकला के अनन्तर **वाच्यः** इस प्रासाद मन्त्र का वाच्य **शिवः** भगवान् शिव स्थित है। **एवं** इस तरह से **शक्तिकलः** नौ कलाओं से संयुक्त होकर **विभाति** प्रकाशित होता है, **तथा** वैसे ही **विवस्वत्कलः** बारह कलाओं वाला और **शशिकलः** सोलह कलाओं वाला भी **विभाति** प्रकाशित होता है।।६।।

'श्रीमत्स्कन्दगुरोः' से लेकर 'मेधादयः' पर्यन्त छः श्लोकों को **टीकाकार** ने 'श्रीमत्स्कन्दषट्श्लोकी' कहा है। यहाँ भगवान् शिव के द्वारा कुमार स्कन्द को उपदिष्ट प्रासाद मन्त्र का स्वरूप निर्दिष्ट है। इसके आगे सातवें श्लोक में मूल षडक्षर मन्त्र का उपदेश है। दीक्षा में मन्त्र की ही विशेष महिमा है, अतः विविध दीक्षाओं के उपदेश के बाद मन्त्र का स्वरूप उपदिष्ट किया जाय, यह उचित ही है। क्रिया पाद की निर्विघ्न समाप्ति के लिये यहां प्रारंभ में मंगलसूचक 'श्रीमत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। सात गुरुओं में स्कन्द का भी नाम होने से इनकी उत्कृष्टता स्वयं सिद्ध है—

सदाशिवमनन्तं च श्रीकण्ठं पुनरम्बिकाम्।
गुहं विष्णुं च धातारं सदा सप्तगुरून् स्मरेत्॥

इन सात गुरुओं में गुह (स्कन्द) का भी नाम है। शिव शब्द से साक्षात् परमशिव अथवा श्रीकण्ठनाथ का भी ग्रहण कर सकते हैं। गुणमस्तक पर स्थित आठ भुवनों में श्रीकण्ठ के साथ कौमार (कार्तिकेय) भुवन का भी उल्लेख **पौष्करागम** के निम्न वचन में मिलता है —

अकृतं च कृतं चैव भैरवं ब्राह्ममेव च।
वैष्णवं चैव कौमारमौमं श्रीकण्ठमेव च॥
भुवनानि गुणेष्वष्टौ.........................॥

प्रासाद मन्त्र की अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा को बताने के लिये ही ऐसा कहा गया है। शिव ने स्कन्द गुरु को इसका जिस रूप में उपदेश किया, मन्त्र के उसी स्वरूप का वर्णन यहाँ किया जा रहा है। प्रासाद (मन्दिर) में जिस प्रकार शिव का स्वरूप विराजमान रहता है, उसी तरह से इस मन्त्र की आराधना से भी शिव-स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, अतः इसे भी प्रासाद मन्त्र कहा गया है। प्रासाद पद की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है —

प्राशब्दः स्याच्छिवज्ञानं साशब्दाद् गतिरुच्यते।
दशब्दो मत्स्वरूपं स्यात् प्रासादमभिधीयते॥

ज्ञानेन मुक्तिदं यस्मात् तस्मात् प्रासाद उच्यते।

मन्त्रनिघण्टु के निम्न वचन के अनुसार प्राण शब्द से हकार का ग्रहण होता है—

गगनकुटिलशून्यं व्योममायाशिवान्तं
नभसचलकुलक्ष्मीपञ्चमप्राणघोषाः।
हकार..........

मेधा से औकार का ग्रहण होता है, जैसा कि वहीं कहा गया है —

औकारो दर्शनान्तं च चोल्कामुख्या परस्तथा।
अन्वाहार्यश्चरो मेधा हृषीकेशो जनार्दनः॥

क्षमा से ऊकार का ग्रहण होता है, यह भी वहीं बताया गया है —

ऊकारो वामकर्णं च दीर्घघोणा रसः क्षमा।
नारायणस्तथापीशो भूतान्तमिति केचन॥

मन्त्रनिघण्टु के अनुसार ही विष शब्द से मकार गृहीत होता है —

मकारश्चक्षुर्दीप्तात्मा विश्वभागमरेश्वरः।
महाकालो महामाया गलमुण्डी विषं विदुः॥

तदनुसार ही चेतना पद से बिन्दु का ग्रहण किया जाता है —

अक्रूरश्च क्रियामुख्यं पद्मनाभस्त्रिपञ्चमः।
चेतना सुमना मूर्ध्नि कथ्यते कविभिस्तथा॥
.... बिन्दुरेव च।

"अब्जो जैवातृकः सोमः" (१. ३. १४) अमरकोश के इस वचन के अनुसार अर्धाब्ज से अर्धचन्द्र गृहीत है। दण्ड शब्द नाद का वाचक है। नाद का आकार दण्ड के जैसा होता है, अतः औपचारिक रूप से नाद को भी दण्ड कह दिया जाता है। "इन्दुवृत्तहलाकृतिः"[1] यहाँ नाद का आकार प्रदर्शित है। शक्ति शब्द से शक्तिकला का ग्रहण किया जाता है। यह सभी [2]वाणियों के कारण-स्वरूप बिन्दुतत्त्व का उत्पाद है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में बताया गया है—

"शक्तेर्नादो भवेद्बिन्दुरक्षरं मातृका ततः" (क्रि. १. २)

इसीलिये यहाँ शक्ति को अपरा कहा गया है। इन सबके साथ उन्मना कला को मिलाने से नौ कलाओं वाले प्रासाद मन्त्र का स्वरूप बनता है। कला शब्द का अर्थ

---

१. इस उद्धरण का स्थान अन्वेषणीय है। नाद आदि कलाओं का आकार योगिनीहृदय (१.२८-३३), वरिवस्यारहस्य (१.२२-२६) आदि में भी प्रदर्शित है। इनका सचित्र विवरण अड्यार लाइब्रेरी, चेन्नई (मद्रास) से प्रकाशित वरिवस्यारहस्य के अन्त में देखिये।

२. "बिन्दुरेवं समाख्यातः···चतस्रो वृत्तयस्तस्य" (श्लो. ७१-७२) इत्यादि रत्नत्रय के श्लोकों में यह विषय वर्णित है। इस विषय पर प्रस्तावना में विचार किया जायगा।

यहाँ अंश है। प्रासाद मन्त्र की नौ कलाएं इस प्रकार हैं— हकार, औकार, ऊकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, नाद, शक्ति और उन्मना। जैसा कि कहा गया है —

सान्तं मेधा च षष्ठं च भान्तं बिन्द्वर्धचन्द्रके।
नादस्तदूर्ध्वगा शक्तिरुन्मना नवधा शिवः॥

नौ कला वाले प्रासाद मन्त्र के साथ बारह और सोलह कलाओं वाला प्रासाद मन्त्र भी शास्त्रों में वर्णित है। यह प्रासाद मन्त्र शिव का वाचक है, अर्थात् वाच्य शिव की इससे आराधना की जाती है॥६॥

बारह और सोलह कलाओं वाले प्रासाद मन्त्र का स्वरूप अब बताते हैं —

शून्ये चण्डांशुघोणे पशुरपि च ततो लम्बनार्धाब्जरोधि-
र्दण्डो दण्डान्तशक्तिस्तदुपरि समना सोन्मना व्यापिकान्या।
अर्कांशे व्यापिकान्ते वियदपि च घनानन्तसंज्ञाऽप्यनाथा
मध्ये चानाश्रिता प्रागिव च ससमना षोडशांशे तथाऽन्या॥७॥

अर्कांशे बारह कलाओं से युक्त प्रासाद मन्त्र में कलाओं का क्रम इस प्रकार है — **शून्ये** पहले हकार के बाद **चण्डांशुघोणे** अकार और उकार नामक दो कलाएँ **पशुः** तब मकार नाम की कला, **ततो लम्बना** तदनन्तर बिन्दु कला **अर्धाब्जरोधि** अर्धचन्द्र नामक कला रहती है, निरोधिनी छठी कला है। **दण्डः** नाद सातवीं कला और **दण्डान्तः** नादान्त आठवीं कला है। **शक्तिः** हलाकार शक्ति नवीं कला है। **तदुपरि** शक्ति के ऊपर **व्यापिका** व्यापिनी नाम की दसवीं कला **अन्या समना** और उसके ऊपर ११वीं कला समना के नाम से प्रसिद्ध है। **उन्मना** उन्मना नाम की अन्तिम १२वीं कला है। इस प्रकार यह बारह कलाओं का क्रम है। **षोडशांशे** सोलह कलाओं से युक्त प्रासाद मन्त्र में कलाओं का क्रम इस प्रकार है — **प्रागिव** बारह कलाओं से युक्त प्रासाद मन्त्र की तरह हकार आदि व्यापिनी पर्यन्त दस कलाओं का क्रम यहाँ भी उसी तरह से रहता है। **व्यापिकान्ते** व्यापिनी कला के ऊपर **वियदपि च घना** व्योमरूपिणी ११वीं कला, **अनन्तसंज्ञा** अनन्त नाम वाली १२वीं कला, **अनाथा** इस नाम की १३वीं कला, **अनाश्रिता** इस नाम की १४वीं कला **मध्ये** बीच में रहती हैं। **अथ प्रागिव** इसके बाद पहले की तरह **ससमना अन्या** समना के साथ विद्यमान उन्मना नामक ११वीं और

१२वीं कलाएँ यहाँ १५वीं और १६वीं कलाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार बारह कलाओं वाले और सोलह कलाओं वाले प्रासाद मन्त्रों की कलाओं का क्रम यहाँ वर्णित है।।७।।

ऊपर सूचित बारह और सोलह कलाओं वाले प्रासाद मन्त्रों में से द्वादश कला वाले प्रासाद मन्त्र का उद्धार-क्रम इस प्रकार है — शून्य से हकार गृहीत है। जैसा कि —

नादो गुह्यं परं जीवो देहीभूतं च पञ्चमम्।
सान्ततत्त्वान्तभूतान्तं शिवार्णं शून्यमव्ययम्॥

एतान् पर्यायनामानि हकारस्य विजानते।

यहाँ बताया गया है। चण्डांशु आदित्य का नाम है, ''सूरसूर्यार्यमादित्यः'' (१.३.२८) अमरकोश में यह प्रदर्शित है। आदित्य पद से अकार का ग्रहण होता है,

अकारो विष्णुरादित्यो वासुदेवो महाबलः।
श्रीकण्ठोदरकादिस्तद् ब्राह्मी पूर्णोदराकृतिः॥

यह निघण्टु-वचन इसमें प्रमाण है। यहाँ औपचारिक रूप से औकार गृहीतं होगा। घोण से उकार का ग्रहण होगा। दीर्घघोण से ऊकार का ग्रहण किया जाता है, अतः यहाँ घोण पद से ह्रस्व उकार का ग्रहण होगा। पशु पद से मकार का ग्रहण होगा। लम्बना पद से अमृत रूप बिन्दु, अर्धाब्ज से अर्धचन्द्र, रोधि से निरोधिनी कला, दण्ड से नाद तथा दण्डान्त से नादान्त गृहीत है। [१]वाम पार्श्व (बाई तरफ) में बिन्दु युक्त हलाकार शक्ति कला का स्वरूप है। इसके ऊपर व्यापिका, समना और उन्मना को जोड़ने से बारह कला वाले प्रासाद मन्त्र का स्वरूप बनता है। इस द्वादश कला वाले प्रासाद मन्त्र में भी भगवान् शिव प्रकट होते हैं। हौकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना— ये ही बारह कलाएं हैं। जैसा कि कहा गया है —

[२]अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च॥

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समना चोन्मना तथा।
समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परः शिवः॥

सोलह कलाओं वाले प्रासाद मन्त्र का उद्धार-क्रम इस प्रकार होगा— यहाँ व्यापिका के बाद वियद्धना (व्योमरूपा), अनन्तसंज्ञा, अनाथा और अनाश्रिता नाम की

---

[१] ऊपर की पृ. ९१ की १ संख्या की टिप्पणी देखिये।

[२] यहाँ की तीन पंक्तियाँ स्वच्छन्दतन्त्र (४.२५५-२५६) में उपलब्ध हैं।

चार कलाएँ स्थित हैं। उसके आगे समना और उन्मना पूर्ववत् रहेंगी। इनका क्रम इस प्रकार रहेगा— हौकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता, अनाथा, अनाश्रिता, समना और उन्मना। सिद्धान्तरहस्य में यह क्रम वर्णित है —

समनाव्यापिकान्तस्थे व्योमाङ्गानन्तसंज्ञके।
अनाथाऽनाश्रिता चैवं ज्ञेयो द्व्यष्टकलः शिवः॥

ऊपर के छठे श्लोक में यह बताया गया है कि इस प्रासाद मन्त्र का उपदेश भगवान् शिव ने स्कन्द गुरु को किया था। सार्धत्रिशतिकालोत्तर में श्रीकण्ठनाथ ने स्कन्द गुरु को इसी पद्धति से इसका उपदेश किया है —

षष्ठं त्रयोदशान्तं च पञ्चमे विनियोजयेत्।
शिवं तं तु विजानीयात् पञ्चमूर्तिः सदाशिवः॥
(१. ११)

इस सूत्र (श्लोक) की अपनी वृत्ति में भट्ट रामकण्ठ ने विस्तार से व्याख्या की है। यह ग्रन्थ अब प्रकाशित होचुका है। उसे वहीं देखना चाहिये। यहाँ शंका उठाई गई है कि हकार के आगे चार मात्राओं (औ और ऊ) का उच्चारण कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में यहाँ बताया गया है कि यह तो अनुभव-सिद्ध विषय है। इसका अभिप्राय यह है कि इसकी उच्चारण-विधि को गुरु से ही जाना जा सकता है। यहाँ एक शंका और उठाई गई है कि हकार के साथ अकार का भी उद्धार होने से मात्राओं की संख्या तेरह हो जाती है। ऐसी स्थिति में द्वादशकला वाले प्रासाद मन्त्र की बात गलत हो जाती है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि जैसे आकाश के बिना वायु का संचार नहीं हो सकता, उसी तरह से हल्मात्र हकार का उच्चारण अकार कला के बिना असंभव है। इसलिये हकार का अकार कला में ही अन्तर्भाव मान लिया जायगा। जैसा कि बताया गया है—

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकसंस्थितौ।
विभक्तिर्नैव विद्येत मारुताम्बरयोरिव॥
(स्व. त. ४. ३४९-३५०)

इस विषय में किसी आचार्य की यह उक्ति भी अवधेय है—

मूलात् कुण्डलिनीनिवासभवनात् पद्मान्मरालस्वनो
हल्मात्रक्षयरोहदङ्कुरनिभो नाभ्यन्तमास्ते शिवः।

इस प्रकार अकार-हकार की एकता के कारण प्रासाद मन्त्र की मात्राएं बारह ही रहेंगी, अतः कोई विरोध यहाँ नहीं है ॥७॥

प्रासाद मन्त्र में स्थित कलाओं की मात्रा-संख्या का क्रम अब बताते हैं। साथ ही बारह कलाओं से युक्त प्रासाद मन्त्र की पहली नौ कलाओं के आदि, मध्य और अन्त में स्थित कलाओं में तीन शून्यों को तथा अन्तिम तीन कलाओं में स्थित तीन शून्यों को मिला कर बने छः प्रकार के शून्यों की स्थिति को भी यहाँ स्पष्ट करते हैं —

त्रिद्व्येकार्धतदर्धतद्दलकलाद्वन्द्वाग्निवेदाध्वभिः
सर्पाक्षीन्दुकवर्त्मबाणयुगलैर्मात्रैर्मनोमात्रया ।
युक्ते त्वर्कांशके तु त्रिकत्रिकविरहादन्तरेषु त्रिशून्यं
भूयस्त्वेकैकहानेरिति खलु गुरुभिर्ज्ञायते शून्यषट्कम् ।।८।।

त्रि तीन मात्रा, **द्वि** दो मात्रा, **एक** एक मात्रा, **अर्ध** आधी, **तदर्ध** चौथाई मात्रा, **तद्दल** मात्रा का आठवाँ भाग, **कला** मात्रा का सोलहवाँ भाग, **द्वन्द्वाग्नि** मात्रा का बत्तीसवाँ भाग, **वेदाध्वभिः** मात्रा का चौसठवाँ भाग, **सर्पाक्षीन्दुक** मात्रा का १२८वाँ भाग, **वर्त्मबाणयुगलैः** मात्रा का २५६वाँ भाग, **मात्रैः** इन मात्रा-कालों के साथ **मनोमात्रया** मनोन्मनी की मात्रा के काल (५१२वाँ मात्रा-काल) से **युक्ते** संयुक्त **अर्कांशके** बारह कलाओं से संयुक्त प्रासाद मन्त्र की कलाओं का काल क्रमशः होता है। **त्रिकत्रिकविरहात्** तीन-तीन कलाओं को छोड़कर **अन्तरेषु** प्रासाद मन्त्र की पहली नौ कलाओं के आदि, मध्य और अन्त में स्थित **त्रिशून्यं** आदिशून्य, मध्यशून्य और अन्त्यशून्य स्थित हैं। **भूयः** पुनः बची हुई तीन कलाओं के मध्य में **एकैकहानेः** एक एक को छोड़कर **त्रिशून्यं** तीन शून्य स्थित हैं। **इति** इस तरह से इनको मिला देने पर **शून्यषट्कं** छः शून्यों की स्थिति **गुरुभिः** गुरुजनों की सहायता से **ज्ञायते** जानी जा सकती है।।८।।

ऊपर प्रदर्शित द्वादशकला वाले प्रासाद मन्त्र में मात्राओं की संख्या इस प्रकार है— हौकार की तीन मात्राएं, ऊकार की दो मात्राएं,[१] मकार की एक मात्रा, बिन्दु की आधी मात्रा, अर्धचन्द्र की चौथाई मात्रा, निरोधिनी में मात्रा का आठवाँ अंश, नाद में

---

१. प्रस्तुत श्लोक की टीका में इसका विशेष विवरण देखिये। यह विषय योगिनीहृदय (१.२८-३४) में भी देखा जा सकता है।

मात्रा का १६ वाँ अंश, नादान्त में ३२ वाँ अंश, शक्ति में ६४ वाँ अंश, व्यापिनी में १२८ वाँ अंश, समना में २५६ वाँ अंश मात्रा का रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि आगे की कलाओं का उच्चारण काल क्रमशः दो गुना सूक्ष्म होता जाता है। उन्मना में मन की स्थिति के न रहने से वहाँ मात्रा की सूक्ष्म[1] संख्या की गिनती नहीं हो सकती।

द्वादशकला वाले प्रासाद मन्त्र में छः शून्यों की स्थिति इस प्रकार है— हौकार, ऊकार और मकार– इन तीन मात्राओं के आगे पहला शून्य; बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका– इन तीनों को छोड़कर दूसरा शून्य; नाद, नादान्त और शक्ति– इन तीन के आगे तीसरा शून्य स्थित है। चौथा शून्य व्यापिनी के ऊपर, पाँचवां शून्य समना के ऊपर एवं छठा शून्य उन्मना के ऊपर विद्यमान है। इन शून्यों का स्वरूप **सार्धत्रिशतिकालोत्तर** (२०. ७-८) आदि आगमों में प्रदर्शित है।

"हंस हंसेति यो ब्रूयाद् हंसो देवः सदाशिवः" (२३. ३) इत्यादि **सार्धत्रिशतिकालोत्तर** के सूत्रों में प्राणवृत्त्यात्मक हकार और अपानवृत्त्यात्मक सकार की प्राण के गमन और आगमन के रूप में जो निरन्तर गति होती रहती है, उसीको नाद रूप हंस कहा गया है। मुख में प्रविष्ट होकर यही स्थानभेद से नाना वर्णों का आकार ग्रहण कर लेता है। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में बताया गया है —

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥

'हंस' के आदि, मध्य और अन्त के तीन वर्ण जब वर्णान्तर के रूप में परिणत हो जाते हैं, तभी छः शून्य बनते हैं। यह पहले बिन्दु से लेकर शक्ति पर्यन्त आदि, मध्य और अन्त शून्य के रूप में परिणत होते हैं। इनमें पहला वर्ण हकार, औकार, ऊकार और मकार के रूप में परिणत होता है। इनमें आदि शून्य स्थित है। अकार बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिनी के रूप में परिणत होता है। इनमें मध्य शून्य स्थित है। सकार नाद, नादान्त और शक्ति के रूप में परिणत होता है। इनमें अन्त शून्य स्थित है। जैसा कि कहा गया है— **"ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं मध्यशून्यं तृतीयकम्"** (स्व. त. ४.२८९)। ये तीन शून्य सकल प्रासाद मन्त्र में स्थित हैं। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इनकी स्थिति मानी जाती है। **"देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलों देहवर्जितः"** (२३.२) **विंशतिकालोत्तर**[2] के इस वचन में यही विषय सूचित है। 'हंस' के उक्त तीन वर्ण

---

[1] उन्मना कला का उच्चारण-काल मात्रा का ५१२ वाँ भाग है, इस मत की चर्चा हमने योगिनीहृदय के अपने भाषानुवाद (पृ. ५०, टि. १) में की है।

[2] मुद्रित सार्धत्रिशतिकालोत्तर में भी कालोत्तर के विभिन्न संस्करणों के नाम से उद्धृत वचन मिलते हैं। यहाँ विद्यापाद में दी गई पृ. १४ की १ली टिप्पणी देखिये।

व्यापिनी, समना और उन्मना कलाओं में क्रमशः जब विलीन हो जाते हैं, तब भी तीन शून्यों की स्थिति रहती है। जैसा कि इस वचन में बताया गया है —

तदूर्ध्वं व्यापिनीशून्यं समनायां तु पञ्चमम्।
उन्मनायां तथा षष्ठं षडेते शून्यकं मतम्॥
(स्व. त. ४. २९०)

इन षड्विध शून्यों का जिनको ज्ञान नहीं है, ऐसे गुरु शिष्य की शिव के साथ योजना करने में असमर्थ माने गये हैं। जो गुरु प्रासाद मन्त्र के स्वरूप को, कलाओं के मात्राकाल, षड्विध शून्य आदि को जानकर नादशिखा पर्यन्त इसका उच्चारण करते हुए द्वादशान्त पद में प्रतिष्ठित होकर सर्वज्ञत्व आदि गुणों से अलंकृत हो जाते हैं, तो वे निष्कल शिव के समान हो जाते हैं। ऐसे ही गुरु शिष्य के पाशच्छेद में समर्थ हो सकते हैं। जैसा कि **त्रिशतिकालोत्तर** में कहा गया है —

प्रासादाब्जशिखान्तस्थो यस्तु दीक्षां करोति सः।
आचार्यः सह शिष्येण शिवसायुज्यतां व्रजेत्॥
(२२. ४)

इससे स्पष्ट होता है कि जापक को आध्यात्मिक हंसस्वरूप में परिणत कर देना ही मन्त्र का प्रयोजन है। मन्त्र में छः शून्यों की स्थिति बताई गई है। जापक जब मन्त्रस्वरूप बन जाता है, तो उसमें भी उपाधि रूप में ये प्रविष्ट हो जाते हैं और उस मन्त्र के अधिष्ठाता शिव में भी। अतः गुरु को इन समस्त उपाधियों से रहित सप्तम पद में शिष्य को विलीन करना पड़ता है। जैसा कि कहा गया है —

षट् शून्यानि तु संत्यज्य सप्तमे तु लयं कुरु।
(स्व. त. ४. २९१)

मेधादिकार्काख्यकलासु मध्यात् त्रिकत्रिकाणां विरहात् त्रिशून्यम्।
एकैकहानेरुपरि त्रिशून्यं शून्यात् परं योजय धाम शून्यम्॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि शून्य तो वस्तु का अभाव कहलाता है। उस शून्य में प्रवेश का क्या अर्थ हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि शून्य दो प्रकार का होता है। एक तो अत्यन्त शून्य और दूसरा प्रतीति के योग्य न होने से शून्य। शिवपद सामान्य मनुष्य के लिये प्रतीति का विषय न होने से शून्य कहलाता है।

तच्छून्यं तु परं सूक्ष्मं सर्वावस्थाविवर्जितम्।
अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते॥

अभावस्तु तदुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः।
सत्तामात्रं परं शुद्धं तत्पदं किमपि स्थितम्॥
(स्व. त. ४. २९२-२९३)

इन श्लोकों में उस सप्तम शून्यमय शिवपद का ही स्वरूप वर्णित है॥८॥

बारह कलाओं वाले प्रासाद मन्त्र के प्रस्तारक्रम और ध्यानक्रम का अब निरूपण करते हैं —

घोषो मेधा क्षमाख्यो विषमथ च ततश्चेतना चन्द्रखण्डं
त्र्यश्रं दृग्वृत्तसीरोऽरुणकिरणहलः सेन्दुसीरः क्रमेण ।
वृत्तार्कत्रिशिखं द्विबिम्बकलिता रेखा द्विकुब्जोन्मना
साकारं मनसा स्मरेदपि कलाः प्रत्येकमर्के शिवे ।।९।।

घोषः शिवबीज का हकार, **मेधा** पहली कला औकार, **क्षमाख्यः** दूसरी कला ऊकार, **विषं** तीसरी कला मकार, **अथ च ततश्चेतना** और इसके बाद चौथी कला बिन्दु, **चन्द्रखण्डं** पाँचवीं कला अर्धचन्द्र, **त्र्यश्रं** छठी कला त्रिकोणाकार निरोधिनी, **दृग्वृत्तसीरः** दोनों तरफ बिन्दु के साथ हल की आकृति वाली सातवीं कला नाद, **अरुणकिरणहलः** बाईं तरफ बिन्दु के साथ हलाकार आठवीं कला नादान्त, **सेन्दुसीरः** दाहिनी तरफ बिन्दु के साथ हलाकार नवीं कला शक्ति, **वृत्तार्कत्रिशिखं** दाहिने पार्श्व में बिन्दु के साथ त्रिशूलाकार दसवीं कला व्यापिनी, **द्विबिम्बकलिता** दोनों तरफ बिन्दु वाली, **द्विकुब्जरेखा** टेढ़ी रेखा वाली ११वीं समना कला, (बिन्दुविलसदृजुरेखा उन्मना) बिन्दुओं के साथ सीधी रेखा वाली उन्मना बारहवीं कला, **एवं** इस तरह से **क्रमेण** क्रमशः **अर्के शिवे** द्वादश कला वाले शिव के प्रासाद नामक मन्त्र में **कलाः** उक्त बारह मेधा आदि कलाओं में से **प्रत्येकं** प्रत्येक कला का **मनसा** मन से **साकारं** अपने-अपने आकार के साथ **स्मरेत्** ध्यान करे।।९।।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में पूर्ववत् स्रग्धरा और उत्तरार्ध में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। यहाँ बारह कला वाले प्रासाद मन्त्र की कलाओं का [१]आकार प्रदर्शित है। प्रासाद मन्त्र का जप करते समय इन आकारों वाली कलाओं का ध्यान करना चाहिये, अर्थात् कलाओं की आकृतियों को भी ध्यान में रखना चाहिये। जैसा कि **पूजास्तव** के इस श्लोक में कहा गया है —

---

[१] ऊपर पृ. ९५ की टिप्पणी देखिये।

आदिपञ्चममृत्युभूषणचन्द्रखण्डगुणाश्रदृग्
भानुगध्वनिसीरभास्करसेन्दुवृत्तहलाकृतिः ।
स्वांशुमत्त्रिशिखद्विबिम्बगतद् द्विकुब्जग उन्मनाः
पातु वः सकलोऽपरः सकलाकलस्त्वकलः शिवः ॥

यहाँ मन्त्रमूर्ति भगवान् शिव के सकल, सकलनिष्कल और निष्कल स्वरूप का ध्यान-प्रकार [1]योगिनीहृदय की पद्धति से ही बताया गया है ॥९॥

प्रासाद मन्त्र की कलाओं की स्थानविशेषों में स्थिति, षडध्व में उनकी व्याप्ति और उनमें कारणेश्वरों की स्थिति को अब स्पष्ट करते हैं —

बस्तेर्नादोऽथ नाभेस्त्रिपदमजगृहे हृत्कजे प्राकृतान्तं
विष्णुं कण्ठे कलान्तं रसमपि च पशुस्तालुनि ग्रन्थिरुद्रः ।
विद्येशौ बिन्द्वनन्तौ भ्रुवि च श्रुतिकला ब्रह्मरन्ध्रे सदेशः
शक्त्यन्तं शक्तिवेदा उपरि वसति भान्वङ्गुलान्नाहतेशः ॥१०॥

नादः शिव बीज हकार की **बस्तेर्नाभेर्वसति** गुह्यप्रदेश से लेकर नाभि पर्यन्त व्याप्ति है। **अथ** इसके बाद **प्राकृतान्तं त्रिपदं** पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त व्याप्त औकार की व्याप्ति **अजगृहे** अपने कारणेश्वर ब्रह्मा के वासस्थान **हृत्कजे** हृदयकमल में है। **कलान्तं** प्रकृति से ऊपर कला तत्त्व पर्यन्त व्याप्त **विष्णुं** कारणेश्वर विष्णु के साथ **रसं** उकार की व्याप्ति **कण्ठे** कंण्ठ स्थान पर्यन्त है। **ग्रन्थिरुद्रः** इसके ऊपर माया तत्त्व में कारणेश्वर रुद्र के साथ **पशुः** मकार की व्याप्ति **तालुनि** तालुस्थान पर्यन्त है। **विद्येशौ** माया के ऊपर शुद्धविद्या और ईश्वरतत्त्व की **बिन्द्वनन्तौ** कारणेश्वर अनन्त और बिन्दु कला के साथ **भ्रुवि** भ्रूस्थान पर्यन्त व्याप्ति है। **शक्त्यन्तं** इसके ऊपर सदाशिव और शक्तितत्त्व की **सदेशः** कारणेश्वर सदाशिव के साथ **श्रुतिकलाः** अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्त नामक चार कलाओं के साथ **ब्रह्मरन्ध्रे** ब्रह्मरन्ध्र नामक स्थान तक व्याप्ति है। **उपरि भान्वङ्गुलात्** इसके ऊपर द्वादशान्त स्थान में **नाहतेशः** कारणेश्वर अनाहत शिव के साथ **शक्तिवेदाः** शक्ति-व्यापिनी-समना-उन्मना नामक चार कलाएँ स्थित हैं॥१०॥

बस्ति पद से मूलाधार गृहीत है। "बस्तिर्नाभेरधः" (२. ६. ७३) अमरकोश का यह वचन इसमें प्रमाण है। मूलाधार से लेकर नाभि पर्यन्त स्थान को व्यास कर

---

[1] योगिनीहृदय चक्रसंकेत प्रकरण (१.२५-२८) तथा वहाँ की दीपिका टीका देखिये।

हकार स्थित है। नाभि से लेकर हृदय (ब्रह्मस्थान) पर्यन्त स्थान में तीन मात्रा वाले औकार (मेधा कला) की व्याप्ति है। यहाँ कु (पृथिवी) से लेकर अकृत (अव्यक्त) पर्यन्त तत्त्व और कारणेश्वर ब्रह्मा स्थित हैं। कण्ठ में कारणेश्वर विष्णु स्थित हैं। यहां कलातत्त्व पर्यन्त तत्त्वों में ऊकार कला की व्याप्ति है। मकार कला की व्याप्ति तालुस्थान पर्यन्त है। यहां मायातत्त्व स्थित है और कारणेश्वर रुद्र हैं। भ्रूस्थान तक बिन्दु कला की व्याप्ति है। यहाँ शुद्धविद्या और ईश्वर तत्त्व स्थित हैं और कारणेश्वर अनन्त हैं। आगे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थान तक अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त नामक चार कलाओं की व्याप्ति है। यहाँ सदाशिव और शक्तितत्त्व की तथा कारणेश्वर के रूप में सदाशिव की स्थिति है, अर्थात् भ्रूमध्य से लेकर ब्रह्मबिल पर्यन्त [१]पौने तीन अंगुल स्थान में क्रमशः अर्धचन्द्र आदि चार कलाएँ स्थित हैं। शिवतत्त्व का अन्तर्भाव शक्तिकला में ही हो जाता है, अतः इसके आगे किसी तत्त्व की स्थिति नहीं रहती। इसके ऊपर द्वादशांगुल स्थान में क्रमशः शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना कलाएं स्थित हैं। उनका क्रम इस प्रकार है— ब्रह्मबिल से एक अंगुल ऊपर शक्तिकला की, उसके तीन अंगुल ऊपर व्यापिनी कला की, चार अंगुल ऊपर समना की और पुनः चार अंगुल ऊपर उन्मना कला की स्थिति है। कारणेश्वर के रूप में यहां अनाहत शिव विराजमान हैं ॥ १०॥

ऊपर के पाँच श्लोकों में प्रासाद मन्त्र का उद्धार, मात्रा-काल, प्रस्तार, व्याप्ति, कारणेश्वरों का स्थान, षट्शून्य आदि का वर्णन किया गया है। अब ध्यान की सुविधा के लिये कलाओं के वर्णों का वर्णन किया जा रहा है —

मेधादयो वह्निशिखाप्रभार्कचन्द्राभविद्युद्द्युतिदीपभासः ।
अर्धेन्दुभौ दण्डतदन्तरत्नविद्युत्प्रभोर्ध्वं शतभानुभासः ।।११।।

मेधादयः मेधा (औकार), ऊकार, मकार, बिन्दु — ये चार कलाएँ **वह्निशिखाप्रभार्कचन्द्राभविद्युद्द्युतिदीपभासः** क्रमशः वह्निशिखा की प्रभा, चन्द्र-सूर्य की प्रभा, विद्युत् की प्रभा और दीपक की प्रभा के समान वर्ण वाली हैं। **अर्धेन्दुभौ** अर्धचन्द्र और निरोधिनी — इन दो कलाओं का वर्ण अर्धचन्द्र के समान है। **दण्डतदन्तरत्नविद्युत्प्रभा** नाद और नादान्त का वर्ण रत्न और विद्युत् (बिजली) की प्रभा के समान है। **ऊर्ध्वं** इसके ऊपर शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना — इन चार कलाओं का वर्ण **शतभानुभासः** सैकड़ों सूर्यों के प्रकाश के समान है।।११।।

---

[१] इनका विशेष विवरण अपेक्षित है। इस तरह का वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

हौकार कला की प्रभा वह्निशिखा के समान, ऊकार की कान्ति चन्द्र-सूर्य के समान, मकार की विद्युत् के समान और बिन्दु की प्रभा दीपक के समान मानी गई है। अर्धचन्द्र और निरोधिनी कला की कान्ति अर्धचन्द्र के समान है। नाद और नादान्त की कान्ति क्रमशः रत्न और विद्युत् की प्रभा की जैसी है। शक्ति कला की आभा सौ सूर्यों के समान, व्यापिनी की सहस्र सूर्यों के समान, समना की दस हजार सूर्यों के समान और उन्मना की कान्ति एक लाख सूर्यों के समान है।

इस प्रकार यहाँ छः श्लोकों में त्रिविध प्रासाद मन्त्रों की कलाओं के नाम, मात्रा, उनमें स्थित शून्य, स्थान, अध्वव्याप्ति, कारणेश्वर और प्रभा का वर्णन आचार्य आदि के मुक्ति-लाभ के लिये किया गया है। जैसा कि सिद्धान्तरहस्य के इस वचन से प्रतीत होता है —

मात्राभाकारणाख्यानस्थानशून्याङ्गुलाध्वसु ।
शक्त्याकृत्योः कलाव्याप्तिं ज्ञात्वा को वा न मुच्यते ॥

यहाँ एक शंका उठती है कि यहाँ वर्णित त्रिविध प्रासाद मन्त्रों का मात्र शिव ही जब वाच्य है, तो ब्रह्मा आदि को यहाँ कारणेश्वर कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के रूप में भगवान् शिव ही विराजमान हैं, ब्रह्मा आदि की अलग से कोई सत्ता नहीं है। तत्त्वसंग्रह में इस विषय को स्पष्ट किया गया है—

अणुशक्तिशम्भुपक्षा विद्याविद्येश्वरेषु विद्वद्भिः ।
गीताः...................... (श्लो. ४४)

सभी मन्त्रों की उत्पत्ति प्रासाद मन्त्र से ही मानी जाती है। इसीलिये आचार्य ने यहाँ प्रासाद मन्त्र के सिवाय अन्य मन्त्रों का उद्धार नहीं किया है। [१]द्विशतिकालोत्तर में बताया गया है कि सद्योजात आदि पाँच मन्त्र प्रासाद मन्त्र की कलाओं से ही उत्पन्न हुए हैं —

सद्यश्चाष्टकलायुक्तमकाराक्षरसम्भवम् ।
विद्यादुकारजं वाममघोरं तु मकारजम् ॥

बिन्दुजः पुरुषो ज्ञेय ईशानस्तु शिवात्मकः ।
एवं मन्त्रास्तु पञ्चैते स्मृताः प्रासादसम्भवाः ॥
(२२. ८-९)

यहाँ पुनः शंका उठती है कि अकार इत्यादि अक्षरों की स्थिति तो प्रणव में है। ये प्रासाद मन्त्र के अक्षर नहीं हैं, वहाँ तो हकार आदि वर्ण हैं। इसका समाधान यह है

---

१. कालोत्तर के संक्षेप और विस्तार की दृष्टि से अनेक संस्करण हुए हैं। अतः एक के नाम से उद्धृत वचन अन्यत्र भी उपलब्ध हों, यह अस्वाभाविक नहीं है। आगे भी ऐसा ही समझना चाहिये।

कि प्रासाद मन्त्र के अक्षरों के निमित्त के रूप में यहां प्रणवाक्षरों का विधान किया गया है। सद्योजात आदि से उत्पन्न अकार आदि से प्रासादाक्षर हकार आदि की उत्पत्ति होती है। इसी को यहाँ अकाराक्षर से उत्पन्न सद्योजात कहा गया है। जैसा कि निम्न श्लोक में वर्णित है —

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकसंस्थितौ ॥
विभक्तिर्नैव विद्येत मारुताम्बरयोरिव ।
(स्व. त. ४. ३४९-३५०)

इसी तरह से उकार आदि से वामदेव आदि की उत्पत्ति मानी गई है। इसका अभिप्राय है कि प्रणव कलाओं से ही प्रासाद मन्त्र की सद्योजात आदि कलाओं की क्रमशः उत्पत्ति होती है। इसीलिये सभी मन्त्रों के प्रारंभ में प्रणव का प्रयोग किया जाता है। यहां प्रणव का उद्धार भी किया जा सकता है। द्वादश मात्रा वाले हकाराक्षर में पंचब्रह्ममन्त्रों और छः अंगमन्त्रों का उद्धार इस प्रकार किया जाता है— हं हिं हुं हें हों हां हीं हूं हैं हौं हः। जैसा कि यहाँ बताया गया है —

यवर्गादष्टमं बीजं मात्रैर्द्वादशभिः स्थितम् ।
अक्षरान्तरितं कृत्वा स षडङ्गः शिवो भवेत् ॥

अष्टविध प्रासाद मन्त्र का उद्धार भी इनसे हो जाता है। 'हुम्' यह सकल प्रासाद मन्त्र है और 'हौम्' यह निष्कल। 'ह' यह शून्य प्रासाद और सभी कलाओं से युक्त षोडश कला प्रासाद है। 'हीम्' यह शिरोबीज आकाश प्रासाद और 'हां' यह हृद्बीज क्षपणक प्रासाद है। 'हः' यह अस्त्रबीज अन्तस्थ प्रासाद और 'हसूम् ह्यं' यह कण्ठौष्ठ्य प्रासाद है। इन आठ प्रकार के प्रासाद मन्त्रों की योजना अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये की जाती है। अष्टविध प्रत्ययों के लिये भी इनका प्रयोग किया जाता है। अग्निज्वलन में 'औं हूं हों हं ओं नमः' इस प्रासाद मन्त्र का, अग्निशमन में 'ओं हूं हौं हूं ओं नमः' का, जुए के पाशों को वश में करने के लिये 'ओं हूं हौ हूं ओं नमः' का, महापातकों के दाहन में 'ओं हूं हौं हूं ओं नमः' का, महापातकों के क्षपण में 'ओं ह्यां ह्यौं ह्यां ओं नमः' का, विष के नाश के लिये 'ओं ह्यीं ह्यौं ह्यीं ओं नमः' का, निर्बीजीकरण में अग्निज्वलन प्रासाद मन्त्र का, गृहनाश में 'ओं हूं हौ हूं फण्णमः ओम्' का, ज्वरनाश में 'ओं हुं फट् ओं हूं फट् ओं हौ फट् ओं हूं फट् ओं फट् फट् फट् फट् फट्'— इस प्रासाद मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। इन सभी प्रासाद मन्त्रों के प्रारंभ में ॐकार का, इसके बाद प्रासाद मन्त्र का, तब शिवाय का और अन्त में नमः पद का प्रयोग पूजन के समय किया जाता है। होम करते समय अन्त में स्वाहा

पद प्रयुक्त होता है। अन्य विशेष विषयों में उन-उन कल्पों में प्रदर्शित विधियों का अनुसरण करना चाहिये। पाशुपतास्त्र आदि मन्त्रों के उद्धार की विधि द्विशतिकालोत्तर आदि में प्रदर्शित है। विस्तार के भय से उनको यहाँ नहीं लिखा गया है ॥ ११॥

पूर्वोक्त क्रम से आचार्य (गुरु) से दीक्षा और निष्कल प्रासाद मन्त्र को प्राप्त कर उसका जप करने वाला शिष्य शुद्ध भुवनों के भोगों को प्राप्त कर अन्त में शिवस्वरूप-प्राप्ति रूप मुक्ति को पा जाता है, यही विषय यहाँ प्रतिपादित है —

मन्त्रं षट्कलमास्यरन्ध्रमुकुलाद्याधारमैशं क्रमात्
तुर्यं धाम विशन्तमेवमसकृद् यस्य प्रसादाद् धिया ।
सिक्ताः सौधरसैः प्रयान्त्यभिमतान्यन्ते यदीयं महः
शम्भोस्तस्य नमः शिवाय सुमनुर्जप्यः सतारः सताम् ।।१२।।

षट्कलं हृदय आदि छः अंगों से संबद्ध दीर्घ स्वरयुक्त **आस्यरन्ध्रमुकुलाद्याधारं** ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, हृदय आदि स्थानों में कमल-मुकुलों का आधार प्राप्त कर **तुर्यं धाम** द्वादशान्त स्थान में जाकर शिव के तेज में **क्रमात्** ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का क्रमशः त्याग करते हुए हृदय आदि स्थानों में **विशन्तं** प्रवेश करने वाले **ऐशं** शिवसंबन्धी **मन्त्रं** नादस्वरूप प्रासाद मन्त्र की **असकृद् धिया** सदा विच्छेदरहित क्रम से चलने वाली बुद्धि से **एवं** ऊपर बताये क्रम से भावना कर **सौधरसैः** ऐसे प्रतिदिन के ध्यान के बल से ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर के भाग में स्थित निष्कल शक्ति में क्षोभ होने से उत्पन्न अमृतरस के स्राव से **सिक्ताः** अन्दर-बाहर सारे शरीर में सम्यक् अभिषेक प्राप्त पुरुष **यस्य** जिस भगवान् शिव के प्रसादात् अनुग्रह से **अभिमतानि** अभीष्ट शुद्ध भुवनों को **प्रयान्ति** प्राप्त करते हैं, **किञ्च** और **अन्ते** शुद्ध भुवनों में भोगों को भोग कर **यदीयं महः** जिस शिव के दिव्य तेज में **प्रयान्ति** समाविष्ट हो जाते हैं, **तस्य शम्भोः** उस शिव के **नमः शिवाय सुमनुः** सर्वश्रेष्ठ "नमः शिवाय" इस मन्त्र का **सतारः** प्रणव (ॐ कार) के साथ **सतां** शिवदीक्षा प्राप्त सज्जनों के द्वारा **जप्यः** जप करना चाहिये।।१२।।

तार शब्द प्रणव का पर्याय है, **"प्रणवं तारकं तारं वेदाद्यं भूतिदं परम्"**

जोड़ने से छः कलाओं वाला मन्त्र बनता है। नौ कला, बारह कला और सोलह कलाओं वाले मन्त्रों का उद्धार पहले बताया जा चुका है। इन मन्त्रों की जपविधि सर्वज्ञानोत्तर में इस प्रकार प्रदर्शित है —

आसनं रुचिरं बद्ध्वा ऊर्ध्वकायः समं शिरः।
न दन्तैः संस्पृशेद् दन्तान् सृक्किणी तु न जिह्वया॥

किञ्चित् कुञ्चितनेत्रस्तु शिवं सम्यक् तदोच्चरेत्।

प्रस्तुत ग्रन्थकार ने 'आस्यरन्ध्रमुकुलाद्याधारम्' पद से इसी पद्धति को बताया है। इस प्रकार जप करता हुआ साधक हकार आदि कलाओं में व्याप्त मूलाधार आदि स्थान, पृथिवी आदि तत्त्व और उनके कारणेश्वरों का क्रमशः परित्याग कर शिवपद में प्रविष्ट हो जाता है। इसकी प्रक्रिया वातुलागम में प्रदर्शित है —

बस्तिश्चतुष्कलापत्रकमलस्तेजसां निधिः।
नाडीमूलावृताङ्गा हि कुण्डली हंसनिस्वना॥

तस्मान्नाभ्यन्तमासीनो विश्वरूपस्तडिन्निभः।
नाभेरूर्ध्वं वितस्त्यन्ते हृदयं चतुरङ्गुलम्॥

तदन्ते संस्थिता मेधा ज्वलद्वह्निशिखाप्रभा।
त्रिमात्रा कारणं ब्रह्मा चतुर्विंशतितत्त्वयुक्॥

कण्ठेऽष्टाङ्गुलकेऽधीशो द्विमात्रोऽर्कशशिद्युतिः।
तत्त्वषट्कयुतो विष्णुस्तालौ तु चतुरङ्गुले॥

मायातत्त्वं विषं रुद्र एकमात्रस्तडिन्निभः।
भ्रूमध्ये द्व्यङ्गुले दीपनिभो वृत्तोऽर्धमात्रकः॥

तत्त्वद्वययुतोऽनन्तो ललाटे पादमात्रकः।
वृत्तार्धोऽर्धशशिज्योतिर्मात्राष्टांशा निरोधिनी॥

उक्तप्रभस्ततो दण्डः षोडशांशो मणिप्रभः।
द्वात्रिंशांशस्तु दण्डान्तो रन्ध्रे सौदामिनीनिभः॥

भ्रुवोरूर्ध्वं बिलं यावदङ्गुलैकादशाधिकः।
वृत्तार्धादिचतुर्णां तु स देशस्तत्त्वयुग्मकः॥

सूर्यकोटिद्युतिश्चोर्ध्वं नाहताख्यः शिवोऽधिपः।
चतुष्षष्ट्यंशिका शक्तिर्मूर्धन्येकाङ्गुले स्थिता॥

त्र्यङ्गुले व्यापिनी चाष्टाविंशत्यधिशतांशिका।
चतुरङ्गुले षड्युक्तपञ्चाशदद्विशतांशिका॥

समनोर्ध्वे मनोमात्रा चतुरङ्गुलतोन्मना।
शक्त्यादीनां वपुश्चोर्ध्वं सहस्रादित्यसन्निभम्॥
ततः परममात्रस्तु तत्त्वातीतः परः शिवः।
निर्मलादर्शनप्रख्यः शरद्वारिसमप्रभः॥
गम्योऽनेन क्रमेणैव स्वानुभूत्या महात्मभिः।

यहाँ प्रदर्शित पूरी प्रक्रिया का प्रदर्शन प्रासाद मन्त्र की उद्धारविधि के प्रकरण में किया जा चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि कालोत्तर आगम के —

ब्रह्मणि स्पर्शशब्दौ तु रसं वै केशवे त्यजेत्।
रूपगन्धौ त्यजेद् रुद्रे बुद्ध्यहङ्कारमीश्वरे॥
मनोबिन्दुशिवे त्यक्त्वा चैभिर्मुक्तः शिवं व्रजेत्।
(सा. का. १७. ६)

इस वचन के अनुसार यह सारी प्रक्रिया प्राण-निष्क्रमण के समय की है। पुर्यष्टक शब्द से इन्हींका ग्रहण किया जाता है। जैसा कि वहीं कहा गया है—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥
(सा. का. १७.४)

इसका उत्तर यह है कि स्वयं रामकण्ठ ने ही पुर्यष्टक पद की व्याख्या करते हुए यहाँ छत्तीस तत्त्वों का ग्रहण किया है। पुनः शंका उठ सकती है कि सूक्ष्म शरीर तो पृथिवी से लेकर कला पर्यन्त तीस तत्त्वों से ही बना है, तब उससे छत्तीस तत्त्वों का ग्रहण कैसे हो सकता है? इसका भी उत्तर यह है कि अशुद्ध भुवनों में पर्यटन का साधन यह अशुद्ध सूक्ष्म शरीर ही है। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में बताया गया है—

वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम्।
पर्यटति कर्मवशतो भुवनजदेहेष्वयं च सर्वेषु॥
(श्लो. २४)

किन्तु यहां पर तो बिन्दु के कार्य शुद्ध भुवनों का भी ग्रहण नाद पद से किया जाता है। परमुक्ति दशा में सभी प्राणियों में स्थित इस नादतत्त्व को भी हेय कोटि में रखा गया है, अतः औपचारिक रूप से पुर्यष्टक पद से इसका भी ग्रहण कर लिया जाता है। यद्यपि दीक्षा के द्वारा उसके सारे पाश कट जाते हैं, किन्तु "यावदेतैर्न मुच्येत कथं मुच्येत बन्धनात्" (१७. ५) कालोत्तर के इस वचन के अनुसार वह पूरी तरह से बन्धन-मुक्त नहीं होने पाता। प्रारब्ध कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा, अतः

असद्योनिर्वाण दीक्षा से भी इनसे मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि जब तक यह शरीर विद्यमान है, तब तक तो प्रारब्ध कर्म की प्रवृत्ति के कारण बन्धन बना ही रहेगा। इसीलिये इनसे पूरी तरह से छुटकारा पाने के लिये उत्क्रान्ति (प्राणविसर्जन) दशा में उन उन स्थानों में उनका परित्याग करना ही पड़ेगा।

इसीलिये वातुलसूत्र के उक्त वचनों में इसकी प्रक्रिया विस्तार से प्रदर्शित है कि ब्राह्म कल्प में प्रकृति पर्यन्त चौबीस तत्त्वों का विलय हो जाता है। इसलिये इनसे उत्पन्न बन्धन को काटने के लिये ब्रह्मा के स्थान हृदय में इनका त्याग प्रदर्शित है। विष्णु के परार्ध काल में काल पर्यन्त तत्त्वों का विलय हो जाता है, अतः विष्णु के स्थान कण्ठ में इनका त्याग कर दिया जाता है। माया तत्त्व में सभी का उपसंहार हो जाता है, अतः रुद्र के स्थान तालु में इसका त्याग विहित है। शुद्धविद्या और ईश्वर-स्वरूपा वैखरी और मध्यमा वाणी सभी प्रकार की प्रवृत्तियों में कारण बनती हैं और जाग्रदवस्था में ये प्रवृत्त होती हैं, अतः जाग्रदवस्था के स्थान भ्रूमध्य में, जो कि ईश्वर का स्थान है, इनका त्याग कर दिया जाता है। सदाशिव और शक्तितत्त्व की स्थिति मूर्धा में मानी गई है, अतः सदाशिव के इस स्थान में इनका त्याग बताया गया है।

यह प्रक्रिया कालोत्तरसूत्र (१७. ६) में इस प्रकार वर्णित है — ब्रह्मस्थान हृदयाकाश में शब्द और स्पर्श का त्याग किया जाता है, क्योंकि शब्द और वायु की स्थिति आकाश में है, जैसा कि पूर्व उद्धृत पाणिनीय शिक्षा के इस वचन में बताया गया है— "आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः"। विष्णु के स्थान कण्ठ में रस का परित्याग करे, क्योंकि रसनेन्द्रिय का मूल कण्ठ ही है। जैसा कि योगसूत्र में पतंजलि ने कहा है— "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः" (३.३०)। रुद्र के स्थान तालु में रूप और गन्ध का त्याग करे, क्योंकि इनकी उत्पत्ति का स्थान वही है। [1]योगसूत्र में ही बताया गया है— "तालुनि गन्धसंवित्"। इस तरह से स्थूल और सूक्ष्म विविध कार्य-वर्ग की अपने अपने स्थान में विलय की प्रक्रिया बताई गई है। इस तरह की प्रक्रिया दीक्षा-काल में और उत्क्रान्ति-काल में समान रूप से चलती है। इनमें अन्तर इतना ही है कि निर्बीज दीक्षा में इन्द्रिय-दोषों के परिहार के लिये और उत्क्रान्ति-काल में सभी प्रकार के पाशों के परिहार के लिये यह होती है।

बुद्ध्यहंकार पद से बाह्य और आन्तर करणवर्ग का ग्रहण होता है। ईश्वर-स्थान में इनका त्याग किया जाता है, क्योंकि माया के कार्यों को यही नियन्त्रित करता है। मन ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होने से माया के अन्तर्गत आता है और बिन्दु शुद्ध

---

१. योगसूत्र में यह वचन उपलब्ध नहीं है।

प्रकृति है। इसलिये माया और महामाया से उत्पन्न सारे कार्य-वर्ग का उपसंहार सदाशिव के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में किया जाता है। आत्मा बीजरूप में शिव में लीन हो जाता है। यही स्थिति मन्त्र की भी मानी गई है। जाग्रत् आदि अवस्थाएं भी क्रमशः शिव में लीन हो जाती हैं। जैसे[१] कि तीन मात्रा, आठ कला, जाग्रदवस्था, प्राण के तीव्रतर प्रयत्न के रूप में नाद से अभिव्यक्त होने वाला हौकार शान्ति, आप्यायन आदि कार्यों में विनियुक्त होता है। एक मात्रा, आठ कला, सुषुप्ति अवस्था, मन्द प्राण से अभिव्यक्त होने वाला मकार वश्य, आकर्षण आदि कार्यों का निष्पादक है। अर्धमात्रा, चार कला, तुर्यावस्था, मन्दतर प्राण से अभिव्यक्त हुआ बिन्दु भूतोन्माद, उच्चाटन आदि में विनियुक्त होता है। इसी तरह से अर्धार्ध मात्रा वाला, तुर्यातीतावस्था और पाँच कला वाला नाद योगसाधना और कैवल्य की प्राप्ति का साधन है।

त्रिमात्रस्तु द्विमात्रस्तु एकमात्रस्तथैव च।
अर्धमात्रः परः सूक्ष्मस्तस्याप्यर्धं परापरम्॥
(२३.८)

द्विशतिकालोत्तर के इस वचन में यही क्रम प्रदर्शित है। अकार आदि स्वरों के रूप में ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के परित्याग के क्रम से भी शिव में विलयन-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। 'ऐशं क्रमाद् विशन्तम्' इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर बताई गई पद्धति से सकल प्रासाद मन्त्र के उच्चारण के हृदय आदि उन-उन स्थानों का स्पर्श करते हुए साधक परशिव में लीन हो जाता है। जैसा कि कालोत्तर में ही वर्णित है —

ब्रह्मणो हृदयं स्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥
नादान्ते तु शिवं विद्यात् तस्यान्ते तु परं पदम्।
(२३.१०-११)

इस तरह से पूर्वोक्त प्रासाद मन्त्र का उच्चारण करने वाला परमशिव के धाम द्वादशान्त पद में परमशिव के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, क्योंकि उस समय उसमें परमशिव के समान शुद्ध संवित् का उदय हो जाता है। शिव मनन करने वाले की रक्षा करते हैं। उसी तरह से परमशिव का वाचक यह मन्त्र भी जप करनेवालों की रक्षा करता है। इसीलिये इसको मन्त्र कहा जाता है।

---

[१] टीका का प्रस्तुत प्रकरण अप्रासंगिक एवं अधूरा भी लगता है।

[1]मननं सर्ववेदित्वं त्राणं संसार्यनुग्रहः ।
मननत्राणधर्मित्वान्मन्त्र इत्यभिधीयते ॥

इन वचन से इसकी पुष्टि होती है। इसलिये मन्त्र का जप अवश्य करना चाहिये। शिव के अनुग्रह से शक्तिपात से सम्पन्न दीक्षित व्यक्ति प्रातःकाल उठ कर, आवश्यक कृत्यों को सम्पन्न कर मृगेन्द्रागम आदि में प्रदर्शित क्रम से सारे विधानों को पूरा कर जल को पराशक्ति के क्षोभ से उत्पन्न अमृत स्वरूप मान कर उससे अपना अभिषेक करे। मृगेन्द्रागम में यह क्रम —

अस्त्रेण मृदमादाय जलोपान्ते न्यसेच्छुचौ ।
देशे सद्येन वामेन प्रोक्ष्याघोरेण मन्त्रयेत् ॥

मन्त्रैरालभ्य संवेष्ट्य वर्मणा विभजेत् त्रिधा ।
नरेणैकं ततो जप्त्वा गृह्यास्त्रेण मलापहम् ॥

स्नानमा शिरसः कृत्वा समाचम्योदगाननः ।
प्राङ्मुखो वा भजेत् सन्ध्यां वेदसिद्धां द्विराश्रमी ॥

तच्छेषमपि संपाद्य त्रिधांशमपरं मृदः ।
विभज्य पाणिगं पूर्वयाम्यसौम्यस्थमालभेत् ॥

अस्त्रब्रह्मशिवैर्विघ्नानाद्येनोत्सारयेद् जलात् ।
तदन्तेनामृतीकुर्याद् द्वितीयेनालभेत् तनुम् ॥

स्नायात् ततस्त्रिभागेन पाण्योः शौचं पुनः पुनः ।
संयतासुरपां मध्ये वक्त्रमाधाय चेतसा ॥

जपेदघौघविच्छित्त्यै तारकं दुःखतारकम् ।
आप्लुत्य परिवर्त्यान्तर्वासो बद्ध्वाचमेच्छिखाम् ॥

(क्रि. २.७-१३)

इस प्रकार विस्तार से वर्णित है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब सभी करणों का परित्याग हो गया, तो जप कैसे संभव होगा? इसीके उत्तर में यहाँ बताया गया है कि अपनी चिच्छक्ति का विकास कर उसकी सहायता से जप किया जाता है। जप के स्थान, लक्षण आदि का स्वरूप सुप्रभेदागम आदि में विस्तार से वर्णित है। यहाँ

---

१. सार्धत्रिशतिकालोत्तर के संस्करण (पृ. ४, टि. २२) में बताया गया है कि कामिकागम, सुप्रभेदागम और वातुलशुद्धाख्यतन्त्र (५.७) में यह श्लोक उपलब्ध होता है। अष्टप्रकरण की टीकाओं (पृ. १२७, १६६, १९३) तथा मृगेन्द्रागम की वृत्ति (क्रि. १.१) में भी यह मिलता है।

शिवार्चा में अनेक कर्मों का विधान है। प्रत्येक कर्म के अन्त में जप का विधान इसलिये किया जाता है कि उसमें आई त्रुटि का इससे परिहार हो जाय। इस प्रकार मन्त्र का जप करते रहने से प्रारब्ध देह का अवसान हो जाने पर साधक शिवधाम में प्रविष्ट हो जाता है, शिवसायुज्य को प्राप्त कर लेता है। भोग की आकांक्षा वाला साधक अभिमत शुद्ध भुवनों को प्राप्त कर वहां के दिव्य भोगों का उपभोग करता है। स्वायम्भुवागम का कहना है—

योयत्राभिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात्.................॥

इस तरह से प्रतिदिन प्रासाद मन्त्र की आराधना करने वाला शुद्ध भुवनों के भोगों का उपभोग कर अन्त में तेजोमय शिवस्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है। शैवशास्त्र मे प्रासाद मन्त्र ही मुख्य है, अतः मन्त्र पद से यहाँ इसी मन्त्र का ग्रहण किया जाता है। यह प्रासाद मन्त्र नादमय है। इस नाद की उत्पत्ति शिव से होती है। नाद से बिन्दु और बिन्दु से अक्षर की उत्पत्ति मानी गई है। अक्षर से ही आगे के सभी वर्णों की उत्पत्ति होती है। जैसा कि कामिकागम में बताया गया है—

नादो मन्त्र इति प्रोक्तः स नादो जायते परात्।
नादाद् बिन्दुः समुत्पन्नो बिन्दोराद्यस्वरो भवेत्॥

तस्मात् स्वरद्वयाद् द्वौ द्वौ तेषां भेदाश्चतुर्दश।
स्वराः षोडश जीवाख्याः कादयो देहवन्मताः॥

संख्यया ते चतुस्त्रिंशत् त एव व्यञ्जनानि तु।
तैरेव रचितं शास्त्रं परापरविभेदितम्॥

नवखण्डं तु नादाख्यं पञ्चाशद्बीजगर्भितम्।

'मनुरवबोधने' (तना. १४७२) और [१]'त्रा रक्षणे' इन दो धातुओं के योग से मन्त्र शब्द बनता है। मनन का अर्थ है परशिव का ध्यान। वह शिव अपना ध्यान करने वाले समस्त प्राणियों की इस संसार-सागर से रक्षा करते हैं। यही मन्त्र शब्द का अर्थ है। ऊपर उद्धृत ''मननं सर्ववेदित्वम्'' इत्यादि श्लोक में यही व्युत्पत्ति बताई गई है।

षट्कल का अर्थ है हृदय आदि छः अंग-मन्त्रों के दीर्घ स्वरों से युक्त। इससे निष्कल प्रासाद मन्त्र सूचित होता है। ईशान आदि पंचब्रह्म मन्त्रों के अक्षरों से परमेश्वर के शरीर का निर्माण होता है, अतः सकल प्रासाद मन्त्र का उद्धार भी इन्हींको

---

१. भ्वादि गण में "त्रैङ् पालने" (९६५) धातु उपलब्ध है।

मिलाकर किया जाता है। अंग मन्त्रों के अक्षरों को मिलाकर निष्कल प्रासाद मन्त्र का उद्धार शास्त्रों में विहित है। कालोत्तर में इसका विधान इस प्रकार है—

निष्कलं परमं मन्त्रं शिवं साक्षात् सदाशिवम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुंसां पञ्चाङ्गसहितं विभुम्॥

नेत्र मन्त्र के न रहने पर पाँच अंग बनते हैं। इस विधि में प्रासाद मन्त्र के पाँच ही अंग होते हैं। तब प्रासाद मन्त्र की छः कलाएँ कैसे होंगी? इस शंका का परिहार इस तरह से होगा कि नेत्र और प्रासाद दोनों मन्त्रों में हकार के ऊपर औकार स्थित है; अतः नेत्र का मूल मन्त्र में ही अन्तर्भाव मान कर उसमें छः कलाओं की स्थिति मानी जाती है। अत एव मोक्ष की अभिलाषा वाले को निष्कल प्रासाद मन्त्र का ही ध्यान करना चाहिये। **"ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदो भवेत्"** (सा. का. १६. १) ऐसा वचन भी उपलब्ध है। 'आस्यरन्ध्रमुकुलाद्याधारम्' यहाँ आस्य पद से ललाट के मध्य में स्थित बिन्दुस्थान का, रन्ध्र पद से ब्रह्मरन्ध्र का तथा मुकुल पद से हृदय आदि उन उन स्थानों में विद्यमान कमल–मुकुल का ग्रहण किया जाता है। आदि शब्द से ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर विद्यमान शक्ति आदि स्थानों का बोध होता है। इन स्थानों में अपनी सामर्थ्य के अनुसार मन्त्र की विभिन्न कलाओं में उनके अधीश्वरों का ध्यान करना चाहिये, अर्थात् परशिव संबन्धी द्वादशान्त स्थानगत परशिव के तेज में ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का हृदय आदि स्थानों में विलय हो रहा है, ऐसा बार बार अपनी भावनात्मिका बुद्धि के सहारे विचार करना चाहिये। ऐसी भावना करने से सभी कारणेश्वरों का परशिव में विलय हो जाता है, वे सब परशिव के साथ एकाकार हो जाते हैं। यहाँ आकर प्रासाद मन्त्र का ध्यान परिपूर्ण हो जाता है। इससे भूतशुद्धि की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो जाती है। इस तरह प्रतिदिन ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर स्थित निष्कल शक्ति के क्षुब्ध होने पर उनमें से बह रहे अमृतरस से सिंचित, भीतर–बाहर अभिषिक्त साधक अपने अभिमत शुद्ध भुवनों को प्राप्त करते हैं और सब प्रकार के मनोवांछित भोगों का उपभोग कर लेने के बाद जिस शिवपद को प्राप्त करते हैं, उस शंभुपद को प्राप्त कराने वाला मन्त्र "नमः शिवाय" है। इस सुन्दर मन्त्र का जप दीक्षित व्यक्ति को ॐकार के साथ करना चाहिये, क्योंकि यह शिवमन्त्र परमोक्ष को प्रदान करने वाला है। शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि प्रासाद मन्त्र का जप करने से सभी मन्त्रों का जप पूरा हो जाता है ॥ १२॥

प्रासाद मन्त्र के मूलाधार से लेकर नादान्त पर्यन्त उच्चारण से शक्ति का क्षोभ होने पर उसमें से निकले अमृतप्रवाह से अपनी देह को अन्दर-बाहर से अभिषिक्त करने की भावना ही मानस स्नान कही गई है। अब इसी के क्रम को दिखाते हैं —

मूलाणुं लयनान्तमुच्चरति यः शक्तिं जगत्कारणं
क्षुब्ध्वा तत्प्रसृतामृतौघविसरैः प्राणान् नियम्य स्थितः ।
मध्ये संप्लवनात् स्वदेहमचिरादागत्य नाड्या बहिः
सोऽन्तश्चाप्लवतीह मानसमिदं स्नानं तदाप्यायनम् ।।१३।।

यः जो दीक्षित व्यक्ति **प्राणान् नियम्य** प्राणायाम के द्वारा प्राणों का नियमन कर **स्थितः** स्थिर आसन पर बैठ कर **मूलाणुं** मूल मन्त्र रूप प्रासाद मन्त्र का **लयनान्तं** द्वादशान्त स्थान पर्यन्त **उच्चरति** उच्चारण करता है, **सः** वह **जगत्कारणं** इस संसार की उपादान कारणभूता **शक्तिं** कुण्डलिनी शक्ति को **क्षुब्ध्वा** क्षुब्ध कर, जगा कर **तत्प्रसृतामृतौघकिरणैः** वहाँ से बह रहे अमृत प्रवाह में **संप्लवनात्** भलीभाँति स्नान करके **अचिरात्** शीघ्र ही **नाड्या** ब्रह्मनाडी के मार्ग से **मध्ये** शरीर के बीच में **आगत्य** आकर **स्वदेहं** अपने शरीर की **अन्तर्बहिश्च** अन्दर और बाहर से **आप्लवति** अच्छी तरह से शुद्धि करता है, **तदिदं स्नानं** उसका यह स्नान ही **आप्यायनं** शरीर की परमशुद्धि करने वाला **मानसं स्नानं** मानस स्नान **इह** इस शैवशास्त्र में कहलाता है।।१३।।

मन्त्र–जप की योग्यता पाने के लिये स्नान का विधान ऊपर बताया गया है। यह स्नान वारुण, तैजस, भौम, अनिल, दिव्य आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। इन सबका वर्णन मृगेन्द्र आदि आगमों में किया गया है। यहाँ उन स्नानों में सर्वश्रेष्ठ केवल मानस स्नान की विधि बताई गई है कि जो साधक प्राणों का नियमन कर मूल मन्त्र का लयनान्त उच्चारण करता है, वह इस जगत् की कारणस्वरूपा शक्ति को क्षुब्ध कर उसमें से बह रहे अमृतरस से अपनी देह को बाहर और भीतर से आप्लावित कर लेता है, यही मानस स्नान है। भूतशुद्धि की आप्यायन–प्रक्रिया भी यही है। इसका अभिप्राय यह है कि जो पुत्रक नाम का दीक्षित सद्योनिर्वाण दीक्षा प्राप्त कर प्राणों का नियमन कर आगे बताई जाने वाली कुंभक प्राणायाम की विधि से नाड़ियों का शोधन करने के उपरान्त पूर्वोक्त कलाओं से सम्पन्न मूल प्रासाद मन्त्र के द्वादशान्त पद में लीन हो जाने तक की प्रक्रिया को सगर्भ प्राणायाम की सहायता से पूरी करता है, वह मध्य में स्थित, अर्थात् मध्यमा नाडी में प्रविष्ट हो जाता है, परशिव का साक्षात्कार कर लेता है। **"समनान्तं पाशजालमुन्मन्यन्ते परः शिवः"** ऐसा शास्त्रवचन भी है। इस उन्मना स्थान को मध्य कहा गया है। यह परशिव का विशेष स्थान है। इस परबिन्दु स्थान में रहते हुए योगीश्वर उसके बीच में उतर कर स्नान करता है, वहां फैले हुए अमृतरस के

झरने के जल से अपने सूक्ष्म और स्थूल शरीर की सारी नाड़ियों को शुद्ध कर लेता है, ऐसा आगमों में वर्णित है। इसी स्नान को मानस स्नान कहा गया है। मननरूप शिव की शक्ति की सहायता से योगी अपनी ज्ञानशक्ति को प्रकाशित कर लेता है, अतः इसे मानस स्नान कहते हैं। अष्टविध स्नानों में यह सर्वश्रेष्ठ है। ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति यदि जल से स्नान करता है, तो वह उसके लिये हानिकारक होता है, किन्तु यह मानस-स्नान उस स्थिति में भी साधक को ताजगी देता है।

मानस स्नान की विधि इस प्रकार है— मूलाधार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त प्रासाद मन्त्र का उच्चारण ही लयनान्त कहलाता है। मूलाधार से लेकर उच्चारण क्रम से द्वादशान्त पर्यन्त इसका उच्चारण किया जाता है, इसीलिये प्रासाद मन्त्र को मूलाणु कहते हैं। अनेक शास्त्रों में इसका वर्णन किया गया है। हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पाँच स्थानों में ब्रह्मा, अच्युत (विष्णु), रुद्र, ईश्वर और सदाशिव का क्रमशः अकार आदि पाँच कलाओं में त्याग कर दिया जाता है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शक्ति आदि चार कलाओं के अनाहत शिव से अधिष्ठित स्थान में छठा त्याग कर अन्त में उन्मनी पर्यन्त द्वादशान्तपद नामक सप्तम स्थान में, जो कि परशिव से अधिष्ठित है, साधक अपने को लीन कर लेता है। इस तरह लयनान्त मूलाणु का जो दीक्षित व्यक्ति ऊपर बताई गई पद्धति से उच्चारण करने में समर्थ हो, वह 'मैं परशिव के साथ एकाकार हो गया हूँ' ऐसी भावना करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। ऐसा तब संभव होता है, जब कि जगत् की उपादानकारणभूता कुण्डलिनी शक्ति को क्षुब्ध कर उस क्षुब्ध शक्ति से बहते हुए अमृत-सलिल से अपनी देह को आप्यायित कर सकता हो। इस आप्यायन विधि से पहले अपवित्र देह का योगाग्नि से दाह सूचित होता है, जैसा कि — "दहेद् योगाग्निना देहमापादतलमस्तकम्" इस वचन में प्रतिपादित है। ब्रह्मनाडी की सहायता से बाहर आकर सृष्टिक्रम से उस आप्यायित देह के हृदय आदि स्थानों में अपने को स्थापित कर जो साधक प्रतिदिन भावना-पद्धति से अपनी स्थूल देह को भी आप्यायित करता है, यह आप्लवन ही मानस स्नान के रूप में प्रसिद्ध है। इसका अभिप्राय यह है कि शिवपूजा के क्रम को प्रारंभ करने के साथ साधक मूल मन्त्र का नादान्त पर्यन्त उच्चारण करते हुए क्षुब्ध शक्ति से बहते हुए अमृत-रस के झरने में अपनी आन्तर और बाह्य देह को स्नान कराने की भावना करे। इस तरह से सभी क्रियाओं के प्रारंभ में यह मानस स्नान साधक को अवश्य करना चाहिये ॥ १३॥

शिवदीक्षा प्राप्त साधक को भूतशुद्धि करते समय अपने शरीर में लोकविलक्षण वटवृक्ष की भावना करनी चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि वृक्षों की जड़ नीचे और शाखाएँ ऊपर रहती हैं, परन्तु इस शरीररूपी वृक्ष

का मूल (मस्तिष्क) ऊपर और हाथ-पैर आदि शाखाएँ नीचे स्थित हैं। इसी स्थिति का वर्णन अब किया जा रहा है—

स्वं देहं भूतबीजं हरिविधिरचितं स्वाङ्कुरं कर्ममूलं
भव्यं कालादिसारं विषयदलगतं खादिशाखोपशाखम् ।
भावाशेषप्रसूनं व्यवसितसुफलं पुंविहङ्गोपभोग्यं
न्यग्रोधं चोर्ध्वमूलं विषयरसमवाक्शाखिनं भावयेच्च ।।१४।।

स्वं देहं भूतशुद्धि करते समय साधन को अपने शरीर की **भूतबीजं** पाँच महाभूतों को बीज के रूप में ग्रहण कर **हरिविधिरचितं** ब्रह्मा से सृष्ट और विष्णु के द्वारा पालित **स्वाङ्कुरं** अपने आप अंकुरित **कर्ममूलं** पुण्य-पाप रूप जड़ वाला **भव्यं** विशाल, सुन्दर स्वरूप वाला **कालादिसारं** काल आदि तत्त्वों के दृढतर बल से प्राप्त **विषयदलगतं** शब्द आदि विषय रूपी पत्तों वाला **खादिशाखोपशाखं** विविध इन्द्रियों के रूप में शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त **भावाशेषप्रसूनं** पचास प्रकार की भावसृष्टि रूपी पुष्पों से सम्पन्न **व्यवसितसुफलं** बुद्धि के अध्यवसाय रूपी फल से युक्त **विषयरसं** भोग्यवस्तुरूप रस से भरे हुए **पुंविहङ्गोपभोग्यं** पुरुष रूपी पक्षी के द्वारा उपभोग के योग्य **ऊर्ध्वमूलं** ऊपर की ओर जड़ वाले **अवाक्शाखिनं** नीचे की ओर शाखावाले **न्यग्रोधं** विलक्षण वटवृक्ष के रूप में **भावयेत्** भावना करनी चाहिये।।१४।।

लोक में देखा जाता है कि खेत में बोया गया सूक्ष्म बीज अंकुर आदि के क्रम से स्थूल वृक्ष बन जाता है, वही स्थिति इस स्थूल देह की भी है। भूतबीज शब्द का प्रयोग स्थूल देह को ध्यान में रखकर किया गया है। इस स्थूल देह की उत्पत्ति सूक्ष्म तन्मात्राओं से होती है, अतः यहाँ तन्मात्रा बीजस्थानीय है। जैसा कि [१]सिद्धान्त-दीपिका में बताया गया है— इस संसार में जीवात्मा के जाति, कुल आदि के अभिमान का आधार यह स्थूल शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश के समवाय (समाहार) से बना हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि सूक्ष्म भूतों के अंश

---

१. सर्वात्मशम्भु का यह ग्रन्थ अब सिद्धान्तप्रकाशिका के नाम से प्रकाशित हो चुका है। वहाँ यह वचन उपलब्ध है — "इह तावज्जातिकुलाद्यभिमानास्पदमिदं स्थूलदेहं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समवायः" (पृ. २)। शतरत्नसंग्रह की उल्लेखिनी (पृ. ९) में भी इस ग्रन्थ को सिद्धान्तदीपिका के नाम से ही उद्धृत किया गया है।

से संयुक्त इन्द्रियस्थित बीज योनिक्षेत्र में जब निक्षिप्त होता है, तो वह स्थूल शरीर का आकार धारण कर लेता है। यह देहरूपी वृक्ष सूक्ष्म और स्थूल शरीर के रूप में आणव मल को बीजरूप में और माया को क्षेत्र के रूप में ग्रहण कर मल और माया से आवृत हो जाता है। यह ब्रह्मा और विष्णु के द्वारा रचित और पालित है। इनके इस सृष्टि और रक्षण व्यापार से वह बीज अंकुरित हो उठता है। उस समय धर्म और अधर्म रूपी कर्म इस देहपादप की जड़ का काम करते हैं। ये जड़ें जब भूमि के भीतर ठीक तरह से जम जाती हैं, तो सुकुमार वृक्ष पनप उठता है। उसी तरह से पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य-पाप के अनुकूल ब्राह्मण आदि का देह, इन्द्रियों की पटुता, नियत आयु और नियत भोग इसको प्राप्त होते हैं। अतः इनमें कर्म को मूल (जड़) मानना उचित ही है। भविष्य में यह वृक्ष की शाखाओं के सार के समान काल, राग, पुरुष, प्रकृति आदि से घिर जाता है। शब्द आदि विषयों की स्थिति इसमें वृक्ष के पत्तों के समान रहती है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति वृक्ष की शाखा और उपशाखा के समान है। ऊपर पचास प्रकार के भावों का वर्णन किया गया है। ये भाव ही इस शरीररूपी वृक्ष के पुष्प हैं। बुद्धि का अध्यवसायात्मक व्यापार ही इस शरीर-पादप से पैदा हुआ फल है। विषयों का उपभोग ही इस फल का रस है। पुरुषरूपी पक्षी इस फल के रस का उपभोग करता है। इस प्रकार [1] ऊपर की ओर जड़ वाले और नीचे की ओर शाखा वाले इस अद्भुत शरीर की वटवृक्ष के रूप में भावना करनी चाहिये ॥ १४॥

शोषण, दाहन और आप्लावन नामक संस्कारविशेषों से शरीर को शुद्ध कर तदनन्तर देवपूजन करना चाहिये। प्रस्तुत श्लोक में यही बताया जा रहा है—

कुम्भापूरकरेचकार्धयुगलैर्ह्रामादिमन्त्रान् पठन्
भूम्यादिस्थगुणस्थितिक्रमयुतं पत्राद्ययोगान्वितम् ।
शोषाद् दाहनतश्च भस्मविगमाच्छुद्धाभ्रसंभावनात्
शक्त्याप्लावितमन्त्रविग्रहयुतः पूजां विदध्याद् हृदि ।।१५।।

कुम्भापूरकरेचकार्धयुगलैः पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायामों के पूर्व के आधे और उत्तर के आधे भाग से **भूम्यादिस्थगुणस्थितिक्रमयुतं** पृथिवी आदि पाँच भूतों में गन्ध आदि गुणों की स्थिति के क्रम से युक्त **पत्राद्ययोगान्वितं** पत्र, पुष्प, फल के स्थूल अथवा सूक्ष्म स्वरूपों से रहित

---

[1] भगवद्गीता में भी इसी प्रकार का वचन मिलता है — "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (१५.१)।

विचिन्त्य शरीर की भावना करके **ह्लामादिमन्त्रान्** ल व र य ह नामक पृथिवी आदि पाँच महाभूतों और निवृत्ति आदि पाँच कलाओं के बीजाक्षरों को यथाक्रम **पठन्** उच्चारण करते हुए **शोषात्** सुखाने से, **दाहनतश्च** जलाने से, **भस्मविगमात्** भस्म के बिखेर देने से **शुद्धाभ्रसंभावनात्** निर्मल आकाश का ध्यान करने से **शक्त्याऽऽप्लावितमन्त्रविग्रहयुतः** क्षुब्ध परा शक्ति से स्रवित हो रही (बह रही) अमृत धारा से अभिषिक्त होकर अपने शरीर में मूल मन्त्र, पंचब्रह्म मन्त्र और षड्विध अंग मन्त्रों का न्यास कर **हृदि** हृदय कमल में **पूजां** मानस पूजा को **विदध्यात्** करे ।।१५।।

छन्द के अनुरोध से यहाँ कुंभक शब्द का प्रथम प्रयोग किया गया है। वस्तुतः पूरक के बिना कुंभक प्राणायाम संभव नहीं है, अतः यहाँ इनका क्रम यह होगा— पूरक, कुंभक और रेचक। इनके पूर्वार्ध और अपरार्ध का ज्ञान काल के अनुसार होगा। उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से यह काल तीन प्रकार का होता है। हाथ को जानुमण्डल पर घुमा कर तीन बार चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उसे मात्राकाल कहा जाता है, ''जाल(जानु)मण्डलमावृत्य मात्रा[1] स्याच्छोटिकात्रयम्'' यह वचन इसमें प्रमाण है। इस तरह की बारह मात्राओं के बराबर ताल का काल होता है। जैसा कि— ''तालो द्वादशभिर्जानुपरिणाहपरिभ्रमैः'' इस वचन में कहा गया है। कनिष्ठ प्राणायाम का काल बारह ताल के बराबर, मध्यम का चौबीस ताल और उत्तम का काल अड़तालीस ताल के बराबर माना गया है। सर्वज्ञानोत्तर में यह वर्णित है —

तालद्वादशकं ज्ञेयं प्राणायामस्तु कन्यसः।
मध्यश्चतुर्भिर्विंशत्या श्रेष्ठस्तद्द्विगुणो भवेत् ॥

पूरक, कुंभक और रेचक को मिलाकर एक प्राणायाम होता है। इन तीनों का काल समान रहता है। जैसा कि कहा गया है —

ताभिर्द्वादशमात्राभिः पूरकः कुम्भकस्तथा।
रेचकश्चैवमाख्यातः प्राणायामः कनीयसः ॥

इस तरह से पूरक, कुंभक और रेचक में से प्रत्येक का काल बारह मात्रा का होता है, यह कनिष्ठ प्राणायाम है। कामिकागम के —

मात्राद्वादशभिर्हीनो द्विगुणैर्मध्यमो मतः।
त्रिगुणैरुत्तमः कालः प्रत्येकं रेचकादिषु ॥

---

[1] "स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिः परामृश्य च्छोटिकावच्छिन्नकालो मात्रा" (२.५०) इस प्रकार मात्रा का लक्षण वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य की अपनी तत्त्ववैशारदी टीका में दिया है।

इस प्रकरण के अनुसार बारह ताल प्रमाण कनिष्ठ प्राणायाम के पूरक, कुंभक और रेचक का काल चार चार ताल का, चौबीस ताल प्रमाण मध्यम प्राणायाम के पूरक, कुंभक और रेचक का काल आठ आठ ताल का और ४८ ताल प्रमाण श्रेष्ठ प्राणायाम के पूरक, कुंभक और रेचक का काल सोलह सोलह ताल का होगा। इस प्रकार कनिष्ठ प्राणायाम के पूरक के पूर्वार्ध का प्रमाण दो ताल का होगा। इतना ही उत्तरार्ध का भी होगा। कुंभक और रेचक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का काल भी इसी पद्धति से निर्धारित कर लिया जाता है। इनमें 'ह्राम्' आदि बीजाक्षरों का पाठ किया जाता है। ल व र य ह ये पाँच क्रमशः पृथिवी आदि पाँच महाभूतों के बीजाक्षर हैं। कारणागम में यह क्रम बताया गया है — ''पृथिव्यादीनि बीजानि ल व र य हकारकाः''। हृद्बीज से संवलित बिन्दु से युक्त लकार निवृत्ति कला का बीज है। इसी तरह से क्रमशः शिरस्, शिखा, कवच और शिव बीज से संवलित बिन्दुयुक्त व र य और हकार क्रमशः प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत कलाओं के बीज माने गये हैं।

> निवृत्तिः पृथिवी ज्ञेया प्रतिष्ठा ह्याप उच्यते।
> विद्यां तेजो विजानीयाद् वायुः शान्तिः प्रकीर्तिताः॥
> शान्त्यतीता भवेद् व्योम…………………… ।
>
> (सा. का. ८. ६-७)

यहाँ इसी क्रम को सूचित किया गया है। पहले यह बताया जा चुका है कि भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणों की स्थिति क्रमशः पाँच, चार, तीन, दो और एक संख्या में मानी गई है। इस पद्धति से पृथिवी में पाँच गुण स्थित हैं। इनके विलय के लिये पृथिवी बीज का पाँच बार उच्चारण करना चाहिये। आगे भी गुणों की संख्या के अनुसार बीजाक्षरों का उतनी बार उच्चारण करना पड़ता है। ऐसा करने से देह-पादप के पत्र-पुत्र-फल का शातन हो जाता है, वे सब सूखकर गिर पड़ते हैं। इसका स्पष्टीकरण यह है— पूरक के पूर्वार्ध में भूमि के पाँचों गुणों के विनाश के लिये निवृत्ति कला के बीज का पाँच बार उच्चारण करते हुए स्थूल पत्र-पुष्प-फल से रहित देह-पादप का चिन्तन करे। पूरक के उत्तरार्ध में जल के चारों गुणों के विनाश के लिये प्रतिष्ठा कला के बीज का चार बार उच्चारण करते हुए पत्र-पुष्प-फल रहित देह-पादप का चिन्तन करे। इस पद्धति से शातित (गिरे हुए) पत्र-पुष्प आदि का शोष हो जाता है, वे सूख जाते हैं। बाद में इनका दाह कर दिया जाता है, इनको जला दिया जाता है और उसकी भस्म को दसों दिशाओं में उड़ा दिया जाता है। तब विद्या कला के बीज का तीन बार उच्चारण कर वह्नि के तीन गुणों का नाश किया जाता है, अर्थात् दक्षिण पाद के अंगुष्ठ से निकली कालाग्नि से कुंभक के

पूर्वार्ध से शोष और उत्तरार्ध से दाह की भावना की जाती है। रेचक के पूर्वार्ध से वायु के दो गुणों के नाश के लिये शान्ति कला के बीज का दो बार उच्चारण करते हुए भस्म को सभी दिशाओं में बिखेर दिया जाता है। 'शुद्धो नभः' यह छान्दस प्रयोग है। निर्मल आकाश का ध्यान करते हुए रेचक के उत्तरार्ध से आकाश के एक गुण का नाश करने के लिये शान्त्यतीत कला के बीज का एक बार उच्चारण करते हुए शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल आकाश का ध्यान करना चाहिये।

यहाँ प्रश्न उठता है कि आकाश तो अमूर्त है, उसका ध्यान नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में 'शुद्धोनभोभावनात्' यह कैसे कह दिया गया? इसका उत्तर यह है कि पृथिवी और आकाश के अन्तराल में स्थित नक्षत्र आदि के रूप में इसका औपाधिक मूर्त आकार बन जाता है। उसी रूप में इसका ध्यान किया जा सकता है। नक्षत्र आदि के अभाव में आकाश की निर्मलता भी स्पष्ट है। इस रूप में इसका ध्यान किया ही जा सकता है। इसी रूप में शुद्ध निर्मल आकाश की भावना का यहाँ विधान किया गया है। जैसा कि **निश्वासकारिका** में भी बताया गया है —

निर्गुणं साञ्जनातीतं ग्रहनक्षत्रवर्जितम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं परं व्योम विचिन्तयेत्॥

परा शक्ति से निकलती हुई अमृतधारा से द्वादशान्त में परिपूर्ण चन्द्रमा के समान प्रभा वाले शक्तिमण्डल को ओतप्रोत मानकर, प्रासाद मन्त्र पूर्वक वौषट् पर्यन्त मन्त्रशक्ति की सहायता से सृष्टि मार्ग से रेचक प्राणायाम के सहारे बह रही शरीर के समस्त नाडी-केन्द्रों में प्रविष्ट अमृतरस की धारा से सारे शरीर को बाहर-भीतर से आप्लावित कर, मूल पंचब्रह्म मन्त्रों का और उनकी अड़तीस कलाओं का अपने शरीर में यथास्थान न्यास कर अपने हृदय-कमल में शिवपूजा करे॥ १५॥

अब यहाँ ३८ कलाओं के न्यास का क्रम बताते हैं —

ईशे नां नां च ह्मास्तु वों हेहिद्रयान्नरे भ्यो द्विरभ्यः शर्वभ्योऽ-
स्तुद्रभ्यो घोरे वेदमोलमलमलममो वामदेवे नमौ च।
मिमोवेत्रीणि मां वद्वितयमवधिकं सद्यमन्त्रे कलानां
पञ्चाब्धिश्चाष्ट विश्वोऽप्यहिरिति च यथासंख्यमष्टाधित्रिंशत्॥१६॥

ईशे ईशान मन्त्र में **नां नां ह्मा अस्तु वों** इन पाँच अक्षरों के अनुसार पाँच विभाग करे, **नरे** तत्पुरुष मन्त्र में **हे हि द्रः यात्** इन चार अक्षरों के अनुसार चार विभाग करे, **अघोरे** अघोर मन्त्र में **भ्यः भ्यः भ्यः शर्व भ्यः अस्तु द्र भ्यः** इन

आठ अक्षरों के अनुसार आठ विभाग करे, **वामदेवे** वामदेव मन्त्र में **वेदमो** चार **म: म: म: म: ल मः ल मः ल मः मः न मः**, इन तेरह अक्षरों के अनुसार तेरह विभाग करे, **सद्यमन्त्रे** सद्योजात मन्त्र में **मि मः वे वे वे मां व मः** इन आठ अक्षरों के अनुसार आठ विभाग करे। इस तरह से इन पाँच मन्त्रों में **यथासंख्यं** क्रमशः **पञ्च** पाँच, **अब्धि** चार, **अष्ट** आठ, **विश्व** तेरह, **अहि** आठ के क्रम से विन्यास करने से **कलानां** कलाओं की संख्या **अष्टाधित्रिंशत्** आठ अधिक तीस, अर्थात् अड़तीस हो जाती है।।१६।।

यह अड़तीस कलाओं का न्यास सशक्तिक और विशक्तिक के भेद से दो प्रकार का है। "ईशानः सर्वविद्यानां शशिन्यै नमः" इस प्रकार मन्त्रांश के उच्चारण के साथ किया गया न्यास सशक्तिक और "शशिनी चोर्ध्वमूला स्यात् पूर्वमूर्धाऽङ्गदा भवेत्" इस तरह से क्रियाक्रमद्योतिका में बताये गये क्रम से किया गया विशक्तिक है। ईशान मन्त्र की शशिनी आदि पाँच कलाएं हैं। "ईशानः, सर्वविद्यानाम्, ईश्वरः सर्वभूतानाम्, ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा, शिवो मे अस्तु, सदाशिवोम्" इस प्रकार पाँच विभाग कर उनके साथ शशिनी आदि पाँच कलाओं के नाम जोड़ने चाहिये। तत्पुरुष मन्त्र की चार कलाएं है। "तत्पुरुषाय विद्महे, महादेवाय धीमहि, तन्नो रुद्रः, प्रचोदयात्" इस तरह से चार विभाग कर उनके साथ कलाओं का संयोजन करना चाहिये। अघोर मन्त्र की आठ कलाएं हैं। इसके लिये आठ विभाग इस प्रकार किये गये हैं — अघोरेभ्यः, अथ घोरेभ्यः, घोरघोरतरेभ्यः, सर्वतः शर्व, सर्वेभ्यः, नमस्ते अस्तु, रुद्र, रूपेभ्यः। वामदेव मन्त्र की तेरह कलाएं हैं। उनका विभाग इस प्रकार है — वामदेवाय नमः, ज्येष्ठाय नमः, रुद्राय नमः, कालाय नमः, कल, विकरणाय नमः, बल, विकरणाय नमः, बल, प्रमथनाय नमः, सर्वभूतदमनाय नमः, मन, उन्मनाय नमः। सद्योजात मन्त्र की आठ कलाएँ हैं। इनके न्यास के लिये इस मन्त्र के आठ विभाग इस प्रकार से होंगे — सद्योजातं प्रपद्यामि, सद्योजाताय वै नमः, भवे, भवे, नातिभवे, भजस्व माम्, भव, उद्भवाय नमः। अभिप्राय यह है कि "ईशानः सर्वविद्यानां शशिन्यै नमः" इस प्रकार किया गया न्यास सशक्तिक और केवल "शशिन्यै नमः" इस तरह का न्यास विशक्तिक कहलाता है। इस प्रकार ईशान की पाँच, तत्पुरुष की चार, अघोर की आठ, वामदेव की तेरह और सद्योजात की आठ, कुल मिलाकर अड़तीस कलाएँ हैं —

ईशानस्य कलाः पञ्च पुरुषस्य चतुष्कलाः।
अघोरस्य कलाश्चाष्टौ वामदेवे त्रयोदश॥
सद्योजातकलाश्चाष्टवष्टात्रिंशत्कलाः स्मृताः।
(वा. शु. ७. १८-१९)

इस वचन में यही विषय प्रतिपादित है ॥ १६॥

ईशान की पाँच, तत्पुरुष की चार, अघोर की आठ, वामदेव की तेरह और सद्योजात मन्त्र की आठ कलाओं की ऊपर चर्चा की गई है। अब इन कलाओं का अपने शरीर के विभिन्न अवयवों में न्यास का क्रम बताया जा रहा है —

मूर्धानः पञ्च वक्त्राण्यथ हृदयगलौ द्व्यंसनाभिश्च कुक्षिः
पृष्ठोरोगुह्यशिश्नोरुकयुगमपरं जानुयुग्मं च जङ्घे ।
द्विस्फिक्कट्यौ च पार्श्वौ चरणकरयुगं घ्राणमौली च बाहू
स्थानानि स्युः कलानां शिवतनुकरणे त्रिंशतां साष्टकानाम् ।।१७।।

शिवतनुकरणे शिवपूजा के निमित्त अपने शरीर को शिव के समान बनाने के लिये **साष्टकानां त्रिंशतां कलानां** आठ कलाओं के साथ तीस, अर्थात् अड़तीस शशिनी आदि कलाओं के **स्थानानि** विन्यास के स्थान **स्युः** इस तरह से होंगे — **पञ्च मूर्धानः** पूर्व, दक्षिण आदि शिव के पाँच शिर ईशान की पाँच कलाओं के ; **अथ वक्त्राणि** तदनन्तर पूर्व आदि चार मुख तत्पुरुष की चार कलाओं के ; **हृदयगलौ** हृदय और कण्ठ, **द्व्यंसौ** दोनों कन्धे **नाभिश्च** और नाभि; **कुक्षि** उदर (पेट), **पृष्ठं** पीठ **उरः** और वक्षस्थल — ये आठ स्थान अघोर की आठ कलाओं के ; **गुह्य** गुदा, **शिश्नं** लिङ्ग, **ऊरुकयुगं** दोनों जंघाएँ, **अपरं जानुयुग्मं** आगे के दोनों घुटने, **जंघे** दोनों पिंडलियाँ, **द्विस्फिक्** दोनों नितम्ब, **कट्यौ** कटिभाग, **पार्श्वौ** दोनों पसलियाँ — ये तेरह स्थान वामदेव की तेरह कलाओं के और **चरणकरयुगं** दो हाथ, दो पैर **घ्राणमौली च** नाक और सिर, **बाहू** दोनों भुजाएँ — ये आठ सद्योजात की आठ कलाओं के न्यास के स्थान माने गये हैं।।१७।।

प्रस्तुत श्लोक में अड़तीस कलाओं के अड़तीस न्यास-स्थानों का विधान किया गया है। इसी प्रसंग में **टीकाकार** ने निम्न श्लोक उद्धृत किये हैं—

ईशानः पञ्चधा मूर्ध्नि वक्त्रं वक्त्रचतुष्टये ।
पञ्चमं प्रणवेनैव ततोऽघोरकलां न्यसेत् ॥

हृदि कण्ठेंऽसयोर्नाभौ कुक्षौ पृष्ठे च वक्षसि ।
गुदे लिङ्गे तथोर्वोश्च जानुनोर्जङ्घयोः स्फिचोः ॥

कट्यां च पार्श्वयोश्चाथ वामदेवकला न्यसेत् ।
पादयोर्हस्तयोर्घ्राणे मस्तके भुजदण्डयोः ॥

सद्योजातकला योज्याः..........................।

यहाँ दिया गया 'कट्याम्' यह एकवचनान्त पाठ ही उचित है। 'कट्यौ' इस प्रकार द्विवचनान्त पाठ मानने पर स्थानों की संख्या चौदह हो जाती है ॥ १७॥

बाह्य और आन्तर नामक दो प्रकार की शिवपूजा में से आत्मज्ञानियों के लिये आन्तर तथा क्रियाधिकारियों के लिये बाह्य पूजा का विधान है। इनमें से आन्तर पूजा का विधान अगले दो श्लोकों में बताया जा रहा है —

हृत्पद्मे मनसा विभावितमहामायोपरिस्थासने
ध्येयो दीपशिखाकृतिः सुकुसुमं भावः क्षमार्घ्यं जलम् ।
लेपो धीरवसायिनी परशिवे प्राणोऽनलो मानसे
पात्रेऽहङ्कृतिरेष एव परमो धूपोऽथ मानात्मकः ।।१८।।

दीपः सद्विषयाः सुतृप्तिकरणा गन्धादयः क्ष्मादिकाः
पानीयादिकदर्पणव्यजनकस्तोत्रादिकावेदनम् ।
नैवेद्यं स्वयमुद्यता समनया सूक्ष्माङ्गहीनो यदा
युक्तः स्यात् स्वयमेव नादमनुना जापः स नाभ्युत्थितः ।।१९।।

हृत्पद्मे मानस पूजा करने से पहले हृदय-कमल में **मनसा** मन से **विभावितमहामायोपरिस्थासने** महामाया के ऊपर स्थित सिंहासन पर विराजमान **दीपशिखाकृतिः** दीपक की ज्वाला के समान आकृति वाले परशिव का **ध्येयः** ध्यान करना चाहिये। इसके लिए आवाहन आदि की मुद्राओं के द्वारा भगवान् का आवाहन कर **भावः** मनःशुद्धि को **सुकुसुमं** सुन्दर पुष्प, **क्षमा** क्षमागुण को **अर्घ्यं जलं** अर्घ, पाद्य, आचमन, स्नान आदि जल मान कर, **परशिवे** परशिव के निष्कल स्वरूप में **अवसायिनी** नियत रूप से स्थिर रहने वाली **धीः** बुद्धि को **लेपः** कुंकुम, कर्पूर, चन्दन आदि अनुलेपन वस्तु मानकर, **मानसे पात्रे** मन रूपी धूप पात्र में **प्राणोऽनलः** प्राण वायु को अग्नि मान कर, **अहङ्कृतिरेष एव** अपने अहंकार को ही **परमो धूपः** श्रेष्ठ धूप माने। **अथ** इसके बाद **मानात्मकः** सर्व प्रमाणस्वरूप चिच्छक्ति को **दीपः** दीपक, **गन्धादयः** गंन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द को **सुतृप्तिकरणाः** अत्यन्त तृप्ति देने वाले **सद्विषयाः** श्रेष्ठ भोग्य विषय मान कर, **क्ष्मादिकाः** पृथिवी आदि पाँच महाभूतों को **नैवेद्यं पानीयादिकदर्पणव्यजनकस्तोत्रादिकावेदनं**

पृथिवी को नैवेद्य, जल को पान वस्तु, तेज को दर्पण, वायु को व्यजन (पंखा) और आकाश को स्तोत्रपाठ के रूप में मानस पंचोपचार पूजाविधि से समर्पित करे। **यदा** जब **सूक्ष्माङ्गहीनः** साधक योगाभ्यास के अभाव में सूक्ष्मशरीर में प्रविष्ट नहीं हुआ है, तब **समनया** समना नामक शक्ति से **युक्तः स्यात्** संयुक्त होने का अभ्यास करे। ऐसा करने पर **स्वयमुद्यता** अपने आप उठने वाले **नादमनुना** नादरूपी मन्त्र के अभ्यास से **स्वयमेव** अपने आप **नाभ्युत्थितः** मूलाधार से उठी हुई ध्वनि ही **स जापः** वह मानस जप कहलाती है।।१८-१९।।

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से शिवपूजा दो प्रकार की होती है। अध्यात्म ज्ञान से सम्पन्न योगियों के लिये अन्तर्याग का विधान है। ऐसे ज्ञानी बाह्य पूजा के लिये पुष्प आदि संभारों को जुटाने में कोई त्रुटि कर सकते हैं, अतः क्रियाशील साधकों के लिये बाह्य पूजा का विधान है। जैसा कि—

यजनं द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
अहिंसादिभिरभ्यर्च्यो योगिभिर्न बहिर्भवेत्॥

द्रव्यहिंसा न कर्तव्या तत्र तत्र यतः शिवः।
क्रियावद्भिः सदाभ्यर्च्यो लिङ्गस्थः कुसुमादिभिः॥

इस वचन में प्रतिपादित है। बाह्य पूजा करने वालों को पुष्प आदि को जुटाने में कोई दोष नहीं लगता। जैसा कि कहा गया है—

यथा राजाङ्गभोगार्थमाहर्तुं कुसुमादिकम्।
उद्यानवनतस्तस्य प्रत्यवायो न विद्यते॥

तद्वदीश्वरपूजार्थं पुष्पहर्ता न दोषभाक्।

बाह्य पूजा में लगे व्यक्ति को भी मानस भावनाओं की सहायता से अन्तर्यजन करना चाहिये। अन्तर्यजन के बिना बाह्य पूजा पूरी नहीं हो पाती। जैसा कि निम्न श्लोकों में बताया गया है —

अन्तर्यागं पुरा कृत्वा बाह्ययागमथाचरेत्।
ज्योतिर्लिङ्गं हृदिस्थं यत् तदेवाभ्यर्च्यते बहिः॥

यतस्तस्मात् पुरा कार्यमन्तर्याग इहोच्यते।
अकृत्वा मानसं यागं यो बहिर्यागमाचरेत्॥

वृथा परिश्रमस्तस्य शास्त्रस्येति विनिश्चयः।

जल में स्थित कमलनाल से जैसे कमल निकलता है, उसी तरह से शरीर के कन्द-स्थान से स्वाभाविक हृदयकमल विकसित होता है। जैसा कि कहा गया है —

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलमुत्सेधमायामश्च तथाविधः॥

अण्डाकृतिवदाकारं भूषितं तत् त्वगादिभिः।
तत्कन्दादुत्थितं ज्ञेयं हृत्सरोजं सकर्णिकम्॥

सूर्य, सोम और वह्नि से संवलित इस हृदयकमल की कर्णिका में क्रमशः अनन्तेश, सदाशिव और परशिव विराजमान हैं। निश्वासकारिका के —

कदलीपुष्पसंकाशं हृदयं सर्वदेहिनाम्।
तस्य मध्ये स्थितं पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम्॥

वितस्तिमात्रं हृदयं कमलं चतुरङ्गुलम्।
अष्टाङ्गुलप्रमाणं तन्नाभेरूर्ध्वं व्यवस्थितम्॥

पद्मनालं नवद्वारं समन्तात् कर्णिकान्वितम्।
अङ्गुष्ठपर्वतुल्यात्र कर्णिका सा सकेसरा॥

कर्णिकायां भवेत् सूर्यस्तस्य मध्ये तु चन्द्रमाः।
चन्द्रमध्ये भवेद् वह्निस्तस्य मध्ये महेश्वरः॥

सदाशिवो महेशश्च तस्यापि परतः शिवः।

इस वचन में हृदयकमल का स्वरूप प्रदर्शित है। स्वाभाविक रूप में विद्यमान इस हृदयकमल में शिव का पूजन सभी के लिये सर्वोत्तम है। मानस भावना से इस हृदय-स्थान में महामाया कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिये। हृदयकमल में कुण्डलिनी शक्ति स्वाभाविक रूप से निवास करती है, यह बात सार्धत्रिशती में इस प्रकार वर्णित है —

चन्द्राग्निरविसंयुक्ताऽप्याद्या कुण्डलिनी तु या।
हृत्प्रदेशे तु सा ज्ञेयाऽप्यङ्कुराकारवत् स्थिता॥
(सा. का. १२. १)

इस आसन पर दीपक की लौ के समान आकृति वाला नाद विद्यमान है। सभी प्राणियों के शरीर में यह नाद सदाशिवरूपी हंस के रूप में अहर्निश प्रवृत्त है, ''हंस हंसेति यो ब्रूयाद् हंसो नाम सदाशिवः'' (सा. का. २३. ३) यह वचन इसमें प्रमाण है। दीपशिखा के समान इसका आकार है, इसमें निश्वास का यह वचन प्रमाण है —

श्रवणाङ्गुष्ठसंयोगाद् यः शब्दः संप्रवर्तते।
दीपवह्निशिखातुल्यः सोऽपि तन्नादसंज्ञकम्॥
पशोः पाशापनोदाय प्रकाशीकृतमद्भुतम्।

इस प्रकार परशिव का ध्यान करना चाहिये, अर्थात् आवाहिनी आदि मुद्राओं से भगवान् का आवाहन करना चाहिये। भाव का अर्थ है शुद्ध मन। अपने पवित्र मन को ही भगवान् के सामने सुन्दर पुष्पों के रूप में अर्पित करना चाहिये। भाव पद से यहाँ अहिंसा आदि अष्टविध पुष्पों का ग्रहण होता है —

अहिंसा प्रथमं पुष्पमिन्द्रियाणां तु निग्रहः।
क्षान्तिपुष्पं दयापुष्पं ज्ञानपुष्पं परं मतम्॥
तपःपुष्पं सत्यपुष्पं भावपुष्पं तथाष्टमम्।

ऊपर के वचन में वर्णित आठ पुष्पों में से क्षान्ति ही अर्घ्य का जल है। यह क्षमा ही पाद्य और आचमन का भी जल है। स्नान का जल क्षुब्ध शक्ति से बह रहा अमृत ही है। इसी से भगवान् का अभिषेक किया जाता है। अध्यवसायरूपा निश्चयात्मिका बुद्धि ही आन्तर पूजा का विलेपन है, जब कि बाह्य पूजा में कंकुम, केसर, कपूर, चंदन आदि के रूप में यह प्रयुक्त होता है। मानस पात्र में रखा गया सतत प्रवहमान प्राणवायु ही अग्नि है और अहंकार ही धूपस्थानीय है। जैसा कि बताया गया है— "अग्निः प्राणो मनः पात्रं गर्वो धूपशिखाकुलः"। मानात्मक, अर्थात् सम्यग् ज्ञानस्वरूप प्रमाण ही सभी अर्थों का प्रकाशक दीपक है। उत्तम भोग्य वस्तु स्वरूप, सब प्रकार की तृप्ति को देने वाले गन्ध आदि ही सुगन्धित द्रव्य, अत्यन्त मधुर रस, मनोरम रूप, कोमल-स्निग्ध स्पर्श और उत्तम मनोहारी ध्वनि के रूप में यहाँ समर्पित किये जाते हैं। इससे पंचोपचारों की सूचना मिलती है। इसी तरह से पानीय आदि जलसंबन्धी, दर्पण आदि अग्निसंबन्धी, व्यजन-तालवृन्त आदि वायुसंबन्धी, स्तोत्रपाठ आदि आकाशसंबन्धी और नैवेद्य आदि पृथिवीसंबन्धी उपचार हैं। योग की सामर्थ्य से सूक्ष्म शरीर को प्रकट रूप से देखने वाला योगी इनका प्रत्यक्ष दर्शन करता है। इसके विपरीत स्थूल शरीरधारी साधक मानसिक भावना, वासना के रूप में इनको समर्पित करे। सूक्ष्म शरीरधारी योगी को स्वयं अपने आप मूलाधार से उदित हो रहे नादात्मक मन्त्र का जाप करना चाहिये और स्थूल शरीरधारी साधक मूलाधार से उठ रहे नादात्मक मन्त्र के जप की भावना करे॥ १८-१९॥

उक्त क्रम से मानस शिवपूजा पूरी करने के उपरान्त नाभिकुण्ड में शिवाग्नि की प्रतिष्ठा कर उसमें आहुतियाँ देनी चाहिये। उसी की विधि को अब बताते हैं —

वह्नावेवमपि प्रपूज्य जुहुयात् पूर्वोक्तयोगेन तत्-
स्थानस्थामिडया स्रुवेण च सुधामन्ते सुषुम्नास्रुचा ।
पूर्णान्तं हवनं समर्प्य कृतवानीशं क्षमाप्यादरा-
दन्ते भावविवर्जिते परपदे लीनः समाधिं व्रजेत् ।।२०।।

एवं इस प्रकार **पूर्वोक्तयोगेन** ऊपर बताये गये मानस क्रम से **वह्नावपि** नाभिकुण्ड में आवाहित शिवाग्नि में भी **ईशं** परमशिव की **प्रपूज्य** पूजा कर **तत्स्थानस्थां** उस बिन्दुस्थान में विद्यमान **सुधां** अमृतरूपी घृत की **इडया स्रुवेण** इडानाडी रूप स्रुवा से **जुहुयात्** आहुति दे। **अन्ते** इस प्रकार १०८ आहुति दे लेने के बाद **सुषुम्नास्रुचा** सुषुम्ना नाडी रूप स्रुचा नामक हवन पात्र से **पूर्णान्तं हवनं** पूर्णाहुति पर्यन्त हवन **कृतवान्** करके **आदरात्** आदरपूर्वक **ईशं** परशिव से **क्षमाप्य** क्षमा प्रार्थना कर, **समर्प्य** उनको आहुति समर्पित कर **अन्ते** अन्त में **भावविवर्जिते** भावना के लिये उपयोगी सदाशिव आदि आकारों से रहित **परपदे** निष्कल स्वरूप परमशिव के द्वादशान्त स्थान में **लीनः** लीन होकर **समाधिं** मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त स्थानों में एकाकार शिवपद का ध्यान करते हुए समाधि दशा में **व्रजेत्** प्रविष्ट हो जाय।।२०।।

भगवान् शिव के स्वतःसिद्ध स्थान हृदयपंकज में जैसे उनकी आन्तर पूजा की भावना की जाती है, उसी तरह से स्वतःसिद्ध होमस्थान नाभिकुण्ड में आवाहित स्वतःसिद्ध शिवाग्नि में हवन करना चाहिये। उस स्थान में स्थित अमृत को इडा नाडी रूप स्रुवा में रखकर यहाँ आहुति दी जाती है। पूरक प्राणायाम की पद्धति से बिन्दुस्थान से बह रहे अमृतरूपी घृत से आहुतियाँ दे लेने के बाद सुषुम्ना नाडी की स्रुक् के रूप में भावना कर उसकी पूर्वोक्त पद्धति से प्राप्त घृत से भर कर पूर्णाहुति दी जाती है। इस तरह से हृदयकमल में पूजन और नाभिस्थल में हवन को सम्पादित कर साधक आदरपूर्वक भगवान् से क्षमाप्रार्थना करने के उपरान्त सदाशिव आदि आकारों से रहित निष्कल-स्वरूप द्वादशान्त स्थान में प्रतिष्ठित होकर मूलाधार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त स्थानों में एकाकार समाधि में स्थित-हो जाय। वातुलागम में इसकी प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है —

अथ मध्यन्दिनं यावत् समाधिस्थो भवेद् यथा ।
ज्ञानज्योतिर्मयं लिङ्गं शरदिन्दुवदुज्ज्वलम् ॥
भ्रूमध्ये संस्थिते तत्र मनः प्राणं च योजयेत् ।
तल्लीनस्तन्मयो योगी चित्तं शून्यं नयेच्छनैः ॥

नष्टे चित्ते चिदानन्दं स्वयमुद्योतते परम्।
समाधिः कथितो ह्येवमणिमादिगुणालये (यः) ॥

इस प्रकार यहाँ तक आन्तर पूजा की पद्धति संक्षेप में बताई गई है। आगे इसी पद्धति से बाह्य पूजा का विधान बताया जा रहा है ॥ २०॥

इस तरह से आन्तर योग की समाधि पर्यन्त विधियों को दिखा कर अब बाह्य पूजा का उपक्रम करते हुए इस पूजा के सर्वश्रेष्ठ आधार शिवलिंग की पूजा के क्रम को यहाँ बताते हैं —

सेशानाहतधारिकोपरि धराद्या ग्रन्थ्यधः पङ्कजं
विद्यादूर्ध्वशिवान्तपद्मखचितं पीठं शिवस्यासनम्।
सर्वाध्वाधिकभागसंयुतशिवज्ञानाख्यलिङ्गात्मकं
सर्वाध्वाधिकभागनालसहितं पीठं क्रियाशक्तिकम्।।२१।।

सेशानाहतधारिकोपरि शिव से अधिष्ठित अनाहत आधार रूप के ऊपर **धराद्याः** पृथिवी तत्त्व से लेकर कला तत्त्व पर्यन्त तत्त्वों में **ग्रन्थ्यधः** माया तत्त्व के नीचे **पङ्कजं** एक कमल की **विद्यात्** स्थिति को समझे। **ऊर्ध्वशिवान्तपद्मखचितं** इसके ऊपर शुद्धविद्या से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त ऊर्ध्व पद्मरूपी **पीठं** पीठ **क्रियाशक्तिकं** क्रियाशक्ति से युक्त है। इस पर **सर्वाध्वाधिकभागनालसहितं** षडध्वों में श्रेष्ठ ब्रह्म-विष्णु-रुद्र भाग वाले नाल से मिला हुआ, **शिवस्य** परमशिव के **आसनं** आसन की कल्पना कर उस पर **सर्वाध्वाधिकभागसंयुतशिवज्ञानाख्यलिङ्गात्मकं** सभी छः प्रकार के अध्वाओं का ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक जो श्रेष्ठ भाग है, उससे संयुक्त ज्ञानशक्तिमय शिवलिंग का ध्यान-पूजन करना चाहिये।।२१।।

स्वमूर्तौ गुरुमूर्तौ वा विद्यापीठेऽनले जले।
स्थण्डिले स्थिरलिङ्गे वा चले वा कृतसन्निधौ ॥

यजनं श्रेष्ठमेतेभ्यो लिङ्गे एवोक्तलक्षणे।
तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन लिङ्गाराधनमाचरेत् ॥

इस शास्त्रवचन के अनुसार स्वमूर्ति, गुरुमूर्ति आदि की अपेक्षा शिवलिंग में ही शिवपूजा का विधान श्रेष्ठ माना गया है। इस शिवलिंग में अनाहत, व्यापकस्वरूप वाली आधार शक्ति, अर्थात् शिवसमवेत क्रियाशक्ति ही पीठिका के रूप में स्थित है। लिंग की पीठ के अधोभाग में स्थित कूर्मशिला में इसका पूजन किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

अधः कूर्मशिलासीनां क्षीरोदसितविग्रहाम्।
मौलौ बीजाङ्कुराकारां वरदामभयप्रदाम्॥
पाशाङ्कुशधरां शक्तिं क्रियामाधाररूपिणीम्।

अथवा 'सेशाना' का ईश्वर के साथ और 'आहता' का कन्द से अंकुर के समान उठ रही, यह अर्थ होगा, क्योंकि "पुनरण्डं समुद्भिद्य कन्दादङ्कुरवत् स्थिता" ऐसा शास्त्र में बताया गया है। उस धारिका शक्ति के ऊपर धरा (पृथिवी) से लेकर काल पर्यन्त सभी तत्त्व स्थित हैं। इन सबकी स्थिति माया तत्त्व से नीचे है। इनका क्रम इस प्रकार है— पृथिवीतत्त्व कन्दरूप, जलतत्त्व सेचक, अग्नितत्त्व उच्छून अवस्था का कारण, वायु प्रेरक, आकाश वृद्धिकारक, गन्ध आदि पाँच तन्मात्रा अंकुराकार, दस इन्द्रियाँ छिद्ररूप, अहंकार वृद्धि का कारण; बुद्धि, गुण, प्रकृति और पुरुष नामक चार तत्त्व सिंहासन के धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यस्वरूप चार पाये; राग, नियति, विद्या और कला पर्यन्त चार तत्त्व उस सिंहासन के पायों के ऊपर का अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य रूप पीठ, कालतत्त्व नालरूप, नाल और दल का संयोगस्थान मायातत्त्व है। यहाँ माया तत्त्व की नीचे के छद के रूप में और शुद्धविद्या की ऊपर के छद के रूप में स्थिति है। मायातत्त्व के ऊपर स्थित विकसित कमल शिवतत्त्व पर्यन्त व्याप्त है। इस प्रकार इन सभी तत्त्वों से बना यह पीठ शिव का आसन है। इसका क्रम इस प्रकार है —

विद्येशाष्टदलैर्युक्तं पञ्चाशद्बीजगर्भितम्।
चतुष्षष्टिकेसरैर्युक्तं पीतकर्णिकया युतम्॥

यहाँ पचास बीजों के रूप में अकारादि क्षकारान्त पचास वर्णों की तथा चतुष्षष्टि केसर के रूप में ककारादि मकारान्त पाँच-पाँच वर्गों के साथ य र ल व श ष स ह का अकार और बिन्दु के साथ दो बार उच्चारण करने पर इनसे चौसठ केसरों की निष्पत्ति होती है। पूर्व आदि आठ दिशाओं में आठ और मध्य के एक, इन नौ केसरों में नौ शक्तियों का विन्यास किया जाता है। पत्र के अग्रभाग, केसर के अग्रभाग और कर्णिका के अग्रभाग में स्थित तीन वृत्तों में सूर्य, सोम और अग्नि के मण्डल हैं। इन तीन वृत्तों के अधिपति ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। कर्णिका के मध्य में शक्ति का मण्डल है और इस मण्डल के अधिपति ईश्वर हैं। इसी के ऊपर क्षिति (पृथिवी) से लेकर शक्तिमण्डल पर्यन्त व्याप्ति वाले शिवासन का चिन्तन करना चाहिये। शिवासन का ध्यान इसी रूप में करना चाहिये, क्योंकि — "शक्त्यादिशक्तिपर्यन्तमासनं परमेष्ठिनः" यहाँ यही प्रकार प्रदर्शित है। यह आसन सभी अध्वाओं के ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक श्रेष्ठ भाग से बना है। यह ज्ञान-शक्तिमय शिवलिंग शिव की ज्ञानशक्ति से बने देह का अधिष्ठान है,

अर्थात् शिव की ज्ञानात्मिका शक्ति ही शिवलिंग की मूर्ति का स्वरूप धारण कर लेती है, जैसा कि **मतंगपारमेश्वर** में कहा गया है— **"अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकिरणात्मकम्"** (वि. ३.१)। **वरुणपद्धति** में भी कहा गया है —

ज्ञानशक्त्यात्मके लिङ्गे क्रियाशक्तेः समर्पणम्।
पीठस्य विधिना योगः प्रतिष्ठा सा च पञ्चधा॥

सभी अध्वाओं के ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक श्रेष्ठ भाग से युक्त गोमुख के साथ बना लिंग का आधारभूत पीठ क्रियाशक्ति का स्वरूप है।

अब यहाँ षडध्व के श्रेष्ठ रुद्र-विष्णु-ब्रह्म भाग में षडध्व-योजन का क्रम बताया जा रहा है। लिंग के तीन भागों की कल्पना कर ऊपर के रुद्रभाग में शान्त्यतीत कला, मध्य के विष्णुभाग में शान्ति कला और नीचे के ब्रह्मभाग में विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति कला— इस प्रकार तीन भागों में पांच कलाओं का न्यास किया जाता है।

यहाँ शान्त्यतीत कला में शिव और शक्ति नामक दो तत्त्व, शान्ति कला में सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक तीन तत्त्व, विद्या कला में माया, काल, कला, विद्या, नियति, राग और पुरुष नामक सात तत्त्व, प्रतिष्ठा कला में प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज और जल नामक तेईस तत्त्व तथा निवृत्ति कला में पृथिवी नामक एक तत्त्व का न्यास किया जाता है।

शान्त्यतीत कला में [१]अनाश्रित से लेकर निवृत्ति पर्यन्त पन्द्रह भुवन, शान्ति कला में सदाशिव से लेकर वाम पर्यन्त अठारह भुवन, विद्या कला में अंगुष्ठमात्र से लेकर वाम पर्यन्त सत्ताईस भुवन, प्रतिष्ठा कला में श्रीकण्ठ से लेकर अमरेश पर्यन्त छप्पन भुवन तथा निवृत्ति कला में भद्रकाली से लेकर कालाग्नि पर्यन्त एक सौ आठ भुवनों का न्यास किया जाता है। इस तरह से कुल मिलाकर पाँच कलाओं में दो सौ चौबीस भुवन विद्यमान हैं।

शान्त्यतीत कला में अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त सोलह स्वरों का, शान्ति कला में क ख ग का, विद्या कला में घकार से लेकर ञकार पर्यन्त सात वर्णों का, प्रतिष्ठा कला में टकार से लेकर हकार पर्यन्त वर्णों का और निवृत्ति कला में मात्र क्षकार का न्यास किया जाता है।

---

[१] इन भुवनों के नाम टीकाकार ने संगृहीत किये हैं। यह पूरा प्रकरण यहाँ परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

[१]पदन्यास दो प्रकार का है— एकाशीति पदोद्धार और चतुर्नवति पदोद्धार। अध्वन्यास में इन दोनों ही प्रकारों का वर्णन किया गया है।

शान्त्यतीत कला में शिव, ईशान और अस्त्र मन्त्रों का, शान्ति कला में तत्पुरुष और कवच मन्त्रों का, विद्या कला में शिखा और अघोर मन्त्रों का, प्रतिष्ठा कला में शिरस् और वाम मन्त्रों का तथा निवृत्ति कला में सद्योजात और हृदय मन्त्रों का न्यास किया जाता है। इस प्रकार का षडध्वन्यास का यह क्रम सृष्टि अथवा संहार प्रक्रिया से अनेक आगमों में वर्णित है ॥ २१॥

पूजा के अधिष्ठान-स्वरूप इस शिवलिंग में आवाहन आदि के क्रम को अब बताते हैं —

स्वाधारे गतमानसः शिवमनोः शक्त्यात्मको ध्यानतो
मात्रादीप्तकलेवरक्रमगतेर्मन्त्रं समुच्चारयन् ।
नीत्वा कान्तकमञ्जलिं परशिवे प्राप्यैकभावं ततो
घण्टानादललाटगं कुसुमगं लक्ष्ये महोऽन्तर्न्यसेत् ।।२२।।

स्वाधारे अपने मूलाधार में **गतमानसः** अपने मन को स्थिर कर **शिवमनोः** शिव के प्रासाद मन्त्र की **शक्त्यात्मकः** स्वयं शक्तिस्वरूप होकर अपने में भावना करके **मात्रादीप्तकलेवरक्रमगतेः** अकार आदि पाँच मात्राओं से प्रकाशित हो रही जया आदि चौसठ कलाओं और उनके अधिपति ब्रह्मा आदि पाँच कारणेश्वरों का क्रम गति से **ध्यानतः** ध्यानपूर्वक **मन्त्रं** प्रासाद मन्त्र का **समुच्चारयन्** सम्यक् उच्चारण करते हुए **अञ्जलिं** पुष्पांजलि को **कान्तकं नीत्वा** शिर में द्वादशान्त पर्यन्त ले जा कर **परशिवे** उन्मनी पर्यन्त परमशिव के साथ **एकभावं प्राप्य** परम साम्यरूप एकीभाव को प्राप्त हो गया हूँ, ऐसी भावना करके **ततः** तदनन्तर अंजलि को नीचे लाकर **घण्टानादललाटगं** घण्टानाद की जैसी ध्वनि की भ्रूमध्य में भावना कर **कुसुमगं** पुष्पांजलि में स्थित **महः** परशिव के तेज को **लक्ष्ये** पूजा के लक्ष्य शिवलिंग के **अन्तः** मध्यस्थान में (ऊपर) **न्यसेत्** स्थापित कर दे।।२२।।

---

[१] द्विविध पदन्यास और उनके नाम भी टीकाकार ने यहीं दिये हैं। यह प्रकरण भी पूरा यहाँ परिशिष्ट में दिया जा रहा है। सामान्यतया ८१ पद वाला पक्ष ही सर्वत्र मान्य है।

पहले साधक को अपने मूलाधार में मन को स्थिर करना पड़ता है। साथ ही इसे यह भी भावना करनी चाहिये कि मैं शिवमन्त्र के सामर्थ्य से युक्त हो गया हूँ, अर्थात् मुझमें प्रासाद मन्त्र के जप का अनुष्ठान करने से भगवान् के आवाहन आदि करने की योग्यता आ गई है। मन्त्र की अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद नामक पाँच कलाओं के हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र ये क्रमशः पाँच स्थान हैं। इनमें से हृदय-स्थित अकार की दस कलाएँ ये हैं —

जया च विजया सौम्या अंशुसंज्ञा धृतिर्मता।
बन्धनी मोचिनी माया मोहिनी बोधिनी इति॥

कण्ठ-स्थित उकार की ये सोलह कलाएँ हैं —

शुभा मनोरमा दीप्ता सुदीप्ता हेमकारिका।
सुधूम्रा पिङ्गला पीता वारुणी शीघ्रगाऽचला॥

शशाङ्का सुप्रभा केचदानदा मोक्षदाऽपरा।

तालु-स्थान स्थित मकार की चौबीस कलाएँ ये हैं —

श्रवणी श्रावणी जल्पकरी च घ्राणवर्तिनी।
सुशब्दा वाहिनी चोर्ध्वगामिनी पावनी तथा॥

आह्लादिनी प्रवचनी योक्त्री रेपोपवाहिनी।
पितृमार्गानुगा देवमन्त्रमार्गप्रदर्शिनी॥

आपूरणी प्राणबद्धा चित्तस्था सुविद्धा धूम्रा ध्रुवा।

ललाट-स्थानवर्ती बिन्दु से उत्पन्न चार कलाएँ ये हैं— निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शक्ति। इसी तरह इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका, ऊर्ध्वगा, व्यापिनी, व्योमरूपिणी, अनन्ता, अनाथा और अनाश्रिता नामक दस कलाएं नाद से उत्पन्न हैं और इनकी स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में है। इन चौसठ कलाओं के ईश्वर क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं। अपने-अपने स्थानों में इनका क्रमशः त्याग कर देना पड़ता है। इसके बाद साधक अपने हाथ की पुष्पांजलि को द्वादशान्त पर्यन्त ले जाकर उसे भगवान् शिव को समर्पित कर देता है। भगवान् के आवाहन का यह उत्कृष्ट क्रम माना जाता है।

अभिप्राय यह है कि साधक पहले पुष्पांजलि को मूलाधार में स्थापित करता है। क्रमशः उसको ऊपर ले जाते हुए हृदय-स्थान में कुछ क्षण ठहर कर मूल मन्त्र के अकार का और उसके अधिपति ब्रह्मा का वहाँ त्याग कर देता है। आगे कण्ठ-स्थान में भी कुछ क्षण ठहर कर उकार का और उसके अधिपति विष्णु का त्याग कर देता है। इसके ऊपर तालु-स्थान में भी कुछ क्षण ठहर कर वह मकार का और उसके

अधिपति रुद्र का, उसके भी ऊपर भ्रूमध्य में ठहर कर बिन्दु का और उसके अधिपति ईश्वर का और उसके भी आगे ब्रह्मरन्ध्र-स्थान में कुछ क्षण ठहर कर नाद के साथ सदाशिव का त्याग कर देता है। इससे भी आगे उठकर द्वादशान्त स्थान में पहुँच कर वह उन्मनी के अन्त में स्थित परशिव का, "मैं ही परशिव हूँ" इस प्रकार की एकाकारता, अभिन्नता की भावना से साक्षात्कार कर पुष्पांजलि समर्पित करता है। उस पुष्पपात के साथ ही साधक भ्रूमध्य तक उतर कर वहाँ कुछ क्षण ठहरे और वहाँ ललाट में घण्टानाद की ध्वनि का ध्यान करे। उसके बाद यह पुष्पांजलि हृदयप्रदेश में स्थित ज्योतिर्मय लिंग को समर्पित कर दे। पराख्यसंहिता में आवाहन की यह प्रक्रिया इस प्रकार वर्णित है —

एवं शान्तं वपुः कल्प्य तस्मिन् परमकारणम् ।
परमं शाश्वतं नित्यं ज्ञानानन्दसुखात्मकम् ॥

व्यापकं सर्वतत्त्वानामप्रमेयमनौपमम् ।
वाच्यवाचकताहीनं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ॥

व्यक्तं कुर्याद् विशेषेण निष्कलं सकलात्मनि ।
परावाहनमेतद्धि शिवमन्त्रनियन्त्रणात् ॥

हृदय में नादरूप में अभिव्यक्त होने के कारण निष्कल शिवलिंग में किंचित् मात्रा में सकल भाव भी आ जाता है। आवाहन की प्रक्रिया निम्न श्लोकों में भी प्रदर्शित है —

बिन्दुनादसमायुक्तं सान्तमन्त्रत्रयान्वितम् ।
निष्कलं परमं बीजं तदुच्चार्योन्मनान्तकम् ॥

मन्त्रमूर्तिं शिवं सृष्ट्वा भ्रूमध्ये मनसा स्मरेत् ।
चन्द्रबिम्बसमप्रख्यं स्मृत्वा पुष्पाञ्जलौ स्थितम् ॥

आवाहिन्या पुनर्नीत्वा स्थापिन्या स्थापयेद्धृदि ।

यहाँ आवाहन के साथ भगवान् को हृदय में स्थापित करने का भी विधान प्रदर्शित है ॥ २२॥

परशिव के आवाहन, स्थापन आदि दस प्रधान संस्कारों को अब प्रस्तुत श्लोक में दिखाते हैं —

आवाहनस्थापनसन्निधाननिरोधनाकुण्ठनधेनुमुद्राः ।
पाद्यं तथा चाचमनार्घ्यपुष्पदानं स्मृताः संस्कृतयो दशैव ।। २३ ।।

आवाहन-स्थापनं-सन्निधान-निरोधनाकुण्ठन-धेनुमुद्राः लिंग, प्रतिमा आदि में परशिव का आवाहन करके, भक्तिपूर्वक उनकी स्थापना करके, उनकी संनिधि प्राप्त कर, उनको अन्यत्र न जाने के लिये वहीं रहने की प्रार्थना कर, उनका आच्छादन कर और सुरभि मुद्रा को दिखा कर **पाद्यं** पादतीर्थ के साथ **आचमनार्घ्यपुष्पदानं** आचमन तथा अर्घ्य के लिये जल प्रदान कर पुष्प समर्पित करे। **एताः** ये सब **दशैव** दस ही **संस्कृतयः** संस्कार शिवपूजा में प्रधान रूप से **स्मृताः** स्वीकृत्त हैं।।२३।।

ऊपर बताई गई पद्धति से शिवमन्त्र के द्वारा भगवान् का आवाहन किया जाता है। यहाँ शंका उठती है कि भगवान् शिव तो सर्वत्र विद्यमान हैं, तब उनका आवाहन कैसा? लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि जो विद्यमान नहीं रहता, उसीका आवाहन किया जाता है। शिव को यदि अविद्यमान मान कर उनका आवाहन किया जायगा, तो उनकी सर्वत्र व्यापकता कहाँ रह जायगी? इस तरह से शिव का आवाहन तो हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत सभी आगमों में भगवान् के आवाहन का विधान है। तब इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् सर्वव्यापक नहीं है। इसका समाधान यह है कि जैसे काष्ठ में सर्वत्र विद्यमान अग्नि का किसी एक स्थान पर मथन करने से वह प्रकट हो जाती है, उसी तरह से सर्वत्र विद्यमान शिव आवाहन क्रिया से वहाँ प्रकट हो उठते हैं। इस प्रकार इस शंका का परिहार हो जाता है। कहा भी गया है —

आ मूलाग्रस्थितस्याग्नेरभिव्यक्तिर्यथा तरौ।
तद्वदेकत्र चिद्व्यक्तिर्व्यापकस्य न बाध्यते॥

यह आवाहन एक मानसिक व्यापार है। यह निरतिशय श्रद्धास्वरूप है। पूरी श्रद्धा के साथ मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनको अपने सामने बुलाना ही यह आवाहन है। जैसा कि कहा गया है —

सर्वत्र व्यापिनं शान्तं देवदेवं सदाशिवम्।
अभिमुखीकुरुते यच्च तदावाहनमुच्यते॥

यह आवाहन दो प्रकार का है — प्रतिष्ठा के समय लिंग आदि में प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा चित्स्वरूप की अभिव्यक्ति आवाहन का पहला प्रकार है और प्रतिदिन पूजा के समय अपने समक्ष उनके प्रकटीकरण की भावना इसका दूसरा प्रकार है। पंचवक्त्र शिव का यह आवाहन उनके ईशान नामक ऊर्ध्व मुख में किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

यस्यां दिशि भवेद् द्वारं तां [1]प्राचीं परिकल्पयेत्।
तत्र तत्पुरुषं वक्त्रं चोर्ध्वं चाभिमुखं भवेत्॥

ऊर्ध्ववक्त्रे तु दातव्यं संमुखं च पराङ्मुखम्।

मुझ पर अनुग्रह करके कृपानिधि भगवान् शिव यहाँ निवास करते हैं, श्रद्धा से भरी यह मानसिक भावना ही **स्थापना** कहलाती है, **"भक्त्या निवेशनं तत्र स्थापनं कथितं बुधैः"** इस प्रकार इसका लक्षण बताया गया है। **संनिधान** का अभिप्राय है पूज्य और पूजक में परस्पर अनुग्राह्य और अनुग्राहक स्वरूप संबन्ध, अर्थात् निरन्तर अपने अनुग्रह की वर्षा करते रहना। **निरोधन** का तात्पर्य है कि भगवान् परमशिव निरन्तर मुझ पर अनुग्रह की वर्षा करने के लिये मेरे पास ही बने रहें, इस तरह की प्रार्थना। यह भक्त-जनों का ऐसा गुण है कि इससे प्रेरित हो वे जीवात्मा अपने में शिवत्व की अभिव्यक्ति भी नहीं चाहते, जिनके कि सभी मल परिपक्व हो गये हैं। भक्तों के हृदय में शिव का प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित हो उठना **अवकुण्ठन** कहलाता है। अन्य आचार्यों का कहना है कि शिव को अपने हृदय आदि स्थानों में बैठाकर उनको हृदय आदि मन्त्रों का न्यास रूपी कवच (आवरण) पहना देना ही अवकुण्ठन है। धेनुमुद्रा को ही सौधमुद्रा भी कहते हैं। इससे **अमृतीकरण** प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

हृदयं हृदये शुभ्रं पीतं शिरसि तच्छिरः।
शिखायां तु शिखां रक्तां कृष्णं देहे तनुच्छदम्॥

अस्त्रं वह्निसमप्रख्यमस्त्रसख्येषु विन्यसेत्।
मूलेनारोप्य देवस्य पुष्पं शिरसि मन्त्रितम्॥

शिवैकवर्णतां ध्यायेदङ्गानामङ्गिना सह।
अमृतीकरणं कुर्यान्मन्त्राणां धेनमुद्रया॥

इस उद्धरण में अवकुण्ठन और अमृतीकरण— दोनों की प्रक्रिया बताई गई है। मुद्रा शब्द आवाहन आदि प्रत्येक पद से संयुक्त हो जाता है, अर्थात् आवाहनी आदि मुद्राओं को दिखाते हुए भगवान् के आवाहन आदि संस्कार किये जाते हैं। मुद्रा शब्द **'मुद हर्षे'** और **'द्रव भीतायां वाचि'** इन दो धातुओं के संयोग से बनता है। मुद्रा का प्रदर्शन करने से देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भय के मारे भाग जाते हैं। जैसा कि कहा गया है —

---

[1] लोक-व्यवहार में सूर्योदय की दिशा को प्राची कहा जाता है। आगम-तन्त्रशास्त्र में देवता का सांमुख्य भी प्राची के रूप में प्रसिद्ध है। भास्करराय ने नि. षो. सेतुबन्ध (१. १६६-१६९) में इस विषय पर विचार किया है।

मुदं करोति देवानां द्रावयत्यसुरांस्तथा।
मोदनाद् द्रावणाच्चैव मुद्रेति परिकीर्तिता॥

दोनों हाथों की अंजलि बनाकर अनामिका के मूल में अंगुष्ठ के संयोजन से **आवाहिनी** मुद्रा बनती है। इसीको अधोमुख कर देने पर **स्थापनी** मुद्रा बन जाती है। बँधी हुई मुष्टियों को आपस में मिलाकर अंगूठों को ऊपर उठा देने पर **संनिधानी** और अंगूठों को मुट्ठी में बन्द रखने से **निरोधिनी** मुद्रा बनेगी। दोनों मुट्ठियों को बाँधकर तर्जनी को उठाकर गोलार्ध में उसे घुमाने से **अवकुण्ठन** मुद्रा और दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में गूँथ कर कनिष्ठा और अनामिका तथा मध्यमा और तर्जनी को गाय के चार स्तनों के आकार में दिखाना **धेनु (सौध)** मुद्रा कहलाती है। पाद-प्रक्षालन के लिये नमोन्त हृदय मन्त्र से **पाद्य** के रूप में जल दिया जाता है। स्वधान्त मन्त्र से पंचमुख को **आचमन** का जल समर्पित किया जाता है। स्वाहान्त मन्त्र से **अर्घ्य** का जल दिया जाता है। दूर्वा, पुष्प, अक्षत आदि का समर्पण वौषडन्त मन्त्र से किया जाता है। जैसा कि निम्न वचन में प्रतिपादित है —

पद्भ्यां निवेदयेत् पाद्यं दक्षहस्तेन संमुखम्।
मुखेष्वाचमनं तद्वदर्घ्यं पञ्चसु मूर्धसु॥

दूर्वापुष्पाक्षतानीकं पश्चाल्लोकोपचारतः।
नमस्कारस्वधास्वाहावौषडादियुता हृदा॥

चतुष्टयमिदं तत्र परिपाट्या निवेदयेत्।

इस तरह से प्रस्तुत श्लोक में शिवपूजा-संबन्धी दस संस्कारों (उपचारों) का वर्णन किया गया है। इन्हींको प्रधान माना गया है। जैसा कि —

आवाहनं स्थापनं च सान्निध्यं सन्निरोधनम्।
सकलीकृतिरेकत्वमवकुण्ठनपूर्वकम्॥
पाद्यमाचमनं चार्घ्यं पुष्पैः संस्कृत्य शङ्करम्।

इस उद्धरण में इनका उल्लेख किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रधान संस्कारों के अतिरिक्त अन्य अंगभूत संस्कार भी हैं॥ २३॥

शिवपूजा के लिये स्वीकृत उपचारों की पंचभूतों में व्याप्ति होने से अब इन पंचोपचारों का वर्णन करते हैं —

गन्धो मूलफलादिकन्दकुसुमाद्यन्नादिकं पार्थिवं
चाप्यं वारि पयः पटादि दधिकं चाग्नेयमिष्टा मणिः।

दीपाद्याभरणादि मारुतमथो धूपं तथा चामरं
घण्टागीतरवादि नाभसममी पञ्चोपचाराः शिवे ।।२४।।

गन्धः चन्दन, **मूलफलादि** ह्रीबेर (सुगन्धि द्रव्य) आदि की जड़ें और आम्र आदि फल **कन्दकुसुमादि** सकरकन्द आदि कन्द तथा नाना प्रकार के पुष्प **अन्नादिकं** चाँवल, दाल, तरकारी आदि तरह तरह के भक्ष्य-भोज्य पदार्थ **पार्थिवं** पृथिवी से संबद्ध हैं, अतः इन सबका पार्थिवोपचार में समावेश है। **वारि** नाना प्रकार के तीर्थ जल, **पयः** दूध, **पटादि** वस्त्र आदि **दधिकं च** और दही — ये सब **आप्यं** जल सम्बन्धी हैं, अतः ये जलीयोपचार कहलाते हैं। **इष्टा मणिः** अभिमत नवरत्न आदि, **दीपादि** दीपक, कपूर आदि **आभरणादि च** और सोने-चाँदी के आभूषण आदि का **आग्नेयं** तैजस उपचार में समावेश है। **अथ** तथा **धूपं** दशांग धूप अगरबत्ती आदि **तथा चामरं** तथा चामर, व्यजन आदि का **मारुतं** वायु-संबन्धी वायवीय उपचार में समावेश है। **घण्टागीतरवादि** घण्टानाद, गीतध्वनि, वाद्यध्वनि, स्तोत्रध्वनि आदि का **नाभसं** आकाश-संबन्धी उपचार में समावेश होता है। **शिवे** शिव की पूजा के **अमी** ये **पञ्च** पाँच **उपचाराः** साधन होते हैं।।२४।।

सभी प्रकार के उपचारों में पंचोपचार को ही प्रधानता इसलिये दी जाती है कि पाँच महाभूतों से इनका सीधा संबन्ध है। यही विषय निम्न श्लोकों में भी वर्णित है —

पार्थिवं गन्धपुष्पाद्यं कन्दमूलफलादिकम् ।
आप्यं वारिपयोवस्त्रदधिगोमूत्रकादिकम् ॥
आग्नेयं हेमरत्नादि दीपमाभरणादिकम् ।
वायव्यं चामरं धूपं व्यजनं वातकारणम् ॥
नाभसं गेयवाद्याद्यं घण्टावेदस्वनादिकम् ।
एते पञ्चोपचारास्तु कथिताः शास्त्रवेदिभिः ॥

मूल श्लोक में जलीय उपचार में 'पयः पदादि दधिकम्' ऐसा पाठ है। टीकाकार ने पटादि का अर्थ 'वस्त्रकौशेयादि' किया है। इसी तरह से प्रस्तुत उद्धरण में 'पट' के स्थान पर 'वस्त्र' पद प्रयुक्त है। जलीय उपचार में वस्त्र की गणना अटपटी

सी लगती है। हमारी समझ में दूध और दही के साहचर्य से [1]पट शब्द से दूध की किसी अवस्थाविशेष का बोध होना चाहिये। इसी तरह से टीकाकार ने 'इष्टं' को 'मणि' का विशेषण मानकर उसका अर्थ महाप्रभा से युक्त नवविध रत्न किया है ॥ २४॥

भक्तिपूर्वक जप करने के लिये शिवमन्त्र के जप की भावना का क्रम अब बताते हैं —

स्वाधारोदितनादतः शिवपथे मेधादिकार्काः कला-
मात्रास्तत्पदसंस्थितांस्तदधिपान् मत्वा लयं तत्परम् ।
कर्षन्नङ्गुलिमध्यतोऽक्षनिकरं चैकैकशो मानसं
जप्त्वोपांशु समर्पयेच्छिवमनुं देवे जपं स्वाकृतम् ।।२५।।

स्वाधारोदितनादतः अपने मूलाधार से उठे नादरूपी हकार से प्रारंभ कर **शिवपथे** निष्कल शिवतत्त्व को लक्ष्य बनाकर जाने वाले मार्ग में **मेघादिकार्काः** औकार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त स्थित बारह **कलामात्राः** कला-मात्राओं के **तत्पदसंस्थितान्** उन-उन स्थानों में विराजमान **तदधिपान्** उन-उन स्थानों के अधिपति (स्वामी) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर, सदाशिव आदि **लयं** (गतान्) क्रमशः लीन हो गये हैं, **मत्वा** ऐसा मानकर **तत्परं** उन सबके ऊपर द्वादशान्त स्थान में परशिव का ध्यान करते हुए **अक्षनिकरं** रुद्राक्ष आदि की जपमाला के दानों का **एकैकशः** एक एक कर **अङ्गुलिमध्यतः** बीच वाली अंगुलि से **कर्षन्** (सन्) खींचते हुए **मानसं** मानस, **उपांशु** अथवा उपांशु (दूसरों को सुनाई न दे) पद्धति से **शिवमनुं** शिव के प्रासाद मन्त्र का **जप्त्वा** जप करके **स्वाकृतं** अपने द्वारा किये गये **जपं** इस जप को **देवे** परशिव के लिये **समर्पयेत्** अर्पित कर दे।।२५।।

मूलाधार से उठे हकारात्मक नाद के सहारे निष्कल शिवपद तक पहुँचने के लिये औकार आदि बारह कला-मात्राओं का सहारा लेना पड़ता है। ओकार, एकार, उकार, इकार, अकार, आकार, ईकार, ऊकार, ऐकार, औकार, अनुस्वार और विसर्ग –

---

[1] माध्यन्दिनसंहिता (४.२६) का भाष्य करते हुए स्वामी करपात्री जी महाराज ने शतपथब्राह्मण (३.३.३.२) और कात्यायनश्रौतसूत्र (७.८.१३) को उद्धृत करते हुए प्रतिधुक्, शृत, शर, दधि, मस्तु आदि शब्दों की व्याख्या की है।वहाँ पट शब्द उपलब्ध नहीं है, किन्तु हमें ऐसा लगता है कि संभवतः फटे हुए दूध को पट कहते हैं।

ये बारह कलाएं हैं। इनमें स्थित ओ ए उ इ और अकार में स्थित इन वर्णों के अधिपतियों में अथवा हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद में स्थित ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक अधिपतियों में इन सबका विलय कर देने के उपरान्त उस ब्रह्मरन्ध्र-स्थान से भी ऊपर विद्यमान द्वादशान्त पद में स्थित परशिव में लीन होकर जप करना चाहिये। अक्षनिकर से अभिप्राय जपमाला में विद्यमान रुद्राक्षों से है। आगमशास्त्र में इनका लक्षण इस प्रकार वर्णित है —

शतेनाष्टोत्तरेण स्यादक्षसूत्रं सदोत्तमम्।
तदर्धं मध्यमं प्रोक्तं तदर्धं कन्यसं मतम्॥

रुद्राक्षजं महाभूत्यै मुक्तिदं परमं शुभम्।
एकवक्त्रैस्त्रिवक्त्रैर्वा चतुर्वक्त्रैश्च पञ्चभिः॥

षड्वक्त्रैर्वाऽथ कर्तव्यं तस्मान्मिश्रैस्तु वर्जयेत्।
मुखे मुखं प्रकर्तव्यं मूलं मूलेन संस्थितम्॥

धात्रीफलप्रमाणं यत् श्रेष्ठमेतदुदाहृतम्।
बदरायाः प्रमाणं वा चणकं मध्यमाधमम्॥

नवत्रितन्तुना प्रोतं कर्तव्यं पूर्ववच्छुभम्।
नागपाशं तु सावित्री ब्रह्मास्त्रं वाथ ग्रन्थनम्॥

ग्रन्थ्यूर्ध्वगं तु मेर्वाख्यं कर्तव्यं नैव लङ्घयेत्।

यह अक्षसूत्र सत्ताइस रुद्राक्षों का भी बनाया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

सप्तविंशतिभिश्चाक्षैः पञ्चवक्त्रैर्विशेषतः।
अक्षसूत्रं प्रकर्तव्यं गोपुच्छवलयाकृति॥

जप करते समय मध्यमा अंगुलि से एक एक दाने को खींचा जाता है। यहाँ भुक्ति (भोग) की कामनावाला मध्यमा अंगुलि के निचले भाग से और मुक्ति (मोक्ष) की कामनावाला अंगुलि के ऊपर के भाग से दानों को खींचे। यथा —

भुक्तये सृष्टिमार्गेण कर्षयेदक्षसूत्रकम्।
ऊर्ध्वमार्गेण मुक्त्यर्थं कर्षयेत् तु शनैः शनैः॥

मेरुं न लङ्घयेन्मन्त्री लङ्घयन् दोषभाग् भवेत्।
मेरुहीनाऽक्षमाला तु कर्तव्या वा प्रयत्नतः॥

अंगुष्ठ और तर्जनी से दानों के कर्षण का भी विधान है। यथा —

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु मध्यमायां व्यवस्थितम्।
मन्त्रमुच्चारयन्नक्षमेकैकं कर्षयेच्छनैः॥

ततो मेर्ववसाने तु नागेन्द्रपरिवर्तनम्।
शतमष्टोत्तरं जप्त्वा सहस्रं चार्धमेव च॥

नासंख्यं न परिभ्रान्तं न विलम्बितमेव वा।

मानस जप का अर्थ है, जिसकी केवल मन में भावना की जाती है। उपांशु का अर्थ ओष्ठ का स्फुरणमात्र है। इस विधि में मन्त्र केवल जप करने वाले को सुनाई पड़ता है, दूसरों को नहीं। जैसा कि यहाँ बताया गया है —

मानसं मनसा कार्यं प्राणवृत्तिनिरोधतः।
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण चोपांशुः परिकीर्तितः॥

परेषां शृण्वतां भाष्यो यः शब्दजनकः स्मृतः।
मानसं सात्त्विकं विद्याद् राजसं च द्वितीयकम्॥

विस्पष्टस्तामसः प्रोक्तस्तामसः क्रूरकर्मणि।

इस पद्धति से शिवमन्त्र का जप करने के उपरान्त अपने द्वारा जपे गये इस मन्त्रजप को शिव के प्रति समर्पित कर दे। जप के समर्पण का प्रकार यह है — जपमाला को दाहिने हाथ पर रख कर उस हाथ का षडंग मन्त्रों से अर्चन कर कवच और अस्त्र मन्त्र से उसकी रक्षा करे। बाद में हृदय-प्रदेश में हाथ को ले जाकर भूमि पर दाहिना घुटना टेक कर निम्न मन्त्र को पढ़े —

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे येन त्वत्प्रसादात् त्वयि स्थितः॥

इसके बाद 'जपं गृहाण स्वाहा' ऐसा कहते हुए अर्घ्य के जल को सदाशिव के वरद हस्त पर छोड़ दे॥ २५॥

इसके बाद किये जाने वाले अग्निकार्य (हवन) का वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया जा रहा है —

नेमीनाभिंगहास्तवह्निवसतावष्टादशाख्यैर्युते
संस्कारैररणिद्विजादिगृहजं बिन्द्वादिवह्न्यैक्यगम्।
वागीश्यां जनितं शिवाग्निमनघं नाड्या प्रविश्यैव तत्-
स्वान्ते पूर्ववदर्चिते परशिवे निःसृत्य चोर्ध्वानने ॥२६॥

वह्न्यूर्ध्वास्यसुसन्धिते घृततिलैर्हुत्वा तु शक्तिस्रुचि
न्यस्त्वा च स्रुवशम्भुमात्मनिनदान्मन्त्रं समुच्चारयन् ।
क्षुब्ध्वा शक्त्यमृतं ततः प्रसरतो नाड्या प्रयुक्ताज्यतः
पूर्त्यै होमविधेः स्रुचा त्वमृतधीः पूर्णां विदध्याच्छनैः ।।२७।।

नेमीनाभिगहास्तवह्निवसतौ नेमी नाम की मेखला और नाभि जैसी कुण्डयोनि वाले हस्तप्रमाण अग्निकुण्ड के **अष्टादशाख्यैः** प्रसिद्ध अठारह प्रकार के **संस्कारैः** निरीक्षण, प्रोक्षण आदि संस्कारों को **युते** (सति) सम्पन्न कर **अरणिद्विजादिगृहजं** अरणिकाष्ठ को मथकर पैदा की गई अथवा अग्निहोत्री ब्राह्मण के गृह आदि से लाई गई अग्नि को **बिन्द्वादिवह्न्यैक्यगं** नाभिगत वह्नि से अभिन्न मान कर **वागीश्यां** वागीशी महामाया कुण्डलिनी के गर्भ से **जनितं** इसका जन्म हुआ है, ऐसी भावना कर **अनघं शिवाग्निं** उस दोषरहित शिवाग्नि की कल्पना कर **नाड्या** ब्रह्मनाडी के नाम से प्रसिद्ध सुषुम्ना नामक मध्य नाडी की सहायता से **प्रविश्य** उस शिवाग्नि में प्रविष्ट होकर **तत्स्वान्ते** उस अग्नि की अपने हृदयकमल में **पूर्ववत्** पहले जैसी पद्धति से **परशिवे अर्चिते** (सति) परशिव की पूजा करने के बाद **निःसृत्य च** उस अग्निशरीर से बाहर निकल कर **ऊर्ध्वानने** ऊपर वाले ईशान मुख में **वह्न्यूर्ध्वास्यसुसन्धिते** वह्निमुख और ऊर्ध्वमुख का अच्छी तरह से सन्धान कर लेने के बाद **घृततिलैः** घी और तिल की **हुत्वा** आहुति देकर **शक्तिस्रुचि** स्रुक् नामक पात्र में शक्ति की भावना कर **स्रुवशम्भुं** स्रुवानामक पात्र में शिव की भावना कर **न्यस्त्वा** इनको एक दूसरे के ऊपर रखकर **आत्मनिनदात्** आत्मनाद तक **मन्त्रं** मन्त्र का **समुच्चारयन्** उच्चार करते हुए **शक्त्यमृतं** परा शक्ति में स्थित अमृत को **क्षुब्ध्वा** क्षुब्ध कर **ततः** उस शक्ति में से **नाड्या** सुषुम्ना नाडी के माध्यम से **प्रसरतः** पूरे शरीर में व्याप्त हो रहे **प्रयुक्ताज्यतः** स्रुक् पात्र तथा स्रुवा पात्र में भरे हुए घृत में **अमृतधीः** अमृत की भावना कर **होमविधेः** होमविधि की **पूर्त्यै** परिपूर्णता के लिये **स्रुक्** पात्र से **पूर्णां** पूर्णाहुति को **शनैः** धीरे धीरे **विदध्यात्** प्रदान करे ।।२६-२७।।

नेमि (मेखला) और नाभि (कुण्डयोनि) की रचना एक हस्त-प्रमाण के कुण्ड के आधे भाग में की जाती है। कुण्ड के मध्य में आधे कुण्ड के बराबर कमल के आकार वाले भीतरी भाग को योनि कहतें हैं। इस प्रकार से रचित कुण्ड की शुद्धि के लिये अठारह प्रकार के संस्कार किये जाते हैं। इनके नाम ये हैं— निरीक्षण, प्रोक्षण,

ताडन, अभ्युक्षण, खनन, अवकिरण, पूरण, समीकरण, सेचन, कुट्टन, संमार्जन, समालेपन, कलामयकल्पन, त्रिसूचीवेष्टन, कलामयाभ्यर्चन, रेखाचतुष्टय, वज्रीकरण और चतुष्पथ। यहाँ प्रश्न होता है कि अक्षपाट नाम का भी एक संस्कार है। उसको मिलाकर संस्कारों की संख्या १९ हो जायगी। इसके उत्तर में कुछ आचार्य कलामयाभ्यर्चन में कलामय-कल्पन का अन्तर्भाव कर अक्षपाट के साथ इन संस्कारों की संख्या १८ मानते हैं। हमारे सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो अठारह संस्कारों में इसकी गिनती नहीं की है। ऐसा क्यों नहीं किया गया? इसमें सोमशम्भुपद्धति के ये वचन प्रमाण हैं —

निरीक्षणं च कुण्डस्य प्रोक्षणं ताडनं कुशैः।
विदध्यादस्त्रमन्त्रेण वर्मणाभ्युक्षणं मतम् ॥

खड्गेन खातमुद्धारं पूरणं समतामपि।
कुर्वीत वर्मणा सेकं कुट्टनं च शराणुना ॥

संमार्जनं समालेपं कलारूपप्रकल्पनम्।
त्रिसूत्रीपरिधानं च वर्मणा ह्यर्चनं हृदा ॥

रेखात्रयमुदक् कुर्यादेकां पूर्वाननामथ।
कुशेन शिवशस्त्रेण यद्वा तासां विपर्ययः ॥

वज्रीकरणमस्त्रेण हृदा दर्भैश्चतुष्पथम्।

कलारूपप्रकल्पन के बाद त्रिसूत्रीपरिधान का उल्लेख कर उसके बाद 'वर्मणा ह्यर्चनं हृदा' यहाँ कलाभ्यर्चन संस्कार का विधान किया है। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दो अलग अलग संस्कार हैं। यदि यह पृथक् संस्कार न होता, तो कलारूपप्रकल्पन के साथ ही कलाभ्यर्चन को कहा जाता। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों संस्कार भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिये अठारह संस्कारों में यहाँ अक्षपाट का परिगणन नहीं किया गया। ज्ञानरत्नावली में इन अठारह संस्कारों का क्रम इस प्रकार वर्णित है —

चक्षुषा सप्रसादेन वीक्ष्य प्रोक्ष्य शिवाणुना।
आताड्याऽभ्युक्षयेद् विद्वान् वौषडन्तेन वर्मणा ॥

अस्त्रेण खातमुद्धारं पूरणं समतां हृदा।
सेचनं कवचेनाथ कुट्टनं हेतिनाऽऽचरेत् ॥

संमार्जनं समालेपं कवचेन समाचरेत्।
न्यस्तव्याः शान्त्यतीताद्या मध्यपूर्वादितः कलाः ॥

त्रिसूत्रीपरिधानेन तनुत्राणेन वेष्टयेत्।
कलामयाय कुण्डाय नमः संयोज्य चार्चनम् ॥

तिस्रः पूर्वाननाः कार्या रेखैका चोत्तरानना।
वज्रीकरणमस्त्रेण वज्राकारकुशैस्त्रिभिः॥
हृदा चतुष्पथं कार्यं सोमेन्द्राग्रकुशद्वयात्।
इत्यष्टादशसंस्काराः कुण्डे प्रोक्ताः समासतः॥
अक्षपाटाय कण्ठोर्ध्वे कवचेन कुशान् न्यसेत्।

यहाँ अठारह संस्कारों को बता देने के बाद ही अक्षपाट का वर्णन है। अक्षपाट का अर्थ है तिरस्करिणी शाटी। यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि इन आचार्यों ने अक्षपाट की गणना क्यों नहीं की? इसका उत्तर यह है कि वागीश्वरी और वागीश्वर की आराधना करते समय इन दोनों के बीच में पर्दे के रूप में एक साड़ी खड़ी कर दी जाती है। इसी को अक्षपाट कहते हैं। स्पष्ट है कि कुण्ड के संस्कार में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसीलिये आचार्यों ने अठारह संस्कारों में इसका परिगणन नहीं किया। यदि कलारूपप्रकल्पन और कलाभ्यर्चन को एक संस्कार मानकर अठारह संस्कारों में अक्षपाट का समावेश किया जायगा, तो इस स्थिति में मण्डप के अठारह संस्कार करते समय तिरस्करिणी शाटी के लिये अक्षपाट संस्कार की क्या उपयोगिता रह जायगी? स्पष्ट है कि अक्षपाट नामक संस्कार कुण्ड का न होकर मण्डप का है।

कुण्ड के इन संस्कारों को करने के बाद कुण्ड में वागीश्वरी और वागीश्वर का आवाहन करना चाहिये। तब अरणि, अश्वत्थ आदि अग्निप्रधान वृक्षों की सूखी लकड़ियों को आपस में रगड़ कर, श्रोत्रिय के घर से, अपने घर से अथवा सूर्यकान्त आदि मणियों से उत्पन्न अग्नि को कुण्ड में स्थापित करना चाहिये। अरणि से, सूर्यकान्त मणि से, द्विज (श्रोत्रिय) के घर से अथवा अपने घर से वह्नि को ग्रहण कर, उसको मृत्पात्र अथवा ताम्रपात्र में रख कर लाया जाता है। स्वगृह की अपेक्षा श्रोत्रिय के गृह की, उसकी भी अपेक्षा अरणि-मन्थन से प्राप्त और उसकी भी अपेक्षा सूर्यकान्त मणि से प्राप्त अग्नि श्रेष्ठ मानी गई है। जैसा कि कारणागम में बताया गया है —

सूर्यकान्तोद्भवः श्रेष्ठः काष्ठजो मध्यमो भवेत्।
श्रोत्रियागारजो वह्निः कन्यसस्त्विति कीर्तितः॥

कुण्ड में स्थापित इस वह्नि की नाभिकुण्ड में स्थित वह्नि से अभेद-भावना की जाती है। जैसा कि [१] ज्ञानरत्नावली में बताया गया है —

---

[१] सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. ७२) में संगृहीत शैवदर्शन के परिचय में यह ग्रन्थ प्रमाण के रूप में उद्धृत हुआ है।

अग्नेर्बीजेन चैतन्यं हृदा संहारमुद्रया।
आदाय योजयेद् बिन्दौ पूरकेण ततो हृदि॥
नाभौ वा वह्निना चैक्यं कृत्वा कुम्भकयोगतः।
रेचकेन बहिर्नीत्वा ज्वलदग्नौ निवेशयेत्॥

कुण्ड में स्थापित अग्नि में यह भी भावना की जाती है कि इसकी उत्पत्ति वागीशी के गर्भ से हुई है। इससे अग्नि के गर्भाधान आदि संस्कारों की सूचना मिलती है। अग्नि के इन संस्कारों के लिये कुण्डस्थित अग्नि में सद्योजात शिव का स्मरण कर स्वाहान्त सद्योजात मन्त्र से तिल की तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। जैसा कि षट्साहस्त्रिका में कहा गया है —

योनौ तु बीजवत् क्षिप्त्वा सद्योजातं शिवं स्मरन्।
सद्योजातेन चाभ्यर्च्य हृदा त्र्याहुतिके तिलैः॥

पुंसवन आदि संस्कारों में भी वामदेव आदि शिवमूर्तियों का स्मरण और पूजन करना चाहिये। इसकी भी सारी विधि षट्साहस्त्रिका से ही जाननी चाहिये।

अग्नि का सीमन्तोन्नयन संस्कार शिखा मन्त्र से अग्नि के मूर्धा, वक्त्र आदि की अंगार के रूप में कल्पना करना है। मृगेन्द्रागम की वृत्ति में भट्ट नारायणकण्ठ ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है — "इसके बाद पूजा के उपकरणों के साथ अड़तीस कलाओं से अग्नि के शरीर का निष्पादन करना चाहिये। अथवा इन कलाओं के समष्टीरूप ईशान मन्त्र से मूर्धा, तत्पुरुष से वक्त्र, अघोर से हृदय, वामदेव से गुह्य और सद्योजात मूर्ति के रूप में अग्नि के देह का सम्पादन करे।" उस अग्नि को [1]शिवाग्नि कहा जाता है। इससे अग्नि के नामकरण संस्कार की सूचना मिलती है। जैसा कि कहा गया है —

नामकर्म च कर्तव्यं शिवाग्निरिति नामतः।
शेषसंस्कारसंसिद्ध्यै पश्चात् पूर्णां प्रदापयेत्॥

अथवा आत्मा, विद्या और शिव तत्त्व के रूप में तीन आहुतियाँ देकर यह नामकरण करना चाहिये। जैसा कि कहा गया है —

---

[1] शिवाग्नि की पहले चर्चा आ चुकी है। इस प्रकरण से स्पष्ट है कि शिव-कार्य के लिये संस्कृत अग्नि को यह नाम दिया गया है। इस प्रसंग में मतंगपारमेश्वर का यह वचन भी द्रष्टव्य है — "ईशानमूर्धा पुंवक्त्रो ह्यघोरहृदयः प्रभुः। उच्यते वामगुह्योऽयं सद्योमूर्तिर्महेश्वरः।।" (वि. ४.१४)। इस वचन से स्पष्ट है कि भगवान् शिव के समान यह शिवाग्नि भी पंचमन्त्रतनु है।

शिवाग्निर्जायते तेन सर्वसंस्कारवर्जितः ॥
अथवाऽन्यप्रकारेण शिवाग्निं कारयेद् गुह ।
आत्मविद्याशिवाख्यैश्च त्रिधा पूर्णां प्रदापयेत् ॥

वागीशी के गर्भ से उत्पन्न यह अग्नि अनघ है, शिवसंबन्धी तेज से संयुक्त होने के कारण पुण्यस्वरूप है। इससे अग्नि की प्रार्थना सूचित होती है। जैसा कि—

अग्ने त्वमैश्वरं तेजः पावनं परमं यतः ।
तस्मात् त्वदीयहृत्पद्मे संस्थाप्य तर्पयाम्यहम् ॥

सुषुम्ना नामक मध्यमा नाडी की सहायता से अग्नि के विग्रह के भीतर प्रविष्ट होकर उस अग्नि के हृदयकमल में पहले बताई गई पद्धति से परशिव की पूजा करे। आधार शक्ति से कुण्डलिनी शक्ति पर्यन्त आसन पर विराजमान तेजोमय शिव की मूर्ति की भावना कर, उस मूर्ति में आवाहिनी मुद्रा से शिव का आवाहन कर, स्थापनी आदि मुद्राओं से सभी संस्कार सम्पन्न कर, अड़तीस कलाओं से सम्पन्न अग्नि में एकावरण अथवा पंचावरण सहित अरुण वर्ण शिव का ध्यान कर पूजन करे। इसके बाद अग्नि के विग्रह से बाहर निकलकर वह्नि और शिव के ऊर्ध्व मुख को एकाकार मानते हुए पंचमुख शिव के ऊर्ध्व ईशान मुख में अभिघारण करना चाहिये। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि शिव के पाँच वक्त्रों (मुखों) को अग्नि के ही मुख मान कर इनमें घृत की पृथक् पृथक् आहुतियाँ देनी चाहिये। इससे अग्नि के **वक्त्राभिघारण**, **वक्त्रसन्धान** और **वक्त्रैकीकरण** नामक संस्कार सूचित होते हैं। [1]**अभिघारण** का अर्थ है अग्नि के इन मुखों में अलग-अलग आहुति प्रदान करना। **सन्धान** का अर्थ है दो मन्त्रों का साथ में उच्चारण कर दो मुखों में एक ही आहुति देना । **वक्त्रैकीकरण** का अर्थ है पाँचों मन्त्रों का एक साथ उच्चारण करते हुए अग्निकोण से वायुकोण पर्यन्त और नैर्ऋत्य से ईशान कोण पर्यन्त घृत की अविच्छिन्न धारा देते हुए अपनी कामना के अनुसार अभीष्ट मुख में शेष चार मुखों का अन्तर्भाव मानना। अपनी इच्छा के अनुसार कल्पित ऊर्ध्व मुख को खुला हुआ माने । निम्न वचनों में अग्नि के इन संस्कारों का विवरण है —

वक्त्राणामभिघारोऽग्नेः सन्धानं च मुखैकता ।
सद्येन जुहुयादाज्यं पश्चिमास्ये हविर्भुजः ॥

वामेनोदङ्मुखे हुत्वा दक्षास्ये बहुरूपिणा ।
पुंसा प्राग्वदने चोर्ध्वमुखे चैशानमन्त्रतः ॥

---

[1] "व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम्। तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियते" (१७.१२) माध्यन्दिनसंहिता के वेदार्थपारिजात-भाष्य में व्याघारण का यह लक्षण दिया है। व्याघारण और अभिघारण पर्यायवाची शब्द हैं।

एकैकया घृताहुत्या तिसृभिर्वाऽभिघारणम्।
कथ्यते वक्त्रसन्धानं पञ्चाज्याहुतया यथा॥

जुहुयादजवामाभ्यां स्रुवेणाज्यं तदास्ययोः।
जुहुयाद् वामघोराभ्यां तद्वक्त्रद्वितये घृतम्॥

जुहुयात् पुरुषेशाभ्यां तद्वक्त्रद्वितये घृतम्।
ऐशे च जुहुयादाज्यं तद्वक्त्रे शिववाचकम्॥

एका वा वक्त्रसन्धाने तिस्रो वाऽऽहुतयो मताः।
कथितं वक्त्रसन्धानं कथ्यते च मुखैकता॥

सद्यादिपञ्चवक्त्रेभ्यो घृतधारां क्षिपेत् तथा।
अग्निकोणमथारभ्य वायुकोणान्तनीतया॥

निर्ऋतेः कोणमारभ्य रुद्रकोणान्तनीतया।
कुर्वीत वदनैकत्वमविच्छिन्नाज्यधारया॥

सद्योजात आदि के क्रम से ईशान में वक्त्रों का एकीकरण मुक्ति के लिये किया जाता है। जैसा कि कालोत्तर में प्रदर्शित है — "ईशाने मुक्तये होमः पुरुषे चाणिमादिकम्"। भुक्ति (भोग) की इच्छा वाला सद्योजात के क्रम से वक्त्राभिघारण करे और वक्त्रसन्धान एवं वक्त्रैकीकरण के लिये ईशान आदि के क्रम को स्वीकार करे। इसकी विधि भी कालोत्तर में ही प्रदर्शित है —

वक्त्राभिघारसन्धाने वक्त्रैक्यं च समाचरेत्।
पश्चिमादीशपर्यन्तं स्वमन्त्राहुतियोगतः॥

वक्त्राभिघारः कथितो वक्त्राणां दीपनं परम्।
शिवमन्त्रेशमन्त्राभ्यां द्वाभ्यामुपरि कल्पयेत्॥

पुरुषाघोरमन्त्राभ्यां वामसद्यद्वयोरपि।
एकैकाहुतिदानेन सन्धानं तत्र कल्पयेत्॥

द्वाभ्यां चैव तु वक्त्राभ्यामाहुत्यैकां प्रदापयेत्।
पञ्चाहुतिप्रयोगेण वक्त्रसन्धानमीरितम्॥

अथवा ईशान आदि के क्रम से वक्त्राभिघारण करे। जैसा कि कहा गया है —

वक्त्राभिघारसन्धाने कुर्यात् सद्यादिशम्बरैः।
यद्वेशानादिभिः पश्चात् कर्म ज्ञात्वाऽऽननैकताम्॥

नित्य कर्म में तो सद्योजात वक्त्र में शेष चार वक्त्रों का अन्तर्भाव मान कर उस वक्त्र को ही कुण्ड मानकर उसमें आहुति दे। यही वक्त्रैकीकरण संस्कार कहा जाता है। कालोत्तर में यह प्रतिपादित है — "नित्यकर्मविधानं तु वक्त्रेऽस्मिन् पश्चिमे हुतम्"। सिद्धान्तशेखर में भी यही विषय प्रतिपादित है —

नित्यकर्मणि शिष्याणां संस्कारे समयाह्वये।
सद्योजातमुखेऽन्यानि चान्तर्भूतानि भावयेत्॥

सोमशम्भु का भी कहना है कि नित्यहोम और शिष्यसंस्कार के लिये पश्चिम सद्योजात मुख में आहुति देनी चाहिये। यहाँ तत्पुरुष, अघोर और वामदेव वक्त्रों का सद्योजात आदि के अथवा ईशान आदि के क्रम से वक्त्राभिघारण और वक्त्रसन्धान की प्रक्रिया को पूरी करे। वक्त्रैकीकरण की प्रक्रिया में उक्त तीन वक्त्रों का ईशान स्थान में सन्धान कर इस ईशान मुख का ही उक्त तीन मुखों के स्थान पर सन्धान करे। जैसा कि कहा गया है —

वक्त्राभिघारसन्धाने कुर्यात् सद्यादिशम्बरैः।
यद्वेशानादिभिः पश्चात् कर्म ज्ञात्वाऽऽननैकताम्॥

ध्यात्वा वक्त्राणि पञ्चाग्नेर्येन यत्कर्म वाञ्छितम्।
तं मुख्यमूर्ध्वे कुर्वीत तत्स्थाने चोर्ध्वगं मुखम्॥

अन्तर्भाव्यान्यवक्त्राणि तच्च कुण्डप्रमाणकम्।

अथवा ईशान मुख में अन्य मुखों का अन्तर्भाव मान कर अन्य सभी मुखों में आहुति देने से जो फल मिलता है, उसकी भी प्राप्ति एकमात्र इसी मुख में आहुति देने से हो जायगी, ऐसी भावना करनी चाहिये। अन्य मुखों की अपेक्षा ईशान मुख को इसीलिये प्रधान माना जाता है कि यह सभी कामनाओं को पूरा करने वाला है। "एकैव बहुरूपा तु सर्वकामफलप्रदा" ऐसा वचन भी उपलब्ध है। यहाँ 'बहुरूपा' पद से ईशान की जिह्वा का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि कामिकागम में कहा गया है — "बहुरूपेशजिह्वा स्याज्जिह्वास्थानं प्रकीर्तितम्"। इस वक्त्रैकीकरण की प्रक्रिया से एकीकृत ऊर्ध्व वक्त्र में अग्नि की हिरण्या आदि सात जिह्वाओं में से बहुरूपा में ही अभिघार, सन्धान और एकीकरण की प्रक्रिया को पूरा करना चाहिये। जैसा कि कहा गया है —

यादिहान्ता विना रेफं रेफषष्ठस्वरान्विताः।
एकैकाहुतिदानेन जिह्वादीपनमाचरेत्॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु सन्धानं कृत्वा मध्ये लयं नयेत्।

इस प्रकार वह्नि के मुख का ऊर्ध्व वक्त्र के साथ एकाकार अनुसन्धान कर उसमें घृत और तिल की आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रसंग में घृत के भी अठारह प्रकार के संस्कार शास्त्रों में विहित हैं। जैसा कि आचार्यों ने कहा है —

वीक्षणादिचतस्त्रश्च वह्नौ तद्भ्रमणं त्रिधा।
तापनाधिश्रयोद्वासमुत्प्लवं संप्लवं तथा॥

घृतनीराजनोद्द्योतमन्त्रद्योतनमन्त्रणम्।
रक्षाकुण्ठनशोध्यं च घृतेऽष्टादशसंस्कृतिः॥

कर्तव्या मन्त्रपूताश्च तदा तदमृतं भवेत्।
हृदा बिन्दुविनिक्षेपात् सुगन्धं गालितं शुभम्॥

स्त्रुक् में शक्ति का और स्त्रुवा में शिव का न्यास किया जाता है। जैसा कि कामिकागम के इस वचन में निर्दिष्ट है —

गृहीत्वा स्त्रुक्स्त्रुवावस्त्रेणाभ्युक्ष्य कवचेन च।
अवकुण्ठ्य प्रताप्याग्रावाभ्राम्य च तदग्रकम्॥

दर्भाग्रेणैव संस्पृश्याभ्राम्य मध्यं तु मध्यतः।
पुनराभ्राम्य मूलेन मूलं संस्पृश्य तद्द्वयोः॥

तत्त्वत्रयं च विन्यस्य स्त्रुचि शक्तिं च विन्यसेत्।
स्त्रुवे शम्भुं समभ्यर्च्य स्वात्मनो दक्षिणे न्यसेत्॥

दर्भाणामुपरिष्टात्तु पूजयेद् हृदयेन तु।

पूर्णाहुति का क्रम इस प्रकार है — स्त्रुवा की सहायता से स्त्रुक्पात्र को घृत से भर कर ऊपर मुख वाले स्त्रुक्पात्र को पकड़ कर उसके मुख के ऊपर अधोमुख स्त्रुवा को रखकर स्त्रुक् के अग्र भाग में पुष्प को रख कर शंख के समान मुद्रा से युक्त दोनों हाथों से स्त्रुक् और स्त्रुवा के मूल भागों को पकड़ कर दाहिने हाथ से मूल के ऊपर के और बायें हाथ से मूल के पश्चात् भाग को एक साथ पकड़ कर दोनों पैरों को बराबर कर उठे। तब सीधा तन कर खड़ा होकर अपनी नाभि से स्त्रुक् और स्त्रुवा के मूल को थोड़ा तिरछा करके स्त्रुक् के अग्र भाग में दृष्टि को स्थिर कर मूल मन्त्र के अन्त में वौषट् पद को जोड़कर इस मन्त्र का प्लुत स्वर में उच्चारण करता हुआ धीरे-धीरे स्त्रुक् और स्त्रुवा के मूल को अपने बायें स्तन तक ऊपर उठाकर घृतधारा में बिन्दु-स्थान से निकल रही अमृतधारा का ध्यान कर यव के प्रमाण की पतली अविच्छिन्न धारा से सारे घृत की वह्नि में आहुति दे दे। पूर्णाहुति की यही विधि शास्त्रों में वर्णित है —

घृतेन स्रुचमापूर्य निधायाधोमुखं स्रुवम्।
तदग्रे पुष्पमारोप्य शङ्खसंनिभमुद्रया॥

हस्ताभ्यां स्रुक्स्रुवौ धृत्वा तन्मूलं नाभिमध्यगम्।
कृत्वा चोत्थाय संतिष्ठेदृजुकायः समाहितः॥

मूलमन्त्रमतिस्पष्टं वौषडन्तं समुच्चरन्।
बिन्दोरुद्गीर्णपीयूषैर्नासारन्ध्रविनिर्गतैः॥

स्रुचमापूरयन् सर्पिःपूर्णां दद्याच्छिवानले।

इन वचनों में पूर्णाहुति की ऊपर बताई गई विधि को ही स्पष्ट किया गया है॥ २६-२७॥

अनेक प्रकार के काम्य फलों की प्राप्ति के लिये अब काम्य होम के क्रम को अगले दो श्लोकों में दिखाते हैं —

स्वर्णाप्त्यै मधुना च गव्यपयसा गोसिद्धये सर्पिषा
लक्ष्म्यै शर्करया जुहोतु यशसे दध्ना तु सर्वर्धये।
अन्नैरन्नसमृद्धये च सतिलैर्द्रव्याप्तये तण्डुलै-
र्लाजैः सद्यशसे कुसुम्भकुसुमैः साश्वारिजैर्वाससे॥२८॥

पद्मैर्भूपतिमुत्पलैर्नृपवधूस्तन्मन्त्रिणः कैरवै-
रश्वत्थादिसमिद्भिरग्रजमुखान् वर्णान् वधूः पिष्टजैः।
पुत्तल्यादिभिरन्वहं च वशयेज्जम्भं त्वनावृष्टये
लोणैर्वृष्टिसमृद्धये च जुहुयान्मन्त्री पुनर्वेतसैः॥२९॥

स्वर्णाप्त्यै सुवर्ण की प्राप्ति के लिये **मधुना** शहद से, **गोसिद्धये** गाय आदि पशुधन की प्राप्ति के लिये **गव्यपयसा** गाय के दूध से, **लक्ष्म्यै** धन की समृद्धि के लिये **सर्पिषा** गाय के घृत से, **यशसे** यश (कीर्ति) की प्राप्ति के लिये **शर्करया** चीनी से, **सर्वर्धये** समस्त पदार्थों की समृद्धि के लिये **दध्ना** दही से, **अन्नसमृद्धये** नानाविध अन्न की बहुतायत के लिये **अन्नैः** नाना प्रकार के अन्न से, **द्रव्याप्तये** नानाविध द्रव्यों की प्राप्ति के लिये **सतिलैः तण्डुलैः** तिलमिश्रित चावलों से, **सद्यशसे** निर्मल कीर्ति के लिये **लाजैः** धान के लावे से, **वाससे** सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र की प्राप्ति के लिये **साश्वारिजैः कुसुम्भकुसुमैः** भैंस के घृत में डुबोये कुसुम्भ के फूलों से **जुहोतु** हवन करना चाहिये। इसी तरह से **भूपतिं** राजा को वश में करने के लिये **पद्मैः** कमल के पुष्पों से, **नृपवधूः** रानियों को वश में करने के लिये

उत्पलैः कुमुद के पुष्पों से, **तन्मन्त्रिणः** राजमन्त्रियों के लिये **कैरवैः** श्वेत कमलिनी से, **अग्रजमुखान् वर्णान्** ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लिये **अश्वत्थादिसमिद्भिः** क्रमशः अश्वत्थ (पीपल), पलाश, उदुम्बर और वट वृक्षों की समिधाओं से, **वधूः** कुलस्त्रियों को वश में करने के लिये **पिष्टजैः पुत्तल्यादिभिः** चावल के आटे से बनाई गई उनकी प्रतिकृति से **अन्वहं** प्रतिदिन फलप्राप्ति पर्यन्त हवन करे। **अनावृष्टये** वर्षा को रोकने के लिये **लोणैः** लवण की आहुति देकर **जम्भं वशयेत्** यक्ष को अपने वश में करना चाहिये। **पुनः** इसी तरह से **मन्त्री** मन्त्रशास्त्र का ज्ञाता **वृष्टिसमृद्धये** भरपूर वर्षा के लिये **वेतसैः** नदीतीर पर उगी घास की **जुहुयात्** आहुति दे।।२८-२९।।

टीकाकार ने यहाँ केवल पदव्याख्या की है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ जम्भ का अर्थ जम्बीर फल बता कर 'जम्भं वशयेत्' का अर्थ जम्बीर फल की आहुति वश्य कर्म (किसीको अपने वश में करना) के लिये दे, यह किया है। यहाँ लवण का अर्थ समुद्र लवण किया गया है।। २८-२९।।

अब आगे के दो श्लोकों में विभिन्न दीक्षाओं के स्वरूप का और उनसे प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करते हैं —

दीक्षा भौतिकनैष्ठिकीत्यभिहिता त्वाद्या द्विधा लौकिकी
देहोर्ध्वाष्टगुणर्द्धिदेष्टभुवने सद्भोगदा साधके ।
अन्या स्याच्छिवधर्मिणीत्यभिहिता चाद्या सबीजाह्वया
शक्तानामपरा त्वशक्तविषये निर्बीजकाख्या तथा ।।३०।।

पाके तीव्रतरे रुजः सति नरे सद्यस्तु निर्वाणदा
निर्बीजा परिशोधितस्वसमयाचारेशभक्ते स्थिता ।
विज्ञानप्रलयाकलात्मसु निराधारा शिवेनैव सा
साधारा सकलात्मनां न च तनोर्जतिश्च शैवात्मनाम् ।।३१।।

दीक्षा भोग और मोक्ष दोनों को देती है तथा पाशों का क्षय करती है, इस अन्वर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर यह एक प्रकार का क्रियारूप संस्कार है। **भौतिकनैष्ठिकीति** भौतिक (विविध भोगों को देने वाली) और नैष्ठिकी (मुक्ति में स्थापित करने वाली) के भेद से यह दीक्षा **द्विधा** दो प्रकार की **अभिहिता** आगमों में बताई गई है। (तत्र) **आद्या** इनमें पहली भौतिक दीक्षा **लौकिकी** लोकधर्मिणी के नाम से प्रसिद्ध है। यह **साधके** फल की लालसा

वाले साधक में **देहोर्ध्वाष्टगुणर्द्धिदा** देहावसान के बाद अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों को देने वाली है। **इष्टभुवने** साधक को अभिमत लोक में **सद्भोगदा च** उत्तम भोगों को भी देती है। **अन्या** दूसरी नैष्ठिकी दीक्षा **शिवधर्मिणीति** शिवधर्मिणी के नाम से **अभिहिता** शास्त्रों में बताई गई है। **च** और **आद्या** इनमें पहली लोकधर्मिणी दीक्षा **शक्तानां** समयाचारों का पालन करने में समर्थ व्यक्तियों के लिये है। **सबीजाह्वया** यह सबीज दीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। **अपरा** दूसरी शिवधर्मिणी नैष्ठिकी दीक्षा **अशक्तविषये** समयाचारों के पालन करने में असमर्थ व्यक्तियों के लिये है, **निर्बीजकाख्या तथा** तथा यह निर्बीज दीक्षा कहलाती है। **रुजः** आणव मल के **तीव्रतरे पाके सति** तीव्रतर गति से परिपाक होने पर **ईशभक्ते** शिव में भक्ति रखने वाले **नरे** विरक्त पुरुष में **स्थिता** विद्यमान **परिशोधितस्वसमयाचारा** शिवशास्त्र में प्रदर्शित समयाचारों के पालन से परिशोधित **निर्बीजा** निर्बीज दीक्षा **सद्यः** तत्क्षण **निर्वाणदा** मोक्ष को देने वाली है। **च** और **सा** वह दीक्षा **विज्ञानप्रलयाकलात्मसु** विज्ञानाकल और प्रलयाकल नाम से प्रसिद्ध जीवात्माओं में **शिवेनैव** साक्षात् शिव के द्वारा ही दी जाती है, अतः **निराधारा** यह निराधारा दीक्षा कहलाती है। **सकलात्मनां** सकल नामक जीवों को आचार्य द्वारा दी जाने के कारण यह **साधारा** साधारा दीक्षा कहलाती है। यह दीक्षा **तनोः** शरीर की **च** और **जातेः** ब्राह्मण आदि जाति की **न** नहीं होती, किन्तु **शैवात्मनाम्** शिवत्व-प्राप्ति की योग्यता वाली आत्मा की शुद्धि के लिये होती है।।३०-३१।।

दीक्षा शब्द का दीकार दानार्थक और क्षाकार क्षयार्थक है। दीक्षा दीक्षित व्यक्ति को शिवत्व प्रदान करती है और उसके पाशों का क्षय करती है। इस तरह से इन दोनों अर्थों की इस शब्द में संगति बैठती है। सर्वप्रथम परमेश्वर के द्वारा उपदिष्ट और फिर विद्येश्वर आदि के क्रम से देव-मुनि-मनुष्य पर्यन्त अध्येता और श्रोता की परम्परा के रूप में प्राप्त, सभी मानवों को अभिप्रेत भोग और मोक्ष फल को देने वाली तथा उसके मल आदि पाशों का नाश करने वाली क्रिया दीक्षा कहलाती है। **वरुणशिव** कहते हैं —

सपाशत्रयविश्लेषं शिवत्वं युज्यते यया।
क्रिया सा कथ्यते दीक्षा भक्तिवैराग्यलक्षणा॥

अन्यत्र भी कहा गया है —

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते कर्मवासना।
दानक्षपणयोगाद्धि दीक्षा शुद्धिः कृतात्मनः॥

दीक्षा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देती है। इसी के आधार पर दीक्षा पहले दो प्रकार की होती है। भौतिकी और नैष्ठिकी इनके नाम हैं। भूति का अर्थ विचित्र अभिमत भोगों की प्राप्ति है। भौतिकी दीक्षा प्रथमतः इस तरह के भोगों को देती हुई साधक को मुक्ति भी प्रदान करती है। जैसा कि रुरुसंहिता (रौरवागम) में बताया गया है —

[1]दीक्षापूता गणपतिगुरोर्मण्डले जन्मवन्तः
सिद्धा मन्त्रैस्तरुणदिनकृन्मण्डलोद्भासिदेहाः।
भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्रीनिकायैरुपेताः
स्रस्तोत्कण्ठाः परशिवपदैश्वर्यभाजो भवन्ति॥

[2]निष्ठा का अर्थ है कैवल्य। कैवल्य को देने वाली दीक्षा नैष्ठिकी कहलाती है। निरन्तर बिना किसी आकांक्षा के तपस्या में निरत साधक नैष्ठिक कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को दी गई नैष्ठिकी दीक्षा से किसी ग्रहपद की प्राप्ति नहीं होती। कुछ दिन तक व्रत आदि का पालन करने के बाद भौतिकी दीक्षा ग्रहपद को प्रदान करने वाली है। जैसा कि कहा गया है — ''नैष्ठिकी देहपातान्ता भौतिकी व्रतमोक्षदा''। ग्रहपद का अर्थ होगा विभिन्न भुवनों के विविध भोगों की प्राप्ति।

श्लोक में 'त्वाद्या' यहाँ 'तु' पद प्रयुक्त है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस दीक्षा के और भी भेद हैं। ये भेद हैं— सापेक्षा भौतिकी, निरपेक्षा भौतिकी, सापेक्षा नैष्ठिकी और निरपेक्षा नैष्ठिकी। समय आदि का जहाँ पालन किया जाता है, वह सापेक्षा और जहाँ इनकी अपेक्षा नहीं रहती, वह निरपेक्षा कहलाती है। जैसा कि बताया गया है —

शार्वं नयति या धाम समयाद्यनुवर्तकम्।
विशिष्टात्मगुणप्राया सापेक्षा चोच्यते बुधैः॥

समयाद्यक्षमं वृद्धमूढबालाऽबलादिकम्।
याऽसौ तदनपेक्षित्वान्निरपेक्षा निगद्यते॥

यहाँ साधक और आचार्य के लिये सापेक्षा तथा अन्यत्र सामर्थ्य और असामर्थ्य की संभावना के अनुसार किसी को सापेक्षा और अन्य को निरपेक्षा दीक्षा दी जाती है।

---

[1] रौरवागम में यह उपलब्ध नहीं है। ऊपर की पृ.८७ की टिप्पणी देखिये।

[2] लकुलीश पाशुपत दर्शन में निष्ठा पद का प्रयोग मुक्तावस्था के लिये किया गया है। विशेष विवरण के लिये देखिये — भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ. ५२९-५३० (केन्द्रीय तिब्बती उच्चशिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी)।

'तु' शब्द पुनः पक्षान्तर का द्योतक है। मतान्तर के अनुसार शिवधर्मिणी दीक्षा के ही भौतिकी और नैष्ठिकी नामक भेद माने गये हैं। सिद्धान्तशेखर में यह मत प्रदर्शित है — **"भौतिकी नैष्ठिकी चेति द्विधा स्याच्छिवधर्मिणी"**। इनमें पहली भौतिकी दीक्षा के लोकधर्मिणी और शिवधर्मिणी नामक दो भेद हैं। पहली दीक्षा लौकिकी इसलिये कहलाती है कि इसमें लौकिक धर्म के साथ शिवधर्म का भी कुछ मात्रा में समावेश रहता है। यह दीक्षा देहपात के बाद अष्टविध अणिमा आदि ऐश्वर्यों (गुणाष्टक) को प्रदान करने वाली है। इनके नाम इस प्रकार हैं —

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
ईशित्वं च वशित्वं च प्राप्तिः प्राकाम्यमित्यपि॥

अपने अभीष्ट भुवन में यह दीक्षा साधक को सभी प्रकार के भोगों को देने वाली है। इससे साधक का लक्षण भी सूचित हो जाता है कि जो लोकशिवधर्मिणी दीक्षा से संयुक्त है, वही साधक है। लोकधर्मिणी दीक्षा का स्वरूप इस वचन में प्रतिपादित है —

भोगभूमिषु सर्वासु दुष्कृतांशे हते सति।
देहोत्तराऽणिमाद्यर्थं शिष्टेष्टा लोकधर्मिणी॥

दूसरी दीक्षा का नाम शिवधर्मिणी है। शिवधर्मिणी दीक्षा प्राप्त हो जाने के बाद साधक लौकिक और वैदिक आचारों को छोड़कर केवल शिवधर्म का ही पालन तत्परता से करता है। शिवधर्म के अनुष्ठान से प्राप्त फल का उपभोग पूरा हो जाने पर शिवधर्मिणी दीक्षा से आत्मा में सर्वज्ञता आदि धर्मों का आविर्भाव हो जाता है, **"शिवधर्मिण्यणोर्मूलं शिवधर्मफलाश्रया"** ऐसा शास्त्रवचन भी है। शिवधर्मिणी दीक्षा में लिंगियों की शिखा का भी छेद कर दिया जाता है, जब कि लोकधर्मिणी दीक्षा में गृहस्थों का शिखा-छेद नहीं किया जाता। जैसा कि कहा गया है —

द्वेधा निर्वाणदीक्षा च लौकिकी शिवधर्मिणी।
गृहिणां लौकिकी ज्ञेया लिङ्गिनां शिवधर्मिणी॥
शिखाच्छेदो न यत्रास्ति दीक्षा सा लोकधर्मिणी।
शिखाखण्डनसंयुक्ता दीक्षा सा शिवधर्मिणी॥

इस दीक्षाओं का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है —

दीक्षया लोकधर्मिण्या गृहस्थान् दीक्षयेद् गुरुः।
तथा वै शिवधर्मिण्या दीक्षयेच्च तपोधनान्॥
शिक्षाच्छेदसमायुक्ता दीक्षा सा शिवधर्मिणी।

शिखाच्छेदं विना यत्र ज्ञेया सा लोकधर्मिणी।
शिवधर्मिणमाशोध्य योजयेत् परमे पदे॥

देहपाते विमोक्षः स्यात् समयाचारपालनात्।
लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि॥

तद्धर्मापादनं कुर्यात् शिवे वा मुक्तिकाङ्क्षिणम्।
तत्त्वे सदाशिवे भोगो लयस्तत्त्वे पदे परे॥

इनमें से पहली भौतिकी दीक्षा सबीजा कहलाती है। सबीजा का अभिप्राय है दीक्षा द्वारा प्राप्त होने वाले फल के लिये उसके साधनभूत समयाचारों की सापेक्षता। इसीलिये इसे सबीजा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यह सबीजा दीक्षा नित्य, नैमित्तिक आदि समयाचारों के पालन में समर्थ व्यक्ति को ही देनी चाहिये। जैसा कि वरुणशिव ने कहा है— "विदुषां च समर्थानां सबीजा परिकीर्तिता"। दूसरी नैष्ठिकी दीक्षा निर्बीजा कहलाती है। समयाचार के पालन में असमर्थ बालक, मूढमति, वृद्ध, स्त्री, रुग्ण आदि को यह दी जाती है। यह निर्बीजा दीक्षा समयाचार का पालन करने में असमर्थ व्यक्तियों को भी मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है —

बालबालिशवृद्धस्त्रीभोगभुग्व्याधितात्मनाम्।
भवेन्निर्बीजिका दीक्षा समयाचारवर्जिता॥

यहाँ यही विषय प्रतिपादित है। "बालिशो बालको मूढः" इस वचन के अनुसार बालिश शब्द का अर्थ मूढमति है। श्लोक में 'तथा' शब्द आया है। इसका अभिप्राय यह है कि यह दीक्षा शुद्ध भुवनों के भोगों को चाहने वाले अज्ञानियों और निरन्तर तपस्या में लगे हुए मोक्ष की इच्छा वाले योगियों को भी समान रूप से दी जा सकती है। जैसा कि कहा गया है —

निर्बीजा त्वसमर्थानां किन्तु भोगग्तात्मनाम्।
दीक्षां पूर्वोदितां कृत्वा समयादिविशोधिनीम्॥

लयं कुर्यात् परे तत्त्वे भोगाच्छुद्धाध्वनि स्मरन्।
तैश्च भक्त्या सदा कार्यं यावज्जीवं शिवार्चनम्॥

आचार्यस्यार्चनं तद्वद् यथाशक्त्या तपस्विनाम्।

मोक्ष की इच्छा वाले साधकों के लिये भी कहा गया है—

दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ मायाविच्छिन्नबन्धनः।
यतः परां ज्ञाननिष्ठां निर्बीजां स शिवे स्थितः॥

न तस्य नियमैः कार्यं न वा लिङ्गार्चनेन तु।
न तीर्थक्षेत्रगमनैर्न च शारीरयन्त्रणैः॥

सबीजा दीक्षा भी साधिकार और निरधिकार के भेद से दो तरह की मानी गई है। यहाँ साधिकार दीक्षा साधक और आचार्य को दी जाती है, जिसके कारण इनको स्थापन (प्रतिष्ठा) आदि तत्तत् कर्मों के सम्पादन का अधिकार मिलता है। समयी और पुत्रक को निरधिकार दीक्षा दी जाती है, इसलिये इनको स्थापन (प्रतिष्ठा) आदि तत्तत् कर्मों के सम्पादन का अधिकार नहीं मिलता। जैसा कि बताया गया है —

साधिकारा सबीजा सा यया स्यादधिकारिता।
साधकाचार्ययोर्यस्माद् दीक्षा स्थापनसिद्धिषु॥

द्वयोरनधिकारित्वात् सा दीक्षाऽनधिकारिणी।

समयाचार-वर्जित असमर्थ व्यक्तियों के लिये जिस निर्बीजा दीक्षा का विधान है, वह भी सद्योनिर्वाणा और असद्योनिर्वाणा के भेद से दो प्रकार की है। इनमें से सद्योनिर्वाण-दीक्षा उन शिव-भक्तों को दी जाती है, जिनमें मल का तीव्रतर परिपाक हो गया है, अत्यन्त विरक्त हैं और इस मनुष्य योनि में रहते हुए दीक्षा प्राप्त हो जाने के उपरान्त नित्य और नैमित्तिक समयाचारों का पालन करते हुए अपने सारे मलों का शोधन कर चुके हैं। ऐसे व्यक्तियों को दीक्षा-प्राप्ति के बाद तत्काल देहपात के साथ मुक्ति मिल जाती है। असद्योनिर्वाण-दीक्षा में प्रारब्ध कर्मों के फल का उपभोग पूरा होने के बाद देहपात होता है। तभी वह मुक्तिलाभ करता है —

अथ निर्बीजिका दीक्षा द्विधा भिन्ना निगद्यते।
सद्योनिर्वाणदा त्वाद्या चिरान्निर्वाणदाऽपरा॥

प्रारब्धसञ्चितागामिकर्मजालं विशोध्यते।
ययाऽत्यन्तं विरक्तानां सद्योनिर्वाणदा तु सा॥

प्रारब्धकर्मणां भोगाद् यया मुक्तिमनन्तरम्।
यान्ति बालादयः सेयं चिरान्निर्वाणदा भवेत्॥

सिद्धान्तशेखर के इस वचन में निर्बीज दीक्षा के इन्हीं दो भेदों का स्वरूप वर्णित है।

निराधारा और साधारा के भेद से यह दीक्षा पुनः दो प्रकार की होती है। विज्ञानाकल और प्रलयाकल नामक आत्माओं को भगवान् शिव के द्वारा दी गई दीक्षा निराधारा कहलाती है। निराधार का अर्थ निरधिकरण और साधार का अर्थ साधिकरण है। आधार का अर्थ है अधिकरण, अधिष्ठान, स्थान। साधारा दीक्षा में आचार्य की स्थिति इसी रूप में रहती है। निराधारा दीक्षा में गुरु की भूमिका नहीं रहती, वह तो साक्षात् परशिव द्वारा दी जाती है। इसीलिये तीव्र शक्तिपात से सम्पन्न जीव को परशिव के द्वारा जो दीक्षा दी जाती है, वह निराधार-दीक्षा है। सकलसंज्ञक आत्माओं को

गुरुमूर्ति में अधिष्ठित शिव के द्वारा दी गई दीक्षा साधारा कहलाती है। यहाँ आचार्य की मात्र अधिकरणता मानी गई है। गुरुमूर्ति में अधिष्ठित होकर मात्र शिव ही 'सकल' आत्माओं को दीक्षा देते हैं, क्योंकि शिव के सिवाय किसी अन्य में मल आदि पाशों से जीवात्माओं को मुक्त करने की सामर्थ्य नहीं है —

सेयं दीक्षा द्विधा भिन्ना साधाराऽऽधारवर्जिता।
आचार्यमन्तरेणैव क्रियते शम्भुनैव या॥

विज्ञानाकलकस्यापि प्रलयाकलकस्य च।
तीव्रशक्तिनिपातेन दीक्षा साऽऽधारवर्जिता॥

गुरुमूर्तिं समाश्रित्य मन्दशक्तिनिपातनात्।
कुरुते सकलस्येशः साधारां तामिमां विदुः॥

इन श्लोकों में उक्त विषय ही प्रतिपादित है। ऊपर बताये गये सारे भेद साधारा दीक्षा के ही हैं, ''इयं चतुर्विधा दीक्षा साधारा शिवशासने'' ऐसा शास्त्रवचन उपलब्ध है।

अब प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यह दीक्षा-संस्कार[1] शरीर का होता है? या जाति का होता है? या आत्मा का? इसका समाधान यह है कि यहाँ शैवसिद्धान्त में वैदिक द्विजों की तरह शरीर का दीक्षा संस्कार नहीं होता। ब्राह्मण आदि जाति का भी यह नहीं होता, किन्तु अनादि मल से आवृत आत्मा को शिवत्व की प्राप्ति हो, इस अभिप्राय से यह संस्कार किया जाता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये ग्रन्थकार ने 'शैवात्मनः'[2] पद दिया है। वेदविहित द्विजत्व संस्कार शरीर का ही बताया गया है। स्मृतियाँ श्रुतियों में प्रतिपादित अर्थ का ही निरूपण करती हैं और मनुस्मृति के इस वचन में —

[3]कार्यं शरीरसंस्कारापादनं प्रोक्षणादिभिः।
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ॥
(२.२६-२७)

---

[1] बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के दीक्षासंबन्धी मत की समालोचना करते हुए क्षेमराज ने ये ही प्रश्न उठाये हैं। देखिये — स्वच्छन्दोद्योत (५.८७; पृ. ३१४-३१८)। इस विषय पर 'धीः' पत्रिका के प्रथम अंक में प्रकाशित हमारा "दीक्षाविषयक सौगत पक्ष पर क्षेमराज का दृष्टिकोण" शीर्षक निबन्ध भी देखिये।

[2] 'शैवात्मनः' पद का अभिप्राय सर्वज्ञता आदि षाड्गुण्य के प्रादुर्भाव के कारण शिवस्वरूप हुए मुक्तात्मा से है।

[3] मनुस्मृति का पाठ इस प्रकार है — "......कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।। गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः।..." (२.२६-२७)।

स्पष्ट है कि ये सब संस्कार शरीर के ही होते हैं। शरीर तो जड़ है, उसका संस्कार कैसे हो सकता है? यदि ब्राह्मण आदि जातियों का यह संस्कार माना जायगा, तब तो एक जाति का संस्कार हो जाने पर उस जाति की सभी व्यक्तियों का संस्कार हो जायगा और उनसे उत्पन्न सन्ततियों का भी यह संस्कार अपने आप हो जायगा। किन्तु लोक में ऐसा व्यवहार प्रचलित नहीं है। इसलिये जाति का भी यह संस्कार नहीं माना जा सकता। अन्ततः आत्मा के ही अनादि काल से चले आ रहे मल के अपसारण के लिये दीक्षा-संस्कार की उपयोगिता माननी पड़ेगी, शरीर अथवा जाति के संस्कार के लिये नहीं। जैसा कि कहा गया है —

न जातेर्न शरीरस्य संस्कारः प्राणिनो मतः।
यदि जातेस्तदैकस्मिन् दीक्षिते खलु दीक्षणम्॥

प्राप्तं तेन न जातेस्तु जडत्वान्न तनोर्मतः।
चिद्रूपेऽनुग्रहं प्राह सर्वानुग्राहकः शिवः॥

कालोत्तर में भी यह विषय इसी तरह से प्रतिपादित है —

न शरीरस्य संस्कारो न जातेर्न च कर्मणः।
आत्मनः कारयेद् दीक्षामनादिमलकुण्ठनः॥

निरोधस्तस्य कर्तव्यो मन्त्रैश्च विषशक्तिवत्।
दीक्षैव मोक्षदा पुंसां चिदचिद्व्यक्तिकारिणी॥

इन वचनों से स्पष्ट है कि दीक्षा से आत्मा का संस्कार किया जाता है॥ ३०-३१॥

दीक्षा के लिये योग्य मास, नक्षत्र, वार आदि का विचार अपेक्षित है। प्रस्तुत श्लोक में उन्हीं का विवरण दिया जा रहा है —

काले वार्षिकपौषचैत्ररहिते देवोत्सवे दामने
संक्रान्तौ विषुवेऽयने ग्रहणयोर्दीक्षा पवित्रोत्सवे।
मैत्रार्कानिलसौम्यपैत्रनिर्ऋतीपौष्णाख्यशार्ङ्गीश्वरा-
श्चैवं रोहिणिकोत्तरात्रयमथो भौमार्किवारेऽशुभम्॥ ३२॥

वार्षिकपौषचैत्ररहिते वर्षा ऋतु के श्रावण और भाद्रपद मास, पौष और चैत्र मास को छोड़कर **काले** बाकी आठ महीनों में **देवोत्सवे** रथयात्रा आदि उत्सव काल, **दामने** दमनकोत्सव काल, **संक्रान्तौ** संक्रान्ति काल, **विषुवे** मेष और तुला संक्रान्ति, **अयने** उत्तरायण-दक्षिणायन के पवित्र काल,

ग्रहणयोः चन्द्र-सूर्य के ग्रहण काल **पवित्रोत्सवे** और पवित्रोत्सव के अवसर पर **दीक्षा** दीक्षा ग्रहण करना अच्छा माना जाता है। **मैत्रार्कानिलसौम्यपैत्रनिर्ऋतीपौष्णाख्यशार्ङ्गीश्वराः** अनुराधा, हस्त, स्वाती, मृगशीर्ष, मघा, मूल, रेवती, श्रवण, आर्द्रा नक्षत्र, **जैवं** पुष्य नक्षत्र, **रोहिणिका** रोहिणी नक्षत्र, **उत्तरात्रयं** उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा — ये सब नक्षत्र प्रशस्त हैं। **अथ** परन्तु **भौमार्किवारे** मंगल और शनि ये दोनों वार **अशुभं** दीक्षा के लिये अशुभ माने गये हैं।।३२।।

श्रावण, भाद्रपद, पौष और चैत्र ये चार मास दीक्षा के लिये निन्दित हैं। शेष आठ मासों में दीक्षा देनी चाहिये। जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में बताया गया है —

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा।
फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्येष्ठे दीक्षा च मध्यमा॥

आषाढे माघमासे च कन्यसा समुदाहृता।
निन्दितः श्रावणश्चैत्रः पुष्यो भाद्रपदस्तथा॥

यहाँ शरत्काल शब्द से आश्विन और कार्तिक मास का ग्रहण होता है। दीक्षा के लिये विहित मासों में भी अधिक मास होने पर तथा गुरु, शुक्र और बुध के अस्त हो जाने पर दीक्षा नहीं दी जाती —

दीक्षादि स्थापनं चैव पवित्रादि शतक्रतोः।
अधिमासे न कुर्वीत यदीच्छेच्छुभमात्मनः॥

नष्टे चान्द्रे तथा शुक्रे गुरौ चास्तमयं गते।
प्रतिष्ठादिशुभारम्भं दूरयात्रां न कारयेत्॥

ऊपर बताया गया नियम भोगार्थी के लिये है, मोक्षार्थी के लिये नहीं। जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में बताया गया है —

विदित्वा चैव कालादिं दीक्षां कुर्याद् बुभुक्षुषु।
मुमुक्षोः सर्वदा दीक्षा कालादिनियमो नहि॥

अन्यत्र भी यही बात कही गई है — "**ऋतुषट्केऽपि सा कार्या मुक्त्यर्थं कुदिनेष्वपि**"। मेष और तुला संक्रान्ति में, अर्थात् चैत्र और आश्विन मास में दिन-रात बराबर-बराबर तीस घड़ी के होते हैं। इसीको विषुव काल कहा जाता है, "**समरात्रिन्दिवे काले विषुवद् विषुवं च तत्**" (१.४.१४) यह अमरकोष का तथा— "**तुलायां क्रियते भानोः प्रवेशो विषुवं स्मृतम्**" यह वचन भी इसमें प्रमाण है। उत्तरायण पद

से मकर संक्रान्ति के लगने से आगे का बीस घड़ी का काल तथा दक्षिणायन पद से कर्कट संक्रान्ति के लगने से पहले का बीस घड़ी का काल लिया जाता है, "अयने विंशतिः पूर्वे मकरे विंशतिः परे" यह वचन इसमें प्रमाण है। संक्रान्ति कहने से ही विषुव काल और अयन काल का ग्रहण हो जाता है, तो भी यहाँ उनका पृथक् पृथक् उल्लेख उनकी मुख्यता को बताने के लिये किया गया है। ग्रहण काल से सूर्यग्रहण लगने से पहले का तथा चन्द्रग्रहण के बाद का समय गृहीत होता है। जैसा कि कामिकागम में बताया गया है — "ग्रस्यमाने दिवानाथे मुच्यमाने दिवाकरे"।

यहाँ देवोत्सव, दमनकोत्सव, ग्रहण-काल आदि में दीक्षा का विधान किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चैत्र आदि निन्दित मासों में भी ग्रहण आदि के अवसर पर दीक्षा दी जा सकती है। जैसा कि सिद्धान्तशेखर में बताया गया है —

निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा।
विषुवे ह्ययनद्वन्द्वे ह्याषाढ्यां दमनोत्सवे॥

दीक्षाकार्येषु कालेषु पवित्रे गुरुकर्मणि।
शुक्लपक्षे शुभा दीक्षा कृष्णेऽप्या पञ्चमीदिनात्॥

दीक्षाकार्य में अनुराधा, हस्त, स्वाती, मृगशीर्ष, मघा, मूल, रेवती, श्रवण, आर्द्रा, पुष्य, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा — ये सब नक्षत्र शुभ हैं। जैसा कि कहा गया है —

रेवती मृगशीर्षं च मघा पुष्यपुनर्वसू।
हस्तस्वात्यनुराधा च श्रवणं रोहिणी तथा।
उत्तरात्रितयं मूलं नक्षत्राणि चतुर्दश॥

मूल श्लोक में आया 'अथो' शब्द दीक्षा-योग्य तिथि, योग और करणों का सूचक है। अन्यत्र उनकी सूचना इस प्रकार दी गई है —

चतुर्थी नवमी षष्ठी ह्यष्टमी च चतुर्दशी।
पौर्णमासीं विना शेषा हिताः शुक्ले बुभुक्षुषु॥

योगश्च प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनः शुभः।
सुकर्मा च धृतिर्वृद्धिर्ध्रुवः सिद्धश्च हर्षणः॥

वरीयान् परिघः सिद्धो ब्राह्म ऐन्द्रश्च षोडश।
बवश्च बालवश्चैव कौलवं करणं शुभम्॥

ऊपर बताये गये नक्षत्रों और तिथियों में अशुभ नक्षत्रों अथवा तिथियों का योग होने पर उनको छोड़ देना चाहिये। वारों में मंगल और शनिवार अशुभ हैं। बाकी के वार शुभ माने गये हैं॥ ३२॥

उत्तमोत्तम, उत्तममध्यम, उत्तमाधम; मध्यमोत्तम, मध्यमध्यम, मध्यमाधम; अधमोत्तम, अधममध्यम, अधमाधम— इस प्रकार के नवविध लिंगों के तथा दीक्षाविधि की सम्पन्नता के लिये बनाये जाने वाले मण्डपों के लक्षण अब बताये जा रहे हैं —

यागधामकृतभूगृहादिकं शून्यरामखयमाष्टपङ्क्तिभिः ।
भास्करेण च विकल्पितैः करैः कल्पयेत् सविवरं सलक्षणम् ।। ३३ ।।

यागधामकृतभूगृहादिकं यागशाला की रचना के लिये भूशुद्धि आदि संस्कार करके **शून्यरामखयमाष्टपङ्क्तिभिः** शून्य और तीन, अर्थात् तीस; शून्य और दो, अर्थात् बीस; आठ, दस, **भास्करेण च** और बारह संख्या के **विकल्पितैः** इन विकल्पों में से किसी एक विकल्प को स्वीकार कर **करैः** अपने हाथों से नाप कर **सविवरं** कुण्डसहित **सलक्षणं** शास्त्रप्रदर्शित लक्षणों से युक्त **कल्पयेत्** गृहाग्र मण्डप, आलयाग्र मण्डप आदि की रचना करे।।३३।।

यागधाम का अर्थ यज्ञशाला है। उसके लिये भूमि का निर्धारण हो जाने के उपरान्त भूमि के शल्योद्धार आदि संस्कार किये जाते हैं। यहाँ [1]गृहमण्डप, हर्म्याग्र(आलयाग्र)मण्डप, द्वारोत्सेध आदि को छोड़ कर दस हाथ के मण्डप का निर्माण किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

द्वारोच्छ्रायान्तरं त्यक्त्वा गृहलिङ्गे गृहाग्रतः ।
दशहस्तप्रमाणेन मण्टपं कारयेत् सुधीः ॥

हर्म्य के आगे या पार्श्व भागों में इसका निर्माण किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

हर्म्याग्रे मण्टपं कुर्याद् यागार्थं वाऽग्रपार्श्वयोः ।
उत्तरे वा प्रकर्तव्यं चतुरश्रं यथा भवेत् ॥

---

[1] नाना प्रकार के मण्टपों के निर्माण की प्रक्रिया का सचित्र विवरण पांडिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के द्वितीय भाग में क्रियापाद के ४० वें पटल में देखिये।

शल्योद्धार आदि का क्रम भी शास्त्रों में बताया गया है —

भूमिमाशोध्य जान्वन्तात् समीकृत्योपलिप्य च।
तत्र वास्तुं समभ्यर्च्य मण्टपं कारयेद् गुरुः॥
अन्यथा शिवतुल्योऽपि विघ्नैरेवाभिभूयते।

एक हस्त का प्रमाण यहाँ चौबीस अंगुल के बराबर होता है। सविवर का अर्थ है, इस मण्टप में नौ, पाँच या एक कुण्ड रहेंगे। इनकी ऊँचाई, तोरण आदि का प्रमाण शास्त्रनिर्दिष्ट रहेगा। तीस हाथ का, बीस हाथ का और दस हाथ का मण्डप क्रमशः उत्तमत्रय, मध्यमत्रय और अधमत्रय लिंगों की स्थापनाहेतु बनाया जाता है। जैसा कि —

त्रिषूत्तमेषु लिङ्गेषु त्रिंशद्धस्तो विधीयते।
विंशत्या मध्यमेषूक्तश्चान्येषु दशभिः करैः॥

आठ, बारह और दस हाथ वाले मण्डप पवित्रोत्सव आदि के लिये बनाये जाते हैं। उत्तम आदि मण्डपों की ऊँचाई क्रमशः दस, आठ और छः हाथ की होनी चाहिये। जैसा कि बताया गया है — "दशाष्टषट्करोत्सेधैर्ज्येष्ठादीनामनुक्रमात्"। अधम आदि मण्डपों के लिये स्तंभों की संख्या इस प्रकार रहेगी —

षोडशस्तम्भसंयुक्तं षट्त्रिंशत्स्तम्भसंयुतम्।
चतुष्षष्ट्यङ्घ्रिसंयुक्तं मण्टपं चाधमादिकम्॥

चारों द्वारों में तोरणों का निर्माण इस प्रकार होगा —

चतुरश्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम्।
न्यग्रोधस्तस्य पूर्वस्यां दक्षिणस्यामुदुम्बरम्॥
अश्वत्थमुत्तरस्यां तु प्लक्षः पश्चिमतोरणम्।

मण्डप में अष्टविध कुण्डों की दिशाओं का निर्धारण इस प्रकार होगा —

चतुरस्त्रं च योन्याभमर्धचन्द्रं त्रिकोणकम्।
वृत्तं षडश्रकुण्डं च पद्माभं चाष्टकोणकम्॥
इन्द्रादीशानपर्यन्तं प्रथमावरणे स्थितम्।
पुरन्दरेशयोर्मध्ये वृत्तं वा चतुरश्रकम्॥
पञ्चकुण्डमथैकं वा चललिङ्गे च कथ्यते।
इन्द्रादिषु चतुर्दिक्षु त्वीशाने पञ्चकुण्डकम्॥
एककुण्डमथैशान्यामेवं स्यात् कुण्डदिक्स्थितिः।

मूल श्लोक में 'भास्करेण च' यहाँ का चकार अनुक्त मण्डपों के विस्तार का समुच्चायक है। आगे बताई जा रही वेदी के विस्तार के आधार पर इसकी कल्पना की जाती है। वहाँ वेदी का विस्तार एक हाथ से लेकर आगे तक बताया गया है। यहाँ एक हाथ की वेदी से तीन हाथ के मण्डप की सूचना मिलती है। उक्त चकार से इन्हीं सब त्रिहस्तप्रमाण आदि मण्डपों का ग्रहण होगा। जैसा कि कहा गया है —

हस्तत्रयं समारभ्य द्विद्विहस्तविवृद्धितः।
एकविंशतिहस्तान्तं मण्टपं विस्तृतं मतम् ॥

यहाँ तीन हाथ का मण्डप चार स्तंभवाला, पाँच हाथ से नौ हाथ वाला बारह स्तंभ का, ग्यारह से पन्द्रह हाथ का सोलह स्तंभ का और सत्रह से इक्कीस हाथ तक का मण्डप सोलह स्तंभ का होता है। ऊपर जिन तीन उत्तम मण्डपों की चर्चा की गई है, उनमें ६४ स्तंभ होते हैं। तीन हाथ का मण्डप तीन हाथ ऊँचा, पाँच से नौ हाथ तक का पाँच हाथ ऊँचा, ग्यारह से पन्द्रह हाथ का छः हाथ ऊँचा, सत्रह से इक्कीस हाथ तक का आठ हाथ ऊँचा रहना चाहिये। भूमि से मण्डप की ऊँचाई चौदह अंगुल की रहनी चाहिये। इतना सब कर लेने के बाद अनजाने शल्यादि दोषों की निवृत्ति के लिये विधिपूर्वक बनाये गये सर्वलक्षण-सम्पन्न सभी प्रकार के मण्डपों के वीक्षण आदि अठारह प्रकार के संस्कार करने चाहिये। जैसा कि बताया गया है —

मण्डपानां तु सर्वेषां संस्कारोऽष्टादशः स्मृतः।
वीक्षणादिसमायुक्तो गुप्तशल्यनिवृत्तये ॥

इस प्रकार मण्डपों के निर्माण की विधि यहाँ विस्तार से वर्णित है ॥ ३३॥

इस प्रकार बनाये गये मण्डप में वेदिका का विस्तार और लक्षण अब बताते हैं —

एकद्वित्रिचतुष्कभूतरसयुक्सप्ताष्टभिर्मध्यतः
प्रत्येकं तु विकल्पितैर्गुरुकरैरष्टाङ्गुलोच्छ्रायतः।
वेदी दर्पणसन्निभा समचतुष्कोणा सनेमिस्त्वधः
सूत्रं तत्त्रिगुणं सुवर्तितमथो सोमप्रभं सद्घटि ।।३४।।

एकद्वित्रिचतुष्कभूतरसयुक्सप्ताष्टभिः एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात और आठ — इस क्रम से **प्रत्येकं** हर एक को **विकल्पितैः** व्यवस्थित रूप से गिन कर **गुरुकरैः** गुरु के हाथों से नाप कर विस्तार में और **उच्छ्रायतः** ऊँचाई में **अष्टाङ्गुला** आठ अंगुल प्रमाण की **वेदी** वेदिका

मध्यतः मण्डप के बीच में **कार्या** बनानी चाहिये। **किञ्च** और वह वेदी **दर्पणसन्निभा** दर्पण (आदर्श) जैसी निर्मल हो तथा **समचतुष्कोणा** चारों दिशाओं में समान परिमाण की और **अधः** नीचे के भाग में **सनेमिश्च** उपवेदिका से युक्त **भवेत्** होनी चाहिये। उस नेमि के ऊपर **त्रिगुणं** तीन गुना करके **सोमप्रभं** चन्द्रमा के जैसे उज्ज्वल वर्ण के **तत्सूत्रं** उस सूत्र को **सद्घटि** वेदिका पर भलीभाँति लपेट कर रखे। **अथो सुवर्तितं** वह सूत्र अच्छी तरह से काता गया **स्यात्** होना चाहिये।।३४।।

भूत शब्द पाँच और रस शब्द छः संख्या का वाचक है। एक से लेकर आठ हाथ तक की वेदी मण्डप के मध्य में बनाई जाती है। तीन हाथ के मण्डप में एक हाथ की वेदी बनानी चाहिये, **"मण्टपं तु त्रिधाभज्य त्वेकभागेन वेदिका"** ऐसा शास्त्रवचन उपलब्ध है। तीन और पाँच हाथ का मण्डप अंकुरार्पण, रत्न आदि से निर्मित लिंग की स्थापना के लिये बनाया जाता है। पाँच और सात हाथ के मण्डप के लियें दो हाथ की वेदी बनाई जाती है। आठ, नौ और दस हाथ के मण्डप के लिये तीन हाथ की तथा ग्यारह, बारह और तेरह हाथ के मण्डप के लिये चार हाथ की वेदी बनानी चाहिये। पन्द्रह और सत्रह हाथ के मण्डप के लिये पाँच हाथ की, उन्नीस एवं बीस हाथ के मण्डप के लिये छः हाथ की, इक्कीस हाथ के मण्डप के लिये सात हाथ की और तीस हाथ के मण्डप के लिये आठ हाथ की वेदी का विधान है।

मण्डप, वेदी और उसकी ऊँचाई आदि का प्रमाण गुरु के हाथ और अंगुलियों के अनुसार होता है। एक हाथ से लेकर आठ हाथ तक के मण्डप की वेदी की ऊँचाई आठ अंगुल की रखी जाती है और यह मण्डप के मध्य भाग में बनाई जाती है, **"अष्टाङ्गुलोच्छ्रिता वेदी मध्यभागे व्यवस्थिता"** ऐसा शास्त्रों में बताया गया है। अथवा **'गुरुकरैः'** इस पद में करण के अर्थ में तृतीया का विधान माना जायगा, अर्थात् वेदी के विस्तार के प्रमाण के साधन गुरुहस्त के समान वेदी की ऊँचाई का प्रमाण भी गुरु की अंगुलियों के अनुसार ही रखा जायगा। **'अष्टाङ्गुलोच्छ्रायतः'** यहां पर **'अष्टांगुल आदि'** इस तरह आदि शब्द लुप्त माना जायगा, अर्थात् वेदी की ऊँचाई आठ अंगुल से लेकर बारह अंगुल तक की होती है। जैसा कि यहाँ प्रदर्शित है —

उच्चा सूर्याङ्गुलैर्वेदी तदूर्ध्वाङ्गुलिविच्युतिः ।
ज्येष्ठा ज्येष्ठा सुरज्येष्ठा ज्ञात्वाऽन्यत्र प्रयोजयेत् ॥

यह वेदी दर्पण के उदर के समान सर्वत्र समान ऊंचाई की और चिकनी रहती है। इसके चारों कोने बराबर के रहते हैं। वेदी के अन्य आकारों की भी सूचना सिद्धान्तशेखर से मिलती है —

वेदी चतुर्विधा तत्र चतुरश्री च पद्मिनी।
श्रीधरा सर्वतोभद्रा दीक्षासु स्थापनादिषु॥

चतुरश्री चतुष्कोणा वेदी सर्वफलप्रदा।
तटाकादिप्रतिष्ठायां पद्मिनी पद्मसन्निभा॥

राज्ये स्यात् सर्वतोभद्रा चतुर्भद्राऽभिषेचने।
विवाहे श्रीधरा वेदी विंशत्यश्रसमन्विता॥

दर्पणोदरसंकाशा निम्नोन्नतविवर्जिता।

इस वेदी के निचले भाग में चारों तरफ चार अंगुल विस्तार वाली और तीन अंगुल ऊँचाई की नेमि (उपवेदिका) बनाई जाती है। इस वेदी के ऊपर श्वेत वर्ण के कच्चे सूत के धागे को त्रिगुणित कर बिछा दिया जाता है अथवा श्वेत वस्त्र को वेदी पर भलीभाँति लपेट दिया जाता है। श्लोक में 'अथो' शब्द 'कात्स्न्र्य' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **''मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ''** (३. ३. २४७) अमरकोश का यह वचन इसमें प्रमाण है। इसका अर्थ यह है कि उस वेदी को सूत्र से अथवा वस्त्र से पूरी तरह से ढक देना चाहिये ॥ ३४॥

अब चतुष्कोण आदि विविध आकारों वाले कुण्डों के सामान्य लक्षणों को बताते हैं —

तिर्यक्खातसमोर्ध्वमेखलयुजा खातेन चैकं करं
कण्ठोऽन्तर्वियदङ्गुलो बहिरितो वेदाग्नियुग्माङ्गुलैः ।
नेमीनां त्रितयं समोदययुतं कुण्डं तदर्धायता
नाभिः पिप्पलपत्रवद् वसुतता चैकोन्नता कण्ठगा ।।३५।।

कुण्डं सामान्य रूप से सभी प्रकार के कुण्ड **तिर्यक्खातसमोर्ध्वमेखलयुजा** ऊपर की मेखला से थोड़ा तिरछा करके मध्य में ठीक से नाप कर **खातेन** खोदने पर **एकं करं** एक हस्तप्रमाण के होने चाहिये। **अन्तः** कुण्ड के मध्य में **कण्ठः** कण्ठस्थान **वियदङ्गुलः** एक अंगुल का रहना चाहिये। **इतो बहिः** इस कण्ठ के बाह्य भाग में **नेमीनां त्रितयं** तीन नेमियाँ **वेदाग्नियुग्माङ्गुलैः** क्रमशः चार, तीन और दो अंगुल का होनी चाहिये। **नाभिः** कुण्ड का मध्यभाग **तदर्धायता** ऊपर से आधा, अर्थात् बारह अंगुल का हो। **योनिः** कुण्ड की योनि **वसुतता** आठ अंगुल विस्तार वाली **एकोन्नता** एक अंगुल ऊँचाई वाली **कण्ठगा च** कुण्ड के कण्ठ पर्यन्त व्याप्त एवं **पिप्पलपत्रवत्** पीपल के पत्ते जैसे आकार की रहनी चाहिये।।३५।।

यहाँ श्लोक की पहली पंक्ति का यह अभिप्राय है— सर्वसामान्य कुण्ड के लिये भूमि का तिर्यक् विस्तार में चौबीस अंगुल तक खनन करना चाहिये और नीचाई में ऊर्ध्व मेखला के साथ चौबीस अंगुल तक खनन करना चाहिये। इसमें ऊर्ध्व मेखला का नाप नौ अंगुल का और भूनिम्न का खनन पन्द्रह अंगुल तक होता है, क्योंकि— "तिथ्यङ्गुलं समं खातं मेखला तु नवाङ्गुला" ऐसा वचन उपलब्ध है। अन्यत्र इसका भिन्न प्रकार बताया गया है —

हस्तमात्रं खनेत् तिर्यग् ऊर्ध्वमेखलया सह।
हस्तमात्रं खनेत् खातं सर्वकुण्डेष्वयं विधिः॥

कुण्ड् के भीतर चारों तरफ एक अंगुल प्रमाण की भूमि को छोड़कर मेखला के आकार का कण्ठ बनाया जाता है। इसके बाहर चार, तीन और दो अंगुल की तीन मेखलाएँ बनानी चाहिंये। जैसा कि कहा गया है

व्यासात् खातः करः प्रोक्तो निम्नस्तिथ्यङ्गुलेन तु।
खाताद् बाह्येऽङ्गुलः कण्ठस्तद्बाह्ये मेखलात्रयम्॥

ऊर्ध्वमेखला के क्रम से चार, तीन और दो अंगुल की तीन मेखलाओं का विधान कारणागम में इस प्रकार किया गया है — "त्रिमेखला तदूर्ध्वं तु श्रुत्यग्निद्वयकाङ्गुलैः"। इन तीनों मेखलाओं का विस्तार और उन्नति अपने अपने मान के अनुसार करनी चाहिये। मेखला का आकार कुण्ड के आकार के अनुरूप बनाया जाता है, "यदाकाराणि कुण्डानि तदाकारा स्वमेखला" ऐसा शास्त्रवचन उपलब्ध है। इस प्रकार बनाये गये कुण्ड के बीच में कुण्ड के प्रमाण से आधे विस्तार वाली, अर्थात् एक हाथ के कुण्ड में बारह अंगुल विस्तार की और तीन अंगुल ऊँची, दो भाग में दल वाली, एक भाग में कर्णिका वाली, आठ पत्रों से युक्त नाभि की रचना की जाती है। जैसा कि कामिकागम में बताया जाता है —

नाभिः स्यात् कुण्डमध्ये तु सार्धमानेन निर्मिता।
तच्चतुर्थांशकोत्तुङ्गा पद्माकारं यथा भवेत्॥

दल और कर्णिका का मान कारणागम में प्रदर्शित है —

पद्माकारं यथा नाभिं कुर्यात् कुण्डस्य मध्यमे।
द्विभागदलमानं स्यादेकभागं तु कर्णिका॥

मेखला के ऊपर आठ अंगुल विस्तार वाली, एक अंगुल ऊँची और बारह अंगुल मोटी, कण्ठपर्यन्त विस्तार वाली योनि बनाई जाती है। यह पीपल के पत्र के आकार की होती है। जैसा कि किरणागम में प्रदर्शित है —

अश्वत्थपत्रवत् कार्या विस्तारोऽष्टाङ्गुलैः करैः।
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं तु तदैकाङ्गुलमुन्नतिः॥

पूर्व दिशा, आग्नेय कोण और दक्षिण दिशा के कुण्डों में योनि का मुख उत्तर की ओर तथा शेष दिशाओं में पूर्वाभिमुख रहता है, जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में बताया गया है—

इन्द्राग्नियमकुण्डेषु योनिः सौम्यमुखी स्मृता।
योनिः पूर्वमुखाऽन्येषु रौद्रे सौम्यतरा तयोः॥

योनिकुण्ड और पद्मकुण्ड में क्रमशः योनि और नाभि का निर्माण नहीं किया जाता। जैसा कि **कारणागम** में प्रदर्शित है — **''योनौ योनिर्न कर्तव्या पद्मे नाभिं न कारयेत्''**। पक्षान्तर में योनिकुण्ड में चतुरश्राकार अथवा योनि के आकार की योनि बनाई जाती है। जैसा कि **कामिकागम** में वर्णित है — **''सा योनिः सर्वकुण्डानां कुण्डवद् वायुगाश्रका''**। यहाँ यह बताया गया है कि कुण्ड का जैसा आकार है, वैसे ही आकार की योनि भी बनानी चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि चतुरश्र आदि आकार वाले कुण्डों की योनि उसी आकार की बनानी चाहिये। योनिकुण्ड में इसका आकार ढलाव लेता हुआ सा बनाया जाता है ॥ ३५॥

अब योनि और अर्धचन्द्र कुण्ड के विशेष लक्षणों को प्रस्तुत श्लोक में बताते हैं —

क्षेत्रांशपञ्चमविभागविनिर्गमेण योनिश्च कोणचतुरंशपरिभ्रमेण।
आद्यन्तभागविरहान्नवधा विभक्ते मध्यस्थवारिधिपदैः स्फुटमर्धचन्द्रम्॥३६॥

क्षेत्रांशपञ्चमविभागविनिर्गमेण पहले चतुष्कोण कुण्ड को बना कर उसके क्षेत्र के पाँचवें भाग को बाहर छोड़ कर **कोणचतुरंशपरिभ्रमेण** कोण के सूत्र के चौथे भाग से क्षेत्र के मध्य तक दोनों पार्श्वों में घुमाने पर **योनिः** योनि कुण्ड बनता है। **नवधा विभक्ते** चतुष्कोण क्षेत्र में कुण्डस्थान को नौ भागों में बाँट कर **आद्यन्तभागविरहात्** पहले और अन्तिम भाग को छोड़ देने पर **मध्यस्थवारिधिपदैः** बीच के सात पदों में **अर्धचन्द्रं** अर्धचन्द्र आकार वाला कुण्ड **स्फुटं** (स्यात्) स्पष्ट रूप से बन जाता है॥३६॥

सभी प्रकार के कुण्डों के निर्माण का आधार चतुरश्र कुण्ड को माना गया है, अतः सबसे पहले चतुरश्र क्षेत्र में इसका विस्तार कैसे किया जाता है, इसको बताना आवश्यक है। चारों तरफ से समतल की गई भूमि पर सूत्र को आटे आदि से रंग कर

पश्चिम से पूर्व तक रेखा खींचनी चाहिये। अब इस सूत्र के पूर्व, पश्चिम और मध्य भाग को चिह्नित कर देना चाहिये। तब इसके मध्य में स्थित चिह्न को दबाकर उसके पूर्व और पश्चिम भाग की लम्बाई को दक्षिण और उत्तर दिशा की ओर मोड़ कर उस सूत्र के दक्षिण और उत्तर के छोर से रेखा खींच देनी चाहिये। इसके बाद सूत्र के आधे भाग की लम्बाई के अनुसार अग्निकोण में पूर्व दिशा में अंकित चिह्न से दक्षिण दिशा की ओर तथा दक्षिण दिशा में स्थित चिह्न से पूर्वाभिमुख सूत्र का आस्फालन कर चिह्न बनाना चाहिये। इसी क्रम से नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान कोण में भी उन-उन दिशाओं से सूत्र का आस्फालन कर चिह्न बनाये जाते हैं। इन चिह्नों के आधार पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में चार सूत्रों के आस्फालन से चतुरश्र आकार बन जाता है। इस पद्धति से चतुरश्र का आकार बनाने पर उसमें से चौबीस अंश उभर आते हैं। जैसा कि कामिकागम में प्रदर्शित है —

चतुर्विंशतिभागं तु विभजेत् कुण्डमानकम्।
तदेकभागमात्रं स्यात् तेन द्वित्रिचतुर्गुणैः॥

चतुरस्र कुण्ड के इस आकार की सहायता से योनि आदि कुण्डों का आकार भी बन जाता है। जैसे कि चतुरश्र क्षेत्र की विशालता को और उसमें से छोड़ी जा रही क्षेत्र की विशालता को समान रूप से दिखाने के लिये पूर्व और उत्तर के पचीस भागों में और कुण्ड के क्षेत्र को ५७६ पदों में विभक्त करना चाहिये। क्षेत्रांशों के पंचम विभाग को हटा कर शेष भाग को पाँच भागों में विभक्त करने पर उसका एक भाग पंचम भाग कहलाता है। उस भाग को निकाल देने पर क्षेत्र के मध्य में स्थित सोम नामक सूत्र के अग्र भाग में बाहर निकलने के चिह्न से चारों कोनों में चार अंशों को घुमाने से आग्नेय से वायु कोण पर्यन्त और नैर्ऋत्य से ईशान कोण पर्यन्त सूत्र का आस्फालन करने से उत्पन्न रेखा को कोणसूत्र कहा जाता है। इसके चार भाग होते हैं। इनको घुमाने से योनि कुण्ड बन जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि कोणसूत्र के चार भागों में से तीन भागों को हटाकर एक भाग प्रमाण से क्षेत्र के आधे भाग तक दोनों पार्श्वों के एक भाग तक घुमाने से पीपल के पत्र का जैसा आकार बन जाता है। इस स्थान से निर्गमन-सूत्र पर्यन्त सूत्र का संयोजन करने से पत्र के अगले भाग का सा आकार बनता है। इस प्रकार योनि कुण्ड का आकार परिपूर्ण हो जाता है। जैसा कि कहा गया है —

क्षेत्रार्धकोणं संगृह्य क्षेत्रार्धाद् भ्रामयेत् ततः।
क्षेत्रार्धावधिकं यावत् तथाऽन्यद् भ्रामयेत् पुनः॥

पञ्चभागकृतात् क्षेत्राद् भागमेकं बहिर्नयेत्।
सूत्रे संयोजिते योनिर्भवेत् पिप्पलपत्रवत्॥

यह योनि कुण्ड आग्नेय दिशा में बनाया जाता है, जैसा कि कामिकागम में निर्दिष्ट है —

पञ्चमांशं पुरो नीत्वा कोणवेदांशमानतः।
भ्रमादश्वत्थपत्राङ्गं कुण्डमाग्नेयमुच्यते॥

चतुरश्र क्षेत्र को नौ भागों में बाँट कर, उनमें से पहले और अन्तिम भागों को मिटा कर बीच में विद्यमान सात पदों से अर्धचन्द्र का आकार स्पष्ट हो जाता है। इसीको अर्धचन्द्र कुण्ड कहते हैं। सिद्धान्तशेखर में —

याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं मतम्।
नवधा भाजिते क्षेत्रे चतुरश्रसमो यदा॥

दक्षिणे चोत्तरे चांशमेकैकं तु परित्यजेत्।
सप्तांशसमसूत्रेण भ्रमणादर्धचन्द्रकम्॥

इस प्रकार उसका प्रयोजन और लक्षण बताया गया है॥ ३६॥

अब त्रिकोण कुण्ड, वृत्त कुण्ड और षट्कोण कुण्ड के लक्षणों को यहाँ दिखाते हैं —

त्र्यश्रं त्रिभागपरिवृद्धिकृतत्रिमत्स्यैः कण्ठार्धकाष्टमविनाकरणेन वृत्तम्।
षड्भागवृद्ध्या रचितैश्चतुर्भिर्मत्स्यैः षडश्रं रचयेत कुण्डम्॥३७॥

त्रिभागपरिवृद्धिकृतत्रिमत्स्यैः चतुष्कोण क्षेत्र के एक तिहाई भाग की वृद्धि करके तीन पार्श्वों में तीन मत्स्य चिह्न लगाने से **त्र्यश्रं** त्रिकोण कुण्ड (स्यात्) बनता है। **कण्ठार्धकाष्टमविनाकरणेन** कुण्ड के बीच के चार पार्श्वों में कण्ठसूत्र के आधे तक के आठवें भाग को छोड़ देने पर **वृत्तं** (स्यात्) वृत्त नामक कुण्ड बनता है। **षड्भागवृद्ध्या रचितैः** चतुष्कोण क्षेत्र के छठे भाग में वृद्धि करके कुण्ड के दोनों पार्श्वों में बनाये गये **चतुर्भिर्मस्त्यैः** चार मत्स्य-चिह्नों से **षडश्रं कुण्डं** षट्कोण कुण्ड की **रचयेत** रचना करे॥३७॥

त्र्यश्र (त्रिकोण) कुण्ड की रचना करनी हो तो चतुरश्र क्षेत्र को तीन भागों में विभक्त कर उसके एक भाग में आठ अंगुल प्रमाण का कुण्ड के मध्यसूत्र के आगे बाहर की ओर चिह्न बनाकर पृष्ठसूत्र के दोनों पार्श्वों में बाहर की ओर पुनः आठ अंगुल पर दो चिह्न बना कर इन तीनों चिह्नों को तीन सूत्रों से जोड़ देने से त्रिकोण कुण्ड का आकार स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि कामिकागम में स्पष्ट है —
"त्रिभागवृद्धितो मत्स्यैस्त्रिभिर्नैशाचरं भवेत्"।

वृत्त कुण्ड का निर्माण करते समय पहले कर्णसूत्र के आधे भाग को छोड़कर बचे हुए भाग को आठ हिस्सों में बाँटकर उन भागों में से कोणाग्र के पास के एक भाग को छोड़ दे। शेष सात अंशों में कुण्ड के मध्य से गोलाई में सूत्र को घुमाने से वृत्त कुण्ड का आकार स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि बताया गया है — **"कर्णार्धाष्टांशसन्त्यागाद् वृत्तकुण्डमिहोच्यते"**।

चतुरश्र क्षेत्र को छः भागों में विभक्त कर चार अंगुल प्रमाण के एक भाग की उसमें वृद्धि करके कुण्ड के अग्रसूत्र और पृष्ठसूत्र के दोनों पार्श्वों और दक्षिण-उत्तर दिशाओं में चार चिह्न बनाकर उन चिह्नों से पृष्ठसूत्र पर्यन्त दो सूत्रों को मिलाकर तब पृष्ठचिह्न के मध्य से कुण्ड के आगे से मध्यसूत्र पर्यन्त दोनों सूत्रों को मिलाने पर षडश्र कुण्ड का निर्माण हो जाता है। जैसा कि बताया गया है — **"षड्भागवृद्धितो मत्स्यैश्चतुर्भिः स्यात् षडश्रकम्"**। मूल श्लोक में 'किल' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि मध्यसूत्र के आगे के और पृष्ठ के भाग को थोड़ा ऊँचा बनावे। त्र्यश्र (त्रिकोण), वृत्त और षडश्र कुण्डों का निर्माण नैर्ऋत्य, पश्चिम और वायव्य दिशाओं में क्रमशः किया जाता है ॥ ३७॥

अगले दो श्लोकों में पद्म कुण्ड और अष्टकोण कुण्ड का लक्षण बताकर ऊपर वर्णित योनि कुण्ड आदि का उच्चाटन, मारण आदि छः प्रकार के काम्य कर्मों में तथा दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि में वृत्त कुण्ड और चतुरस्र कुण्ड के उपयोग का विधान किया जा रहा है —

चतुष्कृते वृत्तकमेखलांशे स्यात् कर्णिका सार्धविभागमानात् ।
पत्राष्टकं सार्धयुगेन पद्मं बहिर्दशांशाच्चतुरश्रक्लृप्तेः ।।३८।।

तत्कर्णशेषेण च मङ्गलाश्रं मुनित्रयैर्वा विधिना विदध्यात् ।
योन्यादिकुण्डानि तु काम्यपक्षे दीक्षादिके वृत्तमथाश्रमेव ।।३९।।

वृत्तकमेखलांशे वृत्त कुण्ड के मेखला भाग को **चतुष्कृते** (सति) चार हिस्सों में बाँटने पर **सार्धविभागमानात्** साढे चार अंगुल के नाप की **कर्णिका स्यात्** कर्णिका बनती है। **सार्धयुगेन** बचे हुए साढे चार अंगुल के भाग में **पत्राष्टकं स्यात्** आठ दल तैयार हो जाते हैं। इस तरह से बना कुण्ड **पद्मं** पद्मकुण्ड कहलाता है। **बहिर्दशांशात्** चतुष्कोण क्षेत्र के बाहर दसवें भाग को छोड़ने पर **चतुरश्रक्लृप्तेः** बचे हुए नौ भागों में चतुष्कोण तैयार होता है। **तत्कर्णशेषेण** उसी में पहले कर्णसूत्र के आधे चार पार्श्वों में चिह्न लगा कर इनमें आठ सूत्रों को मिलाने से **मङ्गलाश्रं** (स्यात्) अष्टकोण कुण्ड बन जाता

है। **वा** अथवा **मुनित्रयैः** चतुष्कोण क्षेत्र को इक्कीस भागों में विभक्त कर **विधिना** शास्त्र में प्रदर्शित विधि से अष्टकोण कुण्ड को **विदध्यात्** बनावे। **योन्यादिकुण्डानि तु** योनि कुण्ड, त्रिकोण कुण्ड आदि का **काम्यपक्षे** उच्चाटन, मारण आदि काम्य कर्मों में उपयोग किया जाता है। **वृत्तं** वृत्त कुण्ड **अथ** तथा **अश्रमेव** चतुष्कोण कुण्ड का उपयोग **दीक्षादिके** दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि में होता है।।३८-३९।।

पहले वृत्त कुण्ड को बनाकर इसकी तीन मेखलाओं की ऊँचाई और विस्तार को एक समान चार भागों में विभक्त कर वहाँ साढ़े चार अंगुल की समान ऊँचाई और विस्तार वाली कर्णिका को बनाकर पुनः अवशिष्ट साढ़े चार अंगुल के समान उन्नति और विस्तार वाले पत्रों का निर्माण करने से पद्म कुण्ड का आकार बनता है। कामिकागम में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है —

वृत्तकुण्डं पुरा कृत्वा चतुर्धा मेखलां भजेत्।
उत्सेधं च तथा कृत्वा कर्णिकासार्धंको भवेत्॥
अवशिष्टदलं वेददलमष्टदलं तु वा॥

क्षेत्र को दस भागों मे विभक्त कर उनमें से नौ भागों को लेकर और एक दशमांश को छोड़कर नौ भागों में चतुरश्र का निर्माण करे। दूसरा चतुरश्र पूर्व क्षेत्र के बीच में बनाना चाहिये। यहाँ 'बहिः' शब्द का अर्थ यह है कि दस भाग के मध्य में एक भाग बाहर रहे, इस तरह से कुण्ड का निर्माण करना चाहिये। यहाँ दूसरे कुण्ड के कर्ण के आधे सूत्र के प्रमाण का लांछन बनाकर चारों दिशाओं में सूत्र का संयोजन करने पर अष्टाश्र कुण्ड बन जाता है। अथवा क्षेत्र को इक्कीस भागों में विभक्त कर विधिपूर्वक इस कुण्ड का निर्माण करे। जैसा कि कामिकागम में बताया गया है —

क्षेत्रार्धदशमं भागं चतुर्दिक्षु तदन्तरे।
विन्यस्य तत्प्रमाणेन तुर्याश्रमपरं नयेत्॥

तस्य कर्णार्धमानेन तद्भुजास्वपि लाञ्छयेत्।
तत्राष्टसूत्रसंयोगादष्टाश्रं कुण्डमुच्यते॥

इन आठ प्रकार के कुण्डों में से योनि, त्रिकोण आदि का उपयोग उच्चाटन आदि षड्विध काम्य कर्मों के लिये किया जाता है। दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि के लिये केवल वृत्त अथवा चतुरस्र कुण्ड बनाया जाता है। अन्य आचार्यों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। जैसा कि प्रतिष्ठासारसंग्रह में प्रदर्शित है —.

सर्वदिक्षु क्षिपेत् कुण्डं वेदाश्रं स्थापनाविधौ।
तदेव वृत्तं वा कार्यं काम्ये कल्पोदितं यथा॥

चतुरश्रं भवेत् प्राच्यां सर्वकामप्रदं शुभम्।
आग्नेय्यां तु भगाकारं सदा चैवोपकारकम्॥

अर्धचन्द्रनिभं कुण्डं याम्ये तद् द्वेषकं नृणाम्।
त्रिकोणं नैर्ऋताशायां मारणार्थं प्रकल्पयेत्॥

नित्ये वाप्यायने वृत्तं पश्चिमे कुण्डमुत्तमम्।
षट्कोणं वायुकोणस्थं कुण्डमुच्चाटने मतम्॥
पद्माकारं भवेत् कुण्डमुत्तरे पुष्टिसाधनम्॥

अष्टकोणं तथैशान्यामत्यन्तमभयप्रदम्।
काम्यमेतत् सदा कुण्डं स्थापनादौ विस(व)र्जयेत्॥

यहाँ उद्धृत आचार्यवचन आत्मार्थ अनुष्ठान से संबद्ध है, क्योंकि कामिक आदि आगमों में लिंगप्रतिष्ठा के लिये योनि आदि कुण्डों से युक्त मण्डप का विधान प्रदर्शित है, जैसा कि कामिकागम का यह वचन है —

वेदाश्रकशशाङ्कार्धत्र्यश्रवृत्तानि पञ्चसु।
षडश्राष्टाब्जकोणानि दिक्ष्वन्यासु निवेशयेत्॥

वृत्तं प्रधानमेवं स्याच्चतुरश्रं तु वा भवेत्।

इस प्रकार अष्टविध कुण्डविषयक यह प्रकरण पूरा होता है॥ ३८-३९॥

उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार के स्रुक् और स्रुव नामक होमपात्रों का लक्षण अगले दो श्लोकों में बताया जा रहा है —

षट्त्रिंशाङ्गुलसंमितस्रुचि रसैर्विंशाङ्गुलैर्नाहतो
दैर्घ्याद् दण्ड इह त्रिवेदकलशो वेदाद्यमाद् गण्डिका।
अष्टैकागसवेदिकागलमुखं वृत्तं श्रुतिस्त्र्यङ्गुलं
खातं चाङ्गुलमेखलं गलमुखे त्र्यंशेन वेद्यास्तते॥४०॥

कानिष्ठाङ्गुलविस्तृताज्यसरणिः पृष्ठं कजेभोष्ठवत्
शिष्टं चित्रयुतं स्रुवे जिनमिते ह्यङ्गुष्ठदण्डाग्रतः।
वृत्तं त्र्यङ्गुलविस्तरं गजशिरः पृष्ठं पुरः कर्दमे
सारङ्गाङ्घ्रिवदाज्यसंस्थितिरधो गण्ड्यग्रतोऽब्जाङ्कितम्॥४१॥

षट्त्रिंशाङ्गुलसंमितस्त्रुचि होम का साधन स्त्रुक्पात्र छत्तीस अंगुल लम्बा रहना चाहिये। ऐसे पात्र का **दण्डः** हाथ से पकड़ने का दण्ड **नाहतः** मोटाई में **रसैः** छ अंगुल नाप का, **दैर्घ्यात्** लम्बाई में **विंशाङ्गुलैः** बीस अंगुल का **कार्यः** बनाना चाहिये। **इह** इसमें **त्रिवेदकलशः** तीन अथवा चार अंगुल का कलश का सा आकार बनाना चाहिये। **वेदाद् यमाद् गण्डिका** यहाँ चार अंगुल विस्तार वाली और दो अंगुल मोटी गण्डिका **कार्या** बनाई जाती है। **अष्टैकागसवेदिकागलमुखं** इसकी वेदिका आठ अंगुल की, कण्ठ एक अंगुल का और मुख सात अंगुल का **कार्यं** बनावे। **वृत्तं** गोलाई का चारों तरफ का नाप **श्रुतिः** चार अंगुल का **खातं च** और उसकी गहराई **त्र्यङ्गुलं** तीन अंगुल की होनी चाहिये। **अङ्गुलमेखलं** मेखला का नाप एक अंगुल का, **वेद्या** वेदी के परिमाण से **त्र्यंशेन** एक तिहाई **तते** विस्तार वाले **गलमुखे** कण्ठ और मुख का विस्तार हो। **आज्यसरणिः** घी गिरने का मार्ग **कानिष्ठाङ्गुलविस्तृता** कनिष्ठा अंगुलि के विस्तार के समान हो। **पृष्ठं** वेदी का निचला भाग, मुखाग्र का तल भाग **कजेभोष्ठवत्** क्रम से कमल पुष्प के समान और हाथी के ओष्ठ के समान रहना चाहिये। **शिष्टं** वेदी, कण्ठ और मुख से अतिरिक्त उसका बचा हुआ भाग **चित्रयुतं** कमल आदि के चित्रों से सुसज्जित रहना चाहिये। **जिनमिते** चौबीस अंगुल लम्बे **स्त्रुवे** होम के साधन स्त्रुवा नामक पात्र में **अङ्गुष्ठदण्डाग्रतः** अंगूठे की मोटाई जैसे परिमाण वाले दण्ड के आगे के भाग में **वृत्तं** गोलाई का नाप **त्र्यङ्गुलविस्तरं** तीन अंगुल विस्तार का हो, **पृष्ठं** वृत्त का तलभाग **गजशिरः** हाथी के मस्तक के दो कुम्भों के सरीखा हो, **पुरः** पृष्ठ के ऊपर का वृत्त भाग **आज्यसंस्थितिः** घी भरने के लिये होता है। इसका आकार **कर्दमे** कीचड़ में धसे **सारङ्गाङ्घ्रिवत्** हिरण (मृग) के पैर के जैसा मध्य में उन्नत और दोनों पार्श्वों में धँसा हुआ होना चाहिये। **अधः** आज्यधारा स्थल का तल भाग **गण्डग्रतः** कुम्भ के मध्य में स्थित गण्डिका का अगला भाग **अब्जाङ्कितं** कमल के चिह्न से अंकित रहना चाहिये।।४०-४१।।

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल उत्तम स्त्रुक् और स्त्रुवा का लक्षण बताया गया है। छत्तीस अंगुल लम्बी यज्ञीय वृक्ष की लकड़ी से स्त्रुक् को बनाया जाता है। यज्ञीय वृक्षों के नाम इस प्रकार हैं —

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षचाषादिखदिरं तथा।
न्यग्रोधश्च शमी विल्वं चूतो वैकङ्कतं तथा॥
असनं च शिरीषं च यज्ञवृक्षाः प्रकीर्तिताः।

वृक्ष से जब लकड़ी ली जाती है, उसी समय उसके मूल और अग्र भाग को चिह्नित कर लेना चाहिये और तदनुसार ही स्रुक् और स्रुवा के मूल और अग्र भाग का निर्माण करना चाहिये। बीच की मजबूत लकड़ी को लेकर उसके दो टुकड़े करने चाहिये, क्योंकि स्रुक् और स्रुवा का निर्माण एक ही वृक्ष की लकड़ी से किया जाता है। उसकी त्वचा को हटा कर उसमें बिल बनाया जाता है। कामिक और कारणागम का यह वचन इसमें प्रमाण है —

स्रुक्स्रुवौ विधिना कार्यौ तद्विधानमिहोच्यते।
त्वक्पार्श्वे चान्तरे वापि तद्बिलं विधिना चरेत्॥

संग्राह्य मध्यसारं तु द्विधा कृत्वा तरुं पुनः।
त्वग्भागे बिलमाख्यातमवक्त्रं निर्व्रणं दृढम्॥

सर्वदोषविनिर्मुक्तं समं ग्रन्थ्यादिवर्जितम्।
वृक्षसारं समादाय द्विधा कुर्यात् तरुं ततः॥

मूलं स्रुक्स्रुवयोर्दण्डे वृक्षाग्रं पुष्करं मतम्।
त्वग्भागे तद्बिलं प्रोक्तं वृक्षवामाङ्गजा तु स्रुक्।
वृक्षदक्षाङ्गसंभूतः स्रुवः स्रुग्लक्षणं ब्रुवे॥

स्रुक् बनाने के लिये बीस अंगुल लम्बी और छः अंगुल मोटी लकड़ी लेनी चाहिये। जैसा कि बताया गया है —

विंशत्यङ्गुलमायामो दण्डस्य परिकीर्तितः।
दण्डस्य परिणाहस्तु षडङ्गुल इति स्मृतः॥

मध्यम और अधम स्रुक् का निर्माण चौतीस और बत्तीस अंगुल की लकड़ी से किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

षट्त्रिंशदङ्गुलायामा चोत्तमा स्रुगुदीरिता।
मध्यमा कन्यसा ज्ञेया द्वित्र्यङ्गुलविहीनतः॥

इन तीनों प्रकार के स्रुक् का दण्ड बीस अंगुल का लम्बा तथा छः अंगुल की मोटाई का होना चाहिये। जैसा कि पराख्यसंहिता में प्रदर्शित है — "उत्तमादित्रयाणां च दण्डः स्याद् द्विदशाङ्गुलः"। इस बीस अंगुल के दण्ड के अग्र भाग में चार

अथवा तीन अंगुल के लम्बाई में दण्ड की मोटाई के समान कलश की जैसी आकृति बनानी चाहिये। ''वृत्तवत् कलशो ज्ञेयो वेदांशस्तत्प्रमाणकः'' ऐसा वचन उपलब्ध है। उत्तम स्रुक् का चार अंगुल का, मध्यम का तीन अंगुल का और कनिष्ठ का दो अंगुल का कलश बनाया जाता है। इसकी मोटाई छः अंगुल की होती है। कारणागम में इस विषय का वर्णन है —

तन्मूले कलशाकारमङ्गुलद्वयमानतः।
कर्माङ्गुलं तु नाहः स्यात् तस्याधस्तु सुपादयुक्॥

यहाँ 'कर्म' शब्द से छः की संख्या ली जाती है। अथवा तीनों तरह के स्रुक् का दण्ड बीस अंगुल का ही होता है, अतः कलश की आकृति भी एक सरीखी बनाई जा सकती है।

यहाँ चार अंगुल विस्तार वाली, दो अंगुल लम्बी, महावेदी से जुड़ी हुई, चतुरश्र अथवा अष्टाश्र आकृति वाली चार अंगुल ऊँची गण्डिका बनाई जाती है। इसको उपवेदी भी कहते हैं। इसकी आकृति कहीं पद्म की जैसी भी होती है। जैसा कि कहा गया है —

चतुरङ्गुलविस्तारा महावेदिसमीपगा।
चतुरश्राऽथवाऽष्टाश्रा पद्माकाराऽथवा भवेत्॥
गण्डिका द्व्यङ्गुला दैर्घ्याद्दण्डादेकाङ्गुलाधिका।

यह उत्तम स्रुक् के लिये है। मध्यम और कनिष्ठ के लिये क्रमशः साढ़े तीन अंगुल और तीन अंगुल विस्तार वाली एवं दो अंगुल लम्बी गण्डिका बनाई जाती है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है — ''वेद्यर्धसंमिता शस्ता गण्डिकासक्तवेदिका''। इसका अर्थ यह है — उत्तम स्रुक् की वेदी आठ अंगुल की, मध्यम की सात अंगुल की और कनिष्ठ की छः अंगुल की होती है। इसी प्रमाण के अनुसार उपवेदी का आधा प्रमाण होता है। 'आसक्तवेदिका' का अर्थ है कि यह उपवेदी वेदी के साथ लगी हुई रहती है। इस गण्डिका के ऊपर आठ अंगुल की वेदिका, एक अंगुल का कण्ठ तथा सात अंगुल का मुख बनाया जाता है। वेदिका का विस्तार और दैर्घ्य बराबर रहता है। कण्ठ का विस्तार चार अंगुल का और कण्ठ के साथ लगे हुए मुख का विस्तार सात अंगुल का होता है। मुख से आरंभ कर वेदिका पर्यन्त चार अंगुल प्रमाण के घन की रचना की जाती है। इस तरह का यह प्रमाण उत्तम स्रुक् का है। मध्यम और कनिष्ठ स्रुक् की वेदिका का प्रमाण क्रमशः सात अंगुल और छः अंगुल का और घन का प्रमाण दो अंगुल का होगा। अथवा सभी तरह के स्रुक् का घन चार अंगुल का रहेगा।

कण्ठ का आयाम सर्वत्र समान है। मुख का आयाम क्रमशः छः अंगुल का और पाँच अंगुल का रहना चाहिये। वेदी के मध्य में विद्यमान बिल की गोलाई चार अंगुल की बनानी चाहिये और उसमें तीन अंगुल का गड्ढा बनाना चाहिये। जैसा कि कहा गया है —

मध्ये वृत्तं तु संभाव्य चतुरङ्गुलमानतः।
त्र्यङ्गुलं सुबिलं शात्वा शेषं शोभान्वितं कुरु॥

यहां बिल का प्रमाण सर्वत्र समान माना गया है। जैसा कि मृगेन्द्रागम के "वेदवृत्तादिपृथुता संस्थितिस्त्रिकलावटा" (क्रि. ६. ३८) इस वचन में प्रदर्शित है। इस वचन की व्याख्या करते हुए भट्ट नारायणकण्ठ ने कहा है कि बिल की गहराई सर्वत्र एक सरीखी तीन अंगुल की रहनी चाहिये। अथवा मध्यम और अधम स्रुक् के बिल की गोलाई क्रमशः तीन और दो अंगुल की तथा गहराई साढ़े दो अंगुल एवं दो अंगुल की रहनी चाहिये। जैसा कि कारणागम में प्रदर्शित है —

बिलं सुवर्तितं मध्ये चाङ्गुलद्वयमानतः।
तद्विस्तारसमं गर्तं सुवृत्तं बिलमुच्यते॥

यह लक्षण अधम स्रुक् का है, क्योंकि दो अंगुल मान का यहाँ निर्देश है। विस्तार का अर्थ वृत्त के विस्तार से है। अथवा मध्यम स्रुक् का बिल दो अंगुल का और अधम का एक अंगुल का रहना चाहिये। उस वृत्ताकार बिल की वेदिका के चारों तरफ एक अंगुल की मेखला की पट्टी बनाई जाती है। वेदी के विस्तार को तीन भागों में विभक्त कर उसके एक एक भाग में कण्ठ और मुख का विस्तार किया जाता है। इसी तरह से मुखाग्र का भी विस्तार करना चाहिये, जैसा कि कहा गया है— "वेदिकायास्त्रिभागेन मुखाग्रस्य च विस्तृतिः"। यहाँ बताया गया कण्ठ का विस्तार आगमान्तर के अनुसार है। ग्रन्थकार के अनुसार इसका प्रमाण वेदी के तीन भागों में से एक भाग के बराबर है। कण्ठ और मुख में भी एक अंगुल की मेखला बनानी चाहिये तथा आधे अंगुल का निम्न। मध्यम और अधम स्रुक् में क्रमशः अंगुल के तीन भाग के और दो भाग के बराबर मेखला बनाई जाती है और निम्न का प्रमाण डेढ़ जौ के तथा एक जौ के बराबर रहता है। घृत के निकलने का मार्ग कनिष्ठा अंगुलि के समान आकार का गले से मुख पर्यन्त बनाया जाता है। मध्यम और अधम स्रुक् का भी यह मार्ग कनिष्ठा अंगुलि के बराबर रहता है। यहाँ गल और मुख में घृत-मार्ग की रचना के लिये कहा गया है, अतः बिल से कण्ठ पर्यन्त कनिष्ठा अंगुली के प्रमाण का मार्ग इसके भीतर बनाना चाहिये, यह सिद्ध होता है, "तारेण वाथ ताम्रेण नालं

कृत्वा सुयोजयेत्'' यह शास्त्रवचन भी इसमें प्रमाण है। पृष्ठ शब्द से यहाँ महावेदी से नीचे का प्रदेश और मुख के अग्र भाग के नीचे का प्रदेश गृहीत होता है। पृष्ठ के दोनों तरफ की आकृति कमल और गज के ओष्ठ के पृष्ठभाग की तरह की बनानी चाहिये। जैसा कि कहा गया है —

वेदिकायास्त्वधः पद्मं पृष्ठाकारं सकर्णिकम्।
गजोष्ठपृष्ठसदृशम् आस्यपृष्ठाकृतिर्भवेत्॥

छः, सात और आठ अंगुल की वेदिकाओं का पृष्ठभाग क्रमशः चार, पाँच और छः अंगुल विस्तार वाला रहता है। इसको गोल बनाकर वर्तुल प्रदेश में सकर्णिक अष्टपत्र कमल ऊर्ध्वमुख बनाना चाहिये, क्योंकि — **''वेदिपृष्ठं प्रकर्तव्यं पद्मपृष्ठोपमं ततः''** ऐसा शास्त्रवचन उपलब्ध है। मृगेन्द्रागम में भी यह विषय वर्णित है — **''वेदवृत्तादिपृथुता संस्थितिस्त्रिकलावटा''** (क्रि. ६. ३८)। इस वचन की व्याख्या में बताया गया है कि त्रिविध वेदी पृष्ठभाग में चार अंगुल, पाँच अंगुल और छः अंगुल की गोलाई और विस्तार वाली बनानी चाहिये। वेदिका, कण्ठ और मुख का शेष विस्तार अनेक तरह के कमल, उत्पल, लता आदि के चित्रों से अलंकृत होना चाहिये। इस प्रकार से यज्ञीय साधन स्रुक्पात्र का निर्माण किया जाता है।

स्रुवपात्र भी उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का बनाया जाता है। चौबीस अंगुल के दण्ड वाला उत्तम, एक अंगुल कम का मध्यम और दो अंगुल कम होने पर अधम माना जाता है —

चतुर्विंशतिभागैश्च स्रुवमानं प्रकीर्तितम्।
एकद्वित्र्यङ्गुलैर्हीनमथवा परिकल्पयेत्॥

ऐसा शास्त्रवचन उपलब्ध है। अँगुठे की गोलाई जितने स्थूल प्रमाण के दण्ड का अग्र भाग चार अंगुल मोटा बनाया जाता है। दण्ड के मूल की गोलाई चार अंगुल की होती है। दण्ड के अग्र भाग की गोलाई तीन अंगुल की रहनी चाहिये। दण्ड का अग्र भाग तीन अंगुल के विस्तार वाला वृत्ताकार बनाया जाता है। इस वृत्त के नीचे का भाग हाथी के सिर पर विद्यमान दो कुम्भों के जैसा रहता है। जैसा कि कामिकागम में प्रदर्शित है — **''पृष्ठे कुम्भद्वयोपेतः कर्षात् पूरः सपुष्करः''**। इस पृष्ठ भाग के ऊपर के भाग की आकृति कीचड़ में अंकित हिरण के खुर की जैसी रहती है, अर्थात् दोनों पार्श्वों में नीची तथा बीच में ऊँची होती है। घृत भरने का स्थान इतना गहरा होता है कि उसमें एक कर्ष-प्रमाण घृत भरा जा सके, **''गोखुराकारवत् कार्यमाज्यस्थानं तदग्रतः''** यह वचन इसमें प्रमाण है। आज्यस्थान के निचले भाग में जो कुम्भों की

दो आकृतियाँ हैं, उनके बीच में गण्डिका का अग्र भाग कमल से अंकित किया जाता है, "**पुष्कराधः प्रकर्तव्या गण्डिका द्वियवोन्नता**" यह वचन इसमें प्रमाण है। कहीं कहीं दो गण्डिकाओं का विधान मिलता है। मृगेन्द्रागम के "**द्व्यङ्गुष्ठपर्वगोऽङ्गुष्ठदण्डो हस्तायतिः स्रुवः**" (क्रि. ६. ३५)। इस वचन की व्याख्या भट्ट नारायणकण्ठ ने इस प्रकार की है — दो अंगुष्ठ प्रमाण के पर्वों की सन्धियों के बीच दो अँगूठों के पर्वों में दण्ड की स्थिति रहती है। इस दण्ड के मूल और अग्र भाग में दो अँगूठों के बराबर मान की दो गण्डिकाएँ बनानी चाहिये। इस तरह से स्रुवपात्र का निर्माण परिपूर्ण हो जाता है ॥ ४०-४१॥

स्रुचा और स्रुवा का लक्षण बताने के बाद अब यहाँ विष्टर, परिधि, इध्म और समिधा का स्वरूप बताते हैं —

श्यामैर्दर्भदलैः खरामगणितैर्बाहुप्रमाणाः कृता
वेण्यो वाथ सुवर्तिताः समशिखाः सद्ग्रन्थयो विष्टराः ।
तन्माना ऋजवः पलाशतरुजाः श्यामाः परिध्याह्वया
इध्माः षोडशकाङ्गुला समिदपि प्रादेशमात्राऽव्रणाः ।।४२।।

विष्टराः अग्निकुण्ड के चारों तरफ रखे जाने वाले विष्टर, अर्थात् परिस्तरण दर्भ **बाहुप्रमाणाः** चौबीस अंगुल परिमाण के, **श्यामैः** अभी काट कर लाये गये अतएव शुकपक्ष सरीखे गहरे हरे वर्ण के **खरामगणितैर्दर्भदलैः** तीस संख्या के दर्भ-दलों से **कृताः** बनाये जाते हैं। **वा** अथवा **वेण्यः** स्त्रियों की वेणी (केशकलाप) के समान **सुवर्तिताः** अच्छी तरह से गूँथे गये **सद्ग्रन्थयः** हलकी गाँठ से बाँधे गये, **समशिखाः** समान अग्रभाग वाले बनाये जा सकते हैं। **परिध्याह्वयाः** अग्निकुण्ड के चारों तरफ रखे जाने वाले परिधि नामक काष्ठ **तन्मानाः** विष्टर (परिस्तरण दर्भ) के समान चौबीस अंगुल लम्बे **ऋजवः** एक सरीखे सीधे आकार के **श्यामाः पलाशतरुजाः** पूरी तरह से न सूखे हुए पलाश वृक्ष के होने चाहिये। **इध्माः** इध्म नामक काष्ठ **षोडशकाङ्गुलाः** सोलह अंगुल परिमाण के सरल आकार के व पलाश वृक्ष से ही बनाये जाते हैं। इसी तरह **समिदपि** हवन के लिये उपयोगी समित् नामक काष्ठ का आकार **प्रादेशमात्रा** बारह अंगुल का होता है। **अव्रणाः** ऊपर बताये गये विष्टरं, परिधि, इध्म और समित् को बनाने में उपयुक्त हुई कुशा अथवा काष्ठ में किसी प्रकार का व्रण (खराबी) नहीं होना चाहिये।।४२।।

शुक पक्षी के पंख के समान हरे वर्ण के दर्भ, अर्थात् तत्काल काटकर लाये गये, क्योंकि सूख जाने पर वे हरे वर्ण के नहीं रहेंगे। ख शब्द से शून्य, अर्थात् बिन्दु का बोध होता है और राम शब्द की तीन बार आवृत्ति होने से उससे तीन संख्या का बोध होगा। "अङ्कानां वामतो गतिः" इस न्याय से शून्य को बाद में और राम को पहले रखने से तीस संख्या बनेगी। "मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः। रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्कीति ते दश॥" यहाँ तीन राम पठित हैं। ताजा तोड़कर लायी गयी बाहुप्रमाण, अर्थात् चौबीस अंगुल लम्बी तीस कुशाओं को स्त्रियों की वेणी की सी आकृति में गूँथने से अथवा ग्रन्थिपर्यन्त भाग गोल बनाये गये, ग्रन्थि के ऊपर के भाग में चार अंगुल तक सीधे रखे गये और ऊपर एक अंगुल में ग्रन्थि बाँधने से **विष्टर** का निर्माण होता है। 'विष्टराः' यहाँ बहुवचन का प्रयोग होने से इनकी संख्या चार होती है और ये कुण्ड के चारों तरफ रखे जाते हैं। जैसा कि **कामिकागम** में कहा गया है —

चत्वारो विष्टरास्तद्वन्मताः परिधयोऽपि च।
त्रिंशद्दर्भदलैर्गाढं ग्रथिता बाहुमात्रकाः॥
वेणिका वर्तुला वापि विष्टरा दर्भनिर्मिताः।

पूर्ववत् बाहुप्रमाण, चौबीस अंगुल लम्बी, सीधी, पलाश वृक्ष के काष्ठ से बनाई गई **परिधियाँ** कहलाती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि आगमों में अन्य वृक्षों से भी परिधियों को बनाने का विधान है, जैसा कि **मृगेन्द्रागम** में प्रदर्शित है — "याज्ञीयवृक्षजा बाहुमात्राः परिधयः स्मृताः" (क्रि. ६. ५०)। तब यहाँ विशेष रूप से पलाश वृक्ष का उल्लेख क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि जिस जिस कर्म के लिये जिस-जिस वृक्ष की समिधा ली जाती है, उस कुण्ड के लिये उसी समिधा से परिधियाँ बनानी चाहिये, इस तरह की विशेष सूचना देने के लिये यहाँ ऐसा किया गया है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि समिधाओं और परिधियों का निर्माण एक ही वृक्ष से काष्ठ लेकर करना चाहिये। जैसा कि **कारणागम** में प्रदर्शित है— "प्रोक्तं तु यत्समित्तेन परिधिस्तानि संग्रहेत्"। ये परिधियाँ मीली लकड़ी से बनाई जाती हैं, शुष्क से नहीं। ये कुण्ड का परिष्कार करती हैं, अतः इनको परिधि कहा जाता है। जैसा कि **कामिकागम** में प्रदर्शित है —

तन्माना ऋजवः सार्द्रास्तत्कुण्डसमिदुद्भवाः।
निर्व्रणाश्च समच्छेदाः प्रोक्ताः परिधयः समाः॥

इध्म काष्ठ का प्रमाण सोलह अंगुल का होता है। इनका भी निर्माण पलाश वृक्ष से ही होता है, "षोडशाङ्गुलानिध्मान् पालाशान् जुहुयात्" ऐसा **अघोरशिवाचार्य** ने अपने **क्रियाक्रम** नामक ग्रन्थ में लिखा है।

समिधा का प्रमाण बारह अंगुल का होता है। यह पलाश वृक्ष से भी बनाई जाती है। 'अपि' शब्द से यहां अनुक्त 'अर्क' आदि का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

अर्कोद्भवाः पलाशोत्थाः खादिराश्चापामार्गजाः ।
अश्वत्थोदुम्बरोद्भूताः शमीदूर्वाकुशोद्भवाः ॥

'अव्रणाः' इस पद में बहुवचन इस बात की सूचना देता है कि समिधा, परिधि आदि के लिये गृहीत काष्ठ कीड़ों से खाया गया न हो और उसके बीच कोई गाँठ न हो। जैसा कि कामिकागम में कहा गया है —

याज्ञीयवृक्षजाः शस्ताः समिधो द्वादशाङ्गुलाः ।
सत्वचस्ताः समच्छेदा वक्रग्रन्थ्यादिवर्जिताः ॥

इस प्रकार यहाँ विष्टर, परिधि, इध्म और समिधा का स्वरूप बताया गया है ॥ ४२॥

याग के उपयोगी ज्ञानखड्ग आदि का तथा होम के उपकरण द्रव्यों का संग्रह कर्म के प्रारंभ होने से पहले ही कर लेना चाहिये, ऐसा आगे के दो श्लोकों में बताया जा रहा है —

दर्भाग्रैस्तत्त्वसंख्यैः समशिखकलितग्रन्थिवेणीकलोच्चै-
र्ज्ञानासिः क्षेपणीयाः शिवघटमभितः सप्तविंशद् घटास्ते ।
धान्यस्थास्तन्तुजालाः सुवसनफलयुक्चूतपत्रास्तिलाज्ये
पात्रे चर्वर्थपात्रं करकजलधयोऽप्येलधूपार्घ्ययोग्याः ॥४३॥

पुष्पायोरचितां च पायितपयोमध्वाज्यकां कर्तरीं
सिद्धार्थादिकभस्मलाजविकिरान् कुम्भांस्त्वकालारुणान् ।
कन्यावर्तितवह्निवह्निगुणितं सूत्रं च पाशाह्वयं
कर्पूरागुरुसारचन्दनयुतं पुष्पादिकं चाहरेत् ॥४४॥

तत्त्वसंख्यैः छत्तीस संख्या वाले **समशिखकलितग्रन्थिवेणीकलोच्चैः** समान आकार वाले दोनों अग्रभागों को जोड़कर प्रदक्षिण रूप में घुमा कर स्त्रियों की वेणी के जैसे बाँध कर सोलह अंगुल लम्बे **दर्भाग्रैः** कुशों से बनाये गये **ज्ञानासिः** ज्ञानखड्ग का (संग्राह्या) संग्रह करना चाहिये। **शिवघटमभितः** आठ विद्येश्वरों के कलशों के बीच में स्थापित शिवकुम्भ के चारों तरफ **सप्तविंशद् घटाः** नन्दी, शान्ति आदि देवताओं के सत्ताईस घटों की **क्षेपणीयाः** स्थापना करनी चाहिये। **ते** इन घटों को **धान्यस्थाः** चावल,

तिल आदि धान्यों पर स्थापित किया जाता है, **तन्तुजालाः** रक्तसूत्र लपेटा जाता है, **सुवसनफलयुक्चूतपत्राश्च** सुन्दर नूतन वस्त्र, नारियल और आम्रपल्लव से सुशोभित किया जाता है। **तिलाज्ये पात्रे** तिल और घृत के लिये दो पात्र, **चर्वर्थपात्रं** हवन के लिये चरुपाक करने का पात्र, **करकजलधयः** तिल-चावल आदि भरने के लिये मिट्टी के छोटे पात्र (करवे) तथा जल भरने के लिये कलश, **एलधूपार्घ्ययोग्या अपि** और इलायची, धूप, अर्घ्य आदि को रखने के योग्य पात्रों का भी (संग्राह्या) संग्रह करना चाहिये। **च** और, **पुष्पायोरचितां** पुष्प जैसे मुलायम लोहे से बनाई गई **पायितपयोमध्वाज्यकां** दूध, मधु और घृत में डुबोई गई **कर्तरीं** पाशसूत्रों का छेदन करने वाली ज्ञानखड्ग पर रखी जाने वाली कैंची को, **सिद्धार्थादिकभस्मलाजविकिरान्** सफेद सरसों, अक्षत आदि, भस्म, धान का लावा आदि सात प्रकार के विकिरों से आवेष्टित **अकालारुणान् कुम्भान्** काले रंग से रहित लाल वर्ण से रंजित घटों को, **कन्यावर्तितवह्निवह्निगुणितं** द्विजाति कन्याओं के द्वारा काते गये तन्तुओं को नौ गुना कर बनाये गये **पाशाह्वयं** मल आदि त्रिविध पाशों के प्रतिनिधि **सूत्रं च** कच्चे धागे से बनाये गये पाशसूत्र को **कर्पूरागुरुसारचन्दनयुतं** कपूर, अगुरुसार और चन्दन से लिप्त करे और **पुष्पादिकं च** पुष्प, बिल्वपत्र आदि का भी **आहरेत्** संग्रह करे ।।४३-४४।।

करणाधिकार पटल में प्रदर्शित प्रमाण के अनुसार बनाये गये बत्तीस कुम्भों में नन्दी, शान्ति आदि देवताओं की पूजा की जाती है। उनके नाम इस प्रकार बताये गये हैं —

नन्दिशान्तिमहाकालबलारार्तींश्च पूर्वके ।
इन्द्राग्न्योरन्तरे भानुमाग्नेय्यां दिशि पावकम् ॥

विद्यां भृङ्गिगणेशौ च यमं याम्ये प्रपूजयेत् ।
नैर्ऋत्यां निर्ऋतिं विष्णुं महालक्ष्मीं प्रपूजयेत् ॥

वृषं निवृत्तिं स्कन्दं च वरुणं वारुणे यजेत् ।
वायुं गणेशं क्षेत्रेशं वायव्यां दिशि चार्चयेत् ॥

देवीं प्रतिष्ठां चण्डेशं सोममुत्तरतो यजेत् ।
ऐशान्यामीशलोकेशगुरूनेवं प्रपूजयेत् ॥

तिल, घृत, चरुपाक आदि के पात्र; करक, कलश तथा एला, धूपसंतापन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि के उपयोगी सभी पात्रों आदि के आकार आदि का निर्माण

करणाधिकार पटल में प्रदर्शित प्रमाण के अनुसार करना चाहिये। लोहे की कोमलता को दिखाने के लिये 'पुष्प' शब्द का प्रयोग किया गया है। मृदु लोह से बनाई गई कैंची बहुत तीखी होती है। यह कर्तरी (कैंची) पाशसूत्रों को काट डालती है और ज्ञानशक्ति को जगाने वाली है। जैसा कि कहा गया है — "कर्तरी ज्ञानशक्तिस्तु यया पाशान् छिनत्त्यसौ"।

सात प्रकार के विकिरों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं —

लाजचन्दनसिद्धार्थभस्मपुष्पकुशाक्षताः ।
सप्तधा विकिराः प्रोक्ताः सर्वविघ्ननिवारकाः ॥

इनको विकिर इसलिये कहा जाता है कि मण्डप के भीतर विद्यमान सभी प्रकार के विघ्नों के निवारण के लिये इनको मण्डप में चारों तरफ विखेर दिया जाता है। पाशसूत्र का लक्षण भी शास्त्रों में इस प्रकार प्रदर्शित है —

नातिस्थूलकृशं शुभ्रं निर्ग्रन्थि सुदृढं शुभम्।
कर्तितं द्विजकन्याभिस्त्रिगुणं त्रिगुणीकृतम्।
पाशाह्वयमिदं सूत्रं तदाधारतया कृतम् ॥

इसको पाशसूत्र इसलिये कहते हैं कि यह मल, कर्म और माया नामक पाशों को अपने में पिरोये रहता है। इस पाशसूत्र को कपूर आदि को मिलाकर बनाये गये चन्दन से लीपना चाहिये। 'पुष्पादि' यहाँ आदि पद से पुष्प, उशीरमूल, श्रीगन्ध, अक्षत आदि होम के लिये उपयुक्त द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है ॥ ४३–४४॥

शिवपूजा में कुम्भ (कलश) को शिव का देह माना जाता है। यह कलश शिव का देह कैसे होगा? इसी को अब प्रस्तुत श्लोक में बताया जा रहा है —

वस्त्रं चर्म विलिप्तमृच्च रुधिरं मांसं घटे मृत्तिका
मेदस्तोयमथास्थि कूर्चमभितः संवीतसूत्रं सिरा ।
शुक्लं मध्यगरत्नहेमकुसुमं न्यस्तो मनुर्जीवितं
धान्यं सप्तकमासनं मखविधौ शम्भोरिदं पूजनम् ।।४५।।

वस्त्रं कुम्भ के ऊपर आच्छादित वस्त्र **चर्म** देह को आच्छादित करने वाली चमड़ी है। **विलिप्तमृच्च** कुम्भ को लाल रंग में रंगने के लिये लगाई गई मिट्टी **रुधिरं** रुधिर का प्रतिनिधित्व करती है और **घटे मृत्तिका मांसं** जिस मिट्टी से घट बनाया गया है, वही मांसस्थानीय है। **तोयं मेदः** घट में

भरा हुआ जल ही देह में स्थित मेदा धातु का प्रतिनिधि है। **कूर्चं** दर्भमय कुश ही **अस्थि** देह की अस्थियाँ हैं। **अभितः संवीतसूत्रं** कलश के चारों तरफ बाँधा गया सूत्र ही **सिरा** शरीर में स्थित नस-नाड़ियों का जाल है। **मध्यगरत्नहेमकुसुमं** कुम्भ के मध्य में स्थापित नवरत्न, सुवर्ण-पुष्प आदि ही **शुक्लं** देह में स्थित शुक्र (वीर्य) है। **न्यस्तो मनुः** घट पर किया गया मन्त्रन्यास ही **जीवितं** प्राणस्वरूप है। **सप्तकं धान्यं** व्रीहि, तिल, तण्डुल, मुद्ग, माष, मसूर और यव नामक सात प्रकार का धान्य ही **आसनं** शिव का आसन है। **मखविधौ** यज्ञ-याग आदि के अवसर पर इस प्रकार सम्पादित कलशपूजन में **शम्भोः पूजनं स्यात्** भगवान् शिव का पूजन भी सविधि हो जाता है।।४५।।

प्रस्तुत श्लोक में विशेष रूप से व्याख्येय कोई विषय नहीं है। सभी विषय अन्वयार्था में स्पष्ट कर दिये गये हैं। कुम्भ में शिव का आवाहन और पूजन इसलिये किया जाता है कि यह कुम्भ शिवस्वरूप ही हो जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि सभी सम्प्रदायों में जो कलश-स्थापन और पूजन किया जाता है, उसका आधार यही है कि स्थापित कलश उन उन देवताओं का आधार (शरीर) माना जाता है ॥४५॥

अब वेदी के निर्माण के लिये चतुरश्र क्षेत्र के विस्तार के क्रम को यहाँ दिखाया जा रहा है —

पूर्वादापरगं सुमध्यगमितं सूत्रं च धाम्न्युत्तरे
मत्स्ये तत्र च मध्यतोऽर्धविलयैर्मानैश्च कोणेष्वपि ।
कुर्यान्मत्स्यचतुष्टयं त्विह चतुःसूत्रं च वेद्यां भवेद्
वेदाश्रं कृतकर्णसूत्रगमिदं तत्रोक्तमानात् कजम् ।।४६।।

धाम्नि वेदी के निर्माण के लिये संगृहीत बड़े और विशाल स्वरूप वाले चतुष्कोण क्षेत्र में **पूर्वात्** पूर्व दिशा से **आपरगं** पश्चिम दिशा पर्यन्त विस्तृत **सुमध्यगमितं** पूरी तरह से मध्य में सीधा तानकर **सूत्रं कृत्वा** रखे गये सूत्र की **उत्तरे** उत्तर दिशा में **मत्स्ये** (कृते सति) मत्स्य (मछली) के आकार का चिह्न बना कर **तत्र च** और उसके **मध्यतः** मध्य भाग के **अर्धविलयैः** पूर्व-पश्चिम सूत्र के आधे भाग का लोप करने पर बने **मानैः** नाप से **कोणेष्वपि** आग्नेय आदि चारों कोणों में भी **मत्स्यचतुष्टयं** मछली के

आकार के चार चिह्न **कुर्यात्** बनावे। **इह** इन रेखाओं के सन्धि-स्थान में बनाये गये मत्स्य-चिह्नों में **चतुःसूत्रं** चारों पार्श्वों में चार सूत्रों की रेखा (**कृतं चेत्**) यदि की जाती है, तों **वेद्यां** वेदिका में **वेदाश्रं** चतुष्कोण **भवेत्** बन जाता है। **इदं** इस चतुष्कोण क्षेत्र का विस्तार **कृतकर्णसूत्रगं** वायव्य से आग्नेय पर्यन्त और नैर्ऋत्य से ईशान कोण पर्यन्त कर दो कर्णसूत्रों का निर्माण करे। **तत्र** इस चतुरस्र कर्णसूत्र में **उक्तमानात्** अगले श्लोक में बताये गये मान (नाप) के अनुसार **कजं कुर्यात्** पद्म की रचना करे ।।४६।।

प्रस्तुत श्लोक से लेकर ६४ वें श्लोक तक पद्म से लेकर स्वस्तिक पर्यन्त मण्डलों का विधान किया गया है। यहां सर्वप्रथम चतुरश्र क्षेत्र के निर्माण की पद्धति बताई गई है। मत्स्य का अर्थ मछली के आकार का चिह्नविशेष है। सोमसूत्र का निर्माण करते समय पूर्व दिशा के सूत्र की उन्नति के आधार पर प्रतिलोम और अनुलोम विधि से यन्त्र को घुमाते समय उत्तर और दक्षिण दिशाओं की रेखाओं को जोड़ने की जगह को जिस चिह्न से अंकित किया जाता है, उसे मत्स्य कहा जाता है। मण्डल बनाने के लिये विधिपूर्वक संस्कृत क्षेत्र में सूत्र की सहायता से पूर्व दिशा से प्रारंभ कर पश्चिम दिशा पर्यन्त सीधी रेखा खींची जाती है। इसके बाद उत्तर दिशा में मत्स्य-चिह्न बना कर दक्षिण से उत्तर दिशा तक सूत्र की सहायता से सीधी रेखा खींच दी जाती है। ऐसा करने पर बीच का स्थान सोमसूत्र कहलाता है। इस सोमसूत्र और प्राचीसूत्र के आधे भाग को मिटा कर क्षेत्र के मध्य में से आग्नेय आदि चारों कोणों में चार मत्स्य-चिह्न बनाने चाहिये। अर्थात् सोमसूत्र और प्राचीसूत्र के बीच में से पूर्व आदि चार दिशाओं में गोलाकार यन्त्र को घुमाकर आग्नेय आदि चार विदिशाओं में चार मत्स्य-चिह्नों को लगाने से रेखाओं की सन्धि के रूप में आग्नेय आदि चार कोणों में चार चिह्न बन जाते हैं। इन्हीं मत्स्य-रेखाओं की सन्धि पर स्थित चिह्न से पूर्व आदि चारों दिशाओं में सूत्रों को जोड़ दे। ऐसा करने पर उस वेदी पर चतुरश्र का निर्माण हो जाता है। इस चतुरश्रीकृत कर्णसूत्र को आग्नेय से वायव्य तक और नैर्ऋत्य से ईशान पर्यन्त कर्णसूत्र से युक्त कर इस चतुरश्र कर्णसूत्र में आगे बताई जा रही शास्त्रोक्त विधि से कमल की रचना करे —

लक्षणं चतुरश्रस्य पूर्वं तस्मान्मयोच्यते ।
प्राक्सूत्रं साधितं कुर्यान्मध्ये पूर्वे च पश्चिमे ।।
चिह्नत्रये महीक्षेत्रे कुण्डमाने सुनिश्चिते ।
सोमसूत्रप्रसिद्ध्यर्थं शफरं भ्रमयन्त्रतः ।।

प्रागङ्गे प्रत्यगङ्गे च हस्तं दत्त्वा समाचरेत्।
उदग्दक्षिणतो मध्ये रेखाभ्यां जायते क्रमात्॥

शफरस्य मुखे पृष्ठे मध्ये चिह्ने प्रसारिते।
समन्तात् सोमसूत्रं स्यात् ततः कोणं समाचरेत्॥

क्षेत्रार्धमानसूत्रेण दिक्षु चिह्नं समालिखेत्।
क्षेत्रार्धमानसूत्रेण प्रतिलोमानुलोमतः॥

सूत्राणि विन्यसेत् तेषु चत्वार्यङ्केषु बाह्यतः।
चतुष्कोणसमं क्षेत्रं चतुरश्रं भवेदिह॥

सिद्धान्तशेखर के इन श्लोकों में भी चतुरश्र क्षेत्र बनाने की ऊपर बताई गई विधि ही वर्णित है॥४६॥

पद्म मण्डल की रचना का क्रम अब बताते हैं —

क्षेत्रे वृत्तचतुष्टयाङ्गुलमितं वृत्तं च कृत्वा ततो
द्वात्रिंशत्परितो विभज्य च बहिर्वृत्ते च तुर्ये भ्रमेत्।
चन्द्रार्धानि च षोडश द्विपदतोऽप्यन्तस्तृतीये तथा
कुर्यादष्टदलानि चन्द्रदलयोरिन्द्रादिदिक्ष्वग्रकम्॥४७॥

क्षेत्रे पूर्व श्लोक में बताये गये कर्णसूत्र से युक्त चतुरश्र क्षेत्र में **वृत्तचतुष्टयाङ्गुलमितं** अंगुल प्रमाण के चार वृत्तों को नाप कर **वृत्तं च कृत्वा** वर्तुलाकार बना कर **ततः** अनन्तर **बहिः** बाहर की ओर **परितः** चारों तरफ **द्वात्रिंशद् विभज्य** बत्तीस विभाग कर के **तुर्ये वृत्ते** बाहर के चौथे वृत्त में **तथा** उसी प्रकार **तृतीये च** तीसरे वृत्त में भी **अन्तः** पूर्व आदि आठ दिशाओं में उन सूत्रों को दोनों पार्श्वों में **द्विपदतः** दो पदों में **षोडश चन्द्रार्धानि** सोलह अर्धचन्द्राकार रेखाओं को **भ्रमेत्** मण्डल का निर्माण होने तक घुमावे। यहाँ **इन्द्रादिदिक्षु** पूर्व आदि आठ दिशाओं में **अग्रकं** अग्र भाग रहना चाहिये। **चन्द्रदलयोः** अर्धचन्द्र दलों को मिलाकर **अष्टदलानि** आठ दलों का **कुर्यात्** निर्माण करना चाहिये।।४७।।

कर्णसूत्र आदि से युक्त इस चतुरश्र क्षेत्र में चार वृत्तों का निर्माण किया जाता है। एक एक अंगुल की दूरी पर ये वृत्त बनाये जाते हैं। बाद में इस पूरे क्षेत्र को बत्तीस हिस्सों में बाँट कर प्रथम वृत्त को छोड़कर द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वृत्तगत आठ दलों के प्रत्येक पाद में तीन तीन रेखाएं खींचने से बत्तीस विभाग बनेंगे। तृतीय और

चतुर्थ वृत्तों में आठों दिशाओं में फैले सूत्रों की दोनों तरफ चार पद बन जाते हैं। इन चार पदों की पद्धति से आठ दलों की सिद्धि के लिये सोलह चन्द्रार्ध बनावे। इनका अग्र भाग इन्द्र, आग्नेय आदि दिशाओं की ओर होता है। इन चन्द्रार्धों को आपस में मिलाने से आठ दल बन जाते हैं। यहीं दलान्तर भाग को छोड़कर कीलक बनाये जाते हैं। बचे हुए द्वितीय वृत्त में बत्तीस केसरों का निर्माण करना चाहिये। जैसा कि मृगेन्द्रागम में बताया गया है —

वेदभक्तेऽब्जकर्णार्धे चतुर्वृत्तावधि स्थितम् ।
कर्णिकादिदलाग्रान्तं पङ्कजाङ्गचतुष्टयम् ॥

तदष्टपत्रं द्वात्रिंशत्केसरं सर्वकामदम् ।
(क्रि. ८. २८-२९)

इस प्रकार पूर्व श्लोक में प्रदर्शित चतुरश्र क्षेत्र में पद्म मण्डल के निर्माण की विधि यहाँ बताई गई है ॥ ४७॥

पद्म मण्डल की रचना का क्रम ऊपर के श्लोक में बताया गया है। अब इस पद्म के विभिन्न अवयवों को रंगने का क्रम बताया जा रहा है —

पीतेनोज्ज्वलकर्णिकां च रजसा श्वेतेन रक्तेन वै
पीतेनाऽपि च केसराणि रजसा शुक्लेन पत्राणि च ।
श्यामेनाब्जदलान्तरं सितवृती. रक्तेषु कोणेष्वथो
शुक्लासृक्कपिलासिताभकलिताः कीलाः सपुष्पा बहिः ।।४८।।

पीतेन पीले रंग के **रजसा** चूर्ण से **उज्ज्वलकर्णिकां च** प्रकाशमान कर्णिका को और **श्वेतेन** सफेद, **रक्तेन** लाल, **पीतेनापि च** और पीले रंग के चूर्ण से **केसराणि** क्रम से केसर के अग्रभाग, मध्यभाग और मूलभाग को रंगे। **शुक्लेन रजसा** सफेद रंग की धूलि से **पत्राणि च** पद्म के पत्रों को और **श्यामेन रजसा** काली धूलि से **अब्जदलान्तरं** कमल-दलों के बीच के भाग को रंगना चाहिये। **सितवृतिः** आवरण भाग सफेद रहना चाहिये। **अथो** अनन्तर **रक्तेषु** लाल रंग के **कोणेषु** चारों कोणों में स्थापित **कीलाः** दलों की सन्धि में स्थित कीलों को **शुक्लासृक्कपिलासिताभकलिताः** सफेद, लाल, कपिल और काले रंग की धूलि से रंजित करना चाहिये। **ते** ये सभी कीलें **बहिः सपुष्पाः** बाहर की ओर पुष्पों से युक्त होनी चाहिये।।४८।।

ऊपर बताई विधि से पद्म मण्डल का निर्माण हो जाने पर हरिद्रा (हलदी) के जैसे पीले रंग की धूल से कर्णिका भाग को निखारना चाहिये। इस कर्णिका के बीच

में नीले रंग के नौ बीज बनाये जाते हैं। केसरों के अग्र भाग को श्वेत, मध्य भाग को लाल और मूल भाग को पीले वर्ण से रंगा जाता है। पत्रों को सफेद रंग से और पत्रों के मध्य के भाग को हरे रंग से रंगना चाहिये। वृत्त की आकृति श्वेत वर्ण से बनाई जाती है। आग्नेय आदि चारों कोणों के पत्रों को लाल बनाना चाहिये। चारों दिशाओं के सन्धान-कीलकों को शुक्ल, रक्त, कपिल और कृष्ण रंग से जैसे भी शोभा बढे रंगना चाहिये। "अतसीपुष्पसन्निभाः" ऐसा वचन इनके विषय में मिलता है। इन कीलकों के बाह्य भाग को, अर्थात् अग्र भाग को पत्रों से अलंकृत करना चाहिये, जैसा कि मृगेन्द्रागम में प्रदर्शित है —

हेमाभकर्णिकं नीलनवबीजं सितच्छदम्।
पीतरक्तसितोदग्रकेसरालङ्कृतोदरम् ॥

चित्रदिग्गात्रकं रक्तकोणाब्जं नीलकीलकम्।
पीठं माहेश्वरं कुर्यान्मण्डलं चतुरश्रकम्॥
(क्रि. ८. ३४-३५)

मतंगागम के इस वचन में ऊपर बताई गई विधि ही वर्णित है ॥४८॥

ऐसे पद्म-पीठ के वर्णविशेषों का और सत्त्व-रज-तमोमय रेखाओं का विस्तार अब प्रस्तुत श्लोक में प्रदर्शित है —

गात्राणि कृष्णेन्दुभमिन्दुरक्तं सुरक्तहेमाभसुकृष्णमैन्द्रात् ।
सत्त्वादिरेखा यवनिम्नमध्या मध्याङ्गुलिप्रक्रमविस्तराश्च ।।४९।।

गात्राणि आगे बताये गये क्रम से पद्म के चारों पार्श्वों में बनाये गये पीठों को **ऐन्द्रात्** पूर्व दिशा के क्रम से आरंभ करके क्रमशः **कृष्णेन्दुभं** काले और सफेद मिश्रित रंग से, **इन्दुरक्तं** सफेद और लाल मिश्रित रंग से, **सुरक्तहेमाभं** स्वच्छ रक्तवर्ण मिश्रित सुवर्ण वर्ण की धूलि से और **सुकृष्णं** गहरे काले वर्ण से रंगना चाहिये। **सत्त्वादिरेखाः** सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों को दिखाने वाली सफेद, लाल और काली रेखाएँ **यवनिम्नमध्याः** एक एक यवप्रमाण अन्तर से खींची जानी चाहिये **मध्याङ्गुलिप्रक्रमविस्तराश्च** और इनका विस्तार मध्यमा अंगुली के प्रक्रम के समान रहना चाहिये।।४९।।

गात्र (पीठ) का लक्षण अगले श्लोक में बताया जा रहा है। तदनुसार पद्म के बाहर चारों दिशाओं में बनाये गये विशेष पीठों को काले और सफेद, श्वेत और रक्त,

गहरे लाल और पीले तथा गहरे काले और पीले वर्ण से रंगना चाहिये। यहाँ जिन दो-दो वर्णों का उल्लेख है, उनको आपस में मिलाकर रंगा जाता है। पूर्व से उत्तर दिशा के क्रम से ऐसा किया जाता है। जैसा कि निम्न श्लोक में प्रदर्शित है —

कृष्णश्वेतं पूर्वभागे श्वेतरक्तं तु दक्षिणे।
रक्तपीतं पश्चिमतः पीतकृष्णमुदग्दिशि ॥

गात्रों (पीठों) की सीढियों को, जिससे कि शोभा बढे, तरह तरह के रंगों से रंगना चाहिये। सत्त्व, रज और तमोगुण की द्योतक तीन रेखाओं को शुक्ल, रक्त और कृष्ण रंग से रंगा जाय। इन तीन सत्त्व आदि की रेखाओं का अन्तर कम से कम एक यव (जौ) के बराबर रहना चाहिये। इनका विस्तार मध्यमा अंगुलि के मूल भाग के बराबर बनाया जाता है। श्वेत आदि वर्णों की धूलि चाँवल आदि से बनाई जाती है। जैसा क़ि बताया गया है —

यवगोधूमजैश्चूर्णैः शालितण्डुलजैः सितम्।
धातुसिन्दूरजं रक्तं कृष्णं दग्धयवादिकम् ॥
हरिद्रासंभवं पीतं धान्यैर्वा तत्प्रभान्वितैः ॥

यह वचन किन्हीं आचार्यों का है ॥ ४९॥

पूर्वोक्त पीठों के निर्माण की विधि और पद्म (मण्डल) के विस्तार के क्रम को प्रस्तुत श्लोक में बताते हैं —

सप्तादीन् विषमान् दलांश्च धरणीदिक्स्थैश्च सूत्रैः पुरा
तैः सार्धं दलसंख्यया प्रतिदलं भक्त्वा चतुर्भिर्लिखेत्।
दन्ताङ्गुल्युपरिस्थपद्ममपि वा नार्कांशतो नाप्यधो
वेदाधोऽर्कदलात् परं त्वनुचितं प्रोक्तं तथा देशिकैः ॥५०॥

पुरा पहले **धरणीदिक्स्थैः** क्षेत्र के दोनों पार्श्वों में स्थित **सूत्रैः** आठ आठ धागों से **सप्तादीन् विषमान् दलान्** (कृत्वा) सात, नौ, ग्यारह — इस तरह की विषम संख्या वाले दलों की रचना करके **तैः सार्धं** उनके साथ **दलसंख्यया** दल की संख्या के अनुसार **प्रतिदलं** प्रत्येक दल को **भक्त्वा** भलीभाँति विभक्त कर **चतुर्भिः** चार पद पर्यन्त **लिखेत्** लिखना चाहिये। **दन्ताङ्गुल्युपरिस्थपद्ममपि वा न** बत्तीस अंगुल से ऊपर का कमल नहीं बनाना चाहिये। **अर्कांशतः** बारह अंगुल से **अधः** नीचे का, कम नाप का **पद्ममपि न** पद्म भी नहीं रहना चाहिये। **तथा** वैसे ही **वेदाधः पद्मं** चार दल

से कम दल का कमल **अर्कदलात् परं पद्ममपि** बारह दल से अधिक दलों का कमल बनाना भी **अनुचितं** अनुचित है, **इति** ऐसा **देशिकैः** शैवाचार्यों ने **प्रोक्तम्** कहा है ।।५०।।

यहाँ विषम पद से सात के आगे नौ, ग्यारह आदि संख्याओं का ग्रहण अपनी रुचि के अनुसार पीठ की ऊँचाई करने के अभिप्राय से है। उन सात पदों के साथ दल की संख्या के अनुसार प्रत्येक पद को विभक्त कर सात पदों के दो तरफ से एक एक पद को मिटाकर पाँच पद, पुनः दो पदों को मिटा कर तीन पद और फिर दोनों तरफ से पदों को मिटा कर एक पद बचा रहता है। इसी पद्धति से नवपद, एकादशपद आदि में से भी अन्ततः एक पद बचा रहता है। इसके बाद चतुष्पद प्रमाण की रचना करनी चाहिये। पहले सात-सात पद बना कर बीच के एक पद को लेकर वहाँ से दक्षिण और उत्तर दिशा पर्यन्त तीन, पाँच, सात पदों का ग्रहण करे। इसी तरह से पूर्व और पश्चिम दिशा पर्यन्त गात्र की रचना की जाती है। दक्षिण और उत्तर के गात्र का निर्माण मध्य पद से लेकर पूर्वान्त एवं पश्चिमान्त तीन, पाँच, सात पदों का ग्रहण कर तथा इसी तरह पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा से तथा दक्षिण दिशा से जोड़ कर बनाना चाहिये।

"द्वात्रिंशदङ्गुलादूर्ध्वं प्रकृतावपि नाम्बुजम्" इस वचन के अनुसार बत्तीस अंगुल से बड़ा पद्म नहीं बनाया जाता।[1] प्रकृति का अर्थ यहाँ मुख्य याग किया जाता है। बत्तीस अंगुल का पद्म आठ हाथ प्रमाण के चतुरश्र क्षेत्र में बनाया जाता है। दो, तीन अथवा चार हाथ के मण्डप में चौबीस अंगुल प्रमाण का तथा पाँच, छः और सात हाथ के मण्डप में क्रमशः छब्बीस, अट्ठाईस और तीस अंगुल का पद्म बनाया जाता है। मृगेन्द्रागम की टीका में ये प्रमाण बताये गये हैं। आचार्यों ने ये सब विषय आगमों में देखकर ही बताये हैं ॥५०॥

लतालिंग नामक मण्डल में रचनाधीन पद्म के लक्षण को प्रस्तुत श्लोक में कहते हैं —

---

१. मीमांसासूत्रों में वैदिक कर्मकाण्ड का स्वरूप निखारा गया है। प्रकृति और विकृति यागों का स्वरूप वहाँ विस्तार से वर्णित है। विकृति यागों की सारी प्रक्रिया प्रकृति याग के प्रकरण में ही बता दी जाती है। विकृति याग का निरूपण करते समय उसकी विशेष प्रक्रिया को ही दिखाया जाता है। इसी प्रक्रिया का अनुसरण आगमों में भी किया जाता है, जैसा कि प्रस्तुत स्थल में दिखाया गया है। पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता के १९ वें परिच्छेद में त्रिविध दीक्षा का निरूपण करते समय वैभव दीक्षा विस्तार से वर्णित है और तदुपरान्त उसका अतिदेश व्यूह और पर दीक्षा में कर दिया गया है।

भक्ते विंशतिधा बहिः शशिपदा वीथिः सिता दिक्षु जै-
र्द्वाराणीशमुखद्युतीन्युभयतो लिङ्गानि पाण्ड्वन्दुगैः ।
कोणेष्वब्धिपदैर्लता हरितभा वीथिश्चतुष्षष्टिभिः
पद्मं शान्तिकलादिभानि च लतालिङ्गोद्भवे मण्डले ।।५१।।

लतालिङ्गोद्भवे लताकार नामक लिंग के आधार वाले लतालिंग नाम के **मण्डले** मण्डल में बनाये जाने वाले **पद्मं** कमल की रचना का क्रम इस प्रकार है — **विंशतिधा भक्ते** बीस कोष्ठकों में विभक्त **क्षेत्रे** स्थान में **बहिः वीथिः** बाहर के चारों पार्श्वों की पंक्ति (गली) **शशिपदा** एक पद की **सिता** (स्यात्) श्वेत वर्ण की होनी चाहिये। **दिक्षु** पूर्व आदि चार दिशाओं में स्थित **जैः** आठ पदों में **द्वाराणि** चार द्वार बनाने चाहिये। **पाण्ड्वन्दुगैः** लिंग, पट्ट, कण्ठ, पीठ — इन सबके लिये क्रमशः एक, दो, एक, दो पदों को छोड़कर कोष्ठकों में **उभयतो लिङ्गानि** दोनों पार्श्वों में स्थापित लिंगों को **ईशमुखद्युतीनि** शिव के तत्पुरुष आदि मुखों के समान कान्तिवाले **कार्याणि** बनाने चाहिये। **कोणेषु** आग्नेय आदि चार कोणों के **अब्धिपदैः** चार कोष्ठकों में **लता** (कार्या) लता का आकार बनाना चाहिये। **वीथिः** लिंग के ऊपर के चार पार्श्वों में एक कोष्ठक की पंक्ति को **हरितभा** हरे रंग के चूर्ण से रँगना चाहिये। **चतुष्षष्टिभिः** बीच के चौसठ कोष्ठकों में **पद्मं** कमल की रचना करनी चाहिये। (तत्पत्राणि च) उस कमल के दलों को **शान्तिकलादिभानि** शान्ति आदि कलाओं के लिये विहित रंग के चूर्ण से (कार्याणि) रँगना चाहिये।।५१।।

यहाँ द्वारों की रचना वीथि के बाहर ऊपर की ओर दो पद की चौड़ाई और चार पद की ऊँचाई में की जाती है। मध्य के आठ पदों में चार द्वार बनाये जाते हैं। द्वार की दोनों तरफ विस्तार और ऊँचाई के अनुसार स्थित बारह पदों में एक पद, तीन पद, एक पद और तीन पद प्रमाण की लिंग, पट्ट, कण्ठ और पीठ की क्रमशः रचना की जाती है। द्वार के पास ही इनका निर्माण किया जाता है। प्रत्येक द्वार पर दो लिंगों के रहने से इनकी संख्या आठ हो जाती है। इन लिंगों की कान्ति परमेश्वर के पूर्व आदि दिशाओं में मुख वाले तत्पुरुष आदि के समान होती है। **पंचावरणस्तव** में अघोरशिवाचार्य ने सद्योजात आदि मुखों का वर्ण बताया है —

प्रत्यक् श्वेतं वदनमरुणं चोत्तरं कृष्णवर्णं
याम्यं पूर्वं कनकरुचिरं शुक्लमूर्ध्वं दधानम् ।

आग्नेय आदि चार कोणों के चार पदों में लता का निर्माण करना चाहिये। लिंग के ऊपर एक पद की हरे रंग की पंक्ति (मार्ग) चारों तरफ बनानी चाहिये। बीच में चौसठ पद का पद्म बनाना चाहिये। उस पद्म में चार पद की कर्णिका, उसके ऊपर चारों तरफ एक पद में केसर, इससे आगे दो पदों में आठ दिशाओं में आठ पत्र बनाये जाते हैं। इस लतालिङ्गोद्भव मण्डल में शान्ति आदि कलाओं की कान्ति वाले पत्र पूर्व आदि दिशाओं में कपिल, कृष्ण, श्वेत और रक्त वर्ण के होने चाहिये। आग्नेय आदि कोणों के पत्र श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंग में रंगे जाते हैं ॥५१॥

लतालिंग मण्डल के दूसरे प्रकार का, उसकी विशेषता का उल्लेख करते हुए यहाँ वर्णन किया जा रहा है —

अष्टाविंशतिभाजिते वसुपदैर्मध्येऽम्बुजं भागतः
पट्टं स्यात् सितवीथिका शशिपदात् कोणे लता सप्तभिः ।
द्वारं दिक्षु मुनिद्वयैरुभयतो लिङ्गं च षट्सप्तभि-
र्वीथिर्बाह्यपदेन मण्डलमिदं त्वन्यल्लतालिङ्गजम् ।।५२।।

अष्टाविंशतिभाजिते अट्ठाईस कोष्ठकों में विभक्त (क्षेत्रे) क्षेत्र के **मध्ये** बीच के भाग में **वसुपदैः** आठ-आठ कर चौसठ पदों में **अम्बुजं** पद्म की (कुर्यात्) रचना करनी चाहिये। **भागतः** उसके चारों तरफ एक पंक्ति में **पट्टं स्यात्** पट्ट बनाना चाहिये। **शशिपदात्** पट्ट के बाहर एक पंक्ति में **सितवीथिका** सफेद रंग की वीथि, **कोणे** आग्नेय आदि चारों कोणों में **सप्तभिः** सात पदों से **लता** लता, **दिक्षु** पूर्व आदि चारों दिशाओं में **मुनिद्वयैः** चौड़ाई के लिये दो पदों और लम्बाई के लिये सात पदों में **द्वारं** (भवेत्) द्वार का निर्माण किया जाता है। **उभयतः** उन द्वारों के दोनों तरफ **षट्सप्तभिः** चौड़ाई में छः पदों और लम्बाई में सात पदों में **लिङ्गं** (स्यात्) क्रम से चार, छः, चार, दो, चार और छः पदों जैसे लिंग, पट्ट के लिये कमलकण्ठ, कमलपीठ इन सब में आठ लिंग रहने चाहिये। **बाह्यपदेन** चार पार्श्वों में बचे बारह में से एक पद में **वीथिः** (स्यात्) एक पंक्ति बनावे। **इदं मण्डलं** इस प्रकार से बनाया गया यह मण्डल **अन्यत्** पूर्व श्लोक में प्रदर्शित मण्डल से भिन्न प्रकार का **लतालिङ्गजं** (स्यात्) लतालिंग मण्डल बन जायगा।।५२।।

यहाँ 'मुनि' पद से सात संख्या गृहीत होती है। दो पद की विशालता वाले और सात से लेकर चौदह पद तक की ऊँचाई वाले द्वारों की रचना यहाँ की जाती है। द्वारों

के दोनों तरफ छः पद की विशालता वाले और सात पद की ऊँचाई तक स्थित बयालीस पदों में क्रमशः चार, छः, चार, दो, चार और छः पद प्रमाण वाले लिंग, पट्ट, कमल-कण्ठ और कमलपीठ की रचना करनी चाहिये। द्वारों के दोनों तरफ लिंगों की स्थिति रहती है, अतः लिंगों की संख्या आठ हो जाती है ॥५२॥

मतंगागम में विशेष रूप से वर्णित नवनाभ मण्डल के लक्षणों को अब प्रस्तुत श्लोक में दिखाते हैं —

क्षेत्रे सप्तपदीकृते शशिपदाद् वीथिः समन्तात् पदै-
र्दिक्ष्वष्टासु च पङ्कजानि परितो वीथीन्दुभागेन च ।
द्वाराण्यष्ट कजान्तरस्थितपदैरन्तःस्थितैर्गात्रकं
पद्मं स्यान्नवनाभमण्डलमिदं श्रीमन्मतङ्गोदितम् ।।५३।।

सप्तपदीकृते पश्चिम से पूर्व तक और दक्षिण से उत्तर तक आठ-आठ दलों को काट कर, उनको सात पदों में विभक्त कर **क्षेत्रे** चतुष्कोण स्थल पर **शशिपदात्** (बहिः) बीच के एक पद से बाहर **समन्तात्** चारों पार्श्वों में **पदैः** आठ पदों में **वीथिः** वीथि (रास्ता), **अष्टासु च दिक्षु** और वीथि के बाहर सोलह पदों में पूर्व आदि आठ दिशाओं के आठ पदों में **पङ्कजानि** आठ कमल, **इन्दुभागेन** कमलों के बाहर के भाग में बचे एक पद के **परितो वीथिः** चारों तरफ वीथि, **कजान्तरस्थितपदैः** आठ कमलों के बीच-बीच में स्थित आठ पदों में **अष्ट द्वाराणि** आठ द्वार, **अन्तःस्थितैः** पूर्व आदि चार दिशाओं के द्वारों के बीच में स्थित चार पदों में **गात्रकं** (कृतं चेत्) यदि पीठ की रचना की जाती है, तो वह **पद्मं स्यात्** पद्म मण्डल बन जाता है। **इदं** इस पद्धति से बनाया गया यह पद्म मण्डल **नवनाभमण्डलं** नवनाभ मण्डल के नाम से **श्रीमन्मतङ्गोदितम्** सभी आगमों में श्रीसम्पन्न श्रेष्ठ मतंग्रागम में वर्णित है।।५३।।

यहाँ आठ दिशाओं का अभिप्राय पूर्व आदि आठ दिशाओं में स्थित इन्द्र आदि लोकपालों के पदों से है। पूर्व आदि चार दिशाओं में स्थित मध्य पदों के दोनों तरफ स्थित आठ पद द्वारों के लिये छोड़कर आग्नेय आदि कोणों के बारह पदों में वीथि बनानी चाहिये। इस नवनाभ मण्डल की रचना की विधि मतंगागम में इस प्रकार उपदिष्ट है —

विभज्य सप्तभिर्भागैर्मध्ये पद्मं प्रकल्पयेत्।
द्वात्रिंशदङ्गुलसमं सुविभक्तं तु पूर्ववत्॥

भागमेकं परित्यज्य दिक्ष्वष्टासु यथाक्रमम्।
मध्याम्बुजप्रमाणानि पद्मान्यष्टौ समालिखेत्॥

चतुर्विंशद्दलं भद्रमष्टद्वारमथोदितैः।
रजोभिः पूरयेत् सम्यग् यथा भवति शोभनम्॥
(क्रि. १.५३-५५)

इस विषय का विस्तार पुनः वहाँ[१] इस प्रकार किया गया है —

शुक्लादिरागकरणं देवतावाहनं तु वा।
मध्ये तत्कमलं शुक्लमापीतं पूर्वपङ्कजम्॥

आग्नेय्यां रक्तकमलं नीलाब्जं दक्षिणे स्थितम्।
नैर्ऋत्यां पीतकृष्णाभं शुक्लं वारुणदिक्स्थितम्॥

आधूम्रं वायुकोणस्थं रक्तपीतं तदुत्तरे।
ईशाने मौक्तिकं शङ्खं शुक्लं वा नवपङ्कजम्॥

नवनाभं समाख्यातं प्रासादाख्यं शिवस्य च।
मध्ये पद्मे शिवः पूज्यो लोकेशाश्च परेषु च॥

अस्त्राणि बाहुवीर्यं तु भक्त्या यः पूजयेत् ततः।
अश्वमेधसहस्राणि राजसूयशतानि च॥

एतन्मण्डलपूजायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्।
नासौ लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।
नित्ये नैमित्तिके काम्ये कर्तव्यं भुक्तिमुक्तये॥

यहाँ पूर्व उद्धरण में नवनाभ मण्डल की रचना का प्रकार तथा उत्तर उद्धरण में रंग-पूरण के साथ इस मण्डल की पूजा की फलश्रुति भी वर्णित है ॥५३॥

आगे के दो श्लोकों में स्वायम्भुवागम में वर्णित अनन्तविजय नामक मण्डल का स्वरूप बताते हैं —

क्षेत्रे षट्पदभाजिते श्रुतिपदैर्मध्येऽम्बुजं भागयो-
र्वीथिः स्यात् परितस्तदर्धविलयात् पीठाय गात्राणि च।

---

[१] ये श्लोक मतंगपारमेश्वर में उपलब्ध नहीं होते।

बाह्ये दिक्ष्वभितो विदिक्षु च पदैरिन्द्रादिभैरावृति-
र्वीथीवक्त्रगतैस्तथाष्टकपदैर्द्वाराणि शान्त्यादिभैः ।।५४।।

शिष्टैरष्टपदैश्च दिक्स्थपदयोः सव्यापसव्यस्थितैः
श्वेतार्कासितलोहिताभशशभृच्छ्वेतासितस्वर्णभैः ।
वर्गैरष्टभिरादिकैश्च लिखितैर्युक्तं च सत्त्वादिका
रेखा बाह्यकृता त्वनन्तविजयं स्वायम्भुवं मण्डलम् ।।५५।।

षट्पदभाजिते क्षेत्रे पश्चिम से पूर्व और दक्षिण से उत्तर दिशा तक के क्षेत्र को छः पदों में विभक्त कर, इस चतुष्कोण भूप्रदेश के **मध्ये** मध्य भाग में स्थित **श्रुतिपदैः** चार पदों में **अम्बुजं** (कुर्यात्) कमल बनावे। **भागयोः** बचे हुए दो पदों के **परितः** चारों पार्श्वों में **वीथिः स्यात्** पंक्ति (मार्ग) रहनी चाहिये। **तदर्धविलयात्** पूर्व आदि चार दिशाओं के कमलों के बाहर के मार्ग के बीच के दो पदों के मध्य में स्थित पदों में से आधे पदों को मिटा देने से **पीठाय** विद्येश्वर पीठ के लिये पदों को **गात्राणि च** और चार पीठों को भी तैयार करना चाहिये। **बाह्ये** पद्म के बाहरी भाग में **दिक्षु** पूर्व आदि दिशाओं में **विदिक्षु च** और आग्नेय आदि चार कोणों में **इन्द्रादिभैः** इन्द्र, अग्नि आदि के जैसे रंग वाले **पदैः** आठ दिशाओं में स्थित आठ पदों के **अभितः** चारों तरफ **आवृतिः** (कार्या) आवरण देवताओं के स्थानों की रचना करनी चाहिये। **तथा** इसी तरह **शान्त्यादिभैः** पीत, कृष्ण, शुक्ल और रक्त वर्ण से **वीथीवक्त्रगतैः** पंक्ति के मुख पर स्थित **अष्टकपदैः** चार दिशाओं में स्थित आठ पदों के **द्वाराणि** (स्युः) आठ द्वार बनाये जाते हैं। (अथ) इसके बाद **दिक्स्थपदयोः** चार दिशाओं के द्वारों में स्थित दो पदों के **सव्यापसव्यस्थितैः** वाम पार्श्व और दक्षिण पार्श्व में स्थित **श्वेतार्कासितलोहिताभशशभृच्छ्वेतासितस्वर्णभैः** सफेद, लाल, काला, लाल, सफेद, सफेद, काला और सुवर्ण सदृश **आदिकैः** अकार आदि **अष्टभिर्वर्गैः** आठ वर्गों को **लिखितैः** रेखाकार रूप में लिख कर **शिष्टैः** बचे हुए **अष्टपदैः** आठ पदों से **युक्तं** (कृत्वा) संबद्ध कर **बाह्यकृता** बाहर **सत्त्वादिका** सत्त्व आदि गुणों के रंगवाली **रेखा** रेखाएँ खीचें। **इदं** इस तरह से बनाया गया यह **अनन्तविजयं** अनन्तविजय नाम का **मण्डलं** मण्डल **स्वायम्भुवं** स्वायंभुवागम में वर्णित है।।५४-५५।।

यहाँ वीथि बनाने का उद्देश्य यह है कि पूर्व आदि चार दिशाओं में कोण-स्थित पदों के साथ समानता हो जाय। इन्द्र आदि आठ दिक्पालों के वर्ण क्रमशः पीत, रक्त, कृष्ण, इन्द्रनील, धवल, हरिद्वर्ण, स्वर्णवर्ण और स्फटिकवर्ण हैं। सत्त्व आदि गुणों की प्रतीक शुक्ल, रक्त और कृष्णवर्ण की तीन रेखाएँ बाहरी भूमि में खींची जाती हैं। जैसा कि मतंगागम में बताया गया है —

भूमिं शुक्लेन रजसा तिसृभिश्चतुरश्रकम्।
रेखाभिः कारयेन्मन्त्री सितरक्तासितक्रमात्॥

इस प्रकार बनाया गया यह मण्डल अनन्त प्रकार की विजयों को देने वाला है। अपनी इस अर्थ के अनुरूप संज्ञा वाले मण्डल की रचना की विधि स्वायम्भुवागम में इस प्रकार बताई गई है —

अथाचार्याभिषेकार्थमनन्तविजयं यजेत्।
काम्यानां च प्रसिद्ध्यर्थं निधिभूतमिदं यतः॥

द्विहस्तपीठगर्भस्थं मध्ये पद्मं समालिखेत्।
षडङ्गुले पुरोभागे प्रथमे कर्णिकां लिखेत्॥

केसराणि द्वितीये तु दलानां सन्धयोऽपरे।
चतुर्थे तु दलाग्राणि पद्ममेवं प्रकल्प्य तु॥

द्विहस्तामालिखेद् वीथीं पीठस्य परितः स्थिताम्।
वीथ्यर्धेन पृथक्कार्यं देवतावरणं बहिः॥

वीथी मुखाष्टविच्छेदभागाष्टकविकल्पिता।
वीथीमुखार्धनिर्वृत्तबहिर्द्वाराष्टसंयुतम्॥

सूत्रयित्वा ततः पश्चाद् रजः सर्वं निपातयेत्।
तानि सम्यक् प्रणीतानि यथार्थविभवानि तु॥

पातयेत् सूत्रमार्गेण सितादीन्यानुपूर्वशः।
सितरेखासुनिर्वृत्तं बही रक्तादिभिर्वृतम्॥

ऋजुमार्गाष्टकोपेतमनन्तविजयं शुभम्।
तस्य मध्ये न्यसेद् देवं कर्णिकायां परं शिवम्॥

ईशानमूर्ध्नि विन्यस्य वक्त्रं पूर्वदले न्यसेत्।
दक्षिणे तु तथाघोरं वामदेवमथोत्तरे॥

पश्चिमे तु दले सद्यं पदव्यूहक्रमात् पुनः।
अङ्गादीनामनेनैव विदिशा तु समारभेत्॥

आग्नेयदलमूले तु प्रणवं हृदयं न्यसेत्।
ईशाने तु शिरश्चैव नैर्ऋते च शिखां न्यसेत्॥
वायव्यां कवचं तद्वद् दलाग्रेऽस्त्रं तथोत्तरे।
सर्वात्मानं शिरोऽष्टार्णं ज्वालिनीं पिङ्गलं तथा॥
नेत्रं पूर्वदलाग्रे तु दक्षिणेऽस्त्रं च विन्यसेत्।
गायत्रीं पश्चिमे स्थाप्य विद्याङ्गानि तु पूर्ववत्॥
दलान्तरेषु सर्वेषु ततः पाशुपतं न्यसेत्।
ऐन्द्रे पीठे ततोऽनन्तं याम्ये सूक्ष्मं तु विन्यसेत्॥
आवाहनार्घ्यपाद्यैश्च वारुणे तु शिवोत्तमम्।
एकनेत्रं ततो देवमुत्तरे स्थाप्य पूज्य च॥
ईशाने तु न्यसेद् धीमान् एकरुद्रं समाहितः।
त्रिमूर्तिमग्निदेशे तु श्रीकण्ठं नैर्ऋते ततः॥
शिखण्डिनं च वायव्ये पीठे सम्पूजयेत् क्रमात्।
ततो विद्येश्वरी शक्तिर्मूलविद्येति विश्रुता॥
विद्यामूर्तिः शिवस्यैषा सम्पूज्या यागकर्मणि।
वर्गद्वयमनन्तस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः।
विभिन्नां पूजयेद् देवीं सूक्ष्मादीनां ततः क्रमात्॥
एवं वर्गाष्टकावस्थाश्चतुर्दिक्षु व्यवस्थिताः।
सम्पूज्य पूजयेदस्त्रं द्वारस्थानाष्टकस्थितम्॥

इस विस्तृत उद्धरण में अनन्तविजय नामक मण्डल की रचना के साथ यह भी बताया गया है कि आचार्य के अभिषेक के लिये भी इसकी रचना की जाती है। साथ ही यहाँ प्रस्तुत मण्डल में पूजनीय देवताओं के स्थानों का भी निर्देश किया गया है॥५४-५५॥

षट्साहस्री संहिता में वर्णित भद्रमण्डल का लक्षण अब इस श्लोक में बताया जा रहा है —

वेदैश्चतुष्षष्टिपदेषु मध्ये पद्मं च वीथिः परितोऽब्जभागैः।
द्वाराणि दिक्षु द्विपदं कपोलं स्यात् कोणबन्धोऽन्यपदैश्च भद्रम्॥५६॥

चतुष्षष्टिपदेषु पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर दिशाओं के क्षेत्र को नौ-नौ धागों से आठ-आठ (चौसठ) पदों में विभक्त कर पदों के मध्ये मध्य भाग में

वेदैः चार पदों से **पद्मं** कमल **च** और **परितः** कमल के चारों तरफ एक पद से **वीथिः** पंक्ति, **दिक्षु** पूर्व आदि दिशाओं में **अब्जभागैः** कमल के मध्य भाग के पदों के समान चार पदों से **द्वाराणि** चार द्वार, **द्विपदं** द्वार के दोनों पार्श्वों में दो पद का **कपोलं** द्वार का पार्श्वभाग **अन्यपदैश्च** और बचे हुए पदों से **कोणबन्धः** आग्नेय आदि चार कोणों का पदबन्धन **स्यात्** बनाना चाहिये। (एवं कृतमिदम्) इस पद्धति से निर्मित इस मण्डल को **भद्रं** (स्यात्) भद्रमण्डल कहते हैं।।५६।।

यहाँ वर्णित भद्रक मण्डल की निर्माण-विधि [१]षट्सहस्र नामक आगम में इस प्रकार वर्णित है —

अष्टधा विभजेत् क्षेत्रं मध्ये पद्मं चतुष्पदम्।
तद्बाह्ये वीथिका कार्या पदैकेन समन्ततः॥

पद्ममानं चतुर्द्वारं द्विपदेन कपोलकम्।
कोणबन्धं ततः शिष्टो भद्रमेतदुदीरितम्॥

कपोल, कोणबन्ध आदि पदों का अर्थ ऊपर बता दिया गया है ॥५६॥

इसके बाद किरणागम में वर्णित पुराकार मण्डल का लक्षण अगले दो श्लोकों में बताया गया है —

क्षेत्रे विंशतिवेदभागरचिते मध्ये कलाभिः कजं
द्वाभ्यां गात्रकवीथिके श्रुतिपदैर्विद्येश्वराद्यावृतिः ।
तत्राब्जोत्पलस्वस्तिकानि च तथा वज्रादिक्लृप्तिर्बहि-
र्द्वारं पद्मसमं कपोलगलकाद्येकैकतः पार्श्वयोः ।।५७।।

शिष्टैः कोणमथेन्दुभच्छदवृतं पीतं च मध्यं शशी-
रक्तस्वर्णभकेसरं. हरितभं कोणांश्च धर्मादिभान् ।
चित्रं गात्रकमिन्दु वीथि च सितं पद्मं च पाण्डूत्पलं
रक्तं स्वस्तिकमस्त्रकाणि मुखभं द्वारं पुरं कैरणम् ।।५८।।

विंशतिवेदभागरचिते पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर दिशाओं में पचीस धागों को चौबीस पदों में विभक्त **क्षेत्रे** चतुरश्र क्षेत्र के **मध्ये** मध्य भाग में

---

[१] कालोत्तरागम की षट्साहस्रिका संहिता अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलती है। सार्धत्रिशतिकालोत्तर (पृ. १७३-१८४) देखिये। प्रस्तुत टीका में उद्धृत श्लोक भी वहाँ संगृहीत हैं।

कलाभिः सोलह पदों से **कजं** पद्म की, **द्वाभ्यां** पद्म के बाहर के दो पदों से **गात्रकवीथिके** पीठ की पंक्ति की, **श्रुतिपदैः** चार पदों से **विद्येश्वराद्यावृतिः** अनन्त आदि विद्येश्वरों के आवरण की रचना करनी चाहिये। **तत्र** विद्येश्वर आदि के आवरण स्थानों में **अब्जोत्पलस्वस्तिकानि** कमल, कुमुद और स्वस्तिक के आकारों की **तथा** वैसे ही **वज्रादिक्लृप्तिः** वज्र आदि आयुधों की भी रचना करनी चाहिये। **बहिः** बाहरी भाग में **पद्मसमं द्वारं** पद्म सरीखा द्वार **पार्श्वयोः** उसके दोनों तरफ **एकैकतः** एक-एक पद में **कपोलगलकादि** कण्ठ, उपकण्ठ आदि का निर्माण करे। **शिष्टैः** बचे हुए पदों से **कोणं च** चार कोनों को बनाकर और **मध्यं** मध्य भाग को **इन्दुभच्छदवृतं** सफेद दलों से आवृत कर **पीतं च** कर्णिका को पीले रंग की **शशीरक्तस्वर्णभकेसरं** ऊपर सफेद, बीच में लाल और नीचे सोने के रंग की केसर से युक्त **हरितभं च** और दलों के अन्दर के भाग को हरा रँग कर **कोणान्** कोणों को **धर्मादिमान्** धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के लिये उपयुक्त होने वाले (सफेद, लाल, पीला और काला) रंगों से रँग कर **गात्रकं** पीठ को **चित्रं** चितकबरे रंग का, **वीथि** मार्ग को **इन्दु** सफेद रंग का, **पद्मं** बाहर के पद्म को **सितं** सफेद, **उत्पलं** कुमुद को **पाण्डु** सफेद, **स्वस्तिकं** स्वस्तिक को **रक्तं** लाल, **अस्त्रकाणि** द्वार के पाशुपत आदि अस्त्रों को **पीतानि** पीत वर्ण, **द्वारं च** और चारों द्वारों को **मुखभं** तत्पुरुष आदि मुखों के लिये निर्दिष्ट रंगों से रँगे। **इदं पुरं** इस तरह से निर्मित यह पुराकार मण्डल **कैरणम्** किरणागम में वर्णित है।।५७-५८।।

पूर्व (इन्द्र) आदि चार दिशाओं के चार पदों में चार गात्र और शेष पदों में वीथि (पंक्ति) बनानी चाहिये। श्रुतिपद, अर्थात् आठों दिशाओं के मध्य में स्थित चार पद प्रमाण वाले चतुर्व्यूह में स्थित चार पदों में अनन्त आदि आठ, नन्दी आदि आठ, इन्द्र आदि आठ और वज्र आदि आठ आयुधों की आवरण देवताओं के रूप में पूजा की जाती है। वीथि के कोण से प्रारंभ कर बाह्य कोण पर्यन्त चार पद प्रमाण वाला स्थान मध्य कहलाता है। यहाँ विद्येश्वर, गणेश्वर और इन्द्र आदि के आठ आठ व्यूहों में यथाक्रम अब्ज, उत्पल और स्वस्तिक की तथा कमल, कुवलय और स्वस्तिक की रचना की जाती है। इसी तरह से वज्र, शक्ति आदि आयुधों के भी स्वस्तिक बनाये जाते हैं। जैसे कि पद्मायुध के ईशान कोण से दक्षिण के चार पदों में कमल, नैर्ऋत्य कोण से उत्तर के चार पदों में चक्र का कुवलय बनाया जाता है। ईशान से दक्षिण के

चार पदों में ब्रह्मा का कमल, नैर्ऋत्य कोण से उत्तर के चार पदों में विष्णु का उत्पल बनाया जाता है। ब्रह्मा और विष्णु का स्थान नैर्ऋत्य और ईशान कोण के दिक्पालों के समान माना जाता है। बाहर स्थित इन्द्र आदि की चार दिशाओं में स्थित व्यूह के दोनों पार्श्वों में पद्म के समान सोलह पद-प्रमाण के दो पद विस्तार वाले और आठ पद की ऊँचाई वाले चार द्वार बनाये जाते हैं। द्वारों के दोनों तरफ के भाग कपोल और गलक, अर्थात् कण्ठ और उपकण्ठ कहलाते हैं। शेष पदों से आग्नेय आदि कोणों के दोनों तरफ के पदों का निर्माण होता है। शेष अर्थ अन्वयार्था में स्पष्ट कर दिया गया है। किरणागम में इस पुराकार मण्डल की रचना का प्रकार इस तरह से वर्णित है —

चतुष्षडष्टहस्तं वा षोडशात्मकमेव वा।
क्षिप्त्वा भागत्रयं भागमेकैकं चाष्टधा पुनः॥

चतुर्भिः कमलं भागैर्वीथिका तत्समा भवेत्।
वीथ्यर्धेन च यत्कार्यं देवतावरणं बहिः॥

द्वाराणि पद्ममानानि तदंशेनैव वर्तयेत्।
एकभागसमं कर्णं कपोलं वर्तयेत् ततः॥

उपकण्ठं तथावर्त्य शेषा शोभेति गीयते।
एवं स्याद् द्वारविन्यासः पद्मे पूर्वास्तथेश्वराः॥

तीक्ष्णपद्मग्रोत्पलसंस्थानाः पूज्याः प्रमथनायकाः।
लोकेशाः स्वस्तिके पूज्याश्चतुर्भागविवर्जिते॥

बाह्यतोऽस्त्रगणं दद्याल्लक्षणेन सुवर्तनम्।

यह किरणागम में वर्णित पुराकार मण्डल का स्वरूप है। मृगेन्द्रागम में इसी पुराकार मण्डल के निर्माण की दूसरी विधि वर्णित है, जिसका कि स्वरूप आगे के दो श्लोकों में दिया गया है ॥५७-५८॥

अब आगे दो श्लोकों में मृगेन्द्रागम में वर्णित पुराकार मण्डल का स्वरूप बताते हैं —

क्षेत्रे षण्णवतीकृते स्वरपदैर्मध्येऽम्बुजं बाह्यतो
रेखा गात्रकवीथिकेऽष्टभिरथो दिक्पङ्कजान्यष्टभिः।
द्वाराण्यष्ट कजान्तरस्थितपदैः साङ्गा ह्यथो वीथिका
वेदैश्चाथ कजानि दिक्षु मुनिभिर्द्वाराणि चाभ्यन्तरैः ॥५९॥

वीथी पूर्ववदष्टदिक्षु कमलं सप्तांशकैरन्तरै-
र्द्वाराण्यष्टपदैः स्थितैरपि बहिः स्याल्लोकपालार्चनम्।

द्वाभ्यां स्वस्तिकमष्टदिक्षु यदि वा बिन्दूत्पलं चान्तरै-
र्द्वाराणीशपलाशदिग्विधिहरिस्थानं मृगेन्द्रे पुरम् ।।६०।।

क्षेत्रे षण्णवतीकृते छानवे (९६) भाग में विभक्त चतुष्कोण क्षेत्र के **मध्ये** मध्य भाग में **स्वरपदैः** सोलह पदों का **अम्बुजं** (स्यात्) कमल बनाना चाहिये। **बाह्यतः** उसके बाहरी भाग में **अष्टभिः** आठ पदों से (समन्तात्) चारों तरफ **रेखाः** सफेद आदि रेखाओं से **गात्रकवीथिके** पीठों के मार्ग का (कुर्यात्) निर्माण करना चाहिये। **अथो** इसके बाद **अष्टभिः** आठ-आठ गुना चौसट पदों से **दिक्पङ्कजानि** आठ दिशाओं के कमलों को (कुर्यात्) बनावे। **कजान्तरस्थितपदैः** कमल के मध्य में स्थित सोलह पदों से **अष्टद्वाराणि** हर एक पार्श्व में दो-दो, ऐसे मिलाकर चारों तरफ आठ द्वार (कुर्यात्) बनावे। **अथो** इसके बाद **वेदैः** चार पदों से **साङ्गा** शुक्ल आदि रेखाओं के पीठों से संबद्ध **वीथिका** (स्यात्) मार्ग बनाना चाहिये। **अथ** तब **दिक्षु** आठ दिशाओं में **मुनिभिः** सात-सात गुना उनचास पदों में **कजानि** (स्युः) कमलों की रचना करनी चाहिये। **आभ्यन्तरैः** कमल के बीच के पदों में **द्वाराणि** आठ द्वार बनाने चाहिये। **वीथी पूर्ववत्** रास्ता पहले जैसा ही चार पदों का रहना चाहिये। **सप्तांशकैः** सात-सात पदों से **अष्टदिक्षु** आठों दिशाओं में **कमलं** (स्यात्) आठ कमल बनावे। **अन्तरैः** कमलों के बीच के पदों में (दलों से) **द्वाराणि** (स्युः) आठ द्वार बनावे। **बहिःस्थितैः** उसके बाहर विद्यमान **अष्टपदैः** आठ पदों में **लोकपालार्चनं** इन्द्र आदि दिक्पालों और उनके वज्र आदि आयुधों की पूजा **स्यात्** की जाती है। **द्वाभ्यां** उसके बाहर के दो पदों की **अष्टदिक्षु** आठ दिशाओं में **स्वस्तिकं** (स्यात्) स्वस्तिक बनावे। **यदि वा** अथवा **बिन्दूत्पलं** बिन्दु के स्वरूप का कमल बनावे। स्वस्तिक के बाहर के पदों को मिला कर **आन्तरैः** अन्दर के चार पदों से **द्वाराणि** (स्युः) आठ द्वार बनावे। **ईशफ्लाशदिक्** ईशान और नैर्ऋत्य कोण में **विधिहरिस्थानं** क्रमशः ब्रह्मा और विष्णु का स्थान बनाया जाता है। (इदं) इस तरह से बनाया गया यह **मृगेन्द्रे** मृगेन्द्रागम में वर्णित **पुरं** पुराकार मण्डल कहा जाता है।।५९-६०।।

यहाँ तीन पद के प्रमाण में क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण और शुक्ल वर्ण की चार रेखाएं तथा शेष पाँच पदों में चारों दिशाओं के कोणों में गात्र और वीथि का निर्माण किया जाता है। ऐसा करने के बाद अष्टाष्टगुणित पदों में, अर्थात् चौसठ पदों में आठों

दिशाओं में आठ कमल बनावे। सोलह पदों में दो पद की विशालता वाले, आठ पद की ऊंचाई वाले, दो पदों को कपोलों के लिये छोड़कर, चारों दिशाओं में दो-दो द्वारों के हिसाब से आठ द्वार बनावे। इसके बाद चार पदों से चारों तरफ शुक्ल आदि रेखा और गात्र के साथ वीथिका (पंक्ति) बनावे। आठों दिशाओं में सप्त सप्त गुणित पदों में, अर्थात् उनचास पदों में कमलों का निर्माण करना चाहिये। यहाँ कमल का प्रमाण सात पद का बताया गया है, अतः पूर्व और पश्चिम दिशा में स्थित मध्य कमल का आकार दक्षिण-उत्तर पदों की ओर बढ़ा हुआ रहना चाहिये। कमल के मध्यगत पदों में कण्ठ और उपकण्ठ का निर्माण कर द्वार के पार्श्व के तीन भागों में से एक भाग को छोड़ कर आठ द्वार बनावे। अगले द्वार में भी ऐसा ही करना चाहिये। यहाँ ईशान और नैर्ऋत्य दिशा का ग्रहण उपलक्षण मात्र है। ईशान कोण के दक्षिण पद में पद्म का और नैर्ऋत्य कोण के उत्तर पद में चक्र का स्थान है। इन्हीं पद्म और चक्र के क्रमशः ऊर्ध्व और अधः प्रदेश में क्रमश ब्रह्मा और विष्णु का पूजन किया जाता है। मृगेन्द्रागम में इस पुराकार मण्डल-विशेष का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है —

पञ्चवर्गमहापीठे दन्तद्वारोपशोभिते।
षट्त्रिंशदङ्गुलं हित्वा तत्र पद्मावृतिः स्थिता॥
पीठं चाब्जदलं त्र्यंशविस्तृताङ्गचतुष्टयम्।
देवाम्बुजाष्टकं कुर्यादपीदमिह लक्षणम्॥
कृत्वाऽऽवृतित्रयादीशमष्टांशेनातिरिच्यते।
तदन्तराणि द्वात्रिंशद् दिक्षु द्वाराणि पूर्ववत्॥
निर्वर्त्य कल्पयेच्छोभां यत्र यत्रोपपद्यते।
लोकभर्तृषु तद्धाम्नः सत्येशगरुडध्वजौ॥
स्वास्त्रमूलोर्ध्वगौ पूज्यौ बहिर्बिन्द्वादिषूक्तवत्।
(क्रि. ८. ४७-५१)

यह पुराकार मण्डल की मृगेन्द्रागम में वर्णित विधि है॥५९-६०॥

अब गौरीलताकार लिंग नाम के मण्डलविशेष का स्वरूप प्रस्तुत श्लोक में बताया जा रहा है —

सूत्रैः सप्तदशात्मकैरुभयतो गौरीलतासाह्वयं
मध्ये वेदपदैर्विदिक्षु घपदैर्भूताम्बुजानि न्यसेत्।

लिङ्गं पट्टसरोजकण्ठकमलं पीठं क्रमाद् दिक्पदै-
र्वर्षाभूरिविषैश्च कोणकलितैर्भूतैः पदैः स्युर्लताः ।।६१।।

उभयतः पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर दोनों तरफ के दो पार्श्वों में **सप्तदशात्मकैः सूत्रैः** सत्रह धागों की सहायता से (षोडशपदीकृते क्षेत्रे) सोलह पदों से बनाये गये चतुष्कोण क्षेत्र के **मध्ये** मध्य भाग में **वेदपदैः** चार पदों से **विदिक्षु** आग्नेय आदि चार कोणों में **घपदैः** चार पदों से **भूताम्बुजानि** पाँच कमलों की **न्यसेत्** रचना करे। **वर्षाभूरिविषैश्च** चार-छः, चार-दो और चार-छः संख्या के पदों से **दिक्पदैः** चार दिशाओं में **क्रमात्** क्रमशः **लिङ्गं** लिंग के **पट्टसरोजकण्ठकमलं** पट्ट, कमल, कण्ठ और कमल की **पीठं च** एवं पीठ की **न्यसेत्** स्थापना करे। **कोणकलितैः** चारों कोनों में बनाये गये **भूतैः पदैः** पाँच पदों से **लताः स्युः** लताओं का निर्माण करना चाहिये। (इदं) इस तरह से रचित प्रस्तुत मण्डल को **गौरीलतासाह्वयम्** गौरीलताकार लिंग के नाम से जाना जाता है।।६१।।

[१]कवर्ग में 'घ' का चौथा स्थान है। इसलिये इससे चार पदों का ग्रहण किया जाता है। इसी तरह से वकार से चार, षकार से छः, भकार से चार, रेफ से दो, वकार से चार और षकार से छः संख्या का ग्रहण होने से उतनी ही संख्या के पदों का बोध होता है। इतनी संख्या के इन्द्र आदि की चार दिशाओं के मध्य में स्थित पदों में

---

[१] तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध व्याकुलाक्षर पद्धति का यहाँ सहारा लिया गया है। इसका परिचय भास्कर राय ने अपने नित्याषोडशिकार्णव के व्याख्यान सेतुबन्ध (७.८३) में इस प्रकार दिया है —

दे व ता र थ गो मू क इति यो वेत्ति न क्रमम् ।
स व्याकुलाक्षरे मूको देवतारथगोऽपि सन् ।।

इसकी पद्धति को भास्करराय ने ही अपनी नाथनवरत्नमाला की स्वोपज्ञटीका में स्पष्ट किया है —

क ट प य वर्गभवैरिह पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः ।
नेत्रे शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते ।।

इसके अनुसार क से ञ तक और ट से न तक के अक्षरों से एक से दस तक, प से म तक से एक से पाँच तक और य से क्ष तक से एक से नौ तक की संख्या का ग्रहण होता है। इसी पद्धति का यहाँ अनुसरण किया गया है।

क्रमशः लिंग, पट्ट, कमलकण्ठ और कमलपीठ का विन्यास करे। "लतामेति निपातनात्" यहाँ लता पद की व्युत्पत्ति बताई गई है। इस श्लोक में प्रदर्शित विधि से गौरीलता नामक मण्डल बनता है ॥ ६१॥

सुभद्र नामक मण्डल के लक्षणों को अब बताते हैं—

क्षेत्रे रुद्रपदीकृते ग्रहपदैर्मध्ये सितं पङ्कजं
कुर्यात् कोणचतुष्टयेष्टिपदकैः स्वर्णप्रभान् स्वस्तिकान् ।
दिक्ष्वादित्यपदेष्वथो लयलयैर्लिङ्गानि पीठानि त-
च्छेषं भिन्नरजो विलोप्यमतुलं भद्रं सुपूर्वं पुरम् ।।६२।।

रुद्रपदीकृते पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में बारह धागों से ग्यारह पदों को बना कर **क्षेत्रे** चतुष्कोण क्षेत्र के **मध्ये** मध्य भाग में **ग्रहपदैः** नौ पदों से **सितं पङ्कजं** सफेद कमल की **कुर्यात्** रचना करे। **कोणचतुष्टयेष्टिपदकैः** चार कोनों में सोलह-सोलह पदों से **स्वर्णप्रभान्** सोने के सदृश रंग के **स्वस्तिकान्** स्वस्तिकों को (कुर्यात्) बनावे। **अथो** इसके बाद **दिक्षु** चारों दिशाओं में **आदित्यपदेषु** बारह पदों में **लयलयैः** तीन-एक, तीन-एक पदों में **पीठानि लिङ्गानि च** क्रमशः पीठों का और लिंगों का (कुर्यात्) निर्माण करे। **तच्छेषं** अब बचे हुए पदों को **भिन्नरजः** दूसरे वर्ण (रंग) में होने तक **विलोप्यं** मिटा देना चाहिये। (इदं) इस तरह से रचित यह मण्डल **अतुलं** उपमान-रहित **सुपूर्वं भद्रं पुरम्** सुभद्र नाम का मण्डल **स्यात्** कहलाता है।।६२।।

टीकाकार ने 'कोणचतुष्टयेऽष्टपंदकैः' ऐसा पाठ मानकर आग्नेय आदि चार कोणों में अष्टाष्टगुणित चौसठ पदों में से प्रत्येक कोण में सोलह-सोलह पदों का निर्माण बताया है। आगे 'इष्टिपदकैः' इस पाठ को भी स्वीकार कर आग्नेय आदि चारों कोणों में सोलह-सोलह पदों के स्वस्तिकों के निर्माण का पक्ष भी रखा है। दोनों पाठों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। 'इष्टि' पद से सोलह संख्या गृहीत है। अन्वयार्था में यही पाठ गृहीत है। यहाँ ल य ल य इन पदों से तीन, एक, तीन एक संख्या ऊपर बताई गई पद्धति से गृहीत होती है। अतुल का अर्थ है कि जिसकी कोई समानता नहीं है, अर्थात् श्रेष्ठ। इसका नाम सु शब्द पूर्वक भद्र, अर्थात् सुभद्र मण्डल है ॥ ६२॥

अब उमाकान्त नामक मण्डल का स्वरूप बताते हैं —

द्वात्रिंशत्पदभाजिते च नलिनं मध्ये चतुष्षष्टिभि-
स्तद्बाह्ये त्रिपदैश्च पीठमथ तत्रैकेन वीथिर्हरित् ।

दिक्षु द्वारमृषिद्वयैरुभयतो वाचावरैर्वर्षयुग्
लिङ्गं बाह्यपदेन वीथिरितरच्चित्रं ह्युमाकान्तकम् ।।६३।।

द्वात्रिंशत्पदभाजिते पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण दोनों तरफ तैंतीस धागों से बत्तीस पदों की रचना कर **क्षेत्रे** चतुष्कोण क्षेत्र के **मध्ये** मध्य भाग में **चतुष्षष्टिभिः** चौसठ पदों से **नलिनं** (स्यात्) कमल बनावे। **तद्बाह्ये** उसके बाहरी भाग में **पीठं** (स्यात्) चार पार्श्वों को भारी गात्र से मिला कर वीथिपीठ की रचना करे। **अथ** इसके बाद **तत्र** उस पीठ के पास **एकेन** एक पद से **हरित् वीथिः** (स्यात्) हरे वर्ण का रास्ता बनावे। **दिक्षु** पूर्व आदि चार दिशाओं में **ऋषिद्वयैः** दो पदों की चौड़ाई और सात्त पदों की लम्बाई हो, ऐसे चौदह पदों से **द्वारं** (स्यात्) चार द्वार बनावे। **उभयतः** द्वार के दोनों पार्श्वों में **वाचावरैर्वर्षयुक्** चार-छः, चार-दो, चार-छः इस प्रकार से पदों का प्रमाण होना चाहिये। इस क्रम से बनाये गये पूर्वोक्त लिंग, पट्ट, कमल-कण्ठ, कमलपीठ इन सब से संबद्ध **लिङ्गं** (स्यात्) लिंग रहना चाहिये। **बाह्यपदेन** उसके बाहर एक पद से **वीथिः** (स्यात्) वीथी (मार्ग) रहनी चाहिये। **इतरत्** अवशिष्ट पदों को **चित्रं** (स्यात्) नाना प्रकार के रंगों से रँगना चाहिये। (इदं) इस तरह से रचित मण्डल **उमाकान्तकं** उमाकान्त के नाम से प्रसिद्ध है।।६३।।

बाह्य भाग में यह पीठ तीन पदों में बनाया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि चारों दिशाओं में गात्रयुक्त पीठ की रचना की जाती है। व च आदि पदों से पूर्वोक्त पद्धति से चार, छ आदि संख्याओं का ग्रहण होता है। उक्त संख्या के पदों में यहाँ भी लिंग, पट्ट, कमलकण्ठ और कमलपीठ का निर्माण किया जाता है। बाह्य पद का अर्थ है लिंग से बाहर का एक पद, इसमें पंक्ति बनाई जाती है। नाना प्रकार के रंगों से अंकित यह मण्डल उमाकान्त के नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है ॥ ६३॥

अब आगे स्वस्तिक नाम के मण्डल का स्वरूप बताते हैं —

स्यात् स्वस्तिकं चेष्टिपदेषु चैशात् कोणात् समारभ्य पदत्रयेषु ।
मध्यस्थकोष्ठान्तपदेन वेदकोष्ठान् विलोप्यान्यपदानि चैवम् ।।६४।।

इष्टिपदेषु पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में सत्रह धागों से सोलह पदों का निर्माण कर **ऐशात् कोणात् समारभ्य** ईशान कोण से आरंभ कर पूर्व के **पदत्रयेषु** दक्षिणाभिमुख तीन पदों में **मध्यस्थकोष्ठान्तपदेन** मध्य में स्थित

चार पदों में से पहले तीन पदों को उसकी बगल में विद्यमान एक पद से मिलाने पर और **वेदकोष्ठान्** चार पदों को **विलोप्य** मिटाकर **अन्यपदानि च** बचे तीन कोणों में विद्यमान पदों को भी **एवं** इसी तरह मिटा देना चाहिये। इस प्रकार **स्वस्तिकं स्यात्** स्वस्तिक नाम का मण्डल बन जाता है।।६४।।

'**इष्टि**' पद से सोलह की संख्या गृहीत होती है, यह अभी ऊपर ६२ वें श्लोक में बताया गया है। **श्रौत स्मृति** का यह वचन इसमें प्रमाण है —

षोडशेऽहन्यभीष्टेष्टिर्मध्या पञ्चदशेऽहनि।
चतुर्दशे जघन्येष्टिः पापा सप्तदशेऽहनि॥

पूर्वपक्ष में आरंभ की गई इष्टि का उत्तर पक्ष में आने वाले सोलहवें दिन समापन होता है। यही पक्ष मुख्य है, अतः इष्टि पद से सोलहवीं संख्या का ही ग्रहण किया जाता है। ईशान कोण से प्रारंभ कर दक्षिण दिशा तक के तीन पद यहां गृहीत होते हैं। अन्य पद से आग्नेय आदि कोणगत पदों का ग्रहण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि कोण से आरम्भ कर दक्षिण दिशा में निर्ऋति तक के तीन पदों में उसीके पास के मध्य पद को मिलाकर चार पदों को मिटा दे। इसी तरह से निर्ऋति कोण से प्रारंभ कर वायु कोण पर्यन्त तीन पदों को उसीके पास के मध्य पद के साथ मिलाकर चार पदों को मिटा दे। फिर वायु कोण से प्रारंभ कर पूर्वमुख तीन पदों को उसी के पास के मध्य पद को मिलाकर चार पदों को मिटा दे। ऐसा करने से स्वस्तिक नामक मण्डल बन जायगा ॥ ६४॥

अब चण्डेश्वर की पूजा के लिये किरणागम में वर्णित टंक नामक अर्धचन्द्र मण्डल का स्वरूप बताते हैं —

क्षेत्रे वेदविभाजितेऽधिकमितः प्राचीन्दुभागं न्यसेद्
मध्ये भागमथ त्यजन्नधिपदैरर्धेन्दुमन्तर्मुखम् ।
कृत्वोर्ध्वे द्विपदं गलं तु परितः पङ्क्तिस्तु सौम्ये पदं
वृत्तं त्रीणि यमे न्यसेच्च कमलं चण्डस्य टङ्कं मतम् ।।६५।।

वेदविभाजिते पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण के क्षेत्र को चार भागों में विभक्त कर **क्षेत्रे** चतुष्कोण स्थल पर **इतोऽधिकं** पुनः एक पद को लेना चाहिये। **प्राचि** पूर्व भाग में **इन्दुभागं न्यसेत्** एक भाग को रखे। **अथ** तदनन्तर **मध्ये भागं** बीच के दो पदों के परिमाण को **त्यजन्** (सन्) छोड़ते हुए **अधिपदैः** अधिक पदों से **अन्तर्मुखं** भीतर की तरफ **अर्धेन्दुं** अर्धचन्द्र

मण्डल की **कृत्वा** रचना कर **ऊर्ध्वे द्विपदं** उसके ऊपर दो पदों का **गलं** (कृत्वा) कण्ठ बना कर **परितः** अधिक पदों के बाहर चारों पार्श्वों में **पङ्क्तिः कार्या** मार्ग बनाना चाहिये। **सौम्ये** इसके बाद उत्तर भाग के बीच में स्थित एक पद में **वृत्तं पदं** वृत्ताकार पद को **त्रीणि** (कृत्वा) तीन भागों में विभक्त कर **यमे** दक्षिण भाग के एक पद में **कमलं न्यसेत्** कमल की रचना करे। (इदं) इस प्रकार निर्मित यह **चण्डस्य** चण्डेश्वर का **टङ्कं** टंक नाम वाला अर्धचन्द्राकार मण्डल **मतं** किरणागम-संमत है।।६५।।

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अभिप्राय यह है कि चतुर्धा विभाजित क्षेत्र का पुनः पूर्व दिशा में एक पद के बराबर के हिस्से को बढाकर विस्तार करे। 'परितः' के स्थान पर टीकाकार ने 'परतः' पाठ को स्वीकार कर उसका अर्थ 'बाह्य स्थित पर पद के आगे' ऐसा किया है। चण्डेश्वर के टंक नामक इस मण्डल में चण्ड की पूजा की जाती है। यह मण्डल अर्धचन्द्र के आकार का होता है ॥ ६५॥

इस प्रकार मण्डलों के निर्माण की पद्धति को बताने के बाद अब आगे के पाँच श्लोकों में दीक्षाविधि का वर्णन करते हैं—

प्रत्यगद्वारकमण्डले कुशयुते संस्थाप्य शिष्यं पदा-
दूर्ध्वं प्रोक्ष्य सुताड्य वीक्ष्य भसितैः केऽभ्युक्ष्य नाभेरधः ।
उल्लिख्यास्त्रकुशैः परं च हृदये संस्पृश्य संचिन्त्य तं
मन्त्रं न्यस्य पटाक्षिबन्धनमथो गृह्यात्तपुष्पौ करौ ।।६६।।

प्रत्यगद्वारकमण्डले मण्डप के पश्चिम द्वार के बाहर मण्डप के अभिमुख होकर गोमय से अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे लीपना चाहिये। मण्डल में **कुशयुते** शिष्य के मुख के सामने अथवा पहले से बिछाये गये कुश-फूल-अक्षतों से बनाये गये प्रणवासन पर **शिष्यं** शिष्य को **१. संस्थाप्य** बैठा कर **पदादूर्ध्वं** पैर से लेकर सिर तक **२. प्रोक्ष्य** प्रोक्षण करके, **३. सुताड्य** अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए भस्म से हृदय का ताडन करके, **४. वीक्ष्य** प्रासाद मन्त्र का उच्चारण करते हुए दिव्य दृष्टि से शिष्य को देखकर, **५. भसितैः** विभूति से **के** सिर पर **अभ्युक्ष्य** भस्मस्नान की सिद्धि के लिये अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षण (सेचन) करके, अर्थात् स्थापन, प्रोक्षण, ताडन, वीक्षण और अभ्युक्षण नामक पाँच संस्कारों को क्रमशः सम्पन्न करके, **६. नाभेरधः** बाद में नाभि से लेकर पाद पर्यन्त **अस्त्रकुशैः**

अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कुशा से **उल्लिख्य** अघमर्षण स्नान के लिये तीन बार उल्लेखन करके, ७. **परं** च इसी तरह नाभि से लेकर सिर तक अस्त्र मन्त्र से ही कुशा से उल्लेखन कर, ८. **हृदये** हृदयप्रदेश में **संस्पृश्य** अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्पर्श कर, ९. **संचिन्त्य** बहिःस्थान में मूर्ति मन्त्र से आत्मस्वरूप का ध्यान कर, १०. **तं** उस शिष्य को लक्षित कर **मन्त्रं न्यस्य** संहिता मन्त्र का न्यास कर, ११. **पटाक्षिबन्धनं** (कृत्वा) अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षित, कवच मन्त्र से अवकुण्ठित और मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित सफेद वस्त्र से नेत्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए पापियों को न देखने के लिये शिष्य की आँखों को बाँधकर, **अथो** इसके बाद १२. **आत्तपुष्पौ** अंजलि में पुष्पों को लिये हुए **करौ** शिष्य के दोनों हाथों को **गृह्य** पकड़ कर।।६६।।

'प्रत्यग्द्वारकमण्डले' इस कथन से यह सूचित होता है कि पहले मण्डल की पूजा आदि का विधान पूरा करना चाहिये। जैसे कि शास्त्र में उपदिष्ट विधि के अनुसार मण्डल की रचना कर शास्त्रनिर्दिष्ट विधि से पूर्वाह्न, मध्याह्न और सायन्तनी सन्ध्या को और विशेष सन्ध्या को सम्पन्न करे, अर्थात् प्रतिदिन के शास्त्रविहित अनुष्ठानों को पूरा करे। विशेष सन्ध्या के विधान के अन्तर्गत मूल मन्त्र आदि से विद्या, विद्येश्वर, तत्त्व, तत्त्वेश्वर आदि का तर्पण किया जाता है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

ततश्च पुनराचम्य पाण्यग्रेण गुणोत्तमम्।
ब्रह्मादिपञ्चकान् सर्वान् विद्याविद्येश्वरानपि॥

तत्त्वान्यधिपतीन् सर्वान् ध्यायन् कायान्तमण्डले।
चतुर्थ्यन्ताभिधानेन स्वाहान्तेन तु तर्पयेत्॥

ततो यज्ञोपवीतेन मुनीन् कण्ठावलम्बिना।
सनकादीन् सभृग्वादीन् सगोत्रप्रभवाधिपान्॥

कनिष्ठामूलमार्गेण भूतादीन् पर्वसन्धिभिः।
तथाऽपसव्येन पितॄन् सपत्नीकान् पितामहान्॥

प्रपूर्वांश्च गुरूनेवं चोदकान् बोधकान् परान्।
भ्रातॄन् सखीनुपाध्यायान् समातामहमातुलान्॥

स्वधान्तेनाभिधानेन नतिप्रान्तेन मध्यमान्।
(क्रि. २. १५-२०)

आगे भगवान् शिव और सूर्य का पूजन, द्वारों और द्वारपालों की पूजा, यज्ञमण्डप में स्थित विघ्नों का अपसारण, भूतशुद्धीकरण, अड़तीस कलाओं का न्यास

कर अपनें में शिवभाव का आवाहन; मण्डल, अग्नि आदि पाँच आधारों के अधिष्ठाता के रूप में शिवैक्यकरण, पंचगव्य का निर्माण, उससे यागमण्डप का प्रोक्षण, यागमण्डप में विकिरों का प्रक्षेपण, यज्ञेश्वर का आराधन, वर्धनी में पाशुपतास्त्र का पूजन, लोकपालों का अर्चन, शिवाज्ञाकरण, वर्धनीशिवकुम्भकरण, वर्धनीशिवकुम्भभ्रमण, ज्ञानखड्ग-समर्पण, विघ्नेश एवं गुरु का पूजन, मण्डल में सभी अध्वाओं में व्याप्त शिव का आवाहन, पञ्चावरण पूजा का विधान पूरा करने के बाद अग्नि-कार्य का समारंभ, अग्निवक्त्र और शिववक्त्र का परस्पर सन्धान, मूल मन्त्र से शिव का तर्पण, ब्रह्मांगों के लिये दस आहुतियों का विधान, देशापातन, कलापातन, दुर्निमित्त शान्ति, सुनिमित्त का आपादन, शिष्य का मण्डल में प्रवेश, तन्निमित्तक आहुति का दान, स्थालीपाक का विधान, उसके तीन भाग करना, शिव की प्रार्थना और अनुग्रह विधान— इस तरह के समस्त कार्यों का सम्पादन करने के बाद गुरु मण्डप से बाहर निकलकर उत्तर की तरफ अपना मुख करके शिष्य को बुलावे। उस चतुरश्र मण्डल के सामने उत्तराग्र और पूर्वाग्र दर्भ, पुष्प, अक्षत आदि से सुशोभित प्रणवासन पर शुक्ल वस्त्रों से सुशोभित शिष्य को बैठावे। जैसा कि किरणागम में कहा है —

प्रणवासनके तत्र शिष्यं स्नातमुपोषितम्।
सितवस्त्रद्वयोपेतं शिवभक्तं परीक्षितम्॥

बुभुक्षुं प्राङ्मुखं स्थाप्य मुमुक्षुं चोत्तराननम्।
ऊर्ध्वकायं स्वके दक्षे स्वयं पूर्वाननः स्थितः॥

शिशुं तत्रैव संस्थाप्य स्थित्वा स्वयमुदङ्मुखः।

उसके बैठ जाने के बाद पैर से लेकर सिर तक हुंफडन्त अस्त्र मन्त्र से स्नान के निमित्त शिष्य का प्रोक्षण करे। यह विधि मुमुक्षु शिष्य के लिये अपनाई जाती है। शिष्य यदि बुभुक्षु है, तो उसका प्रोक्षण सिर से पैर तक करना चाहिये। वीक्षण आदि में भी ऐसा ही किया जाता है। सिद्धान्तशेखर में यह बताया गया है —

मस्तकात् पादपर्यन्तं भुक्तौ मुक्तौ तदन्यतः।
अस्त्रेण हुंफडन्तेन प्रोक्षण्याऽर्घ्योदकेन च।
सम्प्रोक्ष्य स्नानसिद्ध्यर्थं पताकामुद्रया सुधीः॥

इसके बाद अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए भस्म से शिष्य के हृदय का ताडन करना चाहिये। ताडन के बाद दिव्य चक्षु से प्रसन्नता-पूर्वक अवलोकन, भस्म से सिर का अभ्युक्षण, अर्थात् भस्मस्नान के लिये अस्त्र मन्त्र से अभ्युक्षण करे। निरीक्षण, प्रोक्षण, ताडन और अभ्युक्षण — ये चार संस्कार इसी क्रम से किये जाते हैं। यहाँ यह

क्रम स्वीकार नहीं किया गया है, अतः यहाँ का क्रम मुमुक्षुविषयक माना जाना चाहिये, जैसा कि **मृगेन्द्रागम** में प्रदर्शित है —

पश्चिमे मण्डलं कृत्वा विन्यस्य प्रणवासनम् ॥
प्रोक्ष्य ताड्याम्भसा चैनं भस्मनोल्लिख्य बर्हिषा ।
(क्रि. ८. ५७-५८)

अथवा शिष्य के इन चार संस्कारों को अपनी गुरु-परम्परा से प्राप्त क्रम के अनुसार करना चाहिये, क्योंकि **क्रियाक्रम** में अवलोकन के क्रम से और **ज्ञानरत्नावली** में प्रोक्षण के क्रम से इनका विधान मिलता है। इन संस्कारों को करने के उपरान्त नाभि से लेकर पाद पर्यन्त अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित दर्भमूल से अघमर्षण के लिये तीन बार उल्लेखन करे। इसके बाद नाभि से आरंभ कर मस्तक पर्यन्त अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुशाग्र भाग से मार्जन के लिये तीन बार समुल्लेखन करे। यह क्रम मुमुक्षु के लिये है। बुभुक्षु के लिये पहले नाभि से ऊपर और पश्चात् नाभि के नीचे उल्लेखन किया जाता है। जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में बताया गया है —

कुशाग्रैरस्त्रमन्त्रेण मार्जनायालिखेच्च तान् ।
ऊर्ध्वं नाभेस्त्रिधा मन्त्री कुशमूलैस्तु नाभ्यधः ॥
पापापनुत्तये पश्चात् पाशविश्लेषणाय च ॥

अस्त्र मन्त्र से दर्भ के अग्र भाग से मार्जन के लिये तथा दर्भमूल से नाभि के नीचे अघमर्षण के लिये तीन-तीन बार समुल्लेखन किया जाता है। पूर्ववत् भौतिक (बुभुक्षु) और नैष्ठिक (मुमुक्षु) का यहाँ भी विपरीत क्रम माना जाता है। आगे **क्रियाक्रम** के वचन के अनुसार सभी गुणों की प्राप्ति के लिये शिष्य के हृदय का स्पर्श किया जाता है। तब शिष्य के हृदय-स्थान पर मूर्ति-मन्त्र से गुरु अपना ध्यान करे। इसके बाद शिष्य की देह पर मस्तक से पाद पर्यन्त संहिता-मन्त्रों के न्यास के द्वारा सकलीकरण की प्रक्रिया को सम्पन्न करे। आगे अस्त्र-मन्त्र से प्रोक्षित, कवच-मन्त्र से अवकुण्ठित, मूल-मन्त्र से अभिमन्त्रित कार्पास आदि से निर्मित दो सफेद वस्त्रों से नेत्र-मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य के दोनों नेत्रों को बाँध दे । जैसा कि **कामिकागम** में प्रदर्शित है —

सकलीकृत्य तं शिष्यं नेत्रबन्धं विधाय च ।
अस्त्रेण प्रोक्षितेनैव कुण्ठितेन च वर्मणा ।
संस्कृतेनैव मूलेन सितवस्त्रेण देशिकः ॥

यह अक्षिबन्धन पापियों को न देखने के लिये किया जाता है, जैसा कि "**नेत्रमन्त्रेण बध्नीयादनालोकाय पापिनाम्**" इस वचन में बताया गया है। पुष्पों से

भरी हुई अंजलि वाले शिष्य के दोनों हाथों को गुरु अपने हाथ से पकड़ कर उसे मण्डप में प्रवेश करावे। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में दीक्षाविधि से संबद्ध शिष्य के बारह संस्कारों को यहाँ बताया गया है ॥६६॥

गत्वा दक्षिणतोऽग्रसंस्थितिरथो दृग्बन्धहानिः शिवे
पुष्पक्षेपमथाणुनाम च पुरः संवेशनं तद्धृदि ।
आत्मस्थापनमन्त्रभूतविषया शुद्धिर्मनूनां स्थिति-
स्तत्के त्वीशकरस्थितिः शिवघटावर्चापयेत् तं पुनः ।।६७।।

१३. **दक्षिणतो गत्वा** मण्डप की प्रदक्षिणा कर, १४. (अन्तः प्रविश्य) मण्डप के अन्दर प्रवेश कर, १५. **अग्रसंस्थितिः** भगवान् के सामने खड़े होकर **अथो** अनन्तर १६. **दृग्बन्धहानिः** आँख के बन्धन को हटा देना चाहिये। **अथ** तदनन्तर १७. **शिवे** शिव के पास **पुष्पक्षेपं** पुष्प समर्पित करे। **अथ** अनन्तर १८. **अणुनाम** ईशान आदि मन्त्रों से ब्राह्मण आदि वर्णों के क्रम से शिव, देव, गणान्त वाले नाम रख कर, **पुरः** सामने स्वामी के दक्षिण पार्श्व में स्थित प्रणवासन पर १९. **संवेशनं** शिष्य को बिठाना चाहिये। २०. **तद्धृदि** अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य के पुष्प के द्वारा ताडित हृदयप्रदेश में **आत्मस्थापनं** कमलरूपी कान में मन्त्र का उच्चारण करते हुए संहार मुद्रा से शिष्य के चैतन्य का निरोध कर रक्षण करना चाहिये। २१. **मन्त्रभूतविषया शुद्धिः** निवृत्ति आदि कला-मन्त्रों से भूतशुद्धि करे, इसी को आप्लावनं कहा जाता है। २२. **मनूनां स्थितिः** मन्त्रों का न्यास करे, यही सकलीकरण कहलाता है। २३. **तत्के** उस शिष्य के सिर पर **ईशकरस्थितिः** शिवहस्त-स्थापन करे। (गुरु अपने दक्षिण हस्त में शिव के तेजोमय स्वरूप की भावना कर मूल मन्त्र का लयान्त उच्चारण कर पाश-समूह के निवारण के लिये उसे शिष्य के मस्तक पर रखता है, यही शैवागम में शिवहस्त-स्थापन के नाम से जाना जाता है)। २४. **पुनः** इतना सब कर लेने के बाद **तं** उस शिष्य से **शिवघटौ** मण्डल में स्थापित कुम्भ की और उसमें आवाहित शिव की **अर्चापयेत्** पूजा करानी चाहिये।।६७।।

'अग्रसंस्थितिः' का अर्थ है देवता के दक्षिण भाग में अथवा अपने (गुरु के) दक्षिण भाग में शिष्य को बैठाना चाहिये। ब्राह्मण आदि वर्ण के क्रम से शिष्य की दक्षिण अथवा वाम भाग में स्थिति **ब्रह्मशम्भुपाद** ने इस प्रकार बताई है —

तस्य दक्षिणतस्तिष्ठेद् ब्राह्मणः क्षत्रियस्तथा।
वामाङ्गभागे वैश्यस्तु शूद्रश्चैवाज्ञया गुरोः॥

नेत्रों पर बाँधे गये पट (वस्त्र) को शिव पर पुष्प चढ़ा चुकने बाद हटाना चाहिये,[1] यह भी एक पक्ष है, क्योंकि — "प्रवेश्य पुष्पक्षेपं तु कारयित्वा तु दर्शयेत्" ऐसा कामिकागम का वचन है। आगे भी — "अपनीय दृगालोकाच्छादकं वसनं क्रमात्" ऐसा कहा गया है। क्रियाक्रम में तो "नेत्रपटमपनीय तस्मै पुष्पं क्षेपयित्वा" ऐसा कहा गया है, अतः इस पक्ष में पहले नेत्रपट को हटाकर तब पुष्पक्षेप किया जाता है। शिष्य का शिव-देव-गणान्त नाम रखने का अभिप्राय यह है कि पुष्प के मण्डल में स्थित शिव के ईशान मुख पर पड़ने पर ब्राह्मण का 'ईशशिव' नाम, क्षत्रिय का 'ईशदेव' और वैश्य का 'ईशगण' और शूद्र का भी 'ईशगण' ही नाम रखा जाता है। तत्पुरुष मुख पर पुष्प के गिरने पर विप्र आदि वर्णों के क्रम से तत्पुरुषशिव, तत्पुरुषदेव और तत्पुरुषगण नाम शिष्य को दिया जाता है। इसी तरह से अघोर आदि मुखों पर पुष्पपात होने पर भी उसी पद्धति से नामकरण किया जाता है। हृदय आदि अंग-मन्त्रों पर पुष्पपात होने पर हृदयशिव, हृदयदेव, हृदयगण — इस तरह के नाम रखे जाते हैं। स्त्रियों के दीक्षा लेने पर उनको शक्त्यन्त नाम ईशशिवशक्ति, ईशदेवशक्ति, ईशगणशक्ति — इस तरह से अथवा ईशशिवी, ईशदेवी, ईशगणी नाम दिया जाता है। जैसा कि कामिकागम में प्रदर्शित है —

तत्पातसूचितस्थानपूर्वं शिवपदोत्तरम्।
नामावधार्य विप्रस्य शिवदेवगणान्तकम्॥

क्षत्रविट्शूद्रजातीनां स्त्रीणां शक्त्यन्तसंज्ञकम्।

यह विषय सिद्धान्तशेखर में इस प्रकार वर्णित है —

पुष्पपातवशात् तेषां विप्रादीनामनुक्रमात्।
आचार्यो नाम कुर्वीत यथावदधुनोच्यते॥

मस्तके पतिते पुष्पे विप्रस्त्वीशशिवो भवेत्।
ईशदेवो नृपः प्रोक्तो वैश्यस्त्वीशगणो भवेत्॥

एवं तत्पुरुषाघोरवामाजास्येष्वनुक्रमात्।
स्थानेषु हृदयादीनां पुष्पे निपतिते सति॥

---

[1] अन्य तन्त्रों में यही पक्ष मान्य है।

विप्राराजन्यवैश्यानां शिवदेवगणान्तकम् ।
आचार्यो नाम कुर्वीत शिष्याणां स्वेच्छयाऽथवा ॥

सामान्य रूप से ब्राह्मण और क्षत्रिय को शिवान्त और देवान्त तथा वैश्य और शूद्र को गणान्त नाम दिया जाता है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है — **''शिवान्तकं द्विजेन्द्राणामितरेषां गणान्तकम्''** (क्रि. ८. ६१)। आत्मस्थापन का अभिप्राय है संहार मुद्रा से शिष्य के चैतन्य को आत्ममन्त्र से उसी हृदयकमल की कर्णिका में संरक्षण और तिरोधान करना । 'मन्त्रभूतविषया शुद्धिः' का अभिप्राय है निवृत्ति आदि कलाओं के मन्त्रों की सहायता से भूतशोधन और आप्लावन करना । शिवहस्त को गुरु पहले शिष्य के मस्तक पर रखता है। उसके बाद वह शिव-मन्त्र का उच्चारण करता हुआ शिष्य के समस्त अंगों का भी स्पर्श करे। पश्चात् गुरु शिष्य के द्वारा मण्डल में स्थापित कुम्भ की और कुम्भ में स्थित शिव की पूजा करावे। शिष्य के दाहिने कान में मन्त्र का उच्चारण करते हुए गुरु शिष्य के द्वारा पुष्पमाला आदि से देवार्चन कराकर उसको भगवान् के प्रति प्रणाम निवेदन के लिये प्रेरित करे। जैसा कि — **''मूलमन्त्रं गृणन् कर्णे पुष्पं देवे प्रदापयेत्''** यहाँ कहा गया है। पूर्व श्लोक की भाँति इस श्लोक में भी दीक्षा के १२ संस्कारों का विवरण दिया गया है ॥ ६७॥

कुण्डाग्नेयकमण्डले स्थितिरथो दर्भेण नाडीस्थिति-
र्होमो मूर्ध्न्यणुभिः संपातहवनं मूलाहुतीनां शतम् ।
उक्तिः शैवमनोश्च निष्कृतिरथो वागीशपूजाऽग्निगा
शिष्यप्रोक्षणताडनान्तरगतिश्छिद्रेदगोऽध्वा हृदि ।।६८।।

२५. **कुण्डाग्नेयकमण्डले** अग्निकुण्ड के आग्नेय कोण में स्थित प्रणवासन सहित मण्डल में **स्थितिः** शिष्य को खड़ा करे। इससे गुरु के पूर्वाभिमुख और शिष्य के उत्तराभिमुख रहने की सूचना मिलती है। **२६. अथो** शिष्य को खड़ा करने के बाद **दर्भेण** मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कुशा से **नाडीस्थितिः** नाड़ियों का सन्धान करे। **२७. होमः** तीन आहुतियाँ देकर **२८. मूर्ध्नि** शिष्य के सिर पर **अणुभिः** संहिता-मन्त्रों से **संपातहवनं** संपात नामक आहुतियों को देकर, **२९. मूलाहुतीनां शतं** मूल मन्त्र से सौ आहुतियाँ देकर, **३०. शैवमनोः** शैव मन्त्र ब्रह्मपंचक का अथवा षंडग मन्त्र का **उक्तिः** उपदेश करे। **३१. अथो** इसके बाद **निष्कृतिः** मूल मन्त्र से एक सौ आठ आहुतियाँ प्रायश्चित्त के निमित्त दी जाती हैं। इस तरह से शिष्यस्थापन से लेकर प्रायश्चित्ताहुति पर्यन्त कहे गये इकतीस संस्कारों के

क्रियाकलाप को समय-दीक्षाविधि कहा जाता है। **अथो** दीक्षाविधि के इन संस्कारों को करने के बाद **अग्निगा वागीशपूजा** कुण्डाग्नि में आधारशक्ति का न्यास करके वागीश्वरी और वागीश्वर को आसन समर्पित कर, उनका आवाहन कर पूजन-तर्पण आदि करे। **शिष्यप्रोक्षणताडनान्तरगतिः** अस्त्र मन्त्र से शिष्य का प्रोक्षण कर हुंफडन्त मन्त्र से शिष्य के वक्षस्थल पर पुष्प से ताडन करे। **चिद्भेदगोऽध्वा** चैतन्य-भेद के क्रम को **हृदि** आचार्य अपने हृदय में (कुर्यात्) करे। इस प्रसंग में शास्त्रों में बताया गया है कि हुंफडन्त अस्त्र-मन्त्र से भेदन और ज्येष्ठा से वियोजन कर, पुनः आत्ममन्त्र से अंकुश मुद्रा से उत्कर्षण कर, शिष्य के द्वादशान्त स्थान में संयोजित कर उसके ऊपर तृणाग्र का, बिन्दुरूप जीवभाव का, आत्ममन्त्र का उच्चारण कर संहार मुद्रा से संग्रहण कर इन सबको दीक्षा देने वाला आचार्य अपने हृदय में स्थापित करे।।६८।।

शेष सात संस्कारों का वर्णन इस श्लोक में किया जा रहा है। नाडीसन्धान की प्रक्रिया में मूल–मन्त्र से अभिमन्त्रित दर्भमूल को शिष्य के दाहिने हाथ में देकर दर्भाग्र को अपनी जंघा की सन्धि में नियोजित करे। अथवा दर्भाग्र को शिष्य के हाथ में देकर दर्भमूल को अपनी जंघा में लगावे। जैसा कि कहा गया है —

कुशाग्रमात्मजङ्घायां तन्मूलं तत्करे हृदा।
यद्वा विपर्ययेणैव सुषुम्नारूपमङ्कुशम्॥

कुशा के व्याज से कमलनाल के तन्तुओं के समान सूक्ष्म शिष्य की नाडी को पिंगला से आकृष्ट कर अपनी नाडी में इडा की सहायता से प्रविष्ट होकर इन दोनों में ऐकात्म्य की भावना करे। इसके बाद रेचक की सहायता से बाहर निकलकर शिष्य की पूरक वायु की सहायता से उसकी देह में प्रविष्ट होकर रेचक की सहायता से बाहर निकले। तब पूरक की सहायता से अपने हृदय में प्रविष्ट होकर इस नाडीसन्धान की प्रक्रिया को पूरी करे। इसी तरह से कुम्भ, मण्डल और वह्नि में स्थित शिव के साथ भी इस प्रक्रिया को पूरा किया जाता है। नाडीसन्धान या नाडीस्थिति की यही प्रक्रिया है। यहाँ मूल–मन्त्र का उच्चारण करते हुए जो सौ आहुतियाँ दी जाती हैं, उसका प्रयोजन शिवहस्त की स्थिरता है। ब्रह्मांग–मन्त्रों से यहां दशांश होम का और पूर्णाहुति का भी विधान है। जैसा क्रि कहा गया है —

स्थिरार्थं शिवहस्तस्य मूलेनाष्टोत्तरं शतम्।
ब्रह्माङ्गानां दशांशेन घृतेन सह पूर्णया॥

अन्त में शिवार्चन के बाद गुरु शिष्य को अनुष्ठेय कर्मों का उपदेश करे। इस प्रकार ऊपर वर्णित इकतीस संस्कारों के साथ समय दीक्षा का विधान पूरा होता है।

'अथो' शब्द का प्रयोग विशेष दीक्षा के आरम्भ को प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है। समय दीक्षा के लिये प्रदर्शित याग आदि का, शिष्य-प्रवेशन, शिवहस्त-प्रदान आदि का अनुष्ठान विशेष दीक्षा के अवसर पर भी किया जाता है। आगे की प्रक्रिया अन्वयार्था में स्पष्ट कर दी गई है ॥६८॥

स्वात्मस्थापनरेचने बहिरितो वागीशिगर्भस्थिति-
गर्भस्थात्मकपापवीक्षणहुतं बीजाशयाहारतः ।
योनेस्तद्भवदेहतोऽपि हवनं रुद्रांशहोमस्ततो
जातीशाणुगयज्ञसूत्रधरणं मूलाहुतीनां शतम् ।।६९।।

अनन्तर शिष्य-चैतन्य को अपनी आत्मा में पूरक प्राणायाम से प्रवेश करा कर कुम्भक प्राणायाम से **स्वात्मस्थापनरेचने** अपनी आत्मा से समरस करना चाहिये। इसीको स्वात्म-स्थापन कहा जाता है। इस प्रकार स्थापित शिष्य की आत्मा को मूल मन्त्र का लयान्त उच्चारण कर आत्ममन्त्र का उच्चारण करते हुए उद्भव मुद्रा से ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का त्याग करने के क्रम से द्वादशान्त में स्थापित करने के बाद सृष्टिक्रम से भ्रूमध्य तक लाकर दक्षिण नाड़ी से बाहर छोड़ना चाहिये। ऐसी इन दो क्रियाओं को (कृत्वा) करके **इतः** (परं) इसके बाद **बहिः** बाहर **वागीशिगर्भस्थितिः** वागीश्वरी और वागीश्वर के संयोग की भावना कर आत्ममन्त्र से वागीश्वरी की योनि में वागीश्वर की स्थापना करनी चाहिये। इस प्रकार की भावना के अनन्तर वागीश्वरी गर्भ में स्थापित शिष्य की आत्मा के गर्भाधान आदि संस्कार करे। **गर्भस्थात्मकपापवीक्षणहुतं** इसके बाद गर्भ में स्थापित शिष्य की आत्मा के पूर्व काल में किये गये ब्रह्महत्या इत्यादि पापों के चिह्नों को देखकर प्रायश्चित्त के रूप में होम (कुर्यात्) करे। तब **बीजाशयाहारतः** इन्द्रियों, भावों और आहार (विषयोपभोग) से उत्पन्न दोषों के परिहार के लिये, **योनेः** गुह्येन्द्रियजन्य दोष की शान्ति के लिये **तद्भवदेहतोऽपि** और इससे उत्पन्न देह के दोषों की शान्ति के लिये भी **हवनं कुर्यात्** हवन करे। इसके बाद **रुद्रांशहोमः** (कार्यः) रुद्रांश के निमित्त होम करे। इस तरह से शिष्यात्मा की शक्तिगर्भ में स्थिति की योग्यता के आपादन के साथ रुद्रांश हो जाने तक के सारे क्रियाकलाप

के सम्पादन के साथ मूल मन्त्र से "भो आत्मन्! रुद्रांशो भव" ऐसा कह कर तीन आहुतियाँ दे। ततः रुद्रांश होम के बाद **जातीशाणुगयज्ञसूत्रधरणं** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र — इन चार जाति के मनुष्यों के क्रम से तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात — इन चार मन्त्रों से यज्ञोपवीत पहिनावे। तीन धागों को मिलाकर बनाये गये एक सूत्र का शूद्र को, दो सूत्रों का वैश्य को, तीन सूत्रों का क्षत्रिय को और सात सूत्रों का यज्ञोपवीत ब्राह्मण को धारण करावे। इसके बाद **मूलाहुतीनां शतम्** इस सूत्रधारण की दृढता के लिये मूल मन्त्र से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये और होम का दशांश तर्पण करे।।६९।।

वागीश्वर के द्वारा वागीश्वरी में गर्भस्थापन, गर्भाधानसंस्कार, तर्पण आदि की भावना कर गुरु को वागीश्वरी के गर्भ में विद्यमान आत्मा के पूर्व जन्म के ब्रह्महत्या आदि अशुभ कर्मों को वह्नि में दी गई आहुति की अशुभ विष्ठा आदि की गन्ध के आधार पर जानकर प्रायश्चित्त के निमित्त आहुतियाँ देनी चाहिये। जैसा कि बताया गया है —

गर्भाधानादिसम्पत्तौ शतपञ्चशिवाणुना।
होमयेदग्निजैश्चिह्नैर् ऊहयेच्छिष्यकल्मषम्॥

विष्ठागन्धे स भूहर्ता ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
सुरापो गुरुहन्ता च गोघ्नश्च कृतनाशनः॥

कृष्णेऽग्नौ शवगन्धे च गर्भभर्तृविनाशनः।
भ्रमणे स्त्रीवधे वह्निः कम्पते हेमहर्तरि॥

वधे स्फुटति बालस्य निस्तेजा गर्भघातके।
एवमादिषु चिह्नेषु सहस्त्रं बहुरूपिणा।
पापभक्षणमन्त्रेण होमयेद् वा नवात्मना॥

बहुरूपी शब्द से अघोर मन्त्र गृहीत होता है। नवात्मा का अर्थ नवाक्षर युक्त शिवमन्त्र है। पापभक्षण मन्त्र का स्वरूप यह है —

शिखण्डार्धेन्दुमारं च विश्वरूपं शिवस्थितम्।
नारसिंहं यमं वह्निं वायुषष्ठस्वरान्वितम्॥

इन्दुबिन्दुशिखोपेतं खट्खट्फट्फड्विभूषितम्।
प्रणवादिनमोऽन्तं च पापभक्षणसंयुतम्॥

रुद्रांश के होम के लिये "भो भगवन्! अयमात्मा रुद्रांशो भवतु" ऐसा कहते हुए मूल–मन्त्र से तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। जैसा कि कामिकागम में वर्णित है —

आहारभावदोषाभ्यां योनिबीजशरीरतः ।
शुद्धो द्विजो भवत्वात्मा भगवन् परमेश्वर ॥

रुद्रांशापादनं चैवमाहुतित्रयमाचरेत् ।
अयं रुद्रो भवत्वात्मा भगवंस्त्वत्प्रसादतः ॥

यहाँ रुद्रांशापादन का अभिप्राय यह है कि शक्ति के गर्भ में स्थित शिष्य की आत्मा शिव के साथ संयुक्त होने की योग्यता का सम्पादन कर सके। यहाँ प्रदर्शित यज्ञोपवीत के धारण की पद्धति कामिकागम में इस प्रकार बताई गई है —

पुरुषाघोरवामाजा मन्त्रा विप्रादिषु क्रमात् ।
स्वस्वजात्युक्तमन्त्रेण धार्यं तदुपवीतकम् ॥

कार्पासनिर्मितं सूत्रं त्रिगुणं त्रिगुणीकृतम् ।
सूत्रं तदेकं शूद्राणां वैश्यानां द्विसरं भवेत् ॥

त्रिसरं क्षत्रियाणां तु विप्राणां सप्तसंख्यकम् ।
यद्वा पञ्चसरं तेषां नवसूत्रमथापि वा ॥

यज्ञोपवीत धारण की दृढ़ता के लिये मूल-मन्त्र से सौ आहुतियां देनी चाहिये। मूल-मन्त्र से १०८ आहुतियाँ दी जाती हैं। उसके दशांश से पंच ब्रह्म-मन्त्रों का और षडंग-मन्त्रों का तर्पण किया जाता है ॥ ६९॥

ब्रह्माङ्गाहुतिपञ्चसंस्कृतिहुते पूर्वात्मयोगः शिशो-
र्वागीश्यादिविसृष्टिपूर्तिहवनं पुष्पस्य विक्षेपणम् ।
वह्न्यादौ समयश्रुतिश्च समयाद्याचारशुद्धौ हुतं
बालादावितरः शिवार्चनशिवज्ञानादियोग्यो भवेत् ॥७०॥

वागीश्वरी के गर्भ में स्थित आत्मा के गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म और नामकरण नामक ब्रह्माङ्गाहुतिपञ्चसंस्कृतिहुते पाँच संस्कारों के लिये होम करते समय सद्योजात आदि पाँच ब्रह्म-मन्त्रों से उनका पूजन करे, नेत्र मन्त्र को छोड़कर बचे पाँच अंग-मन्त्रों से उक्त पाँच संस्कारों को सम्पन्न कर क्रमशः प्रत्येक के लिये पाँच-पाँच आहुतियाँ दे। 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार के लिये वाक्यों और अंगों की कल्पना कर उसमें शिखा मन्त्र से पंचब्रह्म न्यास और अड़तीस कलाओं का न्यास करना चाहिये। बचे हुए संस्कारों की सिद्धि के लिये पूर्णाहुति देनी चाहिये। यहाँ गर्भ में रह रही आत्मा को माया के गर्भ से निकाल कर शक्ति के गर्भ में शिवबीज के रूप में स्थापित किया

जाता है। उसी को 'गर्भाधान' कहा जाता है। आत्मा के निर्मल गुणों को प्रकाशित करना 'पुंसवन', शिव के पुत्र के रूप में जन्म लेना 'जातकर्म' आत्मा का शिव के साथ परम साम्य (शिवत्व) प्राप्त कर शिव नाम का धारण करना 'नामकरण' कहलाता है। इस प्रकार समस्त संस्कारों के कर लेने पर **शिशोः** शिष्य की **पूर्वात्मयोगः** पहले की आत्मा से संयोग (कार्यः) कराना चाहिये। **वागीश्यादिविसृष्टिपूर्तिहवनं** वागीश्वरी और वागीश्वर के तर्पण के अनन्तर उसका विसर्जन कर प्रायश्चित्त के लिये मूल मन्त्र से एक हजार, पाँच सौ अथवा एक सौ बार आहुतियाँ देकर पूर्णाहोम करे। **वह्न्यादौ** शिवाग्नि में, मण्डल में, अथवा कुंभ में आवाहित शिव पर **पुष्पस्य विक्षेपणं** शिष्य के हाथ से पुष्पपात करावे। अनन्तर **समयश्रुतिश्च** सिद्धान्त शास्त्र में वर्णित समयाचारों का श्रवण करावे। समयाचार का अभिप्राय है — शिव, शिवशास्त्र, शिवाग्नि और गुरु की निन्दा न करना, इनकी छाया का उल्लंघन न करना, निर्माल्य का स्वयं ग्रहण न करना और न दूसरों को देना, निर्माल्य का उल्लंघन न करना, शिव, अग्नि और गुरु की शरीर में प्राण रहने तक पूजा करना। इस तरह के आचरण को समयाचार के नाम से जाना जाता है। **बालादौ** ऐसे समयाचारों का पालन करने में असमर्थ बालक, वृद्ध अथवा व्याधिग्रस्त व्यक्तियों के लिये **समयाद्याचारशुद्धौ** समयाचार का पालन न करने से उत्पन्न दोषों की शुद्धि के लिये **हुतं** (कुर्यात्) विधि के अनुसार प्रायश्चित्त-होम करना चाहिये। **इतरः** समयाचार के अनुष्ठान में समर्थ शिष्य **शिवार्चनशिवज्ञानादियोग्यः** शिवपूजन करने, सिद्धान्त शास्त्र के पढ़ने और मन्त्रों को सुनने के योग्य **भवेत्** हो जाता है। ऐसे समयाचारों का प्रतिदिन पालन करने वाला समयी नाम का दीक्षित व्यक्ति ईश्वरपद को और रुद्रपद को प्राप्त करता है, ऐसा कामिकागम में कहा गया है।।७०।।

ब्रह्माङ्गाहुति शब्द से शिव के पाँच ब्रह्म-मन्त्रों से गर्भाधान आदि पाँच संस्कारों को करते समय शिव के सद्योजात आदि पाँच स्वरूपों का अर्चन कर उनके निमित्त पाँच आहुतियाँ प्रदान करना तथा हृदय, शिरस्, शिखा, कवच और अस्त्र नामक[१] पाँच अंग-मन्त्रों से भी उसी क्रम से गर्भाधान आदि के निमित्त आहुतियाँ देना अभिप्रेत है। यहाँ अंग-मन्त्रों में नेत्र का ग्रहण नहीं होता। सीमन्तोन्नयन संस्कार में वक्त्रों और अंगों

---

[१] पाँच अंग-मन्त्रों की मान्यता बौद्ध तन्त्रों में भी मिलती है।

की कल्पना करने के लिये शिखा मन्त्र से ही पंच-ब्रह्म का न्यास कर अड़तीस कलाओं का भी न्यास किया जाता है। अवशिष्ट संस्कारों की सिद्धि के लिये पूर्णाहुति भी दे। यहाँ गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म और नामकरण शब्दों का अर्थ अन्वयार्था में संस्कृत टीका के अनुकूल है। माया के गर्भ से निकाल कर अशुद्ध भुवनों से ऊपर उठा ले जाना सीमन्तोन्नयन का अर्थ है। यहां प्रमाण-स्वरूप निम्न श्लोक उद्धृत किये गये हैं —

मायागर्भस्थमुद्धृत्य शक्तिगर्भे नियोजनम्।
आत्मनः शिवबीजत्वं गर्भाधानमितीरितम्॥

पुंस्त्वमात्मगुणव्यक्तिः स्यादप्यनतिनिर्मलम्।
मायासीमन्तमूर्धानं यत्प्रत्यानयनं हि तत्॥

सीमन्तोन्नयनं ज्ञेयं जन्म रुद्रस्य पुत्रता।
अत एव शिवत्वेन बोधनं नामकीर्तनम्॥

'पूर्वात्मयोगः' का अर्थ है सांसारिक आत्मा को पूर्व की निर्मल आत्मा का साक्षात्कार करा देना। इसकी प्रक्रिया यह है — वागीश्वरी के गर्भ में स्थित अग्नि की ज्वाला के अग्र भाग के समान प्रकाशित आत्मा को संहार मुद्रा से ऊपर उठाकर पूर्व प्रदर्शित पद्धति से अपने हृदयकमल में स्थापित करके, कुम्भक प्राणायाम की सहायता से हृदय में स्थित शिव के स्वरूप के साथ उसे समरस, एकाकार बना कर, मूल-मन्त्र का उन्मनी पर्यन्त उच्चारण करता हुआ आत्मा और शिव को पुनः अलग कर पुनः संहार मुद्रा से आत्मा का ग्रहण कर ब्रह्मा आदि कारणों का त्याग करते हुए द्वादशान्त पर्यन्त ले जाय और वहाँ उद्भव मुद्रा से आत्म-मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे वापस लाकर शिष्य के भोगायतन स्वरूप इस स्थूल देह में रेचक की सहायता से संयुक्त कर दे। यह पूरी प्रक्रिया पूर्वात्मयोग के नाम से जानी जाती है।

शिष्य यथाशक्ति गुरुदक्षिणा आदि देकर गुरु की भी पूजा कर उनको प्रणाम करे। उसके बाद गुरु शिष्य को समयों का उपदेश करे। ये समयाचार नित्य, वारुण, आग्नेय आदि के भेद से तथा नित्याग्नि-कार्य आदि के भेद से अनेक रूपों में वर्णित हैं। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

न शिवं शिवशास्त्रं च शिवाग्निं च तथा गुरुम्।
निन्द्यान्न लङ्घयेत् तेषां छायामपि कथञ्चन॥

निर्माल्यभोजनं दानं लङ्घनं च विवर्जयेत्।
शिवाग्निगुरुपूजा च कर्तव्या जीवितावधि॥

समयों के पालन करने में असमर्थ बालक, वृद्ध, रोगी आदि को समयाचार के पालन न करने से उत्पन्न दोषों की शान्ति के लिये सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। जैसा कि बताया गया है —

अशक्तानाममून् सर्वान् पूर्वोक्तसमयानपि।
शोधयेद् देशिकः शम्भोराज्ञालङ्घनतो यथा॥

मण्डले कलशे वह्नौ सम्पूज्य परमेश्वरम्।
विद्येश्वरं गणेशानं लोकपालानथ क्रमात्॥

सम्पूज्य तर्पयित्वा तु शोधयेत् तच्छिवाणुना।
हुत्वा शतद्वयं पूर्णां दत्त्वा विज्ञापयेच्छिवम्॥

भगवन्नसमर्थोऽहं(यं) समयाचारपालने।
तस्मादनेन होमेन तत्सर्वं त्वं क्षमापय॥

विद्येश्वरं गणेशानं लोकपालांश्च साक्षिणः।
कृत्वैवं योजयेत् तस्य समयान् देशिकोत्तमः॥

इनसे भिन्न समयाचार के पालन से समर्थ समयी नाम का व्यक्ति शिवपूजा, सिद्धान्तशास्त्र का अध्ययन, मन्त्रश्रवण आदि का अधिकारी हो जाता है। जैसा कि कामिकागम में प्रदर्शित है —

एवं समयसंस्कारयुक्तो यः शिवपूजने।
होमे चाध्ययने चैव मन्त्राणां श्रवणेऽपि च॥

योग्यः स्यादैश्वरं रौद्रं पदं प्राप्नोति मानवः।
ततो निर्वाणदीक्षायामधिकारी द्विजो भवेत्॥

इस प्रकार यहाँ पाँच श्लोकों में समय दीक्षा का स्वरूप प्रदर्शित है ॥७०॥

पाँच श्लोकों में समय दीक्षा का स्वरूप बताने के बाद आगे निर्वाण दीक्षा के उपक्रम के रूप में पहले षडध्व के क्रम को दिखाया जायगा। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता ये पाँच कलाएँ हैं। प्रत्येक कला में १. तत्त्व, २. भुवन, ३. वर्ण, ४. पद, ५. मन्त्र, ६. बीज, ७. गुण, ८. विषय, ९. वायु, १०. नाडी, ११. इन्द्रिय, १२. कारणेश्वर- ये बारह पदार्थ स्थित हैं। यहाँ सर्वप्रथम पहली निवृत्ति कला में स्थित तत्त्व आदि बारह पदार्थों का विवरण दिया जा रहा है —

क्ष्मातत्त्वं त्वजहृन्मनुः प्रणवतश्चान्त्याद्भवद्व्यन्तकं
लोकाः कालकृशानुतः शतमलावष्टौ च काल्यन्तिमाः ।
गन्धात् पञ्च गुणाश्च गन्धविषयः क्षोऽर्णो निवृत्तौ विधिः
प्राणापानमिडाख्यपिङ्गलयुगोपस्थाख्यनासाः स्मरेत् ।।७१।।

निवृत्तौ निवृत्ति कला में **१. क्ष्मातत्त्वं** पृथिवी तत्त्व स्थित है। **२. लोकाः** भुवन **कालकृशानुतः** कालाग्नि रुद्र से आरंभ कर **काल्यन्तिमाः** भद्रकाली पर्यन्त **शतमष्टौ च** एक सौ आठ हैं। **३. अर्णः** वर्ण **क्षः** क्षकार, **४. अन्त्यात् प्रणवतः** अन्तिम प्रणव (ॐकार) से लेकर **भवद्व्यन्तकं** भव भव पदों तक (पदानि) अट्ठाईस पद, **५. अजहृत्** सद्योजात और हृदय ये दो **मनुः** मन्त्र, **६. अलौ** (बीजे) अकार और लकार ये दो बीज, **७. गुणाश्च गन्धात् पञ्च** गन्ध से लेकर शब्द तक पाँच गुण **८. गन्धविषयः** विषय गन्ध, **९. प्राणापानं** (वायुः) प्राण और अपान नामक दो वायु, **१०. इडाख्यपिङ्गलयुगा** (नाडिः) इडा और पिंगला ये दो नाडियाँ, **११. उपस्थाख्यनासाः** (इन्द्रिये) उपस्थ और नासिका ये दो इन्द्रियाँ, **१२. विधिः** (कारणेश्वरः) तथा ब्रह्मा कारणेश्वर के रूप में विद्यमान है। (इत्थं) **स्मरेत्** इस तरह से निवृत्ति कला में स्थित तत्त्व, भुवन आदि बारह पदार्थों का ध्यान और पूजन करना चाहिये।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि निवृत्ति कला में पृथिवी नामक एक तत्त्व, कालाग्निरुद्र से भद्रकाली पर्यन्त एक सौ एक भुवन, क्ष नामक एक वर्ण, अन्तिम ॐ कार से भव-भव तक के अट्ठाईस पद, सद्योजात और हृदय नामक दो मन्त्र, अकार और लकार नामक दो बीजाक्षर, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नामक पाँच गुण, गन्ध नामक एक विषय, प्राण और अपान नामक दो वायु, इडा और पिंगला नामक दो नाडियाँ, उपस्थ और घ्राण नामक दो इन्द्रियाँ तथा चतुर्मुख ब्रह्मा कारणेश्वर के रूप में स्थित हैं।

यह पार्थिव मण्डल गौर वर्ण का, वज्र-चिह्न से अंकित, काठिन्य गुणवाला, भार (गुरुत्व)वाला, चतुरस्र आकार का, सौ करोड़ योजन तक की ऊँचाई वाला, बलसम्पन्न, जाग्रदवस्था में रहने वाला और शुद्ध सुवर्ण की जैसी कान्तिवाला है। निवृत्ति कला के इस पार्थिव मण्डल का इसी रूप

में ध्यान कर आचार्य शिष्य के जानुप्रदेश से लेकर पादप्रदेश तक के पाशसूत्र में इनका विन्यास करे।।७१।।

निवृत्ति कला में पृथिवी तत्त्व स्थित है अथवा वहाँ उसका स्मरण करना चाहिये। आगे भी इसी प्रकार विभिन्न कलाओं की स्थिति में विभिन्न तत्त्वों की स्थिति मानी गई है और षडध्वविलापन प्रक्रिया में इसका स्मरण रखना पड़ता है। टीकाकार पदों के प्रसंग में प्रश्न करते हैं कि अन्तिम पद ॐकार (प्रणव) से लेकर महादेव पद तक अट्ठाईस पद होते हैं, तब यहाँ भव भव को अट्ठाईसवाँ पद कैसे बताया गया है? इसके समर्थन में वे **वरुणपद्धति** को उद्धृत करते हैं —

अन्त्यात् पदान्महादेवपदावधि विलोमतः।
व्योमव्यापिपदान्यष्टाविंशतिः परिसंख्यया॥

इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यहाँ ग्रन्थकार ने चौरानवे पद संख्या वाले व्योमव्यापी पदों का न्यास बताया है और **वरुणपद्धति** में इक्यासी पदों का न्यास प्रदर्शित है। इन प्रमाणों से द्विविध पदन्यास की स्थिति स्पष्ट होती है। टीकाकार ने इन दोनों प्रकार के पदन्यासों का परिगणन पहले ही विस्तार से कर दिया है। वहाँ संगृहीत वचनों को यहां परिशिष्ट में दिया जा रहा है। वहाँ इनको देखा जा सकता है।

निवृत्ति कला में विद्यमान एवं स्मरणीय बारह प्रकार के पदार्थों का स्वरूप शास्त्रों में इस प्रकार प्रदर्शित है —

निवृत्तौ पार्थिवं तत्त्वमेकं च भुवनानि च।
कालाग्निभुवनान्तानि भद्रकाल्यादिभिस्तथा॥

अष्टोत्तरशतान्यत्र क्षकारो वर्ण एव हि।
पदानि भवमारभ्य यावदोङ्कारमन्तिमम्॥

अष्टाविंशतिसंख्यानि सद्योहृदयशम्बरौ।
बीजे अले तथा नाड्यौ इडापिङ्गलसंज्ञके॥

प्राणापानौ तथा घ्राणोपस्थकौ त्विन्द्रिये अपि।
विषयो गन्ध एवैकः शब्दादिगुणपञ्चकम्॥

मण्डलं पार्थिवं गौरं वज्राङ्कं कठिनं गुरु।
वेदाश्रं योजनानां च शतकोट्युच्छ्रितं दृढम्॥

जाग्रदवस्थासंयुक्तं कारणं कमलासनम्।
शुद्धकाञ्चनसंकाशं सर्वमेतद् विभावयन्।
शिशोर्जान्वोश्च पादान्तं गुरुः सूत्रे च विन्यसेत्॥

यहाँ मूल श्लोक में वर्णित स्वरूप ही प्रदर्शित है ॥७१॥

अब आगे श्लोक में प्रतिष्ठा कला में स्थित तत्त्व आदि बारह पदार्थों का विवरण दिया जा रहा है —

तत्त्वाध्वा प्राकृतान्तः प्रभृति सलिलतष्टान्तहाद्याः प्रतिष्ठा
श्रीकण्ठान्तामरेशाद् भुवनसरणिका वामदेवः शिरोऽणुः ।
व्यापिन्नन्तानि शर्वद्वितयपदकतस्तालुपायू उवौ द्वौ
गान्धारी मध्यनाडी श्रुतिगुणरसकोदानमानौ हरिश्च ।।७२।।

प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा कला में तत्त्व आदि की स्थिति इस प्रकार है— **१. तत्त्वाध्वा** षडध्व में स्थित तत्त्वाध्वा के **सलिलतः प्रभृति** जल तत्त्व से लेकर **प्राकृतान्तः** प्रकृति तत्त्व पर्यन्त तेईस तत्त्व, **२. भुवनसरणिका** षडध्व में भुवनों की पंक्ति **अमरेशात्** (आरभ्य) अमरेश से लेकर **श्रीकण्ठान्ता** श्रीकण्ठ पर्यन्त छप्पन भुवन, **३. टान्तहाद्याः** (वर्णाः) हकार से लेकर टकार पर्यन्त तेईस वर्ण, **४. शर्वद्वितयपदकतः** शर्व शर्व इस द्विपद से आरंभ कर **व्यापिन्नन्तानि** (पदानि) व्यापिन् व्यापिन् तक के इक्कीस पद, **५. वामदेवः शिरः** वामदेव और शिरस् **अणुः** ये दो मन्त्र, **६. उवौ द्वौ** (बीजे) उकार और वकार ये दो बीज, **७. श्रुतिगुणाः** रस, रूप, स्पर्श और शब्द चार गुण **८. रसकः** रस नामक विषय **९. उदानमानौ** उदान और समान नामक दो वायु, **१०. गान्धारी मध्यनाडी** गान्धारी और सुषुम्रा नामक दो नाडियाँ, **११. तालुपायू** जिह्वा और गुदा नामक दो इन्द्रियाँ और **१२. हरिः** विष्णु कारणेश्वर हैं। (इत्थं ध्यात्वा) इस प्रकार प्रतिष्ठा कला में स्थित तत्त्व आदि बारह पदार्थों का ध्यान कर (आवाहनादि कुर्यात्) आवाहन आदि उपचारों को सम्पन्न करे।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि प्रतिष्ठा कला में जल से लेकर प्रकृति तक के तेईस तत्त्व, अमरेश से लेकर श्रीकण्ठ तक के छप्पन भुवन, हकार से लेकर टकार तक के तेईस वर्ण, शर्व शर्व पद से व्यापिन् व्यापिन् तक के इक्कीस पद, वामदेव और शिरस् नामक दो मन्त्र, उकार और वकार ये दो बीजाक्षर, रस, रूप, स्पर्श और शब्द नामक चार गुण, उदान और समान ये दो वायु, गान्धारी और सुषुम्ना नामक दो नाडियाँ, जीभ और पायु नामक दो इन्द्रियाँ और विष्णुनामक कारणेश्वर स्थित हैं।

जलतत्त्व का मण्डल श्वेत वर्ण का, पद्म चिह्न से अंकित, अर्धचन्द्र आकार वाला, वहन (बहने के) स्वभाव वाला, शैत्य गुण से युक्त, हजार करोड़ योजन ऊँचाई वाला और स्वप्नावस्था में रहने वाला है। प्रतिष्ठा कला में अब्मण्डल का इसी रूप में ध्यान कर आचार्य शिष्य के नाभिप्रदेश से लेकर जानुप्रदेश तक के पाशसूत्र में इनका विन्यास करे।।७२।।

टीकाकार ने यहाँ शर्व शर्व से लेकर व्यापिनी पर्यन्त बत्तीस पदों की स्थिति मानी है। पूर्वोक्त पक्षान्तर के अनुसार यह संभव है। तालु शब्द से यहाँ जिह्वा का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि तालु कोई इन्द्रिय नहीं है।

तदधो विन्यसेत् पाशं प्रतिष्ठाकलयाऽन्वितम्।
स्मृतानि प्राकृतादीनि तत्त्वानि च जलावधि॥

त्रयोविंशतिसंख्यानि भुवनानि च संख्यया।
पञ्चाशदधिकान्यत्र षड्भिः श्रीकण्ठभैरवात्॥

अमरेशान्तकं त्रिंशत्पदानि द्व्यधिकानि च।
व्यापिन् व्यापिन् पदाच्छर्वशर्वान्तानि पदानि च॥

टादिहान्ताक्षराणीह प्रोक्तानि च समासतः।
त्रयोविंशतिसंख्यानि वामदेवशिरस्यणू॥

बीजे उवौ तथा नाड्यौ गान्धारी च सुषुम्नया।
समानोदानवायू च जिह्वापायू तथेन्द्रिये॥

रसश्च विषयः शब्दस्पर्शरूपरसानि च।
चत्वारि वारुणं बीजं श्वेतमम्भोजलाञ्छितम्॥

अर्धचन्द्रवदाकारं स्रवन्तं शीतलात्मकम्।
घर्घरारवसंयुक्तं कोटिसाहस्रयोजनैः॥

शतं च स्वप्निकावस्थं कारणं गरुडध्वजम्।
सर्वमन्तःस्थितं शिष्यन्नाभेर्जानुद्वयानुगम्।
भावयन् विन्यसेत् तत्र पाशसूत्रे च सद्गुरुः॥

पूर्व श्लोक के समान यहां उद्धृत इन वचनों में भी प्रतिष्ठा कला में विद्यमान और स्मरणीय द्वादश पदार्थों का विवरण दिया गया है। यहाँ पदों की संख्या बत्तीस बताई गई है, जब कि अन्वयार्था में इनकी संख्या इक्कीस मानी गई है॥७२॥

विद्या कला के अन्तर्गत विद्यमान तत्त्व आदि पदार्थों का विवरण अब दिया जा रहा है —

मायातत्त्वान्तमादौ पुरुषमथ शिखारूपिणौ ञादिघान्तं
वामाद्यङ्गुष्ठमात्रान्तसरगभुवनं तारकान्तः पदाध्वा ।
व्योमिन्नादिर्मरौ द्वौ करिवररसना पूषसंज्ञाऽत्र नाग-
व्यानौ पादाक्षिरूपाह्वयविषयगता रुद्रविद्या गुणास्त्रिः ।।७३।।

विद्या विद्या कला में तत्त्व आदि की स्थिति इस प्रकार है — **१. पुरुषम् आदौ** पुरुष तत्त्व से लेकर **मायातत्त्वान्तं** माया तत्त्व तक के सात तत्त्व, **२. शिखारूपिणौ** अघोर और शिखा नामक दो मन्त्र, **३. वामाद्यङ्गुष्ठमात्रान्तसरगभुवनं** वाम से लेकर अंगुष्ठमात्र पर्यन्त सत्ताईस भुवन, **४. ञादिघान्तं** ञकार से लेकर घकार पर्यन्त सात वर्ण, **५. व्योमिन्नादिः** व्योमिन् व्योमिन् से आरंभ कर **तारकान्तः पदाध्वा** ओङ्कार पर्यन्त बीस पद, **६. मरौ द्वौ** मकार और रेफ ये दो बीजाक्षर, **७. कविवररसना पूषसंज्ञा** हस्तिजिह्वा और पूषा नामक दो नाडियाँ, **८. नागव्यानौ** नाग और व्यान नामक दो वायु, **९. पादाक्षि** पाद और चक्षु ये दो इन्द्रियाँ, **१०. रूपाह्वयविषयगता** रूप नामक एक विषय, **११. गुणास्त्रिः** रूप, स्पर्श और शब्द नामक तीन गुण और **१२. रुद्रः** रुद्र नामक कारणेश्वर स्थित है। (इत्थं ध्यात्वा) इस प्रकार तत्त्व आदि से युक्त विद्याकला का ध्यान कर (आवाहनादि कुर्यात्) आवाहन आदि उपाचारों को सम्पन्न करे।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि विद्या कला में पुरुष से लेकर माया तत्त्व पर्यन्त सात तत्त्व, वाम से लेकर अंगुष्ठमात्र पर्यन्त सत्ताईस भुवन, ञकार से घकार पर्यन्त सात वर्ण, व्योमिन् व्योमिन् से लेकर ॐकार पर्यन्त बीस पद, अघोर और शिखा नामक दो मन्त्र, मकार और रेफ ये दो बीजाक्षर, रूप, स्पर्श और शब्द ये तीन गुण, रूप नामक एक विषय, नाग और व्यान नामक दो वायु, हस्तिजिह्वा और पूषा ये दो नाडियाँ, पाद और चक्षु ये दो इन्द्रियाँ और रुद्र नामक कारणेश्वर स्थित हैं।

यह तैजस मण्डल लाल वर्ण वाला, दहन शक्ति वाला, त्रिकोणाकार, स्वस्तिक चिह्न से अंकित, दस हजार करोड़ योजन ऊँचाई वाला, सुषुप्ति अवस्था से युक्त है। विद्या कला में तैजस मण्डल का इसी रूप में ध्यान कर आचार्य को शिष्य के हृदयप्रदेश से लेकर नाभिप्रदेश पर्यन्त पाशसूत्र में इनका न्यास करना चाहिये।।७३।।

यहाँ व्योमिन् व्योमिन् से लेकर ॐकार पर्यन्त पदों की संख्या इक्कीस बताई गई है, जब कि अन्वयार्था में यह बीस ही है। आगे उद्धृत वचन में भी पदों की संख्या इक्कीस ही है। जैसा कि —

तदधो विन्यसेद् विद्याकलापाठं स्वमन्त्रतः।
मायादिपुरुषान्तानि सप्त तत्त्वानि विन्यसेत्॥

अङ्गुष्ठमात्रभुवनाद् यावद् वामपुरान्तकम्।
विन्यसेद् भुवनान्यत्र सप्तविंशतिसंख्यया॥

पदमोङ्कारमारभ्य व्योमिन्व्योमिन्पदावधि।
एकविंशतिसंख्यानि विद्यायां च पदानि च॥

घकारादिञकारान्ता वर्णाः स्युः सप्तसंख्यया।
मन्त्रौ घोरशिखे प्रोक्तौ विद्यायां च विशेषतः॥

बीजे मरौ तथा नाड्यौ पूषा च करिजिह्वया।
व्याननागौ तथा वायू चक्षुःपादेन्द्रिये तथा॥

रूपं च विषयः शब्दस्पर्शरूपगुणानि च।
मण्डलं तैजसं रक्तं गुहाकारं त्रिकोणकम्॥

स्वस्तिकाङ्कं तदुच्छ्रायं योजनायुतकोटिभिः।
कारणं रुद्रदेवं च तथावस्थां सुषुप्तिकाम्॥

सर्वमेतन्न्यसेत् तत्र भास्वराभं गुरूत्तमः।
हृदयान्नाभिपर्यन्तं शिष्यदेहे च संस्मरेत्॥

इन वचनों में पूर्ववत् सभी बारह विषय प्रतिपादित हैं॥७३॥

शान्ति कला के अन्तर्गत विद्यमान तत्त्व आदि बारह पदार्थों का विवरण आगे दिया जा रहा है —

विद्या ईशसदाशिवौ च गखकाः शान्तौ नृवर्मे मनू
वामाख्यादिसदाशिवान्तभुवनानीशोऽधिपो बिन्दुयौ।
ध्यानाहारमुखो यशा च गगनव्याप्यन्तिमोऽलम्बुषा
स्पर्शारावगुणौ च कूर्मकृकरौ स्पर्शश्च पाणित्वचौ॥७४॥

शान्तौ शान्ति कला में तत्त्व आदि की स्थिति इस प्रकार है—**१. विद्या** शुद्धविद्या **ईशसदाशिवौ च** और ईश्वर एवं सदाशिव ये तीन तत्त्व, **२. गखकाः** गकार, खकार और ककार नामक तीन वर्ण, **३. नृवर्मे मनू**

तत्पुरुष और कवच ये दो मन्त्र, ४. **वामाख्यादिसदाशिवान्तभुवनानि** वामा से लेकर सदाशिव पर्यन्त अठारह भुवन, ५. **ईशोऽधिपः** ईश्वर नामक कारणेश्वर, ६. **बिन्दुयौ** बिन्दु और यकार ये दो बीजाक्षर, ७. **ध्यानाहारमुखः** ध्यानाहार से लेकर **गगनव्याप्यन्तिमः** व्योमव्यापी पर्यन्त ग्यारह पद, ८. **अलम्बुषा यशा च** अलम्बुसा और यशस्विनी नामक दो नाडियाँ, ९. **स्पर्शारावगुणौ** स्पर्श और शब्द ये दो गुण, १०. **कूर्मकृकरौ** कूर्म और कृकर ये दो वायु, ११. **स्पर्शः** स्पर्श नामक एक विषय, १२. **पाणित्वचौ** हस्त और त्वक् ये दो इन्द्रियाँ स्थित हैं। (इत्थं ध्यात्वा) इस प्रकार तत्त्व आदि से युक्त शान्ति कला का ध्यान कर (आवाहनादि कुर्यात्) आवाहन आदि उपचारों को सम्पन्न करना चाहिये।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि शान्ति कला में शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव नामक तीन तत्त्व, वामा से लेकर सदाशिव पर्यन्त अठारह भुवन, ग-ख-क ये तीन वर्ण, ध्यानाहार से लेकर व्योमव्यापी पर्यन्त ग्यारह पद, तत्पुरुष और कवच ये दो मन्त्र, बिन्दु और यकार नामक दो बीजाक्षर, स्पर्श और शब्द ये दो गुण, स्पर्श एक मात्र विषय, कूर्म और कृकर नामक दो वायु, अलम्बुषा और यशस्विनी नामक दो नाडियाँ, पाणि और त्वक् नामक दो इन्द्रियाँ एवं महेश्वर नामक कारणेश्वर विद्यमान हैं।

यह वायवीय मण्डल काले वर्ण का, चंचल स्वभाव वाला, षट्कोण के रूप में छः बिन्दुओं से अंकित, लाख करोड़ योजन की ऊँचाई में स्थित, तुरीयावस्था वाला और श्यामल कान्ति से युक्त है। शान्ति कला में वायवीय मण्डल का इसी रूप में ध्यान कर आचार्य शिष्य के भ्रूप्रदेश से हृदय पर्यन्त पाशसूत्र में इसका विन्यास करे।।७४।।

शान्ति कला में अन्वयार्था के अनुसार ग्यारह पद हैं, जब कि व्याख्याकार ने इनकी संख्या बारह मानी है। उनके द्वारा उद्धृत वचन में भी रवि (आदित्य) पद से बारह की संख्या ही गृहीत होती है। जैसा कि वर्णित है —

सदाशिवेश्वरौ विद्या शान्तौ तत्त्वत्रयं न्यसेत्।
सदाशिवादिवामान्तान्यष्टादश पुराणि तु ॥

व्योमव्यापिनमारभ्य ध्यानाहारपदावधि।
पदानि रविसंख्यानि वर्णाश्च गखकाः स्मृताः ॥

बीजे बिन्दुयकाराख्ये मन्त्रौ वक्त्रतनुच्छदौ।
अलम्बुषा यशा नाड्यौ वायू कृकरकूर्मकौ॥

त्वक्करावथिन्द्रिये प्रोक्तौ स्पर्शो विषय एव हि।
मण्डलं वायवं कृष्णं चञ्चलं च षडश्रकम्॥

अङ्कितं बिन्दुभिः षड्भिर्द्वौ गुणौ स्पर्शशब्दकौ।
लक्षकोटिभिरुच्छ्रायं योजनानां तु वायवम्॥

तुर्यावस्थमनन्तं च कारणं चेश्वरं न्यसेत्।
श्यामवर्णमिदं सर्वं फालाच्च हृदयावधि।
ध्यायेद् देहे शिशोस्तत्र पाशसूत्रे च देशिकः॥

इस प्रकार शान्ति कला में विद्यमान और चिन्तनीय द्वादश पदार्थों का विवरण पूर्वोक्त पद्धति से ही यहाँ दिया गया है॥७४॥

अब शान्त्यतीत कला में स्थित तत्त्व आदि बारह पदार्थों का विवरण प्रस्तुत श्लोक में दिया जा रहा है—

तत्त्वे शक्तिशिवे विसर्गत उभेऽकारान्तिमाश्च स्वरा
ईशानास्त्रशिवा निवृत्तिभुवनाच्चानाश्रितान्ताः पुरः।
आद्यं तारपदं हनादयुगलाऽतीता सदेशः कुहू-
शङ्खी देवधनञ्जयौ रवगुणः शब्दश्च वाक्श्रोत्रके॥७५॥

अतीता शान्त्यतीत कला में तत्त्व आदि की स्थिति इस प्रकार है—**१.तत्त्वे शक्तिशिवे उभे** शक्ति और शिव नामक दो तत्त्व, **२. विसर्गतः** विसर्ग (अः) से लेकर **अकारान्तिमाः** अकार पर्यन्त सोलह स्वरों के रूप में सोलह वर्ण, **३. ईशानास्त्रशिवाः** ईशान, अस्त्र और शिव नामक तीन मन्त्र, **४. निवृत्तिभुवनात्** निवृत्ति भुवन से लेकर **अनाश्रितान्ताः** अनाश्रित पर्यन्त **पुरः** पन्द्रह भुवन, **५. आद्यं तारपदं** पहला प्रणव नामक एक पद, **६. हनादयुगला** हकार और नाद नामक दो बीजाक्षर, **७. सदेशः** सदाशिव नामक कारणेश्वर, **८. कुहूशङ्खी** कुहू और शंखिनी नामक दो नाडियाँ, **९. देवधनञ्जयौ** देवदत्त और धनंजय नामक दो वायु, **१०. रवगुणः** शब्द नामक एक गुण **११. शब्दश्च** और शब्द नामक एक ही विषय, **१२. वाक्श्रोत्रके** वाक् और श्रोत्र नामक दो इन्द्रियाँ स्थित हैं। (इत्थं

ध्यात्वा) इस प्रकार तत्त्व आदि से युक्त शान्त्यतीत कला का ध्यान कर (आवाहनादि कुर्यात्) आवाहन आदि उपचारों को सम्पन्न करे।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि शान्त्यतीत कला में शक्ति और शिव नामक दो तत्त्व, निवृत्ति से लेकर अनाश्रित पर्यन्त पन्द्रह भुवन, विसर्ग से अकार पर्यन्त सोलह वर्ण, प्रणव नामक एक पद, ईशान-अस्त्र-शिव नामक तीन मन्त्र, हकार और नाद नामक दो बीजाक्षर, शब्द नामक एक गुण, शब्द नामक एक विषय, देवदत्त और धनंजय नामक दो वायु, कुहू और शंखिनी नामक दो नाडियाँ, वाक् और श्रोत्र नामक दो इन्द्रियाँ एवं सदाशिव नामक कारणेश्वर विद्यमान हैं।

शान्त्यतीत कला का शुभ्र वर्ण के रूप में ध्यान कर आचार्य इन सबका शिष्य के शिखाप्रदेश से लेकर भ्रूमध्य पर्यन्त स्थित पाशसूत्र में विन्यास करे।।७५।।

शान्त्यतीता कला में विद्यमान और चिन्तनीय द्वादश पदार्थों का विवरण पूर्वोक्त पद्धति से इस प्रकार दिया गया है —

द्वे तत्त्वे शान्त्यतीतायां क्रमाच्छक्तिशिवात्मके।
तथाऽनाश्रितशक्त्यादिनिवृत्तिर्यावदन्तिमा ॥

ता भूरधिष्ठितान्यस्यां भुवनान्यूनषोडश।
नादजं प्रणवं विद्धि पदं साक्षाच्छिवात्मकम् ॥

अकारादिविसर्गान्ता वर्णाः षोडश कीर्तिताः।
ईशानास्त्रशिवा मन्त्रा बीजेन्द्रे नादहौ तथा ॥

नाड्यौ कुहूः शङ्खिनी च देवदत्तधनञ्जयौ।
तदुन्नतं समाख्यातं कर्ता चैव सदाशिवः ॥
शिखामारभ्य फालान्तं ध्यायेत् सर्वं सदा शिशोः ॥

इस प्रकार यहाँ पाँचों कलाओं में विद्यमान और चिन्तनीय द्वादश पदार्थों का विवरण पूरा होता है ॥७५॥

वर्णाध्वा, पदाध्वा, मन्त्राध्वा, भुवनाध्वा, तत्त्वाध्वा और कलाध्वा नामक छः अध्वाओं में परस्पर के व्याप्यव्यापकभाव को जान कर दीक्षा दी जाती है। प्रस्तुत श्लोक में यही विषय वर्णित है —

व्याप्यव्यापकभावनाऽत्र हि पदैर्मन्त्राः पदान्यक्षरै-
र्वर्णास्ते भुवनैश्च तानि च तथा व्याप्तानि तत्त्वैरिमे ।
व्याप्याः कर्ममलाख्यमोहकभवा ये व्यापकास्तेऽप्यमी
व्याप्या व्यापकभावगा इह कलास्ताभिर्गृहीता इमे ।।७६।।

अत्र इन छः अध्वाओं में परस्पर **व्याप्यव्यापकभावना** यह व्याप्य है, यह व्यापक है, इस बात को जान लेना आवश्यक है। **मन्त्राः** ईशान आदि मन्त्र **पदैः** व्योमव्यापी आदि पदों से **व्याप्ताः** व्याप्त हैं, अर्थात् मन्त्र व्याप्य तथा पद व्यापक हैं। इसी तरह **पदानि** उक्त पद **अक्षरैः** स्वरव्यंजनात्मक वर्णों से **व्याप्तानि** व्याप्त हैं, अर्थात् पद व्याप्य और अक्षर व्यापक है। इसी तरह से आगे भी जान लेना चाहिये। **ते वर्णाश्च** वे सब वर्ण **भुवनैः** कालाग्निरुद्र आदि भुवनों से **व्याप्ताः** व्याप्त हैं। **तथा तानि च** इसी तरह ये भुवन **तत्त्वैः** तत्त्वों से **व्याप्तानि** व्याप्त हैं। **इमे** ये तत्त्व **कर्ममलाख्यमोहकभवाः** पुण्य-पाप रूप कर्मों से, आणव मल से और माया से पैदा होते हैं। (ततः) इसीलिये ये (तेषां) कर्म, मल और माया में **व्याप्याः** व्याप्त हैं; अर्थात् कर्म सुख-दुःख का हेतु होकर, मल भोग का साधन होकर और माया शरीरेन्द्रिय की कारण होकर स्थित हैं। उन्हीं से बराबर कुछ न कुछ तत्त्व उत्पन्न होते रहते हैं, अतः **ये व्यापकाः** जो तत्त्वों की अपेक्षा व्यापक हैं, **तेऽप्यमी** वे सब कर्म आदि भी **व्याप्याः** व्याप्य कोटि में आ जाते हैं। **इह** यहाँ **कलाः** निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता ये पाँच कलाएँ **व्यापकभावगाः** व्यापकभाव में स्थित रहती हैं। इन कलाओं में भी पूर्व-पूर्व कलाएँ व्याप्य और उत्तर-उत्तर कलाएँ व्यापक हैं। **इमे** कर्म, मल और माया **ताभिः** इन कलाओं से **गृहीताः** गृहीत हैं, अर्थात् कर्म आदि व्याप्य तथा कलाएँ व्यापक हैं। ये कलाएँ बिन्दु से, बिन्दु शक्ति से और शक्ति शिव से व्याप्त है। शिव किसी से व्याप्त नहीं है, अर्थात् शिव सबकी अपेक्षा व्यापक है, वह सबमें व्याप्त है। कलाओं की स्थापना के उपरान्त तत्त्व आदि की स्थापना की जाती है। कलाओं का शोधन करने से तत्त्व आदि का शोधन हो जाता है। इसीलिये कलाओं का शोधन अवश्य करना चाहिये।।७६।।

जो पदार्थ अपने से भिन्न पदार्थों से व्याप्त किये जा सकते हैं, अर्थात् जो अन्य पदार्थों में अन्तर्हित हो सकते हैं, वे व्याप्य कहलाते हैं। जो पदार्थ अपने से भिन्न

पदार्थों को अपने भीतर समेट लेते हैं, वे व्यापक कहलाते हैं। इस तरह से कौन पदार्थ व्याप्य है. और कौन व्यापक है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए उनके परस्पर व्याप्यव्यापकभाव की भावना कैसे करनी चाहिये? इसकी विधि यहाँ बताई जा रही है। जैसा कि व्योमव्यापी आदि पदों से ईशान आदि मन्त्र व्याप्त हैं, अर्थात् मन्त्र व्याप्य और पद व्यापक हैं। इसी तरह से आगे भी समझना चाहिये। पुण्य-पाप रूप कर्म, आणव मल और मोहक माया से सारे तत्त्व व्याप्त हैं। "माया विमोहिनी प्रोक्ता विषयास्वादयोगतः" यहाँ माया को मोह में डालने वाली बताया गया है। सुख-दुःख के कारण-स्वरूप कर्म के कारण कुछ पदार्थों का आविर्भाव होता है। मल के कारण जीव में भोक्तृत्व का अनुभव होता है। इसके लिये भी कुछ पदार्थों का आविर्भाव होता है। इस तरह से माया विविध शरीर, इन्द्रिय और विषयों का कारण बनती है। इसके कारण भी कुछ पदार्थों का आविर्भाव होता है। इसलिये ये मल व्यापक हैं और उनसे आविर्भूत तत्त्व व्याप्य। कलाओं की अपेक्षा ये कर्म, मल और माया भी व्याप्य कोटि में आ जाते हैं। कलाओं में व्याप्यव्यापकभाव का क्रम इस प्रकार है — निवृत्ति व्याप्य है, प्रतिष्ठा व्यापिका। प्रतिष्ठा व्याप्य है, विद्या व्यापिका। विद्या व्याप्य है, शान्ति व्यापिका। शान्ति व्याप्य है, शान्त्यतीता व्यापिका। इनको कला इसलिये कहा जाता है कि सारा विश्व और कर्म, मल एवं माया भी इन कलाओं में ही व्याप्त हैं, उन्हींमें समाविष्ट हैं। निम्न श्लोकों में यही विषय वर्णित है —

कलयन्ति यतो विश्वं व्याप्नुवन्ति ततः कलाः।
शक्तयस्ताः पराशक्तेः पञ्चभेदव्यवस्थिताः॥

ययाऽऽदौ पार्थिवे तत्त्वे कर्मभोगो निवर्त्यते।
निवृत्तिः सा कला ज्ञेया प्रतिष्ठा कथ्यतेऽधुना॥

अनादितत्त्वान्युल्लङ्घ्य सोपानानुक्रमेण तु।
शिवरागानुरक्तात्मा स्थाप्यते पौरुषे यया॥

सा प्रतिष्ठा कला ज्ञेया ततो विद्या निगद्यते।
मायाकार्यविवेकेन वेत्ति विद्यापदं यया॥

सा कला परमा ज्ञेया विद्या ज्ञानक्रियात्मिका।
मलमायाविकारौघशान्तिः पुंसः पुनाति या॥

सा कला शान्तिरित्युक्ता साधिकारास्पदप्रदा।
शान्त्यतीता कलाद्वैतनिर्वाणानन्तबोधदा॥

इस तरह से यहाँ कर्म, मल और माया व्याप्य हैं और ये कलाएँ व्यापक। आगे ये कलाएं भी बिन्दु से व्याप्त हैं, बिन्दु शक्ति से और शक्ति शिव से व्याप्त है, अर्थात्

क्रमशः कला व्याप्य और बिन्दु व्यापक , बिन्दु व्याप्य और शक्ति व्यापक तथा शक्ति व्याप्य और शिव व्यापक है ।

व्यापको भुवनादीनामभिव्याप्तः स बिन्दुना।
बिन्दुः शक्त्या शिवेनैषा नान्येन व्याप्यते शिवः॥

इस श्लोक में इसी क्रम को बताया गया है। स्पष्ट है कि यह सारा जगत् शिव में समाया हुआ है। शिव से आगे अन्य किसी पदार्थ की स्थिति नहीं मानी जाती। अध्वशुद्धि में कलाओं की ही प्रधानता मानी जाती है। अतः कलाओं की स्थापना होने पर उसमें सभी तत्त्व आदि की स्थापना हो जाती है और उनका शोधन होने पर ये सभी शोधित हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि इन कलाओं का ही शोधन किया जाना चाहिये ॥७६॥

निर्वाण दीक्षा की चर्चा पहले आ चुकी है। इस प्रसंग में याग से लेकर चरुहोम पर्यन्त व्यापारों को पूरा कर शिष्य के मण्डप-प्रवेश से लेकर विशेष संस्कार पर्यन्त क्रियाकलाप को सम्पन्न कर निर्वाण दीक्षा को पाने के लिये मूल मन्त्र के तथा अन्य मन्त्रों के तर्पण, दीपन आदि कार्यों को करने के बाद शिवाज्ञा की प्राप्ति के लिये आचार्य प्रार्थना करता है। शिवाग्नि के दक्षिण भाग में शिष्य को खड़ा करके वह उसकी देह में स्थित पाशों का छेदन-भेदन करने के लिये सूत्रमय देह का निर्माण करता है। तीन धागों को तिगुना कर पाशसूत्र बनाया जाता है। इसको अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षित कर, कवच मन्त्र से आच्छादित कर, मूल मन्त्र से इसका पूजन किया जाता है। ब्रह्मनाडी रूप ऐसे पाशसूत्र को शिष्य की शिखा से लेकर दक्षिण पाद पर्यन्त बाँधा जाता है। इसके बाद पाशसूत्र रूप शिव-शक्ति से शिष्य के देह में चैतन्य का न्यास किया जाता है। इसीके क्रम को अब बताते हैं —

शिष्यस्योक्षणताडनेऽस्त्रमनुतो हुँ तत्प्रवेशो हृदा
ह्यात्माकृष्टिशिखान्तसंग्रहबहिर्निस्सारणे स्वात्मनि ।
नासापूरकतः प्रवेश्य हृदये न्यस्त्वा तथोत्कृष्य तं
संगृह्यान्तत एव पिङ्गलगतेर्निस्सार्य शक्तौ न्यसेत् ।।७७।।

शिष्यस्य पाशसूत्र से बाँधे गये शिष्य के हृदय पर **अस्त्रमनुतः** अस्त्र मन्त्र से **उक्षणताडने** (कृत्वा) कुशोदक से प्रोक्षण तथा हुंडफन्त मन्त्र से पुष्प से ताडन कर, हुंकार से रेचन कर उसके आधार से वह बाहर आ गया,

ऐसी भावना करने के बाद **तत्प्रवेशः** उस शिष्य के हृदय में पूरक प्राणायाम द्वारा वाम नाडी से प्रवेश किया, ऐसी भावना करनी चाहिये। **हृदा** हृदय मन्त्र से मिले हुए सद्योजात मन्त्र और हुंफडन्त आत्म-मन्त्र के साथ ज्येष्ठा शक्ति की सहायता से **आत्माकृष्टिशिखान्तसंग्रहबहिर्निस्सारणे** (सति) आत्माकर्षण से शिष्य के द्वादशान्त में आत्मा को ले जाकर उसी से आत्म-मन्त्र को पुनः ग्रहण कर शिष्य के भ्रूमध्य तक लाने के बाद **नासापूरकतः** वाम नासिका से खींची गई पूरक वायु से **स्वात्मनि** अपनी आत्मा में **प्रवेश्य** प्रवेश करा कर **हृदये** अपने हृदय में **न्यस्त्वा** कुम्भक प्राणायाम से अपनी आत्मा से समरस होने तक स्थापित कर **तं** उस शिष्य की आत्मा को **तथा** ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के त्याग-क्रम से आत्म-मन्त्रों से अपने द्वादशान्त पर्यन्त **उत्कृष्य** ले जाकर **संगृह्य** वहाँ अपनी आत्मा से मिला कर **अन्तत एव** द्वादशान्त से सृष्टिक्रम से भ्रूमध्य में लाकर **पिङ्गलगतेः** अपनी दक्षिण नासिका से **निस्सार्य** रेचक प्राणायाम के द्वारा छोड़कर **शक्तौ** पाशसूत्र में विद्यमान शिव-शक्ति में **न्यसेत्** मल आदि पाशों से मलिन आत्मा में नमः पद को अन्त में जोड़कर आत्म-मन्त्र से उसका न्यास करे।।७७।।

इस श्लोक में प्रदर्शित संस्कारों को करने से पहले यहाँ भी शिष्य के पूर्वोक्त संस्कारों को पुनः करना चाहिये। अर्थात् यागादि की सारी प्रक्रिया, चरुहवन, प्रायश्चित्त का विधान पूरा कर के मण्डप-प्रवेश से लेकर विशेष दीक्षा के सारे संस्कारों को पूरा करने के उपरान्त निर्वाण दीक्षा के लिये मूल मन्त्रों के तर्पण, दीपन आदि समस्त कार्यों को पूरा करके शिवाज्ञा के लिये प्रार्थना करे और शिवाग्नि के दक्षिण में स्थित मण्डल में बैठे शिष्य का तीन-तीन बार उच्चरित अस्त्र, कवच और मूल मन्त्र से यथावत् क्रमशः प्रोक्षण, अवकुण्ठन और पूजन कर सुषुम्ना-स्वरूप पाशसूत्र को शिखा से लेकर दक्षिण पाद के अंगुष्ठ पर्यन्त शिष्य की देह पर तान कर पाशच्छेद की प्रक्रिया को पूरा करना चाहिये। शिष्य के शरीर में विद्यमान पाशों के च्छेदन, भेदन आदि के लिये ही यह सूत्रमय देह बनाया जाता है। इस सूत्रमय देह के छेदन-भेदन के साथ ही यह भावना भी की जाती है कि इससे शिष्य के शरीर में स्थित पाश भी कट जायंगे। जैसा कि कहा गया है —

छेद्या भेद्याश्च ते पाशाः सूत्रस्थानेन विग्रहे।
तस्मात् सूत्रमयो देहो भावनीयस्तु देशिकैः॥

अस्त्र-मन्त्र से शिष्य के हृदयप्रदेश पर कुशा के अग्र भाग से जल लेकर प्रोक्षण करना चाहिये और हुंफडन्त अस्त्र-मन्त्र का उच्चारण करते हुए पुष्प से ही हृदय का सन्ताडन करना चाहिये। फिर हुंकार का उच्चारण करते हुए अपने रेचक प्राणायाम के सहारे बाहर निकल कर गुरु शिष्य के हृदय में पूरक प्राणायाम की सहायता से शिष्य की वाम नाडी के सहारे प्रवेश करे। तब हृदय-मन्त्र से सम्पुटित सद्योजात और हुंफडन्त आत्म-मन्त्र से ज्येष्ठा शक्ति की सहायता से शिष्य के हृदयकमल से कुछ उठाकर उसे काट डालना चाहिये। तब हृदय-मन्त्र से सम्पुटित सद्योजात मन्त्र के साथ आत्म-मन्त्र का उच्चारण करते हुए अंकुश मुद्रा की सहायता से आत्मा का आकर्षण करे। ऐसा करते समय शिष्य के शिखान्त, अर्थात् द्वादशान्त स्थान में गुरु को प्रवेश करना पड़ता है। आत्म-मन्त्र की सहायता से गुरु इसी स्थान पर शिष्य की आत्मा को पकड़ता है और उस संगृहीत शिष्य की आत्मा के साथ शिष्य के भ्रूमध्य स्थान तक जाकर वहाँ से बाहर निकलता है। फिर उस शिष्य की आत्मा को अपनी पूरक वायु की सहायता से भीतर ले जाकर, अपने हृदय में कुम्भक की सहायता से अपनी आत्मा से उसको समरस करके, उसे अपनी आत्मा के साथ ऊपर उठाते हुए, अर्थात् क्रमशः ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का त्याग करते हुए, आत्म-मन्त्र के उच्चारण के साथ उसको द्वादशान्त पर्यन्त ले जाना चाहिये। वहां से भी उस आत्मा का संग्रह करके द्वादशान्त पद से सृष्टि मार्ग के सहारे भ्रूमध्य तक ले आकर अपनी दक्षिण पिंगला नाड़ी से रेचक प्राणायाम के सहारे बाहर निकाल कर शिष्य के शरीर पर शिर से पादांगुष्ठ पर्यन्त ताने गये पाशसूत्र में विद्यमान, व्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान शिव की शक्ति में नमोन्त आत्म-मन्त्र से शिष्य की उस मल से आवृत आत्मा को स्थापित कर देना चाहिये। यहाँ पाशसूत्र में आत्मा का न्यास करने के उपरान्त मूल-मन्त्र से तीन सन्निधान नामक आहुतियाँ दी जाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि भोक्तृत्व के कारणभूत अन्धकार-सदृश आणव मलरूपी पाश, सुख और दुःख के कारण पाप-पुण्य रूपी कर्मपाश और शरीर-इन्द्रिय-विषय के कारणीभूत नाना मोहक स्वरूप वाले माया-पाशों की अधिष्ठात्री तमोमय तिरोधान नाम की शिवशक्ति का भी उस पाशसूत्र में न्यास करने के उपरान्त तीन तीन सन्निधान नामक आहुतियाँ अलग अलग देनी चाहिये।

यहाँ प्रश्न उठता है कि शिव की शक्ति तो निर्मल है, वह पाशस्वरूप कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि आपका यह कथन तो सही है, किन्तु शोध्य-शोधन की प्रक्रिया में इसकी अनुरक्ति रहने से ही इसको पाश कह दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

तासां माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते ॥
(मृ. वि. ७. ११)

इसका अभिप्राय यह है कि यह तिरोधान शक्ति पशु को पाशों की ओर प्रवृत्त कराने में रुचि रखती है, इसलिये इसको भी पाश कह दिया जाता है और ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये इसका भी शोधन आवश्यक हो जाता है। यहाँ पूर्व-प्रदर्शित तत्त्व आदि अध्वाओं को अपने भीतर समेटे हुए निवृत्ति आदि कलापंचक को पाशसूत्र के साथ जोड़ कर सन्निधान नामक तीन आहुतियाँ दी जाती हैं ॥७७॥

आत्माग्नि में विद्यमान वागीश्वरी में गर्भाधान आदि संस्कारों की सिद्धि के लिये हवन करने की विधि को अब बताते हैं —

तस्या योनिषु योजितस्य युगपद् गर्भाप्तये जन्मने
देहर्द्ध्या स्वककर्मसंचयकृते तद्भोगभुक्तौ लये ।
मायास्रोतसि निष्कृतौ च हवनं तत्त्वं च मूलेन नुः
पाशानां च तिरोहितौ विभजने छेदे कलाहेतिना ।।७८।।

तस्याः उस वागीश्वरी की **योनिषु** स्थावर-जंगमात्मक अनेक योनियों में **योजितस्य** संबद्ध किये गये **नुः** शिष्यात्मा के **युगपत्** एक ही काल में **गर्भाप्तये** गर्भाधान की सिद्धि के लिये "भो आत्मन्! गर्भाय अनया युक्तो भव" ऐसा कह कर **मूलेन** मूल-मन्त्र से **हवनं** (कृत्वा) होम करके **जन्मने** सकल गर्भों से मुक्ति के लिये अन्तिम जन्म की प्राप्ति के लिये मूल मन्त्र से होम करना चाहिये। **देहर्द्ध्या स्वककर्मसंचयकृते** शरीर की वृद्धि (सम्पन्नता) के लिये वापी, कूप, तटाक आदि के निर्माण के रूप में लौकिक कर्मों (पूर्त) और चालीस संस्कार रूप वैदिक कर्मों (इष्ट) की सविधि निर्विघ्न समाप्ति के लिये **हवनं** (कृत्वा) मूल मन्त्र से हवन कर **तद्भोगभुक्तौ** उनके द्वारा प्राप्त भोगों को भोगने के बाद **लये** उनके नाश के लिये भी **हवनं** (कृत्वा) मूल मन्त्र से होम करके **मायास्रोतसि** माया से उत्पन्न भुवन-परम्परा में आत्मा का पुनर्जन्म न हो, इसके लिये **निष्कृतौ** जाति, आयु, भोग और विपाक की शुद्धि के लिये **हवनं** (कृत्वा) मूल मन्त्र से हवन करके **पाशानां** मल-माया-कर्म-कला आदि पाशों के **तिरोहितौ** तिरोधान, **विभजने च** विभाग और **छेदे** छेदन के निमित्त हवन करे। इसके बाद अस्त्र मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित ज्ञानशक्ति रूप कैंची से उन-उन कलापाशों की ग्रन्थियों को **कलाहेतिना** निवृत्ति आदि कलाओं के मन्त्रों के साथ हुँ फट् आदि मन्त्रों को अन्त में जोड़ कर **छिन्द्यात्** काट डालना चाहिये।

अभिप्राय यह है कि पहले कहे गये तत्त्व आदि से ब्रह्मादि-स्थावरान्त चौदह प्रकार की भूत-सृष्टि से संबद्ध निवृत्ति कला को जानुप्रदेश के नीचे के भाग में रखकर, पाशसूत्र में हृदय मन्त्र सहित चतुर्थ्यन्त निवृत्ति कला बीज से अवलोकन कर, अंकुश मुद्रा से पूरक प्राणायाम से आकर्षण कर, संहार मुद्रा से कुंभक प्राणायाम द्वारा संग्रह कर, रेचक प्राणायाम द्वारा उद्भव मुद्रा से कुण्ड के मध्य में रखी गई आधारशक्ति में स्थापित कर, पूजा करने के उपरान्त स्वाहान्त निवृत्ति कला-बीज से तीन संनिधान नामक आहुतियों को देकर उसके अधिपति ब्रह्मा का आवाहन पूर्वक स्तवन कर निवृत्ति कला में व्याप्त वागीश्वरी और वागीश्वर का आवाहन कर संनिधान के लिये पुनः तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। इसी प्रकार प्रतिष्ठा आदि कलाओं में भी यह सब क्रियाकलाप किया जाता है। इसी तरह शिष्य के ताडन आदि संस्कारों को करने के बाद उसकी आत्मा का ग्रहण कर उसे अपने हृदय में स्थापित कर ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों को त्याग के क्रम से छोड़कर माता-पिता के संयोग की भावना, दीक्षा के लिये परिगृहीत शिष्य की सकल योनियों में अनेक रूपों की अभिव्यक्ति तथा अन्तिम जन्म की प्राप्ति के लिये यहाँ पाशच्छेदन की प्रक्रिया बताई गई है।।७८।।

वागीश्वरी की अनेक योनियों की यहाँ चर्चा आई है। इस पर प्रश्न उठता है कि यह कैसे संभव हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि निवृत्ति आदि कलाओं में स्थावर आदि अनेकविध योनियाँ विद्यमान हैं। उपचार से उन्हीं को वागीश्वरी की योनियाँ माना जायगा, क्योंकि इन सब कलाओं में वागीश्वरी विद्यमान है। तिरोधान शक्ति की सहायता से वागीश्वरी की अनेकविध योनियों में नियोजित शिष्य के पूर्व निर्दिष्ट प्रक्रिया से ताडन आदि संस्कार करने के उपरान्त, शिष्य की आत्मा को अपने हृदय में स्थापित करने के उपरान्त, ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का त्याग करते हुए बाहर निकाल कर माता-पिता के सहवास की भावना कर आत्म-मन्त्र की सहायंता से एक साथ सभी प्रकार की योनियों में अनेक व्यक्तियों के रूप में शिष्य की आत्मा का संबन्ध स्थापित कर विभिन्न योनियों में अपने कर्मों की विचित्रता के आधार पर स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मृग, पक्षी के रूप में गर्भाधान की प्राप्ति के लिये "भो आत्मन्! गर्भाधानाय युक्तो भव" ऐसा कहते हुए मूल-मन्त्र से हवन करे। यह होम इसलिये करना चाहिये कि सभी प्रकार के गर्भों से भिन्न वागीशी के गर्भ से होने वाला यह जन्म अन्तिम होने से अनोखा है। इसीलिये यहाँ पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन संस्कार नहीं

करने पड़ते। स्त्रीत्व, नपुंसकत्व के वर्जन के लिये पुंसवन किया जाता है। इसी तरह काण, कुब्ज, खंज आदि शारीरिक दोषों के परिहार के लिये सीमन्तोन्नयन किया जाता है। वागीशी के गर्भ में तो इस तरह के सभी दोषों से युक्त शरीरों की भी एक साथ भावना की जाती है। अतः इन संस्कारों की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं मानी जाती। इस शरीर की सम्पन्नता के लिये अपने द्वारा किये गये वापी, कूप, प्रपा आदि लौकिक और [1]चालीस प्रकार के वैदिक कर्मों के संचय (अर्जन) के लिये मूल-मन्त्र से हवन करना चाहिये। अपने द्वारा सम्पादित इन भोगों के उपभोग के लिये भी मूल-मन्त्र से आहुति देनी चाहिये। यहाँ भोग शब्द का अर्थ सुखदुःखमोहात्मक प्रकृति की नाना प्रकार की अवस्थाओं में प्रतिबिम्बित हो रही चितिस्वरूप पुरुष की इच्छा ही है। शुद्ध चिति की अभिव्यक्ति होने पर सारे कर्मों का क्षय हो जाता है। इस लयावस्था में भोगों के उपभोग की समाप्ति के बाद भोग्य और भोक्ता में अभेद दृष्टि अभिव्यक्त हो उठती है। इस समय भी मूल-मन्त्र से आहुति दी जाती है। जैसा कि इस वचन में कहा गया है —

अभेदाध्यवसायो यो भोग्यभोक्त्रोः परस्परम्।
अत्यन्तमनुरक्तो यश्चिद्व्यक्तिः स लयो मतः॥

इस प्रकार प्रकृति में उत्पन्न होने वाले देहों की शुद्धि के बाद माया के स्रोत में उत्पन्न सभी प्रकार के भुक्त और अनुपभुक्त भुवनों के जाति, आयु, भोग और संस्कारों (वासनाओं) की शुद्धि के लिये भी मूल-मन्त्र से हवन करना चाहिये। इसी प्रकार जलरहित मेघ के समान लाघव (हलकापन) की, स्फूर्ति की प्राप्ति के लिये, उस उस कला में विद्यमान तत्त्वों की शुद्धि के लिये भी आहुति देनी चाहिये। जैसा कि निम्न वचन में प्रदर्शित है —

उपभुक्तोदकस्येव शरन्मेघस्य लाघवम्।
शुद्धिरत्र विनिर्दिष्टा तत्त्वस्य क्षीणकर्मणः॥

इसी तरह से मल, माया और कर्म नामक पाशों की और इन पाशों से संयुक्त निवृत्ति आदि कलाओं की सहायता से प्रवृत्त तिरोधान व्यापार को हटाने के लिये और तिरोधान शक्ति के कारण इन तीनों प्रकार के पाशों के न हटने पर उनका विश्लेषण और छेदन करने के लिये भी आहुति दी जाती है। जैसा कि कहा गया है —

---

[1] चालीस प्रकार के वैदिक कर्मों का परिचय मृगेन्द्रागम क्रियापाद (८.१५७-१६१) तथा उसकी भट्ट नारायणकण्ठ की वृत्ति में दिया गया है। आठ आत्मगुणों के साथ ये अड़तालीस संस्कार आगमों, पुराणों और स्मृतियों में भी वर्णित हैं।

पशुभावतिरोभावः सहकारिवशादिह।
भोगबीजकलानाशे मलवृत्तेरहेतुता॥
भोक्तृत्वं प्रतिपाशेऽस्मिन् या स विश्लेष उच्यते॥

छेदन की ऊपर चर्चा आई है। निवृत्ति आदि कलाओं के पाश का यह छेदन सात बार अस्त्र-मन्त्र का जप कर अपनी ज्ञानशक्तिरूप कर्तरी (कैंची) की सहायता से किया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

कर्तरी ज्ञानशक्तिस्तु यया पाशांश्छिनत्त्यसौ।
सा कला परमा सूक्ष्मा मन्त्राणां बोधिनी परा॥

यह छेदन निवृत्ति आदि कलाओं के साथ हुंफडन्त अस्त्र-मन्त्र का उच्चारण करते हुए उन उन कलाओं के पाशों का किया जाता है ॥७८॥

पाशों का छेदन करने के बाद उनको जला डालने के लिये शास्त्रों में वर्णित विधि को अब यहाँ दिखाया जा रहा है —

प्राणिभ्यां च विमर्दनं हुतमथो पाशाङ्कुराभावतः
प्रायश्चित्तविधौ चिदैक्यमननं सूक्ष्माङ्गशुद्धौ हृदा।
शब्दाद्यष्टकशुल्कदानमधिपेष्वात्मोद्धृतिश्चार्घ्यकं
वागीशीशहुतं धृतौ हृदणुना मूलेन पूर्णाहुतिः।।७९।।

पाणिभ्यां दोनों हाथों से **विमर्दनं** (कृत्वा) काटे गये पाशसूत्रों का हुंफडन्त अस्त्र मन्त्र से मर्दन कर **हुतं** (कृत्वा) **च** और उसका गोला बना कर घृत से भरे स्रुक्पात्र के अग्र भाग में रख कर "निवृत्तिकलापाशं जुहोमि" ऐसा कहकर उसकी आहुति दे देनी चाहिये। **अथो** इसके बाद **पाशाङ्कुराभावतः** पुनः पाश अंकुरित न हों, इसके लिये हुंफडन्त अस्त्र मन्त्र से घृत की आहुति देकर क्रिया के न्यूनातिरेक दोष की निवृत्ति के लिये **प्रायश्चित्तविधौ** प्रायश्चित्त करते समय अस्त्र मन्त्र से आठ आहुतियाँ देकर समस्त शरीरों के नाश के लिये **चिदैक्यमननं** (कृत्वा) चैतन्य की ही एकमात्र सत्ता है, ऐसी भावना कर **सूक्ष्माङ्गशुद्धौ** सूक्ष्म शरीर की शुद्धि के लिये **हृदा** हृदय मन्त्र से **अधिपेषु** निवृत्ति आदि कलाओं के अधिपति ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव को **शब्दाद्यष्टकशुल्कदानं** (कुर्यात्) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ पदार्थों का शुल्क के रूप में दान कर देना चाहिये। इसकी विधि इस प्रकार है — हृदय मन्त्र से "भो ब्रह्मन् शब्दस्पर्शौ

शुल्कं गृहाण" ऐसा कह कर ब्रह्मा को शब्द और स्पर्श का शुल्क के रूप में दान करे। इसी तरह से विष्णु को रस का, रुद्र को रूप और गन्ध का ईश्वर को बुद्धि और अहंकार का तथा सदाशिव को मन का शुल्क के रूप में दान कर दे। अनन्तर निवृत्ति आदि कलाओं के पाशसमूह से छुटकारा पाई **आत्मोद्धृतिः** आत्मा का उद्धार करना चाहिये। बाद में आचार्य शिष्य की उस आत्मा को अपने हृदय में स्थापित कर उसे अपने द्वादशान्त तक ले जाकर शिष्य के सूत्रदेह से उसे मिलाकर आप्यायन के लिये वौषडन्त मूल मन्त्र से **अर्घ्यकं** अर्घ्य के रूप में जलबिन्दु से उसके सिर का प्रोक्षण कर **वागीशीशहुतं** वागीश्वरी और वागीश्वर के निमित्त आहुति देकर **धृतौ** देहसूत्र के धारण के लिये आत्मा के निमित्त **हृदणुना** हृदय मन्त्र से आहुति देकर **मूलेन** वौषडन्त मूल मन्त्र से **पूर्णाहुतिः** (कार्या) सकल क्रियाओं की पूर्ति के लिये पूर्णाहुति देनी चाहिये। ताडन आदि अठारह संस्कारों को करने की यही विधि है।।७९।।

पाशों का छेदन करने के उपरान्त उनको दोनों हाथों से तोड़-मरोड़ कर गोला बना लिया जाता है और उसीको घृत से भरे हुए स्रुक् के अग्र भाग पर रखकर हुंफडन्त अस्त्र-मन्त्र के साथ **"निवृत्त्यादिकलापाशं जुहोमि"** इत्यादि निवृत्ति आदि कलाओं के मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आहुति दे दे। इसके बाद पाश पुनः अंकुरित न होने पावें, इसके लिये हुंफडन्त अस्त्र-मन्त्र से पुनः आहुति दे। न्यूनातिरिक्त दोषों के प्रायश्चित्त के लिये भी अस्त्र-मन्त्र से आठ आहुतियाँ दी जाती हैं। जैसा कि —

न्यूनाधिकान्यथाकृत्यप्रहुताशुभकर्मणः ।
प्रायश्चित्ताहुतीरष्टौ हुत्वा हानाय हेतिना ॥

यहाँ बताया गया है। **चिदैक्यमनन** का अर्थ है — समस्त शरीरों का नाश हो जाने से अब सारा चैतन्य इस वागीशीगर्भ से उत्पन्न शरीर में ही इकट्ठा हो गया है, इस प्रकार की भावना करना। उन-उन कर्मों के कारण उत्पन्न अब तक के समस्त शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत हो रही उन उन आत्माओं की स्थिति अब उन उन शरीरों के नष्ट हो जाने के कारण अलग से नहीं रह गई है, सारा चैतन्य एकत्र पुंजीभूत हो गया है, ऐसी प्रतीति होना स्वाभाविक ही है। ऐसा होने पर सूक्ष्म शरीर की भी शुद्धि हो जाती है। सूक्ष्म शरीर का ही दूसरा नाम पुर्यष्टक है। जैसा कि —

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कारः पुर्यष्टकमिदं वपुः॥
(सा. का. १७. ४)

इस श्लोक में बताया गया है। इसके लिये हृदय-मन्त्र से ब्रह्मा, विष्णु आदि कारणेश्वरों के लिये शब्द आदि को शुल्क (कर) के रूप में समर्पित करना पड़ता है। इसकी विधि अन्वयार्था में बता दी गई है। उसमें —

[1]शब्दस्पर्शौ ब्रह्मणि च श्रीवत्साङ्के रसं त्यजेत्।
रूपगन्धौ त्यजेद् रुद्रे धीगर्वावीश्वरे त्यजेत्॥

मनः सदाशिवे देवे शब्दादीनां च हेतुकम्।
शक्तिं बिन्दुमपीत्यत्र त्यजेदित्थमनुक्रमात्॥

इस तरह से समस्त पाशों से छुटकारा पा लेने पर अपनी आत्मा का उद्धार कर ले। इसके बाद उस मुक्तात्मा को अपने हृदय में स्थापित कर द्वादशान्त पर्यन्त ले जाकर उसे शिष्य के सूत्रमय देह में नियोजित कर देना चाहिये। तब उसके आप्यायन के लिये वौषडन्त मूल-मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्घ्य जल की बूँदों से उसके सिर का सिंचन करना चाहिये। तब वागीशी और वागीश्वर के निमित्त तथा देहसूत्र को धारण करने वाली शिष्य की आत्मा के लिये भी हृदय-मन्त्र से आहुति देनी चाहिये। इसके बाद वौषडन्त मूल-मन्त्र से समस्त क्रियाकलाप की परिपूर्णता के लिये पूर्णाहुति दी जाती है। इस प्रकार शिष्य के लिये ये ताडन आदि अट्ठारह संस्कार यहाँ के इन तीन श्लोकों में वर्णित हैं। निम्न श्लोकों में भी—

[2]इत्यष्टादश संस्कारास्तत्त्वे तत्त्वे गुरुः पशोः।
मलादित्रयनाशाय कुर्वीत शिवतृप्तये॥

आत्मनस्ताडनादाने स्वीकृतिस्तस्य योजना।
आधानोत्पत्त्यधीकारो भोगो लयोऽथ स्रोतसाम्॥

शुद्धिस्तत्त्वविशुद्धिश्च पशुपत्यधिरोहणम्।
पाशविश्लेषसंछेदौ तद्दाहाद्युत्क्रमक्रिया॥

---

[1] सार्धत्रिशतिकालोत्तर के "ब्रह्मणि स्पर्शशब्दौ" (१७.६) पर दी गई संख्या १६ की टिप्पणी में ये दोनों श्लोक उद्धृत हैं।

[2] पांचरात्र आदि आगमों में भी इन अठारह संस्कारों का विवरण मिलता है।

कारणेष्टिपशूद्धारा यष्ट्वेवान्यानि पूर्णया ।
समः संस्कारविज्ञेयो विज्ञेया मध्यवर्तिनः ॥

विश्लेषार्थं ताडनं स्याद् विश्लेषः कर्षणाय च ।
कर्षणं ग्रहणायैव ग्रहणं योगकारणम् ॥

गर्भाधानाय योगः स्यादाधानं जननार्थकम् ।
जननं त्वधिकारार्थमधिकारोऽपि भूतये ॥

भूतिश्च लयहेतुः स्याल्लयः स्वान्तेन निष्कृतिः ।
निष्कृतिश्च वियोगार्थं वियोगश्छेदकारणम् ॥

विक्षेपायैव विच्छेदो विक्षेपस्तत्स्थकारणम् ।
तत्स्थेनैव च पूर्णा स्यादणूद्धारादिहेतुकम् ॥

ये ही अठारह संस्कार और उनके प्रयोजन प्रदर्शित हैं ॥७९॥

ब्रह्मा आदि पाँच कारणेश्वरों को शब्द-स्पर्श आदि के रूप में पुर्यष्टक को शुल्क के रूप में समर्पित करने की विधि को अब अगले श्लोक में बताया जा रहा है —

श्रोत्राद्यैर्विप्लुतौ तत् स्वपतिकसहितं कव्यभक्षोद्भवत्वं
स्याद् देयं तन्निवृत्त्यै तदधिपतिषु च स्पर्शशब्दादिशुल्कम् ।
शब्दस्पर्शादिरूपास्तनुतरतनुगाः शोधने रोधिनो वा
ब्रह्माद्ये कारणे स्याच्छिवपदगमने देयमेतच्च तृप्त्यै ।।८०।।

श्रोत्राद्यैः श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा **विप्लुतौ** (सत्यां) विहित कर्मों के विपरीत निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान होने पर तत् उन इन्द्रियों और उनके विषयों को **स्वपतिकसहितं** उनके अधिपति ब्रह्मा आदि कारणेश्वर ग्रहण नहीं करते, किन्तु उनका यह सारा अंश (भाग) **कव्यभक्षोद्भवत्वं स्यात्** राक्षसों के उपभोग का विषय बन जाता है। **तन्निवृत्त्यै** इस दोष की निवृत्ति के लिये, अर्थात् यह राक्षसों के पास न चला जाय, इसके लिये **तदधिपतिषु** शब्द आदि के अधिपति ब्रह्मा आदि को **स्पर्शशब्दादिशुल्कं** इन शब्द-स्पर्श आदि का शुल्क के रूप में **देयम्** दान कर देना चाहिये। **शब्दस्पर्शादिरूपाः** शब्द, स्पर्श आदि ये आठ स्वरूप **तनुतरतनुगाः** पुर्यष्टक नामक सूक्ष्म शरीर के **शोधने**-पृथिवी आदि तत्त्वों की शुद्धि करने में **रोधिनः** बाधक बन जाते हैं।

इसीलिये **शिवपदगमने** शिवपद की प्राप्ति की इच्छा वाले दीक्षित शिष्य के लिये **ब्रह्माद्ये कारणे** ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव नामक पाँच कारणेश्वरों की **तृप्त्यै** तृप्ति के लिये **एतत्** इन शब्द-स्पर्श आदि को शुल्क के रूप में **देयम्** दे देना चाहिये।

यहाँ शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के स्खालित्य से और स्पर्श त्वगिन्द्रिय के स्खालित्य से उत्पन्न होता है। पाणि, पाद, पायु और उपस्थ का स्खालित्य भी स्पर्श से संबद्ध है, अतः इनका अन्तर्भाव भी त्वगिन्द्रिय में ही किया जाता है। वागिन्द्रिय का स्खालित्य शब्द से संबद्ध होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय में उसका अन्तर्भाव होता है। ब्रह्मांश होने के कारण शब्द और स्पर्श का समर्पण ब्रह्मा को करना चाहिये। इसी तरह से रसनेन्द्रिय के स्खालित्य से उत्पन्न रस विष्णु का अंश है, अतः उसे विष्णु को; नेत्रेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के स्खालित्य से उत्पन्न रूप और गन्ध के रुद्रांश होने से उन दोनों को रुद्र को; मन और समस्त विकारों को उत्पन्न करने वाली बैन्दवी शक्ति के सदाशिव का अंश होने से इन सबको सदाशिव को समर्पित किया जाता है।।८०।।

श्रोत्र, त्वक्, जिह्वा, चक्षु और घ्राण नामक इन्द्रियों से शास्त्रों में विहित कर्मों का आचरण न करने से और निषिद्ध कर्मों का आचरण करने से, दो प्रकार से, शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन होता है। तब ब्रह्मा आदि कारणेश्वर इनको ग्रहण नहीं करते, किन्तु उनके स्थान पर ये राक्षस, क्रव्याद आदि के भाग बन जाते हैं। जैसा कि श्रोत्र और त्वक् इन्द्रिय के द्वारा किया गया विरुद्ध आचरण ब्रह्मा का अंश न होकर कर्ता को राक्षस आदि योनि प्रदान करता है। इसी तरह से रसना की विप्लुति विष्णु का अंश न होकर कर्ता को क्रव्याद योनि में डालती है। घ्राण और लोचन से उत्पन्न विप्लुति रुद्र का अंश न होकर क्रव्याद योनि में जन्म देने वाली है। बुद्धि और अहंकार की विप्लुति ईश्वर का अंश न होकर क्रव्याद शरीर को देने वाली है और मन की विप्लुति सदाशिव का अंश न होकर क्रव्याद योनि में जन्म देने वाली है। इस तरह से इन इन्द्रियों के द्वारा किया गया विपरीत आचरण इनके विषयों के अधिपतियों के साथ मांसभक्षक राक्षस, क्रव्याद आदि योनियों में जन्म का कारण बन जाता है। अर्थात् श्रोत्र आदि के द्वारा विपरीत आचरण करने पर यदि उनके अधिपतियों को शुल्क समर्पित नहीं किया जाता, तो इससे कर्ता को ब्रह्मराक्षस आदि की योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसकी निवृत्ति के लिये ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के निमित्त गन्ध आदि के रूप में शुल्क अवश्य प्रदान करना चाहिये।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पृथिवी में गन्ध आदि पांच गुणों की स्थिति मानी जाती है। इन पाँचों गुणों को ब्रह्मा को समर्पित कर देना चाहिये अथवा उसका अपना गुण जो गन्ध है, उसे देना चाहिये। ऐसी स्थिति में पार्थिव तत्त्व की शुद्धि के अवसर पर आकाश और वायु के मुण शब्द और स्पर्श का ब्रह्मा के प्रति समर्पण कैसे उचित माना जायगा? इस शंका के समाधान के लिये 'शब्दस्पर्शादिरूपास्तनुतरतनुगाः' यह कहा गया है। इसका आशय यह है कि यहाँ जिन शब्द, स्पर्श आदि की बात कही जा रही है, वे पृथिवी आदि के गुण न होकर सूक्ष्म (लिंग) शरीर में रहने वाली [1]आठ प्रकृतियाँ हैं। जैसा कि कालोत्तर में कहा गया है —

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥
(सा. का. १७. ४)

इसीलिये पुर्यष्टक नामक सूक्ष्म शरीर के शोधन में विनियुक्त ये पुर्यष्टकात्मक गुण श्रोत्र आदि इन्द्रियों की विप्लुति होने पर ही समर्पित किये जाते हैं। पृथिवी आदि तत्त्वों की शुद्धि में ये बाधक बन सकते हैं। अतः शिवपद की अभिलाषा वाले व्यक्ति को ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों की तृप्ति के लिये इनको शुल्क के रूप में समर्पित कर देना चाहिये। इनमें शब्द श्रोत्रेन्द्रिय की विप्लुति से और स्पर्श त्वगिन्द्रिय की विप्लुति से पैदा होता है। पाद, पाणि, पायु और उपस्थ की विप्लुति स्पर्श से संबद्ध है, इसलिये इसका अन्तर्भाव त्वगिन्द्रिय में होगा। इसी तरह से वाणी की विप्लुति शब्द से संबद्ध है, अतः उसका अन्तर्भाव शब्द में होगा। ये दोनों शब्द और स्पर्श ब्रह्मा के भाग हैं, अतः इनको ब्रह्मा को ही समर्पित किया जाता है। इसी तरह रसनेन्द्रिय की विप्लुति से संबद्ध रस विष्णु को तथा चक्षु और घ्राण की विप्लुति से संबद्ध रूप और गन्ध रुद्र को समर्पित किये जाते हैं। इसी पद्धति से बुद्धि और अहंकार की विप्लुति ईश्वर को एवं मन की विप्लुति के साथ समस्त विकारों की कारणस्वरूप बिन्दुशक्ति को भी सदाशिव के प्रति समर्पित कर दिया जाता है। जैसा कि निम्न वचन में उक्त है —

श्रुतित्वग्विप्लुतिर्ब्राह्मी ब्रह्मक्रव्यादयोनिदा।
रसना वैष्णवी रौद्री घ्राणलोचनहेतुकी॥

ऐश्वरी गर्वधीमूला मानसी शिवदैवता।
स्पर्शार्थत्वात् कर्मदेवाश्चत्वारस्त्वचि संस्थिताः॥

---

[1] "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।" (७.४) भगवद्गीता के इस वचन में भी अष्टधा प्रकृति का वर्णन मिलता है।

शब्दार्थत्वाच्छ्रुतौ वाणी विधेयाऽत्रेति सूरयः ।
ब्रह्मार्थास्तिसृभिः सार्धमन्तःकरणवृत्तितः ।
पाशविश्लेषवत् कृत्वा देवतास्त्वधिरोपयेत् ॥

यही विषय कालोत्तर में इस प्रकार वर्णित है —

[1]शब्दस्पर्शौ ब्रह्मणि च रसं वै केशवे त्यजेत् ।
रूपगन्धौ त्यजेद् रुद्रे बुद्ध्यहङ्कारमीश्वरे ॥

मनो बिन्दुशिवे त्यक्त्वा मुक्त एव शिवो भवेत् ।
(सा. का. १७.६)

अन्वयार्था में भी संक्षेप में यह विषय इसी रूप में प्रतिपादित है ॥ ८०॥

पृथिवी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व पर्यन्त व्याप्त आत्मतत्त्व में, उसके ऊपर सदाशिव तत्त्व पर्यन्त व्याप्त विद्यातत्त्व में और शक्ति-शिव स्वरूप शिवतत्त्व में संभाव्य क्रियालोप, मन्त्रलोप और भावनालोप के परिहार के लिये आहुतियों का विधान है। इसी विषय को अब स्पष्ट रूप से दिखाया जा रहा है —

मायान्तात्माख्यतत्त्वे विकलविधिहुतौ भाष्यकोच्चारतोऽणोः
सादेशाख्यान्तविद्यात्मनि मनुविकलोच्चारतोपांशुसंज्ञात् ।
तत्त्वे शक्त्यन्तशैवे मनसि किल गुरोर्भावनाहानिनाशेऽ-
प्युच्चारान्मानसान्ताच्छिवमनुविषयाण्याहुतीनां शतानि ।।८१।।

मायान्तात्माख्यतत्त्वे पृथिवी से लेकर मायातत्त्व पर्यन्त व्याप्त आत्मतत्त्व में आ सकने वाले **विकलविधिहुतौ** क्रियालोप के परिहार के लिये **अणोः** मूल मन्त्र का **भाष्यकोच्चारतः** दूसरों को सुनाई पड़ने वाली भाष्यक संज्ञक उच्चारण विधि से जप करे। **सादेशाख्यान्तविद्यात्मनि** उसके ऊपर सदाशिवतत्त्व पर्यन्त व्याप्त विद्यातत्त्व में संभावित **मनुविकल** मन्त्रलोप के परिहार के लिये **उपांशुसंज्ञात्** मात्र अपने को सुनाई पड़ने वाली उपांशु संज्ञक **उच्चारतः** उच्चारविधि से जप करे। **शक्त्यन्तशैवे तत्त्वे** इसके ऊपर शक्ति और शिवतत्त्व में व्याप्त शिवतत्त्व में आ पड़ने वाले **गुरोर्मनसि** दीक्षा देने वाले आचार्य के **भावनाहानिनाशे** भावनाहानि रूप दोष के परिहार के लिये

---

[1] मूल ग्रन्थ में "ब्रह्मणि स्पर्शशब्दौ तु" ऐसा पाठ है।

मानसान्तादुच्चारादपि अपने को भी न सुनाई पड़ने वाली मानस जप की विधि से **शिवमनुविषयाणि** शिवमन्त्र का जप करते हुए **आहुतीनां शतानि** ऊपर बताये गये त्रिविध दोषों के परिहार के लिये यहाँ निर्दिष्ट तीनों पद्धतियों से मन्त्र का जप करते हुए सौ-सौ बार आहुतियाँ (कुर्यात्) प्रदान करनी चाहिये।।८१।।

छत्तीस तत्त्वों को आत्म, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों में बाँटा गया है। इनमें पृथिवी से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों का आत्मतत्त्व में, शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव का विद्यातत्त्व में तथा शक्ति और शिव का शिवतत्त्व में समावेश है[1]। इसी तरह से मन्त्र का जप भी भाष्यक, उपांशु और मानस नामक तीन विधियों से किया जाता है[2]। श्लोक के पदों का अर्थ अन्वयार्था में ही स्पष्ट कर दिया गया है। कामिकागम के निम्न वचनों में इस विषय को और भी स्पष्ट किया गया है —

शान्त्यतीतकलां शक्तितत्त्वे लीनां विचिन्त्य च।
आत्मतत्त्वं तु मायान्तमुपस्थाप्य गुरूत्तमः॥

आत्मतत्त्वं चतुर्थ्यन्तमादौ तत्त्वसमन्वितम्।
मनःप्रणवसंयुक्तमुक्त्वा सम्पूज्य सन्निधौ॥

विधिवैकल्यशुद्ध्यर्थं स्वाहान्तशिवमन्त्रतः।
सशब्देन शतं हुत्वा विद्यातत्त्वमुपांशुमत्॥

मन्त्रोच्चारणवैकल्याच्छिवमन्त्रेण शुद्ध्यति।
शिवतत्त्वमुपस्थाप्य शक्त्यन्तं मानसं स्मरेत्॥

शतमष्टोत्तरं हुत्वा मनोवैकल्यमात्रतः।
मुच्यते शिवमन्त्रेण शिखाच्छेदमथारभेत्॥

इस प्रकार विधिवैकल्य दोष के परिहार के प्रसंग में यहाँ त्रिविध तत्त्वों और त्रिविध जपों की भी चर्चा हुई है॥८१॥

---

[1] श्रीविद्या के ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय में भी यह विषय वर्णित है — "मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्। शक्तिशिवौ शिवतत्त्वम्" (१.४९)। नेत्रतन्त्र (मृत्युञ्जयभट्टारक) के २१ वें अधिकार (श्लो. १६-४९) में तत्त्वत्रय की भिन्न प्रकार से व्याख्या मिलती है।

[2] मनुस्मृति (२.८५) आदि में भी इनका विवरण मिलता है। देखिये — नित्याषोडशिकार्णव, उपोद्घात (पृ. १०७-११२)।

दीक्षा की समाप्ति कर पूर्णाहुति के लिये शिवभावना के क्रम को और स्रुक् में षडध्वन्यासपूर्वक शक्ति एवं शिव के आवाहन के क्रम को अब अगले दो श्लोकों में बताया जा रहा है —

शुद्धाध्वादिमतत्त्वयागवसुधाबिन्द्वाख्यतत्त्वासनो
नादेन्ध्यादिकलाढ्यदेहकरणः शर्वैकधीर्देशिकः ।
शक्तिर्धीः समनान्तराढ्यकरणः शुद्धात्मतत्त्वोन्मना-
विद्योर्ध्वस्थशिवाख्यतत्त्वनिचितं शैवं विभाव्य स्वयम् ।।८२।।

देशिकः दीक्षा देने वाला आचार्य (गुरु) **शर्वैकधीः** (सन्) परमेश्वर के ध्यान में अपने चित्त को स्थिर करके **शुद्धाध्वादिमतत्त्वयागवसुधाबिन्द्वाख्यतत्त्वासनः** शुद्धाध्वा के पहले तत्त्व शुद्धविद्या से मानसिक शिवपूजा के स्थान में बिन्दुतत्त्व को आसन बनावे **नादेन्ध्यादिकलाढ्यदेहकरणः** नाद, इन्धिका आदि प्रणव की कलाओं को व्यापिनी आदि अनाश्रित पर्यन्त कलाओं में अपने शरीर एवं इन्द्रियों की स्थिति की भावना करे। **शक्तिर्धीः** अपनी बुद्धि को शक्तिस्वरूप समझे **समनान्तराढ्यकरणः** प्रणव की समना कला की अपने अन्तःकरण के रूप में भावना करे। **शुद्धात्मतत्त्वोन्मनाविद्योर्ध्वस्थशिवाख्यतत्त्वनिचितं** शुद्धतत्त्व को आत्मतत्त्व, उन्मनी स्थिति को विद्यातत्त्व और उसके ऊपर की स्थिति को शिवतत्त्व मानकर इन तीनों तत्त्वों से संयुक्त अपने परिपूर्ण **शैवं** शिवस्वरूप का **स्वयं विभाव्य** स्वयं अपने मन में ध्यान करे। अर्थात् पृथिवी आदि स्थूल तत्त्वों को छोड़कर शुद्ध विद्यातत्त्व आदि में ही आसन आदि की भावना करे और स्वयं को शिवस्वरूप ही समझे।।८२।।

शुद्धाध्वा का आदिम (प्रथम) तत्त्व शुद्धविद्या है। इसीकी यागधाम के रूप में भावना करनी चाहिये और बाकी के पृथिवी से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों का परित्याग कर देना चाहिये। इस यागधाम में बिन्दुतत्त्व को आसन बनावे और नाद की इन्धिका आदि कलाओं से अपनी शरीर, इन्द्रिय आदि को समृद्ध बनावे, अर्थात् नाद की इन्धिका आदि कलाओं से मेरा शरीर और व्यापिनी से अनाश्रित पर्यन्त कलाओं से मेरी बाह्य इन्द्रियाँ बनी हैं, ऐसी भावना करे। ऐसा दीक्षा देने वाला आचार्य केवल परमेश्वर के ध्यान में ही अपने चित्त को लगाते समय शक्ति को ही बुद्धि मानकर, समना शक्ति को ही अपना अन्तःकरण माने। इस प्रकार शुद्धतत्त्व-स्वरूप आत्मतत्त्व, उन्मना स्वरूप विद्यातत्त्व, इन दोनों के ऊपर विद्यमान शिवतत्त्व, इन तीनों तत्त्वों से संयुक्त अपने परिपूर्ण शिवस्वरूप की स्वयं अपने मन में भावना करे।

सकलीकारशुद्धिं च कृत्वा संयोजयेच्छिवे।
विद्यातत्त्वे सदाचार्यो बिन्दुक्लृप्तासनस्थितः॥

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा।
तथोर्ध्वगामिनी चैव सूक्ष्मासूक्ष्मामृतामृता॥

बिन्दुशक्तिरिति प्रोक्ता नादशक्तिकला द्विजाः।
आभिः कलाभिः संक्लृप्तदेहयुग् देशिकोत्तमः॥

व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्ता ह्यपरा तथा।
अनाथानाश्रिता चाभिर्बहिष्करणसंयुतः॥

अन्तःकरणसंयुक्तः समनाकल्पतत्त्वयुक्।
आत्मतत्त्वोन्मनः शैवे समापूरितदेहयुक्॥

कामिकागम के इन वचनों में ऊपर बताये गये अर्थ की ही पुष्टि होती है॥८२॥

आज्याढ्यां निहितस्त्रुवां स्त्रुचमधः शङ्खाख्ययादाय च
प्रोत्थायोद्धतपूर्वकायसमपात् स्त्रुङ्मूलनाभिः स्मरेत्।
पञ्चाधारसमस्थिताध्वनिचयं स्त्रुक्कुम्भदण्डाग्रख-
ग्रीवांशेषु च शक्तिमाज्यसरणौ वक्त्रे शिवं स्त्रुङ्मयम्॥८३॥

इसके बाद **आज्याढ्यां** घी से भरे हुए स्त्रुक् नामक यज्ञपात्र के ऊपर **अधो निहितस्त्रुवां** अधोमुख स्त्रुवा नामक होम पात्र को रखे। तब **शङ्खाख्यया** शंख नामक मुद्रा से **आदाय** उसे लेकर **प्रोत्थाय** खड़ा होकर **उद्धतपूर्वकायसमपात्** शरीर को एक दम सीधा करके और दोनों पैरों को आपस में पास-पास रखकर **स्त्रुङ्मूलनाभिः** स्त्रुक् पात्र के मूल भाग को नाभि के साथ लगा कर **स्त्रुक्कुम्भदण्डाग्रखग्रीवांशेषु** स्त्रुक् के कुंभभाग, दण्ड के अग्रभाग, स्त्रुक् के छिद्र, उसकी ग्रीवा और अंस (कन्धा) इन पाँच स्थानों में **पञ्चाधारसमस्थिताध्वनिचयं** मण्डल, अग्नि, कुंभ, शिष्य और स्वात्मा इन पाँच स्थानों में कला, तत्त्व आदि षडध्वसमूह की स्थापना कर, उनका आवाहन, ध्यान आदि करने के उपरान्त **आज्यसरणौ** गिरते हुए घी की धारा में **शक्तिं** शक्ति का **वक्त्रे** स्त्रुवा के मुख में **स्त्रुङ्मयं** स्त्रुक्स्वरूप **शिवं** सर्वव्यापक परमशिव का **स्मरेत्** स्मरण करे। अभिप्राय यह है कि मण्डल आदि पाँच स्थानों में शिव का निवास है,

अतः पहले षडध्वन्यास को करके शिव की पूजा करनी चाहिये। मण्डल में सर्वकर्मसाक्षी के रूप में, कुंभ में यागरक्षक के रूप में, अग्नि में हवन के द्वारा, शिष्य की देह में पाशों के मोचक के रूप में और गुरु की देह में अनुग्रह के कारणभूत भगवान् शिव का अर्चन किया जाता है।।८३।।

टीकाकार ने 'आज्याढ्यां......अधः' इस वाक्य की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है– घृत से भरी हुई स्रुक् के बिल के ऊपर अधोमुख स्रुवा को रख कर। 'प्रोत्थाय' का अर्थ आसन से उठ कर। मण्डल, वह्नि, कुम्भ, शिष्य और गुरु की आत्मा– इन पाँच स्थानों में शिव विद्यमान हैं। अतः इन सभी स्थानों में समान रूप से षडध्वों का न्यास करना चाहिये। इस तरह से सर्वत्र विद्यमान इन अध्वाओं का स्रुक् में आवाहन करे, जैसा कि निम्न वचन में कहा गया है —

सर्वेषां कर्मणां साक्षी मण्डले समवस्थितः।
यज्ञस्य रक्षकत्वेन शिवः कुम्भे व्यवस्थितः॥
होमाधिकरणत्वेन पावकस्थः सदाशिवः।
शिष्यदेहे तु तच्छिष्यपाशमोचनकारकः॥
अनुग्रहकरो देवो मम देहे व्यवस्थितः।
पञ्चाधिकरणो देवः सोऽहमेव सदाशिवः॥

स्रुक्कुम्भ का अर्थ है स्रुक् के मूल में स्थित कलश, दण्ड का अर्थ है वृत्ताकार दण्ड, उसका अग्र भाग गण्डिका कहलाता है, 'ख' शब्द आकाश का वाचक है। यहाँ उससे बिल का, अर्थात् बिल से युक्त वेदी का ग्रहण होता है। ग्रीवा से कण्ठ का ग्रहण होता है। स्रुक् के इन पाँच भागों में निवृत्ति आदि पाँच कलाओं के रूप में सभी अध्वाओं की इसमें भावना की जाती है। जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

स्रुचि वाध्वानमारोप्य कलशं स्कन्धगण्डिका-।
वेदीग्रीवामुखांशेषु निवृत्त्यादिविभागशः॥
(क्रि. ८. १३१)

स्रुक् के मुख में शिव का आवाहन किया जाता है, अतः यहीं षडध्व का न्यास करना चाहिये। घृत के निर्गम मार्ग में शक्ति का तथा स्रुक् के मुख में स्रुक्स्वरूप शिव का स्मरण किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि सभी अध्वाओं के आधारभूत देव के रूप में स्रुक् का स्मरण करना चाहिये, **''स्रुक्स्रुवव्यपदेशेन शक्तिपिण्डः सदाशिवः''** ऐसा शास्त्रवचन भी उपलब्ध है ॥८३॥

ऐसा ध्यान करने के बाद पूर्णाहुति देते समय प्राणविषुव, मन्त्रविषुव, नाड़ीविषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव, तत्त्वविषुव नामक सात विषुवों के ध्यान के क्रम को आगे के दो श्लोकों में बताया जा रहा है —

शिष्यात्मस्वमनस्समीरणसमायोगो भवेत् प्राणवं
नादात्मैक्यविचिन्तनं मनुविषुः कन्दान्मनूच्चारतः ।
ग्रन्थिच्छेदत एव नाडिविषुवं तन्मध्यनादोद्गमात्
षट्त्यक्त्वाऽऽदिकलाः प्रशान्तविषुवं शक्तौ लयः सप्तमे ।।८४।।

शक्तौ स ध्वनिरूर्ध्वमेव विसरेत् तच्छक्तिसंज्ञं कला-
सप्तेन्द्वष्टदश प्रकल्प्य त्रुटिभिः शक्तेर्मनान्तं त्रिधा ।
तत्प्राणेऽप्यपरं परापरपरं कालाह्वयं तत्परं
तत्त्वाख्यं विषुवं ध्रुवं परशिवस्थानं तु चिद्व्यक्तिकृत् ।।८५।।

१. **शिष्यात्मस्वमनस्समीरणसमायोगः** शिष्य की आत्मा के साथ अपने मन को प्राण वायु से एक कर संयोजित करना **प्राणवं** प्राण नामक पहला विषुव **भवेत्** कहलाता है। २. **कन्दात्** मूलाधार नामक कमल के कन्द से **मनूच्चारतः** मन्त्र का उच्चारण कर **नादात्म्यैक्यविचिन्तनं** ध्वनि के मध्य में आत्मा के ऐक्यभाव का चिन्तन करना **मनुविषुः** दूसरा मन्त्र नामक विषुव (भवेत्) होता है। ३. **ग्रन्थिच्छेदत एव** मेढ्र आदि स्थानों में स्थित दशविध ग्रन्थियों का छेदन करने के साथ **तन्मध्यनादोद्गमात्** उसके मध्य में स्थित मध्यमा नाडी सुषुम्ना के रास्ते से नाद का ऊपर उठना ही **नाडिविषुवं** तीसरा नाड़ी विषुव (भवेत्) होता है। ४. **षड् आदिकलाः** अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, नादान्त नामक **छः** कलाओं को हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ब्रह्मरन्ध्र, द्वादशान्त इन छः स्थानों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, अनाहत शिव नामक छः कारणेश्वरों को **त्यक्त्वा** छोड़कर **सप्तमे शक्तौ** सातवें शक्ति स्थान में **लयः** शिष्यात्मस्वरूप का लय **प्रशान्तविषुवं** चौथा प्रशान्त नामक विषुव **भवेत्** कहलाता है।।८४।।

५. **शक्तौ** शक्ति के मध्य में **स ध्वनिः** वह नाद **ऊर्ध्वमेव** ऊपर की ओर ही **विसरेत्** फैलेगा। (इति यत्) इस तरह का यह प्रसरण ही **शक्तिसंज्ञं विषुवं** पांचवाँ शक्ति नामक विषुव (भवेत्) होता है। ६. **शक्तेः** शक्ति से लेकर **मनान्तं** समना पर्यन्त प्राण वायु की **कलासप्तेन्द्वष्टदशत्रुटिभिः** सोलह, सत्रह, अठारह त्रुटियों में **प्रकल्प्य** कल्पना कर, प्राणसंचार काल को **त्रिधा** (कृत्वा) तीन भागों में विभक्त

कर तीन प्रकार की भावना करे। **तत्प्राणे** प्राण के उस संचार काल में **अपरं परापरं परं** अपर, परापर और पर काल को जान कर सकल कालव्यापिनी उन्मनी कला में उनका विलय करना ही **कालाह्वयं** काल नामक छठा विषुव (भवेत्) कहलाता है। यहाँ शक्ति पर्यन्त प्राणसंचार का काल सोलह त्रुटि का, व्यापिनी पर्यन्त प्राणसंचार का काल सत्रह त्रुटि का और समना पर्यन्त प्राणसंचार का काल अठारह त्रुटि का होता है। इन्हीं को क्रमशः अपर, परापर और पर काल के नाम से जाना जाता है। ७. **तत्परं** समना से ऊपर उन्मना में **ध्रुवं** स्थिर रूप में **चिद्व्यक्तिकृत्** आत्म-चैतन्य को प्रकाशित करने वाला **परशिवस्थानं** परम शिव का विश्राम स्थान **तत्त्वाख्यं विषुवं** सातवाँ तत्त्वविषुव (भवेत्) होता है। अर्थात् उन्मना कला के बाद निष्कल शिवस्वरूप में शिष्य की आत्मा को मिला देना ही तत्त्वविषुव है।।८५।।

अब दो श्लोकों में सप्तविध [1]विषुवों का स्वरूप बताया जा रहा है। अन्वयार्थ में इनका अर्थ कर दिया गया है। टीकाकार ने यहां अन्य वचनों को भी उद्धृत किया है। जैसे कि —

आत्मनश्च मनः प्राणे संयोज्य विषुवं भवेत्।
प्राणवद् विषुवं ख्यातं शिष्यस्वमनसोरपि॥

यहाँ प्राण विषुव का स्वरूप वर्णित है। इसी तरह से —

आत्मनो नादमध्ये तु लयं संचिन्त्य कन्दतः।
अकारोकारवर्णादिसंयोगेन वियोगतः।
हृदयादिबिलान्तेषु विषुवं मन्त्रसंज्ञकम्॥

यहाँ मन्त्र विषुव का स्वरूप प्रदर्शित है। इसी तरह से —

मेढ्रोर्ध्वे कन्दनाभिश्च हृदयं कण्ठकूपिका।
कण्ठस्याग्रं भ्रुवोर्मध्ये ललाटं ब्रह्मणो बिलम्॥

शक्तिं च द्वादशान्तं च [2]दशग्रन्थीननुक्रमात्।
मूलमन्त्रं त्रिशूलेन भित्त्वा नादः प्रवर्तते॥

नादनाडीसमायोगात् तन्नाडीविषुवं मतम्।

---

[1] सात विषुवों का वर्णन स्वच्छन्दतन्त्र (४.३१६-३३३) और योगिनीहृदय (३.१८१-१८७) में भी मिलता है।

[2] नेत्रतन्त्र (७.२२-२५) में बारह ग्रन्थियाँ वर्णित हैं।

यहाँ नाडी विषुव का वर्णन किया गया है। इसका स्वरूप अन्यत्र भी इस प्रकार वर्णित है —

सर्वासामेव नाडीनां मध्ये या संव्यवस्थिता।
सुषुम्ना सा समा ज्ञेया नाभेः शक्तेः शिवं गता।
तत्र प्रवाहयेन्नादं नाडीविषुवमुच्यते॥

प्रशान्त विषुव का स्वरूप टीकाकार के इस उद्धरण में भी स्पष्ट किया गया है —

अकारोकारवर्णौ द्वौ मकारो बिन्दुसंज्ञकः।
नादनादान्तसंज्ञौ च त्यक्त्वा ब्रह्मादिषु क्रमात्॥

सप्तमे शक्तिमध्ये तु शिष्यात्मानं लयं नयेत्।
प्रशान्तं तद्विजानीयात् प्रशान्तेन्द्रियगोचरम्॥

इसी तरह से शक्ति विषुव के समर्थन में यह वचन उपलब्ध है —

शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति।
तच्छक्तिविषुवं प्रोक्तं ——————— ॥

पलक झपकने में जितना समय लगता है, उसको त्रुटि कहा जाता है, "भ्रूक्षेपमात्रो यः कालः स त्रुटिः परिकीर्तितः"[1] यह वचन इसमें प्रमाण है। आगे का अर्थ

---

[1] "स्त्रियां मात्रा त्रुटिः पुंसि लवलेशकणाणवः" (३.१.६२) अमरकोश के इस वचन में सूक्ष्म काल के लिये त्रुटि और लव शब्द भी प्रयुक्त हैं। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में ये शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त मिलते हैं। जैसे कि प्रपंचसार में — "नलिनीपत्रसंहत्यां सूक्ष्मसूच्यभिवेधने। दले दले तु यः कालः स कालो लववाचकः।।" (१.२९) लव की यह परिभाषा दी है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ३७३-३७४) में तन्त्रान्तर के प्रमाण से — "स्वस्थे नरे समासीने यावत् स्पन्दति लोचनम्। तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः।। तत्परस्य शतांशस्तु त्रुटिरित्यभिधीयते।" इस प्रकार त्रुटि का लक्षण बता कर अमृतानन्द ने "निमेषस्य त्रिसहस्रतमो भागस्त्रुटिः" (पृ. ३७४) यह कहा है। काश्मीरागम में 'त्रुटि' के स्थान पर 'तुटि' शब्द प्रयुक्त है। भट्ट कल्लट का "तुटिपाते सर्वज्ञतादयः" यह वचन उद्धृत मिलता है। इस प्रसंग में तन्त्रालोककार (१०.१८७) स्वच्छन्दतन्त्र के "मानुषाक्षिनिमेषस्याष्टमोंऽशः क्षणः स्मृतः। क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः।। लवद्वयं निमेषस्तु" (११.२०१-२०२) इस वचन को उद्धृत करते हैं। स्पष्ट है कि अलग-अलग स्थलों में इन शब्दों की अलग-अलग व्याख्या की गई है। प्रस्तुत स्थल में पलक झपकने के काल को त्रुटि कहा गया है। कल्लट के वचन का भी यही अभिप्राय है कि पलक झपकते ही सर्वज्ञता आदि शिवधर्मों की अभिव्यक्ति हो उठती है।

अन्वयार्था में टीकाकार का अनुसरण करते हुए ही किया गया है। टीकाकार ने काल विषुव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निम्न वचन भी उद्धृत किया है—

प्राणमेवं त्रिधा कालं ज्ञात्वा चैवं त्रिधा कुरु।
अपरः षोडशो यावत् सप्तदशः परापरः॥
तस्मात् परस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः स्मृतः।
प्राणमेवं त्रिधा कालं ज्ञात्वा चैव त्यजेत् पुनः॥
अपरः शक्तिमूर्धिस्थो व्यापिन्यन्तं द्वितीयकम्।
तृतीयं समनान्तं तु कालं विषुवमुच्यते॥

समना शक्ति के आगे उन्मनी कला के अन्त में विद्यमान नित्य परशिव के स्थान में आत्मा की चितिकला की जो अभिव्यक्ति होती है, उसे ही सातवें तत्त्वविषुव के रूप में जाना जाता है। "उन्मन्यन्तं ततः प्रोक्तं तत्त्वं विषुवसंज्ञकम्" यह वचन भी इसी स्थिति को स्पष्ट करता है। इस प्रकार उन्मना कला के आगे निष्कल परशिव स्थान में शिष्य की आत्मा को संयोजित कर देना ही तत्त्वविषुव है॥८४-८५॥

इस तरह सात विषुवों का ध्यान करके स्रुक् की अध्यात्म के रूप में भावना कर तथा तत्त्वविषुव में शिष्य के स्वात्मस्वरूप को मिला कर पूर्णाहुति प्रदान करे। इसी के क्रम को अब आगे दिखाते हैं —

तस्मिन् सत्सुधयाढ्यकन्दकलशान्नाडीसुदण्डा स्वहृ-
त्पद्मश्वभ्रगलोर्ध्वतालुसुषिरा बिन्दुस्रवत्स्वामृता।
स्रुक् चेत्यान्तरभावनात् स्रुतघृतापातेन संयोजयेत्
स्थैर्यायापरपूर्णया क्षणकलालक्ष्यं तथाऽऽप्लावयेत्॥८६॥

स्रुक् यह आन्तर स्रुक्पात्र **नाडीसुदण्डा** मध्यनाडी रूप सुन्दर दण्ड से सुशोभित है। **स्वहृत्पद्मश्वभ्रगलोर्ध्वतालुसुषिरा** अपना हृदयकमल ही इस आन्तर स्रुक्पात्र का बिल है। गले के ऊपर का तालुस्थान ही घृतस्रवण का मार्ग है। **बिन्दुस्रवत्स्वामृता च** और घृत की धारा के समान बिन्दुस्थान से गिरती हुई अमृतधारा से यह सुशोभित है। **इति** इस तरह से **आन्तरभावनात्** स्रुक्पात्र की आन्तर स्रुक्पात्र के रूप में भावना कर **सत्सुधयाढ्यकन्दकलशात्** सुन्दर स्वच्छ अमृत रस से भरे हुए कन्दस्थान रूपी कलश से **स्रुतघृतापातेन** गिरती हुई घृत की धारा से **तस्मिन्** चित्त को प्रकाश देने वाले परशिव स्थान में स्थिर हुए उस तत्त्वविषुव नामक श्रेष्ठ धाम में **क्षणकलालक्ष्यं** एक क्षण

के लिये सूक्ष्म रूप में दिखाई पड़ने वाली शिष्य की आत्मा को **संयोजयेत्** मिला देना चाहिये। **तथा** इसी तरह **स्थैर्याय** वहाँ स्थिर करने के लिये **अपरपूर्णया** अविच्छिन्न घृतधारा से दूसरी पूर्णाहुति **पातयेत्** अग्नि में देनी चाहिये।।८६।।

स्रुक् के यहाँ चार विशेषण दिये गये हैं — नाडीसुदण्डा, स्वहृत्पद्मश्वभ्रागलोर्ध्वतालुसुषिरा और बिन्दुस्रवत्स्वामृता। इनका अभिप्राय यह है कि स्रुक् का दण्ड मध्यनाडी सुषुम्ना का प्रतिनिधित्व करता है। अपना हृदयकमल ही स्रुक् की वेदी पर बना बिल (छिद्र) है, अर्थात् स्रुक्-वेदी पर बना बिल ही हृदयकमल का प्रतिनिधित्व करता है। स्रुक् के गले से लेकर तालु पर्यन्त घृत के प्रवाह के लिये बनाया गया मार्ग हीं ब्रह्मरन्ध्र का प्रतिनिधित्व करता है और स्रुक् के मुख से बह रही घृतधारा ही बिन्दुस्थान से बह रही श्रेष्ठ सुधारस की धारा है। इस प्रकार स्रुक् के आन्तर स्वरूप का ही ध्यान उसके बाह्य स्वरूप में अनुकरण के रूप में किया जाता है। स्रुक् के आन्तर स्वरूप का ध्यान करने के बाद उस स्रुक् में, जिसमें कि परमशिव निवास करते हैं, जहाँ कि चितिशक्ति अभिव्यक्त होती है, जहाँ पहुँच जाने पर वापस कोई नहीं आता, जिसमें कि श्रेष्ठ, सुन्दर अमृतरस भरा हुआ है, उसके कलशरूपी कन्द से निकलती हुई घृत की धारा में अमृतरस की भावना करता हुआ गुरु उससे शिष्य की आत्मा को आप्लावित कर दे। जैसा कि निम्न वचन में कहा गया है —

पूरकं कुम्भकं कृत्वा सर्वद्वाराणि योजयेत्।
नादः संभावयेन्मन्त्रं प्रक्रियामूलमाश्रितः॥

दिव्यं करणमास्थाय परभावसमन्वितम्।
शिष्यात्मकुम्भवह्निभ्यो मण्डलादपि षड्विधम्॥

संगृह्याध्वानमारोप्य प्राणनाडीगतस्रुचः।
अग्रे गुरूक्तकन्दादेर्मन्त्रमुच्चारयेत् क्रमात्॥

मूलमन्त्रं त्रिशूलेन भित्त्वा ग्रन्थीननुक्रमात्।
प्रासादांध्वशिखान्तस्थमात्मानं च लयावधि॥

नीत्वा त्यक्त्वा मानसं वै व्यापारं बोधरूपयुक्।
शिवे षड्गुणसम्पूर्णे चिदानन्दस्वरूपके॥

ध्यायन् विधानमात्मानं शनैः पूर्णां निपातयन्।
तावत् तिष्ठेत् कुम्भकेन न यावत् सर्पिषः स्थितिः।
धैर्येण योजना कार्या पुनः पूर्णाहुतिं क्षिपेत्॥

पूर्णाहुति की शेष प्रक्रिया को अन्वयार्था में स्पष्ट कर दिया गया है ॥८६॥

इस तरह पूर्णाहुति पर्यन्त दीक्षाव्यापार को सम्पन्न कराने वाले शिष्य के स्वात्मस्वरूप में सर्वज्ञत्व, नित्यतृप्तत्व, अनादिबोधवत्त्व, स्वतन्त्रत्व, अलुप्तशक्तित्व और अनन्तशक्तित्व नामक छः गुणों का आविर्भाव हो उठता है। आगे के श्लोक में इसी विषय को दिखाते हैं —

सृष्ट्याग्नौ च नियोज्य तत्र परया शिष्यस्य चिद्व्यक्तिकं
सर्वज्ञत्वसुतृप्त्यनादिकमतिस्वातन्त्र्यसंज्ञानि च ।
शक्तिं पूर्तिमतीमनन्तविषयां षट्कं गुणानां तत-
श्चापाद्यानलतः शिवेन सदृशं शिष्ये तदा योजयेत् ॥८७॥

शिष्यस्य इस तरह से पूर्णाहुति पर्यन्त दीक्षा को प्राप्त शिष्य की **चिद्व्यक्तिकं** ज्ञान-क्रियामय चैतन्य की अभिव्यक्तिरूप स्वरूप को **परया** श्रेष्ठ **सृष्ट्या** सृष्टि मार्ग से आकृष्ट करके अपने मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त लाकर, पुनः द्वादशान्त से गण्डिका के पास लाकर नासिका मार्ग से यह पुष्पांजलि में आ गया है, ऐसी भावना करके **तत्र** उस कुण्ड में स्थित **अग्नौ** शिवाग्नि में **नियोज्य** मिलाकर अनन्तर स्रुवा से तीन-तीन बार आहुति देकर **सर्वज्ञत्वसुतृप्त्यनादिकमतिस्वातन्त्र्यसंज्ञानि च** सर्वज्ञत्व, परितृप्तत्व, अनादिबोधवत्त्व और स्वातन्त्र्य नामक गुणों के साथ **पूर्तिमतीं शक्तिं** अलुप्तशक्ति को और **अनन्तविषयां शक्तिं** अनन्तशक्तित्व नामक **गुणानां षट्कं** छः गुणों की समष्टि को **आपाद्य** प्राप्त करा के, (अभिप्राय यह है कि यद्यपि ये सब आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, तथापि मलपाश से आबद्ध जीव में ये गुण तिरोहित हो जाते हैं। इसीलिये इनके आपादन (प्राप्त कराने) की बात यहाँ कही गई है। **ततश्च** तदनन्तर **अनलतः** उस अग्नि से निकले उक्त छः गुणों का आवाहन करके **तदा** उसी समय **शिवेन** अनादि काल से पाशरहित निर्मल-स्वभाव शिव के साथ जुड़े हुए इन गुणों के कारण **सदृशं** शिव के सदृश हुए **शिष्ये** शिष्य में भी **योजयेत्** इन गुणों को संयोजित कर दे ॥८७॥

इस श्लोक का अर्थ अन्वयार्था में **टीकाकार** की पद्धति से ही किया गया है। केवल 'गुणानां ततश्चापाद्य' के स्थान पर व्याख्या में 'गुणानां न्विति ह्यापाद्य' यह पाठ स्वीकृत है। यहाँ 'नु' पदच्छेद कर उसका 'अनु' (पश्चात्) अर्थ किया है, अर्थात्

पूर्णाहुति की सहायता से शिष्य में छः गुणों से समृद्ध आवाहित शिवाग्नि से प्राप्त शिवगत छः गुणों की योजना कर लेने के बाद।

गुणानापाद्य तत्रैव सिद्धानाहुतिभिस्त्रिभिः ।।
स्वतन्त्रादिविधेर्दार्ढ्यादिच्छन्त्येवं विपश्चितः ।
(क्रि. ८. १३५-१३६)

मृगेन्द्रागम के इस वचन में यही विषय प्रतिपादित है ॥ ८७॥

तीन पदार्थों का ज्ञान कराने वाले और चार पादों से संयुक्त भोगमोक्षप्रद शिवागम शास्त्र का भलीभांति ज्ञान रखने वाला दीक्षित शिष्य अभिषेक के योग्य बन जाता है। ऐसे छः गुणों से सम्पन्न शिष्य का आचार्याभिषेक किया जाता है। उसी के क्रम को आगे बताया जा रहा है —

सिक्तः पाशविमोचको गुरुवरो रत्नौषधीबीजकैः
पूर्णैर्भूतघटैः स्थिरासनकलाक्लृप्तैः सपञ्चावृतैः ।
स-ब्रह्माङ्गशिवार्चनाजपयुतैर्दीक्षाप्रतिष्ठादिके
योग्यः स्याद् गुरुणा शिवाग्रविहितप्राप्ताज्ञयोक्तव्रतः ।।८८।।

रत्नौषधीबीजकैः माणिक्य आदि पाँच रत्नों से, सुवर्ण आदि पाँच धातुओं से, हरिताल आदि पाँच धातुओं से, सहदेवी आदि ओषधियों से और शालि आदि बीजों से **पूर्णैः** पृथक् पृथक् रूप में भरे गये **स्थिरासनकलाक्लृप्तैः** आद्या शक्ति आदि पूर्णासन पर, चांवल-तिल आदि सप्त धान्य पर, निवृत्ति आदि पाँच कलाओं पर स्थापित किये गये **सपञ्चावृतैः** अलग-अलग पाँच आवरणों से युक्त **स-ब्रह्माङ्गशिवार्चनाजपयुतैः** पंच-ब्रह्म मन्त्रों से अभिमन्त्रित, अलग-अलग षडंग मन्त्रों से युक्त, शिवपूजा के लिये पृथक् पृथक् १०८ आवृति वाले मूल मन्त्र का पृथक् पृथक् जप करते हुए **भूतघटैः** पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पूर्व और ईशान दिशा में क्रम से स्थापित पंचब्रह्म कलशों से **गुरुणा** आचार्य के द्वारा **सिक्तः** अभिषिक्त होकर **शिवाग्रविहितप्राप्ताज्ञया** स्थण्डिल, मण्डप आदि में निवास करने वाले परशिव के संनिधान में आगे इसी तरह से चलना है, इस तरह के विधान को अंगीकार कर, आज्ञा का अनुसरण करते हुए **उक्तव्रतः** आचार्य के द्वारा उपदिष्ट व्रताचारों का, नियमों का पालन करने वाला, उनको कभी न छोड़ने वाला शिष्य **दीक्षाप्रतिष्ठादिके** शैवी दीक्षा, लिंग-प्रतिष्ठा, पवित्रारोपण आदि

क्रियाकलापों को सम्पन्न कराने के लिये **योग्यः** समर्थ हो जाता है, अर्थात् वह स्वयं आचार्य बन जाता है। **पाशविमोचकः** शिष्य के मल आदि पाशों को छुड़ाने में समर्थ यह आचार्य स्वयं **गुरुवरः** श्रेष्ठ गुरु, **स्यात्** बन जाता है।।८८।।

यहाँ रत्न पद से पंचविध रत्नों का ग्रहण होता है —

माणिक्यं चैव वैडूर्यं मुक्ताफलं प्रवालकम्।
इन्द्रनीलं च रत्नानां पञ्चकं परिकीर्तितम्॥

यहाँ उनके नाम बताये गये हैं। रत्न पद से स्वर्ण आदि धातुओं का और हरिताल आदि धातुओं का भी ग्रहण होता है। सहदेवा आदि ओषधियों के नाम मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

सहदेवी तथा ब्राह्मी त्रायन्ती लक्ष्मणावती।
शङ्खपुष्पी बला बीजा ज्योतिष्मत्यपराजिता॥

विष्णुक्रान्ता बला मोटा विल्वधात्र्यभयामृता।
शताह्वा शाबरी दूर्वा कुशव्याघ्री पुनर्नवा॥
(क्रि. ८. १८९-१९०)

शालि, सिद्धार्थ, यव आदि का बीज पद से ग्रहण होता है। स्थिरासन शब्द से आधारशक्ति आदि से बना और व्रीहि आदि सात प्रकार के धान्य से बना आसन परिगृहीत है। इन पर स्थापित पाँच कलशों के जल से पंचब्रह्म एवं षडंग मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अभिषेक किया जाता है। जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है —

पश्चिमं सद्यमन्त्रेण वामेनोत्तरतः स्थितम्।
दक्षिणं बहुरूपेण नरेण प्राग् व्यवस्थितम्॥
ईशानेनैशमालभ्य सर्वान् साङ्गेन शम्भुना।

स्थण्डिल आदि पर स्थित शिव के सामने अभिषिक्त शिष्य को गुरु जो आज्ञा देता है, वह इस प्रकार है —

त्वयाधिकरणं वत्स गुरुपारम्परागतम्।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं सदा तद्देशवासिना।
अद्यप्रभृति कर्तव्यं सुविचार्य शिवाज्ञया॥

शिष्य के व्रतपालन की प्रतिज्ञा करने पर गुरु उसको स्वायम्भुवागम में वर्णित नियमों का उपदेश करता है —

अथाचार्यव्रतं श्रेष्ठं चरेदाचार्य एव हि।
सद्यादिशिवपर्यन्तामभ्यसेद् मन्त्रसंहिताम् ॥

पक्षत्रयमधःशायी नक्ताशी चरुभुक् सदा।
मौनी त्रिषवणस्नायी द्वन्द्वानुद्विग्नसंयतः ॥

शुक्लाम्बरधरः शान्तः शुक्लमाल्यानुलेपनः।
योगपट्टाक्षसूत्रं च मौञ्जाजिनपवित्रयुक् ॥

जपं च प्रत्यहं कुर्यादनुद्विग्नः सहस्रकम्।
होमं प्रतिदिनं कुर्याज्जपान्ते शक्तितः क्रमात्।
घृतेन वा घृताक्तैर्वा तिलैः क्षीरेण तण्डुलैः ॥

इस तरह से अभिषिक्त हुआ शिष्य दीक्षा, लिंग-प्रतिष्ठा, पवित्रारोपण आदि कार्यों को कराने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, ऐसा गुरुवर शिष्य के मल आदि पाशों को काटने में भी समर्थ हो जाता है। निम्न वचन में गुरुवर पद का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है —

योग्यः स्यात् सर्ववर्णानां प्रतिष्ठायां महोत्सवे।
स्नपने प्रोक्षणे चैव प्रायश्चित्तेऽभिषेचने ॥

व्याख्यानादौ च शस्तः स्यात् स्वार्थे वाऽथ परार्थके।
सर्वदेवार्चने विप्रस्त्वादिशैवो गुरूत्तमः ॥
विप्रादयस्त्रयो वर्णा दीक्षायां स्थापनेऽपि च ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियादीनां क्षत्रियः शूद्रवैश्ययोः।
वैश्यः शूद्रस्य दीक्षायां स्वस्वजातौ विशिष्यते ॥

स्वार्थेष्टौ चललिङ्गस्य प्रतिष्ठायां त्रयस्त्विमे।
शूद्रोऽपि शूद्रदीक्षायां स्वार्थे तु चलसंज्ञके ॥

बाणलिङ्गेक्षणे वापि स्थापको यदि नैष्ठिकः।
सनादाखिलमन्त्रेषु शिवज्ञाने विशेषतः ॥

शूद्रस्यापि गृहस्थस्य नित्येष्टावेव योग्यता।
तत्रापि नादरहितैर्मन्त्रैरेव प्रकीर्तिता।
अभिषेके त्वयोग्योऽयं किं पुनः स्थापनादिषु ॥

प्रसंगवश यहाँ दीक्षा के अधिकार का भी विश्लेषण किया गया है ॥ ८८॥

शैवागमों में वर्णित विविध दीक्षाओं को देने का विशेषाधिकारी कौन है? इसको जानने के लिये समस्त शास्त्रों के उपादानकारणभूत बिन्दुतत्त्व से चली शैव कुल-परम्परा का वर्णन अब किया जा रहा है —

बिन्दोस्तत्स्थमहेश्वराच्छिवकुलं गायत्रिशक्त्यङ्कितं
विद्येशादिसुरक्रमादुदभवद् दुर्वाससेह क्षितौ ।
ऋष्यादेस्तदनुग्रहोदयजुषो वर्षेऽभवद् भारते
श्रीमन्मुख्यकदम्बभूषणयुतं चामर्दसंज्ञाश्रमम् ।।८९।।

बिन्दोः बिन्दुतत्त्व में **तत्स्थमहेश्वरात्** स्थित क्षोभक महेश्वर से स्थावरजंगमात्मक समस्त प्रपंच की उत्पत्ति होती है, अर्थात् सदाशिवदेव चिच्छरीर धारण कर बिन्दु को क्षुब्ध करते हैं। वह बिन्दु **गायत्रिशक्त्यङ्कितं** शैवी गायत्री शक्ति से अधिष्ठित है, अर्थात् बिन्दु का क्षोभ होने पर सर्वप्रथम शैवी गायत्री उत्पन्न होती है। इसीलिये सारा शिवकुल गायत्री शक्ति से अधिष्ठित है, ऐसा जान लेना चाहिये। **शिवकुलं** यह शिवकुल, शैव सन्तान **विद्येशादिसुरक्रमात्** अनन्तेश्वर आदि आठ विद्येश्वरों के क्रम से आगे बढ़ता है, अर्थात् सदाशिव के द्वारा बिन्दु का क्षोभ होने पर बैन्दव-शरीर अनन्त आदि आठ विद्येश्वर उत्पन्न होते हैं। अनन्तेश्वर से ब्रह्माण्ड मण्डल के मध्य में कैलासाधिपति श्रीकण्ठ रुद्र उत्पन्न होते हैं। श्रीकण्ठ रुद्र से विष्णु की, उनसे ब्रह्मा की और ब्रह्मा से इन्द्र आदि समस्त देवताओं की उत्पत्ति होती है। पुनः श्रीकण्ठ रुद्र से दुर्वासा महर्षि प्रकट होते हैं। **दुर्वाससा** दुर्वासा महर्षि से **इह क्षितौ** इस भूलोक में **उदभवत्** आगे की परम्परा चलती है। **तदनुग्रहोदयजुषः** उस दुर्वासा महर्षि की संनिधि में दीक्षारूपी अनुग्रह को प्राप्त कर **ऋष्यादेः** कौशिक, काश्यप आदि ऋषियों की परम्परा में **भारते वर्षे** भातरवर्ष के भरत खण्ड में **श्रीमत्** श्रीसम्पन्न, अर्थात् भोग और मोक्ष दोनों को प्रदान करने वाला **मुख्यकदम्बभूषणयुतं** प्रसिद्ध कदम्बवृक्ष रूपी भूषण (अलंकार) से सुशोभित **आमर्दसंज्ञाश्रमं** आमर्दक नाम से प्रसिद्ध एक आश्रम (मठ) **अभवत्** स्थापित हुआ था ।।८९।।

स्थावर-जंगमात्मक जगत् की उत्पत्ति के लिये सदाशिव सभी तत्त्वों के उपादानभूत बिन्दु को क्षुब्ध करते हैं। वह स्वयं बिन्दु से अतीत निष्कल-स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, तो भी जगत् की उत्पत्ति के लिये चिन्मय देह को धारण करते हैं। चिन्मय

देह को धारण कर जब सदाशिव बिन्दु को क्षुब्ध करते हैं, उस समय श्रेष्ठ शैवी गायत्री शक्ति उत्पन्न होती है। उस शैवी गायत्री शक्ति से ही विद्येश आदि के क्रम से शैव कुल की सन्तान-परम्परा प्रवृत्त होती है। सदाशिव जब बिन्दु को क्षुब्ध करते हैं, उस समय बैन्दव शरीरधारी अनन्त आदि आठ विद्येश्वर उत्पन्न होते हैं। सदाशिव की उत्पत्ति निष्कल शिव से होती है। अनन्त आदि देवताओं के क्रम में ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित कैलास के अधिपति श्रीकण्ठ रुद्र की उत्पत्ति होती है। श्रीकण्ठ से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा और ब्रह्मा से इन्द्र आदि सभी देवता उत्पन्न होते हैं। सिद्ध-क्रम में श्रीकण्ठ से दुर्वासा की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम में दुर्वासा से सदाशिव कुल, अर्थात् शैव सम्प्रदाय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रसंग में ज्ञानशिवाचार्य की यह उक्ति अवलोकनीय है —

> आग्राही किल ईश्वरः परशिवस्तस्मात् सदेशः शिवो
> नादात्मा सकलाकलः प्रभुरतोऽनन्तेशभट्टारकः।
> तस्मादण्डजविष्णुवासवविधिः श्रीकण्ठरुद्रस्तत-
> स्तन्त्राणामवतारको मुनिवरो [1]दुर्वासनामा गुरुः॥

भूलोक के भरतखण्ड में जम्बुद्वीप के मध्य में स्थित मेरुपर्वत के दक्षिण प्रदेश में विद्यमान हिमगिरि का दक्षिण भाग भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध है। इस भारतवर्ष के भरतखण्ड में भोग और मोक्ष मार्ग का उपदेश करने वाला, कदम्ब के वृक्ष से अलंकृत, आमर्दक मठ के नाम से प्रसिद्ध एक आश्रम था। यहाँ श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द से सूचित होता है कि आमर्दक मठ के अतिरिक्त यहाँ अन्य भी प्रसिद्ध आश्रम थे। प्रथम आमर्दक मठ की स्थापना दुर्वासा मुनि ने की थी और उनसे दीक्षा प्राप्त कर कुशिक[2], काश्यप, अगस्त्य, भारद्वाज और गौतम तथा सनत्कुमार, सनक, सनातन और सनन्दन आदि ने यहीं तपस्या की थी। "स्थानमामर्दकं नाम श्रीदुर्वासोनिषेवितम्" इस वचन से इसकी पुष्टि होती है कि इस मठ की स्थापना दुर्वासा ने की थी। दुर्वासा का अनुग्रह प्राप्त कर इस मठ में निवास करने वाले कौशिक, काश्यप आदि ऋषियों ने दक्षिणामूर्ति-स्वरूप श्रीकण्ठ की आगमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपासना की।

---

१. शिवदृष्टि (७.११०) में भी दुर्वासा मुनि को ही शैवशास्त्र का उद्धारक बताया गया है। यहाँ टीका में उद्धृत वचन से भी आमर्दक मठ में दुर्वासा मुनि के निवास की सूचना मिलती है।

२. आदिशैवों का विवरण देते समय चन्द्रज्ञानागम उत्तरभाग के क्रियापाद (१०.७) में तथा सूक्ष्मागम उत्तरभाग के क्रियापाद (७.८) में कौशिक, कश्यप, भरद्वाज, अत्रि और गौतम नामक पाँच आदिशैवों की चर्चा मिलती है।

श्रीकण्ठ से आगमों के ज्ञान को प्राप्त कर ये मुनिगण इसी आश्रम में रहने लगे। इनके सनत्कुमार आदि चार शिष्य हुए। इसी परम्परा में आगे चलकर [१]रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि नामक तीन मठों की परम्परा चली —

तस्माद् विनिर्गतं स्थानं रणभद्रं च गोलकी।
तथा पुष्पगिरिश्च ....॥

ऐसा शास्त्रों में बताया गया है। आमर्दक आदि इन चार मठों के क्रमशः सनत्कुमार आदि चार मुनि अधिपति थे। जैसा कि निम्न श्लोकों में बताया गया है —

कैलासशिखरे रम्ये वटमूलनिवासिनम्।
दक्षिणामूर्तिरूपं तु मुनयः समुपासिरे॥

अगस्त्यः कौशिकश्चैव भारद्वाजोऽथ गौतमः।
काश्यपः परमेशानादागमार्थं च तत्त्वतः॥

ज्ञात्वा संप्रीतमनसस्ते सर्वे मुनयस्तथा।
तेषां शिष्याः सनन्दाद्या मुनयस्तानुपासिरे॥

ते च लब्ध्वाऽऽगमार्थं तु माठापत्येन संस्थिताः।
आमर्दकमठपतिः सनत्कुमारको मुनिः॥

कदम्बो वृक्ष एव स्यात् तस्य सान्तानिकाश्च ये।
पुष्पगिरिमठपतिः सनको वृक्षमर्जुनम्॥

तस्य सान्तानिकाश्च ये गोलकीमठनायकाः।
सनातनो ऋषिर्वृक्षो जम्बूकस्तस्य सन्ततिः॥

रणभद्राधिपः प्रोक्तः सनन्दन इति स्मृतः।
न्यग्रोधो वृक्षकः प्रोक्तस्तस्य सान्तानिकाश्च ये॥

गोदावरीनदीतीरे शैवानां वसतिः शुभा।
पुरं मन्थरकालीति तस्यां वसति शङ्करः॥

उत्पत्तिस्तस्य(त्र) शैवानामाचार्याणां विशेषतः।
तत्र मन्थरकालीशमभितश्च चतुर्मठाः।
आमर्दकी पुष्पगिरिर्गोलकी रणभद्रकम्॥

प्रश्न उठता है कि कौशिक, काश्यप आदि को यहाँ शिवसृष्टि बताया गया है, जब कि लोक में ये ब्रह्मा की सृष्टि के अंग माने जाते हैं। इसका समाधान यह है कि

---

१. शिलालेखों में रणिपद्र के नाम से इसका उल्लेख मिलता है।

शिव की सृष्टि में उत्पन्न कौशिक आदि से ब्रह्मा की सृष्टि में उत्पन्न कौशिक आदि भिन्न हैं। इस द्विविध सृष्टि में शैव सृष्टि में उत्पन्न कौशिक आदि का शैव सम्प्रदाय से संबन्ध है। इस प्रकार उक्त प्रश्न का समाधान हो जाता है। कामिकागम में गोत्र का निर्णय इस प्रकार किया गया है —

कौशिकः काश्यपश्चैव भारद्वाजोऽथ गौतमः ।
अत्रिर्वसिष्ठश्चागस्त्यो जमदग्निश्च भार्गवः ॥

अङ्गिराश्च मनुश्चान्यो द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः ।
शिवसृष्टिसमोपेता मुनयस्तद्विवर्जिताः ॥

शिवसृष्ट्यन्विता एते पञ्चवक्त्रेषु दीक्षिताः ।
कौशिकाद्याश्च मुनयः सर्वे सर्वत्र दीक्षिताः ॥

कामिकागम के अर्चना पटल में भी —

शिवसृष्टिं विना ये तु जायन्ते ब्रह्मणो मुखात् ।
ते सामान्या न तेषां तु परार्थेऽस्त्यधिकारिता ॥

इस द्विविध सृष्टि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है ॥ ८९॥

प्रारंभ में यह एक ही आमर्दक मठ बाद में चार शाखाओं में विभक्त हो गया। प्रस्तुत श्लोक में यही विषय वर्णित है। इसी के साथ इस ग्रन्थ का क्रियापाद भी समाप्त होता है —

तत्रत्या मुनिपङ्क्तिकाश्च मनुजे पैतामहाख्ये स्थिताः
प्राजापत्यमुखाश्च गोचरयुगोदन्ता बभूवुस्ततः ।
आद्यात् तेषु च शौचसंयमयुतात् सङ्घोचरादुद्ययौ
श्रीमद्व्यापकशम्भुपूर्वगुरुयुक् सन्तानमेवं स्थितम् ।।९०।।

।। इति श्रीत्रिलोचनशिवाचार्येण विरचितायां
श्रीमत्सिद्धान्तसारावल्यां क्रियापादो
द्वितीयः समाप्तः ।।

तत्रत्याः उस आमर्दक मठ में सम्प्रदाय क्रम से आ रहे कौशिक, काश्यप आदि महर्षिगण **पैतामहाख्ये मनुजे** चौदह मनुओं में प्रथम स्वायंभुव मनु के काल में **मुनिपङ्क्तिकाः स्थिताः** सात पंक्तियों में विभक्त हो गये थे। **ततः** उसके बाद स्वारोचिष मनु के काल में (ते) वे आमर्दक मठ के निवासी

प्राजापत्यमुखाः प्रजापति आदि नामों से प्रसिद्ध **गोचरयुगोदन्ता** चार सम्प्रदायों में विभक्त होने के बाद आमर्दक, रणभद्र, गोलकी और पुष्पगिरि नामक चार मठों के रूप में **बभूवुः** प्रसिद्ध हुए। **तेषु च** और इन चारों सम्प्रदायों में **शौचसंयमयुतात्** बाह्य और आन्तर शुद्धि से सम्पन्न **सद्गोचरात्** काश्यप, भारद्वाज आदि गोत्रपुरुषों के द्वारा स्थापित **आद्यात्** प्रथम आमर्दक मठ से कलियुग के प्रारंभ में **श्रीमत्** भोग-मोक्ष प्रद होने से श्रेष्ठ नाम वाले **व्यापकशम्भुपूर्वगुरुयुक् सन्तानं** व्यापकशम्भु आदि पूर्व गुरुओं की परम्परा **उद्ययौ** चल पड़ी। (इदं) यह आमर्दक मठ का सम्प्रदायक्रम **एवं स्थितम्** इस तरह से स्थित है।।९०।।

।। इस प्रकार श्री त्रिलोचन शिवाचार्य कृत
सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ का यह
द्वितीय क्रियापाद समाप्त हुआ ।।

आमर्दक मठ के सम्प्रदाय से उत्पन्न कौशिक आदि ऋषिगण स्वायंभुव मनु के नाम से प्रसिद्ध प्रथम मन्वन्तर में कौशिक आदि सात गोत्रपुरुषों के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं, अर्थात् चौदह मनुओं में प्रथम स्वायंभुव मनु के समय तक ऋषियों के रूप में आमर्दक मठ में इनकी स्थिति रही है।

[1]रैवतश्चाक्षुषश्चैव वैवस्वत इति स्मृतः ।
सूर्यदक्षब्रह्मधर्मरुद्रसावर्णयस्तथा ।
[2]रोच्यभावा इमे प्रोक्ता मनवश्च चतुर्दश ॥

इस वचन में चौदह मनुओं की नामावली दी गई है। स्वायंभुव मनु के काल की समाप्ति के बाद स्वारोचिष मन्वन्तर में प्राजापत्य नाम वाले मुनिगण अपनी अपनी वंश-परम्परा के क्रम से आमर्दक आदि चार सम्प्रदायों में विभक्त होकर प्रसिद्ध हुए। इन चार प्रकार के मठीय सम्प्रदायों में उत्पन्न हुए आदिशैव ब्राह्मण चार तरह के हैं। जैसा कि —

---

१. पुराणों के मन्वन्तर प्रकरण में चौदह मनुओं का विस्तार से परिचय मिलता है। विशेष विवरण के लिये "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" का "मन्वन्तर का वैशिष्ट्य" (पृ. ५५-५८) शीर्षक प्रकरण देखिये।

२. 'रोचमान' पाठ होना चाहिये।

स्थानमामर्दकं नाम श्रीदुर्वासोनिषेवितम्।
तस्माद् विनिर्गतं स्थानं रणभद्रं च गोलकी॥

तथा पुष्पगिरिश्चेति स्थानमेवं चतुर्विधम्।
एतत्स्थानसमुद्भूताः शैवास्ते च चतुर्विधाः॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्त्विति।

इस वचन में प्रदर्शित है। इन चतुर्विध मठीय सम्प्रदायों में प्रथम, शौच और संयम के पालन करने में अग्रणी; काश्यप, भारद्वाज आदि गोत्रों में उत्पन्न, आमर्दक सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा में कलियुग के प्रारंभ काल में **व्यापकशम्भु** नाम के भोग और मोक्ष को प्रदान करने में समर्थ महागुरु का जन्म हुआ था। इस प्रकार हमारी वंश-परम्परा, गुरु-परम्परा का यह क्रम प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसी परम्परा में हमारा भी जन्म हुआ है। यहाँ **टीकाकार** ने ग्रन्थलेखक **त्रिलोचन शिवाचार्य** की पूर्वकथा को —

राजेन्द्रचोल इत्याख्यश्चोलभूपो महीमवन्।
गङ्गास्नानार्थमागत्य दृष्ट्वा शैववरांस्तदा॥

स्नात्वा प्रतिनिवृत्तः सन् तान् समादाय शैवकान्।
स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्यवरांस्ततः।
काञ्चीमध्ये चोलभूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तरान्॥

इस प्रकार स्मरण किया है॥९०॥

* * *

योगपादस्तृतीयः

इस तरह से क्रियापाद में दीक्षा-संस्कारों को दिखाकर इन संस्कारों से संस्कृत साधक को योगाभ्यास की विधि बताने के लिये अब योगपाद का उपक्रम करते हुए पहले सुषुम्ना आदि समस्त नाड़ियों के उत्पत्ति-स्थान कन्द-नामक स्थान-विशेष का स्वरूप बताते हैं —

कन्दो नाभ्यध उत्थितस्तु निलयो नाड्यङ्कुराणां च त-
न्मध्येऽध्वा द्विसहस्रसप्ततिरधश्चोर्ध्वं शरीरे स्थिताः ।
पिङ्गा कन्दविनिर्गता पृथगिडा दक्षे च वामे बिला-
न्नासारन्ध्रयुगाश्रिते बहिरधस्ते द्वादशान्तात् स्थिते ।।१।।

नाड्यङ्कुराणां सुषुम्ना आदि नाड़ियों की उत्पत्ति का **कन्दः** कन्द नामक **निलयः** स्थान **नाभ्यधः** नाभिप्रदेश के निचले भाग से **उत्थितः** उठता है। **तन्मध्ये** इस कन्द स्थान के बीच में **अध्वा** नाड़ियों का मार्ग है। **शरीरे** इस शरीर में **अध ऊर्ध्वं च** कन्द-स्थान से नीचे-ऊपर **द्विसहस्रसप्ततिः** बहत्तर हजार नाड़ियाँ **स्थिताः** स्थित हैं। **दक्षे वामे च** ये दक्षिण भाग और वाम भाग में **पृथक् कन्दविनिर्गताः** कन्द-स्थान से अलग-अलग निकलती हैं। **पिङ्गा इडा च** (नाड्यौ) पिंगला और इडा नामक ये दोनों नाड़ियाँ **बिलात्** ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त व्याप्त होकर **बहिः** मुख से बाहर **नासारन्ध्रयुगाश्रिते** नासिका के दोनों छिद्रों तक व्याप्त होकर उच्छ्वास-निश्वास का साधन होती हैं और **ते** वे दोनों नाड़ियाँ **द्वादशान्तात्** ब्रह्मरन्ध्र से भी श्रेष्ठ द्वादशान्त स्थान से भी **अधः स्थिते** नीचे पहुँच जाती हैं।

यहाँ कन्द का मतलब सकरकन्द है। सकरकन्द से जैसे अंकुर निकलते हैं, वैसे ही इस स्थानविशेष से सारी नाड़ियाँ निकलती हैं। इसीलिये इस स्थान को भी कन्द कहते हैं। नाभिप्रदेश के नीचे के भाग से अभिप्राय इस स्थान से थोड़ा नीचे के स्थान से है। नाभि-कमल कन्द-स्थान से ही निकलता है, ऐसा दिखाने के लिये इस तरह कहा गया है। मानवों की देह

के मध्य से लेकर ऊपर नौ अंगुल प्रमाण का स्थान शास्त्रों में कन्द कहलाता है। अतः मेढ़्र के भी नीचे के स्थान से कन्द-स्थान का प्रारंभ हो जाता है। पायु-स्थान से दो अंगुल ऊपर और लिंग-स्थान से दो अंगुल नीचे बीच में स्थित एक अंगुल के स्थान को देह का मध्य भाग कहा जाता है। ऊपर उदर की ओर नौ अंगुल पर्यन्त मुर्गी के अण्डे के आकार जैसा कन्द स्थान है। वह गात्र में चार अंगुल-प्रमाण के चर्म से आवृत अस्थियों से बना है। उसके मध्य भाग में नाभि स्थित है। बारह दल का चक्र वहीं से उत्पन्न हुआ है। इस नाभिचक्र का आकार कुमुद का जैसा है। कुमुद-खण्ड के तन्तुओं के सहारे जैसे उसमें सूक्ष्म जन्तु घूमते रहते हैं, उसी तरह से कर्म-पाश से बद्ध जीव अपने प्राणों के साथ नाभिचक्र में कर्मानुसार घूम रहा है। इसी चक्र के सहारे देह नामक यन्त्र चल रहा है।

कुण्डलिनी शक्ति उक्त चक्र के चारों कोणों से युक्त होने से अष्टप्रकृति-स्वरूपिणी सोये हुए सर्प के समान नाभि के नीचे कन्द-स्थान में स्थित रन्ध्र में अपने मुख को छिपा कर सब वायु-मार्गों को रोक कर रहती है। अपनी पूँछ से वह अपने मुख को छिपा कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थान को लपेटते हुए घूमकर पीठ की हड्डियों से संयुक्त हो जाती है। कन्द के मध्य में स्थित नाभि अर्धचन्द्राकार रूप में स्थित है।

देह में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों में बत्तीस नाड़ियाँ मुख्य हैं। उनमें भी चौदह नाड़ियाँ मुख्यतर हैं, उनमें भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ मुख्यतम हैं। इनमें भी सुषुम्ना नाड़ी सर्वोत्तम है। इड़ा और पिंगला — ये दो नाड़ियाँ क्रम से सुषुम्ना के वाम और दक्षिण भाग में स्थित हैं। सुषुम्ना से मिल कर ये ब्रह्मरन्ध्र तक व्याप्त होकर द्वादशान्त के नीचे दोनों नासा-रन्ध्रों से उच्छ्वास-निश्वास को चलाती रहती हैं।।१।।

कदली (केला) के कन्द के समान आकार वाला, सभी नाड़ियों-उपनाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान कन्द कहलाता है। नाभि के नीचे यह स्थित है। 'नाभ्यधः' शब्द में 'नाभि के समीप का नीचे का प्रदेश' यह अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु 'नाभि से दूर का निचला भाग' यह अर्थ गृहीत होता है। नाभिकमल इस कन्द स्थान से ही निकला है, इस बात को जताने के लिये ही 'कन्दो नाभ्यध उत्थितः' यह कहा गया है, अन्यथा कन्द तो मेढ्र (लिंग) के अधोभाग में स्थित है, तब 'नाभ्यधः' ऐसा कहना व्यर्थ हो

जाता, "कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम्" ऐसा वचन उपलब्ध है। सिद्धान्तशेखर में यह विषय विस्तार से प्रतिपादित है —

पायोश्च द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं लिङ्गाच्च द्व्यङ्गुलादधः।
मध्यमेकाङ्गुलं तत्र देहमध्यं प्रचक्षते॥

नवाङ्गुलोर्ध्वतस्तस्मादस्ति कन्दोऽण्डसन्निभः।
चतुरङ्गुलविस्तारमुत्सेधे नाभितः समम्॥

त्वगस्थिभूषितः कन्दस्तन्मध्यं नाभिरुच्यते।
तस्माच्चक्रं समुद्भूतं द्वादशारयुतं समम्॥

जीवो भ्रमति चक्रेऽस्मिन् प्राणारूढः स्वकर्मणा।
बिसतन्तुमये चक्रे यथा भ्रमति लूतिका॥

चक्रेणानेन देहोऽयं वर्धितः संप्रवर्तते।
कुण्डली परितस्तस्मादष्टधा कुण्डलीकृता॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा सुप्तसर्पसमाकृतिः।
कन्दनाभेरधोरन्ध्रे निधाय स्वफणां दृढम्॥

सन्निरुद्ध्य मरुन्मार्गान् पुच्छेन स्वमुखं तथा।
ब्रह्मरन्ध्रं च संवेष्ट्य पृष्ठस्था च सह स्थिता॥

सिद्धान्तशेखर के 'नवाङ्गुलोर्ध्वतस्तस्मात्' इस पाद का अर्थ "उस देह के मध्य स्थान से ऊपर के भाग में नवांगुल कन्द स्थित है" ऐसा करना चाहिये। 'तन्मध्यं नाभिरुच्यते' इसका अर्थ होगा कि "इस कन्द के मध्य में छिद्राकार नाभि स्थित है"। यह कन्दस्थान सभी नाड़ियों और उपनाड़ियों का आवास स्थान है, क्योंकि यहीं से इन सबकी उत्पत्ति होती है। इस कन्द के बीच में एक मार्ग (कुहर = छिद्र) बना हुआ है। जैसा कि —

मूलालवालकुहरादुदिता भवानि
निर्भिद्य षट् सरसिजानि तटिल्लतेव।

इस वचन से स्पष्ट है। इस मार्ग से निकल कर ७२ हजार नाडियाँ शरीर के नीचे और ऊपर के सारे भाग को व्याप्त कर विद्यमान हैं। ये सब नाडियाँ शरीर के मध्य में स्थित इसी भाग से निकल कर सारे शरीर को व्याप्त कर लेती हैं। जैसा कि इस वचन में बताया गया है —

कन्दाद् विनिर्गता नाड्यो ह्यधस्तात् तिर्यगूर्ध्वतः।
द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः स्युः सर्वदेहिनाम्॥

इन ७२ हजार नाडियों में ३२ नाडियाँ मुख्य हैं। इनमें भी सुषुम्ना, पिंगला और इडा नाम की तीन नाडियाँ प्रमुख हैं। इनकी प्रमुखता इसलिये है कि कन्द से उत्पन्न पिंगला नाडी और इडा नाडी कन्द के मध्य से निकली सुषुम्ना नाडी के दाहिने और बायें भाग से ऊपर उठती हुई ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पहुँच जाती हैं। यहाँ इडा की वाम भाग में और पिंगला की स्थिति दक्षिण भाग में है। जैसा कि नाडीशास्त्र के इस वचन में प्रदर्शित है — "सुषुम्नाया इडा वामे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता"। स्थूल रूप में इन दोनों नाडियों की स्थिति नासिका के वाम और दक्षिण छिद्रों में देखी जा सकती है। यहाँ तक तो इनकी स्थिति अलग-अलग रहती है, किन्तु योगी के प्रयत्न से यहाँ से उठकर ये जब ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती हैं, तो ये सुषुम्ना नाडी से मिल जाती हैं। ब्रह्मरन्ध्र से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त स्थान में ये दोनों नाडियाँ सुषुम्ना के साथ एकाकार हो जाती हैं। यह विषय अन्वयार्था में भी उक्त वचनों के आधार पर ही स्पष्ट किया गया है ॥१॥

शरीर के आद्यन्त में भी सुषुम्ना नामक नाड़ी व्यापक रूप से रह कर अपने अंशों से मूलाधार से लेकर द्वादशान्त तक के कमलों के विभिन्न दलों में परमशिव के आसन के रूप में स्थित है। अगले दो श्लोकों में इसी का वर्णन है —

पादाङ्गुष्ठयुगाच्च बस्तिकमलाद् द्वेधैकधा मध्यतः
पङ्क्त्याधारगनाडिकोपरि गता स्याद् द्वादशान्तावधि ।
बस्तिर्वेदसिरादलाम्बुजयुता कन्दश्च षट्पत्रगो
नाभिः पङ्क्तिदला हृदष्टदलयुक् कण्ठः कलापत्रगः ।।२।।

तालुर्विंशतिवेदपत्रकमलो भ्रूर्वेदपत्रा स्वरो
रन्ध्राब्जं कपरं नवच्छदकजं चोर्ध्वे सहस्रच्छदम् ।
युक्तं शक्तिसुकेसरैः समनया सत्कर्णिकाढ्यं रवेः
सोमाग्न्योः स्वकबिम्बगं तदुपरि व्याप्युन्मनान्ते शिवः ।।३।।

पादाङ्गुष्ठयुगाच्च दोनों पैरों के अंगूठों से लेकर और **बस्तिकमलात्** कन्द-स्थान के नीचे बस्ति-स्थान में स्थित कमल तक **द्वेधा** दो शाखाओं में विभक्त होकर **मध्यतः** उसके ऊपर देह के मध्य भाग से लेकर **एकधा** एकमें मिलकर जो स्थित है और **पङ्क्त्याधारगनाडिका** मूलाधार आदि दस आधारों में व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी **द्वादशान्तावधि** द्वादशान्त स्थान पर्यन्त **उपरि गता**

स्यात् ऊपर के भाग में व्यापक रूप से स्थित है। **बस्तिः** कन्द के नीचे के भाग में स्थित मूलाधार **वेदसिरादलाम्बुजयुता** चार नाड़ियों में स्थित चार दलों के कमल से युक्त है। **कन्दश्च** कन्द-स्थान का कमल **षट्पत्रगः** छः दलों वाला है। **नाभिः** नाभि-कमल **पङ्क्तिदला** दस दलों वाला है। **हृत्** हृदय कमल **अष्टदलयुक्** आठ दलों से युक्त है। **कण्ठः** क़ण्ठ-स्थान में स्थित कमल **कलापत्रगः** सोलह दलों वाला है। **तालुः** तालु-स्थान में **विंशतिवेदपत्रकमलः** चौबीस दलों से युक्त पद्म विद्यमान है। **भ्रूः** भ्रूमध्य में स्थित कमल **वेदपत्रा** चार दलों वाला है। **रन्ध्राब्जं** ब्रह्मरन्ध्र स्थित कमल **स्वरः** सोलह दल वाला है। **कपरं** सिर के ऊपर के स्थान में **नवच्छदकजं** नौ दलों वाला कमल है। **ऊर्ध्वे च** इसके ऊपर द्वादशान्त में स्थित कमल **सहस्रच्छदं** हजार दल वाला है (तच्च) और द्वादशान्त कमल में **शक्तिसुकेसरैर्युक्तं** वामा आदि नौ शक्तियाँ केसरों के रूप में और **समनया** समना नामक शक्ति **सत्कर्णिकाढ्यं** पचास बीजाक्षरों से युक्त कर्णिका के रूप में स्थित है। **रवेः सोमाग्न्योः** सूर्य, सोम और अग्नि के मण्डल यहाँ **स्वकबिम्बगं** अपने अपने अधिपतियों के साथ स्थित हैं। **तदुपरि** इन तीनों मण्डलों के भी ऊपर **उन्मनान्ते** उन्मना शक्ति के मण्डल के अन्त में **व्यापी** सर्वत्र व्यापक **शिवः** परमशिव (तिष्ठति) निवास करते हैं।

सुषुम्ना नाड़ी पैरों के दो अंगूठों से लेकर देह के मध्य-स्थान में स्थित कन्द पर्यन्त दो शाखाओं में विभक्त रहती है। इसके ऊपर मध्य-स्थान से ब्रह्मरन्ध्र तक वह एक में मिलकर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक छः चक्रों में होती हुई उसके ऊपर द्वादशान्त तक के चार चक्रों को व्याप्त कर लेती है। यह ब्रह्मरन्ध्र तक सकल नाम से और उसके ऊपर द्वादशान्त तक निष्कल नाम से जानी जाती है।।२-३।।

कन्द स्थान से नीचे के प्रदेश को **बस्ति** कहा जाता है। दाहिने और बायें पैरों के दोनों अंगूठों से आरंभ कर बस्ति स्थान में विद्यमान कमल–पर्यन्त सुषुम्ना नाडी दो मार्गों से तथा देह के मध्य स्थान कन्द से आरंभ कर ऊपर ब्रह्मबिल–पर्यन्त स्थान तक एक मार्ग से ऊपर उठती है। ऐसा करते समय वह आधार आदि दस चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर जाती है। आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक छः चक्र सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चार आधार और हैं। इन सबको

व्याप्त कर विद्यमान सुषुम्ना नाडी ब्रह्मरन्ध्र–पर्यन्त सकल रूप में और उसके ऊपर द्वादशान्त–पर्यन्त निष्कल रूप में स्थित है। समस्त योगशास्त्र के ज्ञाता इसको ब्रह्मनाडी के नाम से जानते हैं। यह सुषुम्ना नाडी अंगुष्ठ से द्वादशान्त–पर्यन्त समस्त शरीर के मध्य भाग में व्याप्त है। दशविध आधारों में से प्रथम आधार बस्ति है। यह स्थान चार नाडियों से और चतुर्दल कमल से युक्त है। कन्द–स्थान में छः पत्रों से संवलित कमल, उसके ऊपर नाभि–स्थान में दस पत्र वाला कमल, हृदय में अष्टदल कमल, कण्ठ में षोडशदल कमल, तालु में चौबीस दल वाला कमल और भ्रूमध्य में चार दल वाला कमल विद्यमान है। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमल सोलह पत्र वाला, इससे थोड़ा ऊपर नौ पत्रों वाला कमल और सबसे ऊपर के द्वादशान्त स्थान में सहस्रदल कमल स्थित है। इस कमल में वामा आदि नौ शक्तियों की किंजल्क (केसर) के रूप में, समना शक्ति की पचास बीजाक्षरों से संयुक्त कर्णिका के रूप में तथा रवि, सोम और अग्नि की अपने–अपने मण्डलों के रूप में भावना की जाती है। इन तीनों मण्डलों से ऊपर उन्मना शक्ति का मण्डल विद्यमान है। इसी मण्डल में सर्वत्र व्यापक भगवान् शिव निवास करते हैं ॥ २–३॥

अब प्राणायाम से नाड़ी-शुद्धि की और वायु-जय की योगाभ्यास की विधि का और उससे प्राप्त होने वाले फल का वर्णन अगले दो श्लोकों में किया जा रहा है —

कुड्यावेष्टितगेहमध्यकलिते पट्टादिकेच्छासने
स्वस्थः प्रागृजुपूर्वकायगलको लग्ने द्विजो रेचयेत् ।
नाडीशुद्धिषु मन्दमन्दमुदरं सम्पूरयेद् वामतः
सेन्दोर्बाह्यसमीरणेन मिहिरैस्तालैः क्रमात् कुम्भकम् ।।४।।

कृत्वा शक्तिवशाद् विरेचयतु तं पिङ्गार्कवाहात् ततो
निर्गर्भः सततं जयं च कुरुते खानां सगर्भः पुनः ।
ध्यानाज्जापयुतान्निहन्ति सकलं पापं निशोत्थं पुनः
प्रातःसायमहस्सु चैष कुरुते तत्त्वादिसाक्षात्कृतिम् ।।५।।

द्विजः दीक्षा आदि संस्कारों से सम्पन्न, आलस्य आदि योगविरोधी स्वभावों से मुक्त, त्रैवर्णिक मनुष्य **नाडीशुद्धिषु** अपने शरीर में स्थित नाड़ियों की शुद्धि के लिये **प्राक्** प्रातःकाल **लग्ने** शुभ मुहूर्त में **कुड्यावेष्टितगेहमध्यकलिते** अपने देहबल के अनुरूप ठंडी हवा आदि बाधाओं से निवृत्ति के लिये एक अथवा दो-तीन दीवाल आदि आवरणों से चारों पार्श्वों को आवृत कर गृह के

मध्य में स्थापित **पट्टादिकेच्छासने** काषाय वस्त्र, सूती वस्त्र, कृष्णाजिन आदि के रूप में बिछाये गये आसन पर अपनी इच्छा के अनुसार स्थिरासन बाँध कर **स्वस्थः** आराम से बैठ कर **ऋजुपूर्वकायगलकः** अपने कण्ठ सहित पूरे शरीर को सीधा तान कर **प्राक् रेचयेत्** सबसे पहले शरीर के अन्दर की वायु को दक्षिण नासिका से बाहर छोड़ना चाहिये। इसी को रेचक प्राणायाम कहते हैं। इसके बाद **सेन्दोः** चन्द्र नाड़ी से युक्त **वामतः** वाम नासिका द्वार से **बाह्यसमीरणेन** बाहर की वायु को ग्रहण कर **मन्दमन्दं** धीरे-धीरे **उदरं** अपने उदर भाग को उससे **सम्पूरयेत्** भरना चाहिये। इसीको पूरक प्राणायाम कहते हैं। इस तरह से रेचक और पूरक दोनों प्राणायामों को करने के बाद **शक्तिवशात्** अपनी शक्ति के अनुसार **मिहिरैः** बारह, चौबीस अथवा अड़तालीस संख्या के **तालैः** मात्रा-प्रमाणों से **क्रमात्** अधम, मध्यम और उत्तम क्रम का अनुसरण कर **कुम्भकं कृत्वा** पूरित वायु को भीतर रोक कर **पिङ्गार्कवाहात्** पिंगला नामक सूर्यनाडी वाली दक्षिण नासिका से **तं** उस भीतर रोके गये वायु को **विरेचयतु** बाहर छोड़े। इस प्रकार प्राणायाम की प्रक्रिया पूरी होती है। यह प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ के भेद से दो प्रकार का होता है। मन्त्र-ध्यान से रहित अगर्भ और मन्त्र-ध्यान के साथ सगर्भ कहलाता है। मन्त्र पद से प्रणव, प्रासाद, हंसगायत्री, व्याहृति आदि का ग्रहण किया जाता है। **निर्गर्भः** (चेत्) यदि प्राणायाम अगर्भ हो, तब **सततं** सदा **खानां** इन्द्रियों पर **जयं** विजय प्राप्त करने का अभ्यास **कुरुते** करता है। **सगर्भः पुनः** सगर्भ प्राणायाम का अभ्यास करते समय तो **जापयुतात्** मन्त्र जप के साथ **ध्यानात्** शिव का ध्यान करना चाहिये। इससे **निशोत्थं** रात्रिवेला में किये गये **सकलं पापं** समस्त पापों का **निहन्ति** नाश हो जाता है। यहाँ प्रातःकाल में किये गये प्राणायाम का फल बताया गया है। सायंकाल में किये गये प्राणायाम से दिन में किये गये सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जान लेना चाहिये। **एष** इस योग का **अहस्सु** प्रतिदिन **प्रातःसायं** प्रातःकाल और सायंकाल (अभ्यस्तश्चेत्) अभ्यास करने वाला व्यक्ति **तत्त्वादिसाक्षात्कृतिं** पृथिवी आदि तत्त्वों के स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार **कुरुते** कर लेता है।।४-५।।

अपने शरीर की सहनशक्ति के अनुसार योगी वात, शीत आदि की बाधाओं के निवारण के लिये एक, दो या तीन परकोटों से चारों तरफ से घिरे हुए घर के बीच में पट्ट (वस्त्र), [१]अजिन आदि से आच्छादित आसन बिछाकर उस पर आराम से बैठे। जैसा कि —

---

[१] भगवद्गीता (६.११) में आसन का यही क्रम बताया गया है। यहाँ वर्णित प्रथम प्रकार का आसन यही है।

हितजीर्णास(श)नः स्वस्थस्त्रिकुण्डा(ड्या)वेष्टिते गृहे ।
बाधाशून्ये वनादौ वा स्वासनस्थ उदङ्मुखः ॥

इस वचन में बताया गया है। यहाँ प्रथम आसन शब्द पीठ का वाचक है, जिसकी आकृति चौकोर अथवा गोल होती है और जिस पर बैठ कर योगसाधना की जाती है। दूसरा आसन शब्द [1]योगशास्त्र में वर्णित पद्म, स्वस्तिक आदि आसनों का बोधक है। अभ्यास के द्वारा इनको सिद्ध किया जाता है। सिद्धान्तशेखर में दस आसनों के नाम —

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं भद्रं मायूरकुक्कुटे ।
वीरं सिंहासनं कूर्मं चन्द्रपीठं दश क्रमात् ॥

इस प्रकार बताये गये हैं। इन सब आसनों के लक्षण भी वहाँ देखे जा सकते हैं। इन आसनों में से किसी एक सुखासन पर [2]प्रातःकाल योगी अपने शरीर को सीधा तान कर बैठे। द्विज पद यहाँ दीक्षा आदि से संस्कृत, आलस्य आदि दोषों से रहित व्यक्ति (योगी) के लिये प्रयुक्त है, जैसा कि योगी का लक्षण बताया गया है —

आलस्यादिविनिर्मुक्तो गुरुदेवेषु भक्तिमान् ।
निःस्पृहः सर्वविषये परं वैराग्यमाश्रितः ।
इत्यादिगुणसम्पन्नो नाडीशुद्धौ प्रशस्यते ॥

शुभ मुहूर्त की भी यहाँ चर्चा की गई है। योगाभ्यास का प्रारंभ करते समय शुभ मुहूर्त की आवश्यकता रहती है, प्रतिदिन के अभ्यास के लिये नहीं। अथवा 'लग्न' का अर्थ 'मनन, संयम आदि से सम्पन्न' किया जायगा। योगी को सर्वप्रथम रेचक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि बताया गया है —

उदरस्थसमीरस्य रेचनं सर्जनं बहिः ।
बाह्याद्यपूरणाद् वायोः पूरकः प्राणसंयमः ॥

---

१. "स्थिरसुखमासनम्" (२.४६) इस योगसूत्र में इसी द्वितीय प्रकार के आसन का लक्षण दिया गया है। यहाँ व्यासभाष्य में पद्मासन आदि के साथ स्थिरसुख और यथासुख आसनों का भी परिगणन किया गया है। तत्त्ववैशारदी में इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जिस व्यक्ति को जो आसन स्थैर्य और सुख प्रदान कर सके, उसी आसन से योगाभ्यास करना चाहिये।

२. टीकाकार ने 'प्राक्' शब्द की दो तरह की व्याख्या की है — एक तो प्रातःकाल और दूसरी "समकायशिरोग्रीवम्" (६.१३) इस भगवद्गीता के वचन की पद्धति से स्थिरीकृत शरीर का ऊपरी भाग (पूर्वकाय)।

रेचयेदुदरात् सम्यग् वायुं पिङ्गलया शनैः।
पूरितस्योदरे वायोर्धारणात् कुम्भकः स्मृतः॥

इस त्रिविध प्राणायाम विधि से नाडियों की शुद्धि के लिये धीरे-धीरे पहले वाम नासापुट से अपने उदर को भरे। जैसा कि कहा गया है — "इडया पूरयेत् सम्यग् बाह्यस्थमनिलं ततः"। इस तरह से वाम भाग की चन्द्र नाडी से बाहर की वायु को भीतर भरकर बारह मात्रा कालपर्यन्त उस वायु को भीतर रोके। "मिहिरारुणपूषणः" (१. ३. २९) अमरकोश के इस वचन में मिहिर आदित्य (सूर्य) का वाचक है और उससे बारह संख्या का ग्रहण होता है। ताल का अर्थ मात्रा है। मात्रा का लक्षण दो तरह का शास्त्रों में वर्णित है। प्रथम के अनुसार जानुमण्डल पर एक बार और दूसरे के अनुसार तीन बार हाथ फेरा जाता है। जैसा कि सिद्धान्तशेखर में बताया गया है —

वेष्टयित्वा त्रिधा जानुमण्डलं छोटिकां सकृत्।
कुर्याद् द्वेधा भवेन्मात्रा कनिष्ठा कालमानतः॥

आहुरन्येऽन्यथा मात्रां सकृज्जानुप्रदक्षिणम्।
छोटिकां च सकृत् कुर्यादेषा मात्रोनकालतः॥

'तालैः' यहाँ बहुवचन प्रयुक्त है। इससे कनिष्ठ आदि ताल गृहीत होते हैं। बारह मात्रा का प्राणायाम कनिष्ठ, चौबीस मात्रा का मध्यम तथा अड़तालीस मात्रा का प्राणायाम श्रेष्ठ कहलाता है। जैसा कि सर्वज्ञानोत्तर में प्रदर्शित है —

तालद्वादशको ज्ञेयः प्राणायामस्तु कन्यसः।
मध्यश्चतुर्भिर्विंशत्या श्रेष्ठस्तद्द्विगुणो भवेत्॥

इस प्रकार उदर में पूरित वायु को बारह-मात्रा काल पर्यन्त भीतर ही रोक के रखे। भीतर रोकी गई वायु को बाहर न निकलने देना ही कुम्भक प्राणायाम है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार कनिष्ठ आदि प्राणायाम की विधि से वायु को भीतर रोके रखने के बाद सूर्यनाडी पिंगला के मार्ग से उस रोकी गई वायु को बाहर निकाल दे, "कुम्भितं रेचयेद् वायुं शनैः पिङ्गलया बुधः" यहाँ इसी विधि को बताया गया है। प्राणायाम की यह विधि निर्गर्भ कहलाती है, क्योंकि इसमें मन्त्रजप अथवा देवता का ध्यान नहीं किया जाता। सिद्धान्तशेखर में —

अगर्भश्च सगर्भश्च मन्त्रहीनो ह्यगर्भकः।
सगर्भो मन्त्रसंयुक्तो मन्त्राश्च प्रणवादिकाः।
प्रासादा जपहंसाश्च गायत्रीव्याहृतीमुखाः॥

इस प्रकार अगर्भ (निर्गर्भ) और सगर्भ प्राणायाम का स्वरूप प्रदर्शित है। निर्गर्भ प्राणायाम के अभ्यास से योगी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। जैसा कि कहा गया

है — **''हन्त्यगर्भोऽपि देवानां प्रचलत्वं प्रधावताम्''**। इस उद्धरण में 'देवानां' पद से मन सहित इन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है। मन्त्रजप के साथ जहाँ शिव का ध्यान भी किया जाता है, वह सगर्भ प्राणायाम कहलाता है। इस सगर्भ प्राणायाम से रात्रि में किये गये समस्त पापकर्मों का क्षय हो जाता है, **''प्रातर्निशाकृतं पापं दिनान्ते तु दिवाकृतम्''** इस वचन के अनुसार दिन में किये गये पापकर्मों का क्षय सायंकाल किये गये सगर्भ प्राणायाम से हो जाता है। बार-बार प्रतिदिन प्रातःकाल, सायंकाल और मध्याह्नकाल में योगसिद्धि पर्यन्त योगाभ्यास करने वाले योगी को समस्त पृथिवी आदि तत्त्वों का साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात् सभी तत्त्वों के स्वरूप को वह 'करतलामलकवत्' साक्षात् प्रत्यक्ष रूप से जान लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि योगाभ्यास करने वाला योगी पृथिवी आदि में स्थित उसके गन्ध, काठिन्य आदि गुणों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रकट करने में समर्थ हो जाता है। इससे वह पृथिवी की बाह्य गन्ध के प्रति निस्पृह हो जाता है[१]। इसी तरह से अग्नि का साक्षात्कार कर जब वह उसके दिव्य रूप को जान लेता है, तो उस स्थिति में वह उसके ताप से मुक्त हो जाता है। वायु का साक्षात्कार कर वह दिव्य स्पर्श को जान लेता है। उस स्थिति में उसको अणिमा आदि अष्टविध सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। आकाश का साक्षात्कार करने पर वह दिव्य नाद का श्रवण करने लगता है और आकाश-गमन की सामर्थ्य उसमें आ जाती है। योगाभ्यास से इस तरह के सभी गुण योगी को प्राप्त हो जाते हैं ॥४-५॥

इस तरह से प्रतिदिन योगाभ्यास करने वाला साधक द्वादशान्त पदवी में स्थित परमशिव का भी साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। प्रस्तुत श्लोक में यही बात कही जा रही है —

हृद्व्योमाम्बुजकर्णिकार्कशशभृद्बिम्बाग्निशक्त्यूर्ध्वगं
प्राणायामयुतो मृणालविलसत्सूत्रप्रतीकाशकम् ।
ज्योतिस्तद्गतमानसोऽपि परतः स्वद्वादशान्तस्थितं
स्वच्छाम्भःसदृशप्रभं परशिवं योगी चिता पश्यति ।।६।।

योगी शिव और आत्मा के परमसाम्य रूप एकीभाव नामक योग का अभ्यास करने वाला साधक **प्राणायामयुतः** पूरक, कुम्भक और रेचक

---

[१] जलीय धारणा का यहाँ उल्लेख छूट गया है। इन धारणाओं का विस्तृत विवरण मालिनीविजयतन्त्र के १२-१३ अधिकारों में देखा जा सकता है। यहाँ पाँच तन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय, अहंकार और बुद्धि तत्त्व विषयक धारणाएँ भी वर्णित हैं (अ. १४-१६)। योगाभ्यास प्रकरण में पुराणों में भी यह विषय चर्चित है।

प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ **हृद्व्योमाम्बुजकर्णिकार्कशशभृद्बिम्बाग्निशक्त्यूर्ध्वगं** हृदयाकाश में स्थित कमल की कर्णिका में विद्यमान सूर्य-चन्द्र-अग्नि मण्डलों पर विराजमान परा शक्ति के भी ऊपर स्थित **मृणालविलसत्सूत्रप्रतीकाशकं** कमल-नाल के बीच में विद्यमान तन्तुओं के समान सूक्ष्म आकार वाले **तत्** उस शैवागमों में प्रसिद्ध **ज्योतिः** प्रकाश-स्वरूप परमशिव में **गतमानसः** मन लगा कर **परतः** उसके ऊपर **स्वद्वादशान्तस्थितं** अपने द्वादशान्त स्थान में स्थित **स्वच्छाम्भःसदृशप्रभं** निर्मल जल के समान कान्ति वाले **परशिवं** परमशिव का अपने **चिता** ज्ञानचक्षु से **पश्यति** साक्षात्कार करता है।।६।।

शिव और आत्मा के ऐक्य की जो प्रथम अनुभूति होती है, उसीको योग कहा जाता है। इस तरह की अनुभूति से सम्पन्न व्यक्ति ही योगी कहलाता है। ऐसा योगी पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायाम के अभ्यास से पवित्र होकर हृदयाकाश में, उपनिषद् की भाषा में दहराकाश में स्थित कमल की कर्णिका में विद्यमान चन्द्र और सूर्य मण्डल के ऊपर स्थित अग्निमण्डल और शक्तिमण्डल के भी ऊपर विद्यमान मृणाल–तन्तु के समान सूक्ष्म तेजोमय ज्योति में ध्यान लगाकर उस हृदयकमल से भी ऊपर अपने द्वादशान्त स्थान में विद्यमान अतिनिर्मल जल के समान कान्ति वाले परशिव का अपने ज्ञानचक्षु से साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना है कि चन्द्र, सूर्य और अग्नि के रूप में विद्यमान बाह्य ज्योति 'अपर', हृदयाकाश में प्रकाशमान ज्योति 'परापर' और परशिव के रूप में प्रकाशमान ज्योति 'पर' कहलाती है। योगी अपने हृदयाकाश में इस ज्योति का साक्षात्कार करता है और अन्ततः अपने द्वादशान्त पद में इसके साथ एकाकार हो जाता है ॥ ६॥

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल और मध्यरात्रि में किये जाने वाले शिव-ध्यान के क्रम को अब बताते हैं —

हृत्पद्मे प्रातरर्कोदयनिवहनिभं मध्यनाड्यां विचिन्त्यं
मध्याह्ने भ्रूसरोजे परमशिवजचिद्रूपमिन्दुप्रकाशम् ।
सायाह्ने ह्यूर्ध्वपद्मे ह्यमृतजलनिधिद्योतनं स्वोत्थनादं
रात्रेरर्धेऽप्रमेयं त्वविकलमचलं द्वादशान्ते महस्तत् ।।७।।

प्रातः प्रातःकाल **तन्महः** उस प्रसिद्ध तेज का **अर्कोदयनिवहनिभं** सूर्योदय वेला की अरुण कान्ति के रूप में **हृत्पद्मे** हृदय-कमल स्थित **मध्यनाड्यां** सुषुम्ना नाड़ी में **विचिन्त्यं** ध्यान करना चाहिये। **मध्याह्ने** मध्याह्न

काल में **भ्रूसरोजे** भ्रूमध्य स्थित कमल में **परमशिवजचिद्रूपं** परमशिव से प्राप्त ज्ञानक्रिया-स्वरूप तेज का **इन्दुप्रकाशं** चन्द्रोदय की कान्ति के रूप में **विचिन्त्यं** ध्यान करना चाहिये। **सायाह्ने** सन्ध्या काल में **ऊर्ध्वपद्मे** ब्रह्मरन्ध्र स्थित कमल में **स्वोत्थनादं** अपने मूलाधार से उठे नादस्वरूप तेज का **अमृतजलनिधिद्योतनं** अमृत के सागर के समान कान्ति के रूप में **विचिन्त्यं** ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार यहाँ प्रणव-सहित प्रासाद मन्त्र का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। **रात्रेरर्धे** अर्धरात्रि में **द्वादशान्ते** द्वादशान्त स्थान में **तन्महः** उस तेज का **अप्रमेयं** मन-बुद्धि आदि के अगोचर **अविकलं** अत्यन्त निष्कल **अचलं** निश्चय रूप में **विचिन्त्यं** ध्यान करना चाहिये।।७१।।

हृदयाकाश स्थित कमल में प्रातःकाल उगते हुए अनेक सूर्यों की लालिमा के सदृश कान्तिवाले परशिव का ध्यान मध्यनाडी सुषुम्ना में करना चाहिये। सूर्योदय से पहले का दो, तीन, चार या पाँच नाडिका[१] का काल प्रातःकाल कहलाता है। मध्याह्नकाल में भ्रूमध्य में इस परमशिव से प्रस्फुटित ज्योति का ध्यान किया जाता है। यह प्रतिबिम्ब-स्वरूप ज्योति बिम्ब-स्वरूप परज्योति से प्रस्फुटित होती है, अतः प्रतिबिम्ब के प्रति बिम्ब की निमित्तकारणता मानी जाती है। यह ज्योति ज्ञान-क्रिया स्वरूप है और इसकी कान्ति अनेकों चन्द्रमाओं की कान्ति के समान देदीप्यमान है। इसी रूप में इसका ध्यान करना चाहिये। सायंकाल ब्रह्मरन्ध्र-स्थित ऊर्ध्व कमल में अमृत के समुद्र के समान प्रकाशमान अपने मूलाधार से उठे नादब्रह्म के रूप में परशिव का ध्यान किया जाता है। नाद शब्द से यहाँ प्रणव (ॐकार) और प्रासाद मन्त्र का ग्रहण किया जाता है। अर्धरात्रि की चतुर्थ सन्ध्या में, जिसका कि वर्णन आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में विशेष रूप से मिलता है; अप्रमेय, अविकल, अचल, तेजोमय रूप में इसका ध्यान करना चाहिये। अप्रमेय का अर्थ है जिसको मन, बुद्धि इत्यादि से नहीं जाना जा सकता। अविकल का अर्थ अत्यन्त निष्कल और अचल का अर्थ चलनरहित है। इन विशेषणों से युक्त परशिव का यह स्वरूप अपनी

---

[१] "नाडी कालेऽपि षट्क्षणे" (३.३.४३) अमरकोश के इस वचन के अनुसार छः क्षण का काल नाड़ी कहलाता है। अमरकोशकार ने ही —"अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। तास्तु त्रिंशत् क्षणः" (१.४.११) इस प्रकार क्षण की परिभाषा दी है। नाड़ी (नाडिका) को घटी का पर्याय भी माना गया है। प्रातःकाल की परिभाषा में सूर्योदय से पहले के और बाद के भी उतने ही काल का समावेश किया जाता है। इस प्रसंग में यह विषय भी विचारणीय है कि सभी पुराणों में बिना किसी अपवाद के काष्ठा का काल पंचदश निमेष माना गया है।

ज्ञान और क्रिया शक्ति से अगम्य है और यह उद्योग और अधिकार व्यापार से भी विरहित है, अर्थात् अपने सारे कृत्यों को समेट कर यह द्वादशान्त पद में स्थित है। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में योगी के लिये चार सन्ध्याओं का विधान बताकर कब किस सन्ध्या में किस रूप में परशिव का ध्यान करना चाहिये, इस विषय को स्पष्ट किया गया है ॥७॥

मलों के आवृत सामान्य आत्मा तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत नामक पाँच अवस्थाओं से घिरी रहती है, किन्तु निर्मल आत्मा परमसाम्यापत्ति नामक शिवदशा को प्राप्त कर लेती है। इसी विषय का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया जा रहा है। इसी के साथ यह योगपाद पूरा होता है—

बाह्यान्तःकरणैरणोः स्वविषयज्ञानं तु जाग्रच्च तत्
स्वप्नोऽन्तःकरणस्ववृत्तिविषयज्ञानं सुषुप्तिः परम् ।
देहे त्विन्द्रियवृत्तिहीनमवचोग्राह्या मतिस्तुर्यकं
देहाक्षोपरतौ स्वचिन्मतिरथातीतं शिवत्वोदयः ।।८।।

।। इति श्रीत्रिलोचनशिवाचार्येण विरचितायां
श्रीमत्सिद्धान्तसारावल्यां योगपाद-
स्तृतीयः समाप्तः ।।

अणोः मल से बद्ध आत्मा के **बाह्यान्तःकरणैः** श्रोत्र आदि बाह्य और मन आदि आन्तर इन्द्रियों के द्वारा **स्वविषयज्ञानं** अपने-अपने विषय शब्द आदि का ज्ञान होता है, **जाग्रत् तत्** वह जाग्रदवस्था कही जाती है; अर्थात् जाग्रदवस्था में जीव पहले आन्तर इन्द्रियों से और तब बाह्य इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। **अन्तःकरणस्ववृत्तिविषयज्ञानं** आन्तर इन्द्रियों की वृत्तियों की सहायता से प्राप्त विषयों का ज्ञान **स्वप्नः** स्वप्नावस्था कहलाती है। **परं** इसके आगे अन्तःकरण को भी छोड़कर चित्तमात्र की जहाँ स्थिति रह जाती है, वह अवस्था **सुषुप्तिः** गाढनिद्रा रूप तीसरी सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। **देहे** शरीर में **इन्द्रियवृत्तिहीनं** बाहर की और अन्दर की इन्द्रियों की प्रवृत्ति से शून्य **अवचोग्राह्या** वागिन्द्रिय की अगोचर **मतिः** बुद्धि को **तुर्यकं** तुरीयावस्था कहा गया है। **देहाक्षोपरतौ** (सत्याम्) शरीर में रह

रही समस्त इन्द्रियों के साथ प्राणों की भी चलनरहित विश्रान्ति हो जाने के बाद **स्वचिन्मतिः** अपने आत्मचैतन्य मात्र की स्थिति ही **अतीतं** तुरीयातीत अवस्था है। **अथ** इसके बाद **शिवत्वोदयः** निर्मल आत्मस्वरूप का, परमसाम्यापत्ति नामक शिवदशा का उदय हो जाता है।

यहाँ इन पाँच अवस्थाओं का स्थान-क्रम इस प्रकार है — मुख में जाग्रदवस्था, हृदय में स्वप्नावस्था, नाभि में सुषुप्ति-अवस्था, बस्ति में तुरीयावस्था और लिंग में तुरीयातीतावस्था का निवास है।

जाग्रदवस्था में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके शब्द आदि पाँच विषय; वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके वचन आदि पाँच व्यापार; प्राण-अपान आदि दशविध प्राण; मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक चार अन्तःकरण एवं क्षेत्रज्ञ नामक तत्त्व — ये सब मिलकर पैंतीस तत्त्व सक्रिय रहते हैं।

स्वप्नावस्था में शब्द आदि पाँच, वचन आदि पाँच, प्राण आदि दस, चार अन्तःकरण और क्षेत्रज्ञ — ये सब पचीस तत्त्व रहते हैं। जाग्रदवस्था में विषयों का ज्ञान भी होता है, किन्तु स्वप्नावस्था में मात्र इनकी स्फूर्ति होती है।

तीसरी सुषुप्ति-अवस्था में प्राण, चित्त और क्षेत्रज्ञ — ये तीन तत्त्व रहते हैं। तुरीयावस्था में प्राण और आत्मा ये दो ही तत्त्व और तुरीयातीतावस्था में मात्र आत्मा ही रहती है। ये पाँचों अवस्थाएँ मल से आवृत आत्मा की मानी गई हैं। इसके बाद निर्मल स्वात्मस्वरूप को शिव से परमसाम्यापत्ति की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे आत्मस्वरूप में समल जाग्रत् आदि अवस्थाओं की स्थिति नहीं रह सकती, अतः इनमें अमल जाग्रत् आदि अवस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं। इस स्थिति में बीजाक्षर का उच्चारण जाग्रदवस्था, बिन्दु-परिग्रह स्वप्नावस्था, नादसंयोग सुषुप्ति-अवस्था, शक्ति-समावेश तुरीयावस्था और परमशिव के तेज में, शान्त परम साम्यमय स्थिति में लीन हो जाना तुरीयातीतावस्था कहलाती है।।८।।

।। इस प्रकार श्री त्रिलोचन शिवाचार्य कृत सिद्धान्त-
सारावलि नामक ग्रन्थ का यह तृतीय
योगपाद समाप्त हुआ ।।

मलिन आत्मा को चक्षु, श्रोत्र आदि बाह्य करणों (इन्द्रियों) और मन-बुद्धि-अहंकार नामक त्रिविध आन्तर इन्द्रियों की सहायता से रूप आदि विषयों का जो ज्ञान होता है, वह जाग्रदवस्था कहलाती है। यहाँ प्रथमतः आत्मा का अन्तःकरण से और तब इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर यह ज्ञान होता है। केवल मन, बुद्धि और अहंकार की सहायता से प्रवर्तमान और उन्हींमें विद्यमान ज्ञान स्वप्रावस्था कहलाता है। इसके आगे अन्तःकरण की भी जहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, वह सुषुप्ति (गाढ निद्रा) दशा कहलाती है। प्रत्येक प्राणी के शरीर में चक्षु आदि बाह्य एवं मन आदि आन्तर इन्द्रियों के प्रयत्न के बिना ही जो वाणी से भी अग्राह्य 'मति' जागती रहती है और जिसका अनुभव केवल योगी ही कर सकते हैं, वह तुर्यावस्था कहलाती है। 'मति' शब्द यहां प्राण का वाचक है। प्राण के स्पन्दन-व्यापार में जब आत्मा विलीन हो जाता है, तो यही जीव की तुरीयावस्था कहलाती है। इसके आगे शरीर में विद्यमान इन्द्रिय, मन और प्राण का भी व्यापार शान्त हो जाता है, अर्थात् इनके चलन आदि व्यापार जब विलीन हो जाते हैं और इन सबसे अलग हुए आत्मज्ञान की ही केवल जहाँ स्थिति रह जाती है, यही स्थिति तुरीयातीता नामक अवस्था कहलाती है। इस तरह से ये पाँच अवस्थाएं तीनों प्रकार के मल से आवृत सकल नाम के जीवात्मा की होती हैं। निर्मल आत्मा में तो शिवत्व का उदय हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि ये पाँच अवस्थाएं संसारी जीव में ही विद्यमान रहती हैं, मुक्त आत्मा में नहीं। अचिन्त्यागम में यह प्रकरण इस प्रकार व्याख्यात है —

मुखे जाग्रदिति ज्ञेयं स्वप्नं तु हृदयान्तकम्।
हृदयादि समारभ्य नाभ्यन्तं तु सुषुप्तकम्॥

तस्यैवाधस्तुर्यकं स्यात् तुर्यातीतं तु लिङ्गके।
जाग्रादिस्थानमेवं हि प्रवर्तकमिहोच्यते॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पञ्चमम्।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः॥

वाक्पाणी पादपायू च उपस्थं चेह पञ्चमम्।
वचनादानगमनविसर्गानन्दपञ्चकम्॥

प्राणस्त्वपानो व्यानश्च उदानस्तु समानकः।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं क्षेत्रज्ञ एव च।
पञ्चत्रिंशच्च वर्तन्ते जाग्रस्थानं विनिर्दिशेत्।
शब्दादिवचनादीनि प्राणादीनि मनादिकम्॥

यहाँ अन्तिम पंक्ति में आये 'प्राणादि' शब्द से 'नाग' आदि वायुओं का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि 'नाग' आदि वायुओं के कार्य उद्गार आदि की स्थिति स्वप्नावस्था में भी देखी जाती है,

एते चरन्ति वै स्वप्ने शेषाण्येव तु वर्जयेत्।
जाग्रद्विषयभुक्तिश्च प्रतिभा स्वप्न एव च॥
प्राणयुक्तं मनश्चैव क्षेत्रज्ञश्च सुषुप्तिकः।
आत्मा प्राणस्तु तुर्येण तुर्यातीतो विसर्गकः॥

ये वचन ऊपर उद्धृत अचिन्त्यागम के वचनों की अनुवृत्ति में ही उद्धृत हुए हैं। मूल श्लोक में 'शिवत्वोदय' शब्द से निर्मल आत्मा की पाँच अवस्थाओं की भी सूचना मिलती है। उनका वर्णन ईशानदेवगुरु[१] ने इस प्रकार किया है —

बीजस्योच्चारणं जाग्रं स्वप्नो बिन्दुपरिग्रहः।
सुषुप्तिर्नादयोगस्तु तुर्यं शक्तिसमागमः॥
तुर्यातीतं लयं शान्तं परे महसि पठ्यते।

यहाँ वर्णित समल और निर्मल आत्मा की पाँच अवस्थाओं का स्वरूप अन्वयार्था में भी देखा जा सकता है। इसीके साथ यह योगपाद समाप्त होता है ॥८॥

* * *

---

[१] ईशानशिव विरचित ग्रन्थ ईशानशिवगुरुदेवपद्धति चार भागों में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित हुआ था। अब उसका दूसरा संस्करण भी हो चुका है। यह ग्रन्थ तन्त्रपद्धति, तन्त्रसार, तन्त्रसारपद्धति, सिद्धान्तसार, गुरुदेवपद्धति आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। इसी ग्रन्थ का यह उद्धरण होना चाहिये।

चर्यापादश्चतुर्थः

अब ग्रन्थकार चर्यापाद का उपक्रम करते हुए बताते हैं कि कामिक आदि आगमों का शिवभेद और रुद्रभेद के रूप में विभाजन कैसे होता है —

संकल्पाद् दश चात्मनः प्रथमतः सृष्ट्वा शिवान् केवलान्
तेषां मन्त्रपतिप्रबोधपरतो ज्ञानं तथाभज्य तत्।
साक्षाद् देव उपादिदेश च शिवः शैवास्ततश्चागमा
रुद्रांश्चाष्टदशावबोध्य कथितास्तैरागमाश्चापरे ।।१।।

देवः सर्वत्र प्रकाशमान भगवान् **शिवः** परमशिव ने **केवलान्** सर्वज्ञत्व आदि छः गुणों की अभिव्यक्ति के कारण शुद्धस्वरूप वाले **शिवान्** सबका कल्याण करने वाले **दश आत्मनः** प्रणव आदि दस आत्माओं की **प्रथमतः** पहले **संकल्पात्** संकल्प मात्र से **सृष्ट्वा** ऊर्ध्व सृष्टिक्रम में मानस सृष्टि करके **तेषां** उन **मन्त्रपतिप्रबोधपरतः** अनन्त आदि आठ मन्त्रेश्वरों को आगम-ज्ञान का उपदेश करने के बाद **तद् ज्ञानं** नादस्वरूप उस शिवज्ञान का **तथाभज्य** उसी तरह दस विभागों में बाँट कर कामिक आदि दस आगमों के रूप में **साक्षात् शिवः** स्वयं शिव ने ही **उपादिदेश** उपदेश किया। **ततश्च** इसीलिये **आगमाः** ये कामिक आदि दस आगम **शैवाः** शिवभेद के नाम से जाने जाते हैं। (किञ्च) और इसी तरह **अष्टादश रुद्रान्** ईश्वर तत्त्व में छिपे हुए अनादिरुद्र आदि अठारह रुद्रों को **अवबोध्य** भलीभाँति समझा कर **कथिताः** उपदिष्ट **आगमाः** विजय आदि अठारह आगम **अपरे** उन्हीं के नाम से रुद्रभेद के रूप में प्रसिद्ध हुए।

यहाँ शिवज्ञान अवबोध-रूप और शब्द-रूप के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से अनादि आणव मल से रहित आद्यन्तशून्य सर्वार्थप्रकाशक सर्वानुग्राहक परशिव का ज्ञान अवबोध-रूप है। वह परशिव में ही रहता है। शास्त्र ही शब्द-रूपी शिवज्ञान है। दयालु परशिव सृष्टि करते समय अपने

अवबोध-रूप ज्ञान को शब्द के माध्यम से सभी आत्माओं पर अनुग्रह करने की इच्छा से गुरु-परम्परा द्वारा प्रचारित करते हैं। ऐसी गुरु-परम्परा महौघ क्रम और प्रतिसंहिता क्रम से दो प्रकार की है। यहाँ शास्त्र-क्रम ही प्रतिसंहिता क्रम के नाम से जाना जाता है। इस अभिप्राय को ही स्पष्ट रूप से चर्यापाद के पहले श्लोक में बताया गया है। परशिव सदाशिव-वाच्य दस शिवमूर्तियों की सृष्टि करके उनको शिवज्ञान का दस आगमों के रूप में उपदेश करते हैं। जैसे कि —

१. प्रणव को कामिकागम, २. सुधाख्य को योगजागम, ३. दीप्ति को अचिन्त्यागम, ४. कारण को कारणागम, ५. सुशिव को अजितागम, ६. ईश को दीप्तागम, ७. सूक्ष्म को सूक्ष्मागम, ८. काल को सहस्रागम, ९. गणेश को सुप्रभेदागम और १०. अंशु को अंशुमदागम का उपदेश देते हैं। इन दस प्रधान शिष्यों के अतिरिक्त आगमों की परम्परा पुनः आगे बढ़ती है। यतः प्रणव आदि को उपदिष्ट दस आगम साक्षात् शिव के द्वारा उपदिष्ट हैं, अतः कामिक आदि को शिवभेद कहा जाता है।

इसी तरह से अनादिरुद्र आदि ईश्वर तत्त्व में छिपे हुए अठारह रुद्रों को उपदिष्ट विजय आदि अठारह आगम रुद्रभेद के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट दस शिवागमों के साथ इन अठारह रुद्रागमों को मिलाकर आगमों की संख्या अट्ठाईस हो जाती है। इनमें शिवभेद के दस आगमों में से प्रत्येक के तीन-तीन तथा रुद्रभेद के अठारह आगमों में से प्रत्येक के दो-दो प्रधान श्रोता माने गये हैं। इस पद्धति से शिवभेद के तीस तथा रुद्रभेद के छत्तीस — इन सबको मिला कर छासठ शिष्यों की स्थिति बनती है। इन सबके नाम मूलागमों से जाने जा सकते हैं।।१।।

परमेश्वर से प्राप्त ज्ञान दो प्रकार का होता है— एक तो **अवबोधरूप** और दूसरा **शब्दरूप**। इनमें अवबोधरूप ज्ञान केवल परशिव में विद्यमान है। यह ज्ञान अनादि मल से रहित, आदि–अन्त से रहित, सभी दृष्ट–अदृष्ट विषयों का प्रकाशक, सब पर अनुग्रह करने वाला एवं कल्याण–कारक है। अवबोध रूप यह शिवज्ञान परम शिव का बोध कराने में समर्थ है। दूसरा शब्दरूप ज्ञान शास्त्रों के रूप में विद्यमान है। परम करुणामय परमेश्वर जगत् की सृष्टि करते समय अपने में विद्यमान अवबोधरूप ज्ञान को ही शब्दों का रूप देकर सब पर अनुग्रह करने की इच्छा से गुरु–परम्परा के

माध्यम से योग्य शिष्यों में संक्रान्त करते हैं। यह गुरु-परम्परा भी यहाँ दो प्रकार की है — [१] महौघक्रमलक्षण और गुरुसंहिताक्रमलक्षण। इन दोनों ही पद्धतियों से शास्त्रों का अवतरण होता है। इनमें से संहिताक्रम के लिये परमगुरु परमेश्वर ऊर्ध्व सृष्टि के क्रम में केवल सर्वज्ञत्व आदि शुद्ध धर्मों से सम्पन्न शिवस्वरूप सदाशिव-पद में स्थित प्रणव आदि दस आत्माओं की स्मरणमात्र से सृष्टि करते हैं। इनकी स्थिति सदाशिव-पद में मानी जाती है। जैसी कि श्रीमत्स्वतन्त्रतन्त्र में बताई गई है — "सकलस्तु वृतो देव ओङ्काराद्यैरनुक्रमात्"। यहाँ ओङ्कार शब्द प्रणव का पर्याय है। इन प्रणव आदि दस मानसपुत्रों को शिव ने अपना यह ज्ञान मन्त्रेश्वर अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों की परम्परा से दिया, अर्थात् प्रथमतः शिव ने यह ज्ञान अनन्त आदि को दिया और बाद में प्रणव आदि को इसका उपदेश दिया। यह ज्ञान नादरूप शिवज्ञान है। जैसा कि —

[२] अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
नादरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्॥

इस श्लोक में वर्णित है। इस नादरूप ज्ञान को शिव ने दशधा विभक्त कर दिया। जैसा कि स्वायम्भुवागम में कहा गया है —

अथात्ममलमायाख्यकर्मबन्धविमुक्तये ।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवाज्ज्ञानं प्रवर्तते॥
(१.२)

[३] एकमेव शिवज्ञानं विभिन्नं बहुधा पुनः।
दशाष्टादशधा भूयो देशान्तरविसर्जितम्॥

सर्वत्र प्रकाशमान भगवान् शिव ने प्रणव आदि दस शिवात्माओं को इस ज्ञान का साक्षात् स्वयं ही उपदेश किया। कामिक आदि के भेद से ये शिवागम दस थे। इनके

---

१. इन दोनों क्रमों को आगे (पृ. २८१) में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

२. पौष्करागम के नाम से यह वचन उद्धृत मिलता है। मतंगपारमेश्वरागम (पृ.१९, टि.६) में निर्दिष्ट है कि वहाँ विद्यापाद के तन्त्रावतार पटल के ५-६ श्लोकों में यह विषय उपलब्ध है, श्लोक नहीं।

३. यह श्लोक भी वहाँ (१.३) इसी रूप में उपलब्ध नहीं होता। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि स्वायम्भुवसूत्रसंग्रह, रौरवसूत्र आदि के रूप में इन आगमों का संक्षिप्त रूप प्रचलित हो गया और सद्योज्योति शिवाचार्य आदि ने इन्हीं पर भाष्य-टीका आदि ग्रन्थ लिखे। संभव है इस प्रक्रिया में यह परिवर्तन हो गया हो।

वक्ता और श्रोता दोनों ही शिवस्वरूप थे, अतः कामिक आदि दस आगम शिवागम के नाम से प्रसिद्ध हुए। जैसा कि किरणागम में प्रदर्शित है —

सृष्ट्यनन्तरमेवेशः शिवान् सृष्ट्वा दशात्मजान्।
ज्ञानमेकं विभज्याशु तेषां तत्संख्ययाऽवदत्॥

कामिकं प्रणवाख्यस्य सुधाख्यस्य च योगजम्।
दीप्ताख्यस्याप्यचिन्त्यं तु कारणाख्यस्य कारणम्॥

अजितं सुशिवाख्यस्य ईशाख्यस्य सुदीप्तकम्।
सूक्ष्मं तु सूक्ष्मसंज्ञस्य कालस्यापि सहस्त्रकम्॥

सुप्रभं यद् गणेशस्य अंशुसंज्ञस्य चांशुमान्।
एवं प्राधानिकः प्रोक्तः पुनरन्यो गुरुक्रमः॥

प्रणवात् त्रिकलः प्राप्तः कामिकं त्रिकलाद् हरः।
(वि. १०. ३-७)

आगे भी इस विषय का विस्तार किरणागम में ही देखा जा सकता है।

इसी तरह से भगवान् शिव ने [१]अनादि आदि नाम वाले अठारह रुद्रों को विजय आदि आगमों का उपदेश किया। अपने अवबोधरूप ज्ञान को ज्ञान-सम्पन्न ईश्वरतत्त्व-स्थित अठारह रुद्रों को अठारह आगमों के रूप में विभक्त कर अपने-अपने अधिकार के अनुरूप शब्दशय्या पर बिछाकर क्रिया आदि के भेद से साक्षात् शिव ने ही उपदेश किया। शिवभट्टारक ने अठारह रुद्रों की श्रोता के रूप में सृष्टि कर शिवागमों के बाद रुद्रागमों का उपदेश किया। इसीलिये शिवभेद (शिवागम) पर और रुद्रभेद (रुद्रागम) अपर के नाम से प्रसिद्ध है। किरणागम में इनका वर्णन इस प्रकार है —

[२]दशाष्टसंख्ययाऽप्यन्यो रुद्रभेदोऽपरो मतः।
दशाष्टसंख्यया रुद्रान् पूर्वमुत्पाद्य बुद्धिमान्॥

शिवस्तत्संख्ययैवेह पुनस्तान् बोधयेत् खग।
रुद्रस्यानादिसंज्ञस्य विजयं तेन भाषितम्॥

पारमेशं महातन्त्रं श्रीरूपस्य प्रभाषितम्।
निःश्वासं यद् दशार्णस्य प्रोद्गीतं नाम शूलिनः॥
(वि. १०. १२-१४)

---

[१] किरणागम ज्ञानपाद (१०.१३-२७) में इनका विवरण देखिये। किरणागम का यह पूरा प्रकरण लुप्तागमसंग्रह (प्रथम भाग, पृ. १७-१९) में भी संगृहीत है।

[२] यहाँ की प्रथम पंक्ति वहाँ उपलब्ध नहीं है।

इनमें से कामिक आदि शिवभेद (शिवागमों) में से प्रत्येक के तीन-तीन श्रोता और विजय आदि रुद्रभेद (रुद्रागमों) में से प्रत्येक के दो-दो श्रोता हैं। इनकी नामावली भी **किरणागम** से जानी जा सकती है। दोनों नामावलियों को मिलाने पर इन द्विविध आगमों के श्रोताओं की संख्या छासठ होती है, **"षट्षष्टिभिः क्रमेणैव शिवाज्ञया"** ऐसा वहीं कहा गया है। इनके नाम मूलागमों में देखने चाहिये ॥ १॥

वक्ता और श्रोता के भेद से शैवागमों के छः प्रकार के सम्बन्ध को अब बताया जा रहा है —

सम्बन्धस्तु परोऽणुनाथशिवयोरानन्तसौम्यो महान्
सोमाद् देवगतोऽन्तरालविदितो दिव्यो मुनिष्वागतः ।
देवाद् दिव्यगतोऽप्यदिव्य ऋषितोऽप्युक्तो मुनीन्द्रान्नरे
तस्माच्छिष्यगतोऽप्यदिव्य इति षट् शैवागमानां विदुः ।।२।।

अणुनाथशिवयोः शास्त्र को सुनने वाले अनन्तेश्वर और सुनाने वाले सदाशिव का **सम्बन्धः** परस्पर संबन्ध **परः** पर नाम से कहा जाता है। यह पहला संबन्ध है। **आनन्तसौम्यः** अनन्तेश्वर और श्रीकण्ठ का संबन्ध **महान्** महान् नाम से जाना जाता है। यह दूसरा संबन्ध है। **सोमात्** श्रीकण्ठ परमेश्वर से **देवगतः** इन्द्र आदि देवताओं को प्राप्त हुआ आगमों का ज्ञान **अन्तरालविदितः** अन्तराल के नाम से जाना जाता है। यह तीसरा संबन्ध है। (देवेभ्यः) इन्द्र आदि देवताओं से **मुनिषु** ऋषियों को **आगतः** प्राप्त हुआ ज्ञान **दिव्यः** दिव्य नाम से कहा जाता है। यह चौथा संबन्ध है। **देवात्** (आगतः) देवताओं से प्राप्त होने से **दिव्यगतोऽपि** दिव्य होने पर भी **ऋषितः** ऋषियों से मनुष्यों को **उक्तः** प्राप्त ज्ञान **अदिव्यः** अदिव्य भी है। इस तरह से **मुनीन्द्रात्** देवर्षियों से नरे मनुष्यों को प्राप्त यह पाँचवा संबन्ध दिव्यादिव्य कहलाता है। **तस्मात्** ऐसे मनुष्य ऋषियों से **शिष्यगतः** मनुष्य शिष्यों को प्राप्त हुआ शास्त्र का संबन्ध **अदिव्यः** अदिव्य नाम से जाना जाता है। यह छठा संबन्ध है। **इति** इस प्रकार **शैवागमानां** कामिक आदि शैवागमों के (सम्बन्धान्) वक्ता और श्रोता के भेद से प्राप्त हुए संबन्धों के **षट्** छः भेदों को **विदुः** पूर्वाचार्य जानते हैं।

श्लोक का अभिप्राय यह है कि शिव से प्रणव को प्राप्त आगम-ज्ञान का संबन्ध पर नाम से, प्रणव से त्रिकल को प्राप्त संबन्ध महान् नाम से,

त्रिकल से हर को प्राप्त संबन्ध अन्तराल नाम से, हर से देवताओं को प्राप्त संबन्ध दिव्य नाम से, देवर्षियों से मनुष्य ऋषियों को प्राप्त दिव्यादिव्य नाम से और मनुष्य-ऋषियों से मानवों को प्राप्त आगम-ज्ञान का संबन्ध अदिव्य नाम से जाना जाता है। इस तरह से शिवभेद-गत आगमों का संबन्ध छः प्रकार का है।

रुद्रभेद-गत आगमों का संबन्ध पाँच प्रकार का होता है। जैसे कि शिव से अनादिरुद्रों को प्राप्त आगम-ज्ञान का संबन्ध पर नाम से, अनादिरुद्रों से परमेश्वर को प्राप्त संबन्ध महान् नाम से, परमेश्वर से देवताओं को प्राप्त संबन्ध दिव्य नाम से, देवताओं से ऋषियों को प्राप्त संबन्ध दिव्यादिव्य नाम से और ऋषियों से मनुष्यों को प्राप्त संबन्ध अदिव्य नाम से कहा गया है।।२।।

अणुनाथ का अर्थ है सात करोड़ संख्या के मन्त्रों के स्वामी अनन्तेश्वर। 'अणु' शब्द यहाँ मन्त्र का वाचक है। शिव का अर्थ है सदाशिव भट्टारक। शिव और अनन्त का शास्त्र के वक्ता और श्रोता के रूप में जो संबन्ध है, वह पर नाम से प्रसिद्ध है। यह पहला संबन्ध है। सोम शब्द से यहाँ श्रीकण्ठ का ग्रहण किया जाता है। अनन्तेश्वर वक्ता और श्रीकण्ठ जब श्रोता बनते हैं, तो उनका संबन्ध महान् कहलाता है। यह दूसरा संबन्ध है। श्रीमद् रौरवागम में इस संबन्ध को सूचित किया गया है —

जगतः कारणं देवमनन्तेशं परं गुरुम्।।
तेनोक्तं परमेशेन श्रीकण्ठाय महात्मने।
(वि. ३. ६-७)

श्रीकण्ठ से जब इन्द्र आदि देवताओं को यह ज्ञान प्राप्त होता है, तो इनका संबन्ध अन्तराल के नाम से जाना जाता है। यह तृतीय संबन्ध है। इन्द्र आदि देवताओं के पास से यह ज्ञान जब ऋषि-मुनियों को प्राप्त होता है, तो इनका संबन्ध दिव्य कहलाता है। यह चौथा संबन्ध है। दिव्य देवताओं के पास से यह ज्ञान दिव्य ऋषियों को प्राप्त होता है, इसलिये यह भी दिव्य कहलाता है। ऋषियों से यह ज्ञान अदिव्य मनुष्यों के पास श्रोता के रूप में पहुँचता है, अतः इनका परस्पर संबन्ध अदिव्य कहलाता है। इनमें से देवर्षियों से मनुष्य-ऋषियों (सिद्धों) को प्राप्त ज्ञान दिव्यादिव्य और मनुष्य-ऋषियों (सिद्धों) से सामान्य मनुष्यों को प्राप्त ज्ञान अदिव्य कहलाता है। इस प्रकार दिव्यादिव्य पांचवाँ और अदिव्य छठा संबन्ध होगा। इस तरह से कामिक आदि शैवागमों का यह संबन्ध छः प्रकार का होता है, ऐसा प्राचीन शैवाचार्यों ने

शास्त्रों का सावधानी पूर्वक अध्ययन कर प्रतिपादित किया है। इन षड्विध संबन्धों के माध्यम से ज्ञान की उस परम्परा को दिखाया गया है, जिसके माध्यम से कि यह ज्ञान हमारे पास पहुँचता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कामिक आदि तन्त्रों में प्रणव आदि का श्रोता के रूप में वर्णन मिलता है। ऐसी स्थिति में शिव और अनन्त के संबन्ध की चर्चा आप कैसे कर सकते हैं? इस शंका का समाधान यह है कि प्रस्तुत स्थल पर [1]महौघ-क्रम का संबन्ध बताया गया है। इसी पद्धति से प्रत्येक संहिता के गुरु-क्रम का संबन्ध भी जान लेना चाहिये। वस्तुतः अनन्तेश्वर आदि को ज्ञान का उपदेश करने के बाद ही भगवान् शिव प्रणव आदि को उसका ज्ञान कराते हैं। इस तरह से यह संबन्ध दो प्रकार का होगा— एक तो अनन्तेश्वर आदि का और दूसरा प्रणव आदि का। अनन्तेश्वर आदि का क्रम ऊपर बता दिया गया है। प्रणव आदि का यह षड्विध संबन्ध इस प्रकार होगा— शिव और प्रणव का पर, प्रणव और त्रिकल का महान्, त्रिकल और हर का अन्तराल, हर और देवताओं का दिव्य, देवता और ऋषियों का दिव्यादिव्य तथा ऋषियों और मनुष्यों का अदिव्य। शिवभेद के अन्य आगमों का भी यह षड्विध संबन्ध इसी पद्धति से जान लेना चाहिये। रुद्रभेद के आगमों के दो-दो ही श्रोता हैं। इनके संबन्ध का क्रम इस प्रकार होगा— शिव और अनादिरुद्र का पर, अनादिरुद्र और परमेश का महान्, परमेश और देवताओं का दिव्य, देवताओं तथा ऋषियों का दिव्यादिव्य एवं ऋषियों और मनुष्यों का अदिव्य। अन्तराल संबन्ध के अभाव में रुद्रभेद के आगमों का यह संबन्ध पंचविध ही होगा। इस तरह से परमेश्वर से लेकर आजतक इन आगमों की अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा के विद्यमान रहने से परमशिव-प्रणीत इन आगमों का प्रामाण्य अव्याहत रूप से सिद्ध है। जैसा कि मतंगागम में प्रदर्शित है — ''प्रमाणमेकं तद्वाक्यं तथ्यमीश्वरभाषितम्'' (वि. ३. २०)।

कुछ आचार्य आगमों की नित्यता के आधार पर उनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। यह उचित नहीं है, क्योंकि अवबोधरूप ज्ञान को ही नित्य माना जाता है। वही ज्ञान जब शब्दों में आरूढ हो जाता है, तो वह कृतक हो जाता है और जो कृतक है, उसकी तो अनित्यता ही सिद्ध होती है। अभिनव (नवीन) कवि आदि के द्वारा विरचित काव्य आदि के समान आगम की कृतकता कुछ आचार्यों को मान्य नहीं है। यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि अवबोधरूप ज्ञान को शब्द का रूप लेते हुए हम स्वयं देखते हैं। प्रत्यक्ष का अपलाप करने वाले ऐसे आचार्यों को हम मिथ्याज्ञान से

---

[1] पृ. २७७ की पहली टिप्पणी देखिये।

प्रेरित ही मान सकते हैं। ऐसा मानने पर तो ईश्वर का भी अभाव मान लेना पड़ेगा। इसीलिये परम आप्त ईश्वर के द्वारा प्रणीत होने से ही आगमवचनों का प्रामाण्य मानना पड़ेगा, यह बात सिद्ध हो जाती है ॥ २॥

शैवागमों में से पहले दस शिवभेद के नाम से और बाकी अठारह रुद्रभेद के नाम से शास्त्रों में वर्णित हैं। अगले दो श्लोकों में इन्हीं के नाम बताये गये हैं —

शैवाः कामिकयोगजाजितमथोऽचिन्त्यं च दीप्ताह्वयं
सूक्ष्मं कारणमंशुमांश्च दशधा साहस्रकं सुप्रभम् ।
रौद्रास्ते विजयं च रौरवमथो निश्वासमाग्नेयकं
सन्तानं किरणाख्यसिद्धविमलं श्रीचन्द्रहासं परम् ।।३।।

उद्गीतं ललितं च माकुटमथो श्रीनारसिहं तथा
श्रीस्वायम्भुवपारमेशमुखयुग्बिम्बानि चन्द्राह्वयम् ।
तेनाष्टादश संख्ययोर्ध्वमुखतः साक्षात् सदेशेन ते
प्रोक्ताः सोऽपि पराप्त एव निखिलोत्तीर्णोऽखिलज्ञानवान् ।।४।।

१. **कामिकं** कामिकागम, २. **योगजं** योगजागम, ३. **अचिन्त्यं** अचिन्त्यागम, ४. **कारणं** कारणागम, ५. **अजितं** अजितामम, ६. **दीप्ताह्वयं** दीप्तागम, ७. **सूक्ष्मं** सूक्ष्मागम, ८. **साहस्रकं** साहस्रागम, ९. **अंशुमान्** अंशुमदागम, १०. **सुप्रभं** सुप्रभेदागम (इति) **शैवा दशधा** इस तरह से शिवभेद के ये दस आगम हैं। **अथो** इसके बाद १. **विजयं** विजयागम, २. **निश्वासं** निश्वासागम, ३. **स्वायम्भुवं** स्वायम्भुवागम, ४. **आग्नेयं** अनलागम, ५. **भद्राह्वयं** भद्रागम (वीरागम), ६. **रौरवं** रौरवागम (चन्द्रज्ञान), ७. **माकुटं** मकुटागम, ८. **विमलं** विमलागम, ९. **श्रीचन्द्रहासं** चन्द्रहासागम, १०. **मुखयुग्बिम्बं** मुखबिम्बागम, ११. **उद्गीतं** प्रोद्गीतागम, १२. **ललितं** ललितागम, १३. **सिद्धं** सिद्धागम, १४. **सन्तानं** सन्तानागम, १५. **श्रीनारसिंहं** नारसिंहागम (शर्वोक्तागम), १६. **पारमेश्वरं** पारमेश्वरागम, १७. **किरणं** किरणागम, १८. **परं** और अवशिष्ट वातुलागम — इस तरह **संख्यया** गिनती में **अष्टादश** अठारह **रौद्रास्ते** ये सब रुद्रभेद के आगम हैं। **ते** ये सब मिलकर अट्ठाईस आगम हैं। **तेन सदेशेन** उस प्रसिद्ध सदाशिव देव ने **साक्षात् ऊर्ध्वमुखतः** साक्षात् अपने ही ऊर्ध्व ईशान मुख से **प्रोक्ताः** इन

सबका उपदेश किया है। **स एव** वह सदाशिव देव ही **पराप्तः** सर्वश्रेष्ठ आप्त पुरुष है। **अपि च** और वही **निखिलोत्तीर्णः** मल, माया आदि सभी-पाशों से उत्तीर्ण और **अखिलज्ञानवान्** सर्वविध ज्ञान से सम्पन्न है।।३-४।।

'कामिकयोगजेऽजितमथोऽचिन्त्यम्' ग्रन्थकार का यह वचन छन्द की दृष्टि से निबद्ध है। जब हम आगमों के पौर्वापर्य क्रम को देखेंगे, तो वह इस प्रकार होगा— कामिक, योगज, (अ)चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, साहस्र, अंशुमान् और सुप्रभेद। ये दस आगम शिवभेद में तथा विजय, निश्वास, स्वायम्भुव, आग्नेय (अनल), भद्राह्वय (वीर), माकुट, विमल, चन्द्रहास (चन्द्रज्ञान), मुखबिम्ब, उद्गीत (प्रोद्गीत), ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह (शर्वोक्त), पारमेश्वर, किरण और पर (वातुल) — इन अठारह आगमों का रुद्रभेद में परिगणन किया जाता है। **''स्वायम्भुवं तथाग्रेयं वीरभद्रं सरौरवम्''** मृगेन्द्रागम के इन वचन के अनुसार वीरभद्र, अर्थात् वीरतन्त्र ही भद्राह्वय के नाम से यहाँ कहा गया है। **कामिकागम में** —

सोमदेवस्य शर्वोक्तं द्विलक्षेणैव संख्यया।
नृसिंहः प्राप्तवान् सोमाद् भेदः पञ्चविधो भवेत्॥

इस प्रकार शर्वोक्त तन्त्र का सोमदेव ने नृसिंह को उपदेश किया, ऐसा बताया गया है, अतः नारसिंह पद से शर्वोक्त का ग्रहण किया जाता है। पर और अपर के भेद से कारणागम में इन अट्ठाईस तन्त्रों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं —

कामिकं योगजं चिन्त्यं कारणं त्वजितं तथा।
दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं च ह्यंशुमान् सुप्रभेदकम्॥

विजयं चैव निश्वासं स्वायम्भुवमथानलम्।
वीरं च रौरवं चैव मकुटं विमलं तथा॥

चन्द्रज्ञानं च बिम्बं च प्रोद्गीतं ललितं तथा।
सिद्धं सन्तानशर्वोक्तं पारमेश्वरमेव च।
किरणं वातुलं त्वेतास्त्वष्टाविंशति*संहिताः*॥

तेषु पूर्वे दश प्रोक्तं शिवभेदेति संज्ञितम्।
दशापराष्टकं तत्र रुद्रभेदमिति स्मृतम्॥

उस प्रसिद्ध सदाशिव नें अपने ऊर्ध्व ईशान मुख से इन कामिक आदि आगमों का साक्षात् उपदेश किया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मूलागमों में भगवान् के पाँच मुखों से इन आगमों की उत्पत्ति मानी गई है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि ये

आगम सदाशिव के ऊर्ध्व ईशान मुख से उपदिष्ट हुए? कारणागम के इस वचन को यहाँ देखा जा सकता है —

कामिकाद्यजितान्ताश्च सद्योजातमुखोद्भवाः ।
दीप्तादिसुप्रभेदान्ता वामदेवमुखोद्भवाः ॥

विजयाद्याश्च वीरान्ता पञ्चैतेऽघोरसंभवाः ।
रौरवान्मुखबिम्बान्ताः पुरुषाख्याननोद्भवाः ॥

प्रोद्गीताद्यष्ट*तन्त्राणि* चेशानस्य मुखोद्भवाः ।

इसका समाधान यह किया जाता है कि सद्योजात आदि पाँचों मुखों में से प्रत्येक के पुनः पाँच पाँच भेद आगमों में प्रदर्शित हैं। उस दृष्टि से ऊर्ध्व ईशान मुख के सद्योजात आदि पाँच भेदों से इनकी उत्पत्ति मानने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने यहाँ मात्र ऊर्ध्व मुख का उल्लेख कर दिया है।

सद्योवाममहाघोरपुरुषेशानमूर्तयः ।
प्रत्येकं पञ्चवक्त्राः स्युस्तैरुक्तं लौकिकादिकम्[1] ॥

पञ्चविंशतिभेदेन स्त्रोतोभेदः प्रकीर्तितः ।
लौकिकं वैदिकं चैव तथाध्यात्मिकमेव च ॥

अतिमार्गं च मन्त्राख्यं तन्त्रमेकमनेकधा ।
तेष्वेव मन्त्रतन्त्राख्यं सदाशिवमुखोद्गतम् ॥

ईशानवक्त्रादूर्ध्वस्थाज्ज्ञानं यत् कामिकादिकम् ।
दशाष्टादशभेदेन शिवरुद्रावतारकैः ॥[2]

सर्वज्ञत्व आदि छः गुणों से सम्पन्न परम आप्त भगवान् शिव के द्वारा प्रणीत होने से ही इन आगमों को प्रमाण माना जाता है। भगवान् शिव ही एकमात्र परम आप्त हैं। यथाभूत (यथार्थ) विषयों का उपदेष्टा पुरुष आप्त कहलाता है। बिना सोचे-समझे अज्ञानी पुरुष अन्य पुरुषों के अथवा अन्य आगमों के वचनों को अप्रामाणिक मान लेता है। ऐसा पुरुष आप्त नहीं माना जा सकता। पाशबद्ध अज्ञानी पुरुष मनमाने तरीके से यथार्थ और अयथार्थ का निश्चय करने लगता है। अनादि मल से बद्ध सभी प्राणी पशु कहलाते हैं और भगवान् शिव पशुपति। केवल भगवान् शिव ही परम आप्त हैं,

---

[1] लौकिक आदि शास्त्रों का विशेष विवरण हमारे द्वारा संपादित ग्रन्थ सिद्धान्तप्रकाशिका की प्रस्तावना (पृ. १३-२१) एवं मूल ग्रन्थ (पृ. १९-३५) में देखिये।

[2] शतरत्नसंग्रह (पृ. ८-९) में उमापति शिवाचार्य ने इनको कामिकागम का वचन बताया है।

क्योंकि ये मल, माया, कर्म आदि समस्त पाशों से उत्तीर्ण (मुक्त) हैं, मल आदि से इनका कभी भी किसी भी तरह का संबन्ध नहीं रहता। इसीलिये वे समस्त पदार्थों को यथार्थ रूप में, जैसा जिसका स्वभाव है, उसको उसी रूप में जानते हैं। जैसा कि मृगेन्द्रागम में वर्णित है —

वेदान्तसांख्यसदसत्पादार्थिकमतादिषु ।
ससाधना मुक्तिरस्ति को विशेषः शिवागमे ॥

प्रणेतुः सर्वादर्शित्वान्न स्फुटो वस्तुसंग्रहः ।
उपायाः सफलास्तद्वत् शैवे सर्वमिदं परम् ॥
(वि. २. १०-११)

इस प्रकार परम आप्त शिव के द्वारा प्रणीत शिवज्ञान ही निश्रेयस (मुक्ति) का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। जैसा कि रौरवागम का कहना है —

पशूनां भुक्तिमुक्त्यर्थमाप्तः पशुपतिः शिवः ।
यदाप्तवाक्यमकरोद् आप्तवाक्यं तदागमः ॥

[1]वायुपुराण के उपमन्यु-कृष्ण संवाद में भी यही बात कही गई है —

शिवागमोक्तं यज्ज्ञानं तदेव ज्ञानमुत्तमम् ।
श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तः शिवायै च शिवागमः ॥

शिवाश्रितानां कारुण्याच्छ्रेयसामेकसाधनम् ।
(२. ७. ३८-३९)

समस्त शैवागमों के ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण ही भगवान् शिव मल आदि पाशों से सर्वथा मुक्त हैं। अन्य शास्त्रों के ज्ञान से मुक्त हुआ जीव पशु कोटि में ही परिगणित होता है, क्योंकि अन्य सभी शास्त्रों के प्रणेता पाशों से मुक्त नहीं हैं, जैसा कि कामिकागम में प्रदर्शित है —"अन्यशास्त्रेषु ये मुक्ताः सिद्धान्ते पशवो मताः" ॥ ३-४॥

अब आगे के श्लोक में पवित्रोत्सव का कालनिर्णय करते हैं —

अर्के युग्मगते हरिर्निजतिथौ शेते सितायां ततः
सूत्रार्चा त्रिषु किन्तु षट्स्वधिकता मासेषु दर्शद्वये ।
सन्धिस्थैकतमे द्विजातिषु यदा शेते तदा कर्कटे
तस्मिन् दर्शयुगं भवेद् यदि तदा सिंहे पवित्रोद्यमः ।।५।।

---

[1] शिवपुराण की सातवीं वायवीय संहिता में यह उद्धरण मिलता है, वायुपुराण में नहीं।

अर्के सूर्य के **युग्मगते** (सति) मिथुन राशि को प्राप्त होने पर **हरिः** श्री महाविष्णु **सितायां** शुक्ल पक्ष की **निजतिथौ** द्वादशी तिथि में **शेते** शयन करते हैं। **ततः** श्री हरि के शयन करने के बाद **त्रिषु** तीन महीनों में **सूत्रार्चा** पवित्र नामक सूत्र का अर्चन किया जाता है, **किन्तु** परन्तु **यदा** जिस वर्ष में **षट्सु मासेषु** मेष आदि छः संक्रान्ति मासों में **दर्शद्वये** (सति) एक मास में दो अमावास्याओं के आ जाने पर **अधिकता** अधिक मास हो जाता है, **तदा** उस वर्ष **हरिः** श्री महाविष्णु **कर्कटे** कर्कट संक्रान्ति में **शेते** शयन करते हैं। **तदा** उस वर्ष में **द्विजातिषु** साठ दिन के एक ही नाम के दो महीनों में **सन्धिस्थैकतमे** सौर और चान्द्र मास की सन्धि में प्राप्त उत्तर मास में **सूत्रार्चा** (कार्या) पवित्र नामक सूत्र की पूजा करनी चाहिये। **तस्मिन्** उस कर्कट संक्रान्ति में **यदि दर्शयुगं भवेत्** यदि दो अमावास्याएँ हों, **तदा** तब **सिंहे** सिंह संक्रान्ति में **पवित्रोद्यमः** पवित्रोत्सव करना चाहिये।।५।।

सूर्य के मिथुन राशि में प्रवेश करने पर भगवान् नारायण शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन शयन करने चले जाते हैं। इस तिथि के बाद पट्ट, कार्पास आदि के सूत्रों से बनाये गये पवित्र से भगवान् की पूजा की जाती है। इससे यह सूचित होता है कि नारायण के शयनकाल से पहले पवित्रार्चन नहीं किया जाता। जैसा कि —

मोहादज्ञानतो वापि चाप्रसुप्ते जनार्दने।
पवित्रं कारयेद् यस्तु स पापी पापमोहितः॥

त्रिपञ्चदिनमनाहारो जपेत् पञ्चायुतं हरम्।

इस वचन में प्रतिपादित है। **मोहशूरोत्तर** में इस विषय में शंका उठाई गई है कि लोक-व्यवहार में आषाढ शुक्ल द्वादशी के दिन विष्णुशयन का उत्सव मनाया जाता है। सूर्य मिथुन राशि में जब रहता है, तब तो ज्येष्ठ मास की द्वादशी तिथि रहती है। उस समय हरिशयन का विधान कैसे किया जा सकता है? इसका परिहार इस तरह से होगा कि यहाँ ऊर्ध्वमिथुन का ग्रहण होगा, अधोमिथुन का नहीं। मिथुन राशि के अन्त में सौर तिथि के अनुसार आषाढ मास में ऊर्ध्वमिथुन की स्थिति रहेगी। ज्येष्ठ मास में चान्द्र मास के अनुसार अधोमिथुन की स्थिति मानी जायगी। जैसा कि **श्रीपति** की रत्नमाला में बताया गया है— **"स्वापोर्ध्वमिथुने शुक्लद्वादश्यां नाधिके हरेः"**। इसीलिये उत्तरायण में माघ आदि छः मासों की स्थिति सौर और चान्द्र के भेद से दो प्रकार की है। इसी तरह से दक्षिणायन के श्रावण आदि छः मासों की भी स्थिति है। माघ मास जब मकर राशि के सूर्य से युक्त होता है, तब सौर मान के अनुसार इसकी

मुख्यता और जब यह कुम्भ राशि से संयुक्त रहता है, तो उस स्थिति में चान्द्र मान के अनुसार इसकी प्रमुखता मानी जायगी। इसी पद्धति से सभी मासों को सौर और चान्द्र के भेद से दो भागों में बाँटना चाहिये। निश्वासकारिका में यह विषय चर्चित है —

माघमासादितः कृत्वा चाषाढान्तेन शोभने।
विज्ञेयं लौकिकं कालमुत्तरायणमुत्तमम्॥

श्रावणीमादितः कृत्वा पुष्यान्तेन तु शोभने।
विज्ञेयं लौकिकं कालं दक्षिणायनमुत्तमम्॥

माघ आदि मासों की मकर आदि संज्ञा भी वहीं प्रदर्शित है —

यस्मिन् राशौ स्थितो भानुर्माघमादि करोति सः।
मकरः कुम्भमीनौ च मेषश्चैव वृषस्तथा॥
मिथुनः कथितः षष्ठो राश्यः षाण्मासिकीर्मताः।
कर्कटः सिंहकन्ये च तुला वृश्चिक एव च॥
धनुश्चैव समाख्यातं दक्षिणे भास्कराश्रयः।

वाग्भट नामक वैद्यक ग्रन्थ में भी यह विषय आया है —

मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैः क्रमात् षड्ऋतवः स्मृताः।
शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्॥

नैघण्टुकों (कोशकारों) ने भी कहा है —

द्वौ द्वौ मार्गादिमासौ स्याद् ऋतुस्तैरयनं त्रिभिः।
अयने द्वे गतिरुदग्दक्षिणार्कस्य वत्सरः॥
(अ. को. १. ४. १३)

आत्रेयसंहिता में भी यह विषय वर्णित है —

शिशिरश्च वसन्तश्च ग्रीष्मश्चाप्युत्तरायणे।
वर्षाः शरच्च हेमन्तो दक्षिणायनमध्यगाः॥

ऋतुएं सौर और चान्द्र के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जैसा कि कहा गया है —

वसन्ताद्यृतवो द्वेधा चान्द्राः सौराश्च चन्द्रगाः।
दर्शाद्या अथ मीनाद्या मेषाद्या वा विवस्वतः॥

इनमें से सूर्य की मेष आदि संक्रान्तियों में गति के अनुसार सौर मास की तथा प्रत्येक मास की शुक्ल पक्ष की पौर्णमासी तिथि में विद्यमान नक्षत्र के आधार पर

स्थापित नाम वाले मास के मध्य में पौर्णमासी और अन्त में अमावास्या के आधार पर चान्द्र मास की स्थिति मानी जाती है। जैसा कि **अमरसिंह** ने अपने **कोश** में कहा है —

पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी मासे तु यत्र सा।
नाम्ना स पौषो माघाद्याश्चैवमेकादशापरे ॥

सिद्धान्तशेखर में यह विषय इस प्रकार वर्णित है — **"दर्शावधिं मासमुशन्ति चान्द्रं सौरं तथा भास्कर राशिचारात्"**। **ज्योतिषसंग्रह** में भी —

मेषादिस्थे सवितरि यदा दर्शः प्रवर्तते।
तदन्तस्थश्चान्द्रमासः स च चैत्रादिकः स्मृतः ॥

यही कहा गया है। इन सब वचनों के प्रमाण से चान्द्र आषाढ मास कर्कट राशि में और सौर आषाढ मास मिथुन राशि में माना जायगा। क्योंकि —

शशिमासं च सौरं च द्वौ विज्ञेयौ विशेषतः।
चान्द्रेण व्यवहारार्थं सौरेण शुभकर्मसु ॥

ज्योतिर्विदों ने ऐसा नियम बनाया है। इस तरह से सौर मान के अनुसार विहित मिथुन, कर्कट और सिंह राशि से युक्त आषाढ, श्रावण और भाद्रपाद मास में उत्तम, मध्यम और अधम पवित्रारोपण विहित है। तीन मासों में इसका विधान होने से मूल श्लोक में 'त्रिषु' पद दिया गया है। **"आषाढादित्रयो मासा ज्येष्ठमध्यमकन्यसाः"** इस वचन में भी उत्तम आदि के भेद से त्रिविध पवित्रारोपण का विधान है। 'त्रिषु' पद से नियम की भी सूचना मिलती है, अतः इन तीनों मासों के बाद पवित्रकरण निषिद्ध माना गया है। **"भाद्राद्रूर्ध्वं न कुर्वीत सिद्धान्ते दोषभाग् भवेत्"** यह [१]श्रुति भी विद्यमान है। इसी लिये कन्या राशि में प्रायश्चित्तपूर्वक ही पवित्रकरण का विधान है। तुला राशि में यह पूरी तरह से निषिद्ध है। जैसा कि **षट्साहस्रिका** में —

आषाढादित्रयो मासाः सुप्त एव जनार्दने।
शुक्लपक्षेऽथवा कृष्णे प्रशस्ताः सूत्ररोहणे ॥

रोगाभिवृद्धिसंयुक्तः प्रवासी राजपीडितः।
उक्तमासत्रये यस्तु न कुर्यात् सूत्ररोहणम् ॥

---

[१] शैवाचार्यों ने आगमवचन को भी श्रुति कह कर उद्धृत किया है। तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमारदेव ने ऐसा बहुधा किया है।

असौ कन्यागते भानौ जप्त्वा दक्षाणुनाऽयुतम्।
कुर्यात् पवित्रकं शम्भोस्तुलायां न कथञ्चन॥

इसका स्पष्ट निषेध किया है। अन्यत्र भी यह विषय वर्णित है —

आषाढादित्रये दैवादविधाय पवित्रकम्।
लक्षद्वयमघोरस्य जप्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

मूल श्लोक का 'किन्तु' पद पवित्रोत्सव के काल के विषय में कुछ विशेष सूचनाएं देने के लिये है, क्योंकि विष्णुशयन के बाद ही पवित्रोत्सव का विधान है। भगवान् विष्णु के शयनकाल के संबन्ध में यहाँ विशेष रूप से बताया गया है कि अधिक मास न रहने पर सौर मान के अनुसार मिथुनगत आषाढ शुक्ल द्वादशी को और चान्द्र मान के अनुसार कर्कटगत आषाढ शुक्ल द्वादशी को पवित्रारोपण किया जाता है, किन्तु आषाढ मास यदि अधिक मास से युक्त है, तब मिथुनगत पूर्वाषाढा को छोड़कर कर्कटगत द्वितीय आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी तथा कर्कटयुक्त श्रावण शुक्ल द्वादशी को पवित्रोत्सव विहित है। इसी दृष्टि से यहाँ विष्णुशयन-काल का निर्णय किया जाता है कि मेष आदि संक्रान्तियों से युक्त चैत्र आदि छः मासों में से वैशाख आदि पाँच मासों में जिस वर्ष मेष आदि एक संक्रान्ति में दो अमावास्याएं आ जाती हैं, तो उसे अधिक मास कहा जाता है। उस वर्ष कर्कट राशि में विष्णुशयन का काल आता है। इसके बाद पूर्वाषाढा-उत्तराषाढा गत अधिक मास की सन्धि में स्थित उत्तर मास में सूत्रार्चा की जाती है, क्योंकि यहाँ का पहला मास मलमास कहलाता है —

दर्शद्वयमतिक्रम्य यदा संक्रमते रविः।
मलमासः स विज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः॥

यह वचन इसमें प्रमाण है। पवित्रकालनिर्णय में भी कहा गया है —

द्वादश्येव सिता रवौ मिथुनगे निद्रां विधत्ते हरि-
स्तां सास्यैव करोति कर्कटरवौ मेषादिषड्राशिषु।
एकत्राप्यधिमासता यदि हरौ सुप्ते पवित्रक्रिया-
प्रायश्चित्तमथाऽन्यथेदमुदितं *श्रीमोहशूरोत्तरे*॥

यहाँ शंका उठती है कि दो आषाढ मास होने पर पूर्वाषाढा को छोड़कर कर्कट राशि से युक्त उत्तराषाढा में विष्णुशयन होता है। ऐसी स्थिति में चैत्र आदि छः मासों में से किसी के अधिक होने पर कर्कट स्वाप का विधान कैसे उचित माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि सूर्य जब मिथुन राशि में रहता है और जब इसके बीच

में दो अमावास्याएं पड़ती हैं, तब दो आषाढ मास होंगे, इस बात को तो मुख्य रूप से माना ही जाता है, जैसा कि ज्योतिःशास्त्र में वर्णित है —

मिथुनस्थो यदा भानुरमावास्याद्वयं स्पृशेत्।
द्विराषाढः स त्विज्ञेयो विष्णुः स्वपिति कर्कटे॥

यह विषय अन्यत्र भी प्रतिपादित है —

चैत्रकृष्णदशम्यादिदिनेष्वर्वाक् चतुर्दशी।
रवौ मेषगते दर्शद्वयं च मिथुने भवेत्॥

आषाढस्य द्विरावृत्तेर्द्वि[illegible] यथार्थतः।

इन सभी वचनों के आधार पर यह [illegible] होता है कि चैत्र आदि छः मासों में से किसी की भी वृद्धि होने पर वस्तुतः उसका प्रभाव आषाढ मास में हरिशयन पर ही पड़ता है कि वह मिथुन संक्रान्ति में न होकर कर्कट संक्रान्ति में होगा। अतः अन्य मासों पर अधिक मास का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कि आषाढ मास पर। ऐसी स्थिति में चैत्र आदि छः मासों में अधिक मास से संयुक्त वर्ष में विष्णुशयन कर्कट मास में ही होगा, अतः उक्त विधान में कोई दोष नहीं है। कहा भी गया है —

वैशाखाद्यन्यमासेषु पञ्चस्वेकाधिमासि चेत्।
द्वौ दर्शावेकसंक्रान्तौ गौणाच्चाषाढ एव तु॥

अन्यत्र भी यही विषय इसी रूप में चर्चित है —

माधवाद्येषु षट्स्वेकमासि दर्शद्वयं यदा।
द्विराषाढः स विज्ञेयः शेते कर्कटकेऽच्युतः॥

ज्योतिःशास्त्रवेत्ताओं का यही नियम है। वैशाख आदि मासों में से किसी एक के अधिक होने पर भी दो आषाढों की चर्चा इसी विशेष स्थिति को सूचित करती है। जैसा कि ज्योतिःशास्त्र में बताया गया है — "द्विराषाढविकल्पोऽयं वैकुण्ठशयनं प्रति"। वैशाख आदि छः मासों में से किसी भी मास की अधिकता वाले वर्ष में मुख्य रूप से दो आषाढों को मान कर जैसे कर्कट राशि में विष्णुशयन माना जाता है, उसी तरह से अन्य अधिक मासों में भी गौण रूप से दो आषाढों की कल्पना कर कर्कट राशि में विष्णुशयन को स्थापित किया जाता है। अन्यथा इनमें गौण आषाढ संज्ञा को आरोपित करना निरर्थक हो जायगा। इसी लिये 'शेते कर्कटकेऽच्युतः' यहाँ कर्कट शब्द का विशेष रूप से उल्लेख है।

एक बात यहाँ और विचारणीय है कि हम श्रावण या भाद्रपद मास के अधिक होने पर पाँच मास की अवधि को भी 'चातुर्मास' के नाम से ही पुकारते हैं। ऐसा न मानने पर चातुर्मास के लिये विहित व्रत, नियम आदि का पालन इस विशेष स्थिति में संभव न हो सकेगा। जब हम श्रावण और भाद्रपद मास की अधिकता में भी कर्कट राशि में सूर्य के प्रवेश होने पर ही विष्णुशयन का विधान मानेंगे, तो इस दोष का परिहार अपने आप हो जायगा। जैसा कि मोहशूरोत्तर में बताया गया है —

दर्शद्वयं भवेद् यत्र रविसंक्रान्तिवर्जितम्।
अधिमासः स विज्ञेयो विष्णुः स्वपिति कर्कटे॥

तुल्यमासेऽधिमासेऽस्य कर्तव्यं तु पवित्रकम्।
सुप्ते चैव हृषीकेशे दोषभागन्यथा भवेत्॥

टीकाकार अनन्तशम्भु ने यहाँ अनेक प्रकार की शंकाओं को उठाते हुए और शिवागम, तन्त्रसागर, विष्णुरहस्य, वैष्णवागम, अत्रिप्रोक्त वैखानससंहिता, कामिकागम, सिद्धान्तशेखर, करण आदि ग्रन्थों के आधार पर उनका समाधान करते हुए इस विषय का बहुत अधिक विस्तार किया है। जिज्ञासुजनों को इसके लिये टीका-ग्रन्थ का ही अवलोकन करना चाहिये। टीकाकार का अन्त में कहना है कि इन सब बातों को मन में रखते हुए ही ग्रन्थकार ने 'तस्मिन् दर्शयुगम्' इत्यादि वचन कहा है।

इसका अर्थ यह है कि यदि किसी वर्ष में कर्कट संक्रान्ति में दो अमावास्याएं आती हैं, तब सिंह संक्रान्ति से युक्त द्वितीय श्रावण में पवित्रारोपण करना चाहिये। ऐसी स्थिति में आषाढ मास में विष्णुशयन के न हो पाने पर और प्रथम श्रावण मास के मलमास होने के कारण सिंह संक्रान्ति, अर्थात् शुद्ध श्रावण मास में ही पवित्रारोपण मान्य होगा। जैसा कि मोहशूरोत्तर में वर्णित है —

दीक्षादि स्थापनाद्यं च पवित्रादि शतक्रतोः।
अधिमासे न कुर्वीत यदीच्छेच्छुभमात्मनः॥

स्मृतिशास्त्र का यह वचन भी इस प्रसंग में दर्शनीय है —

उपाकर्मोत्सर्जने च पवित्रदमनार्पणम्।
अवरोहश्च हेमन्तः सर्पाणां बलिरष्टकम्॥

ईशानस्य बलिर्विष्णोः शयनं परिवर्तनम्।
दुर्गेन्द्रस्वापनोत्थाने ध्वजोत्थानं च वज्रिणः॥

पूर्वं च प्रतिषिद्धानि परं चान्यच्च दैविकम्।

यहाँ विष्णु के शयन का प्रतिषेध-वाक्य पूर्वाषाढा से संबद्ध है, क्योंकि इस नक्षत्र में विष्णुशयन का विधान नहीं है। श्रावण मास में तो संक्रान्ति के आधार पर स्वाप का विधान संभव है, अतः उसीका यहां प्रतिषेध किया गया है। विष्णुशयन के उपरान्त ही पवित्रारोपण विहित है, अतः मिथुनगत शुद्धाष्टमी को छोड़कर शुद्ध पक्ष की चतुर्दशी के दिन इसे करना चाहिये, जैसा कि इस वचन में कहा गया है —

शुक्लाष्टमीं विना द्वन्द्वे कुलीरे सिंहभाद्रयोः ।
सितासितासु कर्तव्यं चतुर्दश्यष्टमीषु च ॥

इस प्रकार यहाँ विस्तार से पवित्रोत्सव के काल का निर्णय किया गया है ॥५॥

पवित्रारोपण के प्रसंग में आत्म-विद्या-शिव नामक तीन पवित्रों का और चौथे गंगावतार नामक पवित्र का, उनकी तन्तुसंख्या, ग्रन्थिसंख्या एवं ग्रन्थियों में स्थित देवताओं का वर्णन अगले दो श्लोकों में किया जा रहा है —

कार्पासोत्थनवात्मसूत्रशतदिक्क्लृप्तं शिरोमानकं
पूजांशाय चतुर्थकं त्रयमथो सूत्रस्य संख्यावशात् ।
ग्रन्थिर्बिन्दुशरेण वा नवकरे पङ्क्त्याऽष्टविंशद्धृते
सूत्रं हस्तमिते श्रुतेः किल हृते चाष्टादश ग्रन्थयः ॥६॥

बाणाद्येकतमार्चितेषु यदि वाऽशीतिश्च सैकाष्टयुक्
त्रिंशद्बिन्दुशराख्यसंख्यमपि वा तत्त्वे प्रकृत्यादिकाः ।
ग्रन्थीनामधिपाः शिवा शिवयुता चन्द्रांशुशैवाः कलाः
सूत्राणां प्रणवादयोऽधिपतयो व्यक्तेषु जान्वन्तकः ॥७॥

पूजांशाय शिवलिंग की पूजा के लिये **कार्पासोत्थनवात्मसूत्रशतदिक्क्लृप्तं** कपास से बने नौ सूत्र वाले एक सौ आठ संख्या के धागों से बनाये गये **त्रयं** आत्म-विद्या-शिव नामक तीन पवित्रों को **शिरोमानकं** (स्यात्) लिंग के सिर तक के प्रमाण का बनाना चाहिये। **अथो** अनन्तर **चतुर्थकं** चौथा गंगावतार नामक पवित्र भी पहले जैसे नौ सूत्रों से बने हुए एक सौ आठ धागों से बनाया जाना चाहिये, परन्तु इसके लिये **सूत्रस्य** तन्तु की **संख्यावशात्** संख्या के अनुसार **ग्रन्थिः** (कार्या) गाँठे बाँधनी चाहिये। नौ हस्त से लेकर एक हस्त तक १. उत्तमोत्तम, २. उत्तममध्यम, ३. उत्तम-अधम, ४. मध्यमोत्तम, ५. मध्यममध्यम, ६. मध्यमाधम, ७. अधमोत्तम, ८. अधममध्यम, ९. अधमाधम — इस तरह से लिंग नौ प्रकार के होते हैं।

उनमें से उत्तमोत्तम **नवकरे** नौ हाथ के लिंग की एक सौ आठ सूत्रों की संख्या को **पङ्क्त्या हृते** (सति) क्रम से दस-दस संख्या को कम करने पर **हस्तमिते** एक हस्तप्रमाण लिंग में **सूत्रं** सूत्रसंख्या **अष्टविंशत्** अट्ठाईस होती है। इसलिये ग्रन्थियों की संख्या भी उतनी ही रहनी चाहिये। **नवकरे** नौ हस्त के लिंग में **बिन्दुशरेण** पचास संख्या की ग्रन्थियों को **श्रुतेः** चार-चार की संख्या में **हृते** कम करने पर **हस्तमिते** एक हस्तप्रमाण लिंग में **ग्रन्थयः** ग्रन्थियों की संख्या **अष्टादश** अठारह होती है। इस तरह की सूत्र-संख्या और ग्रन्थि-संख्या से युक्त पवित्र गंगावतार के नाम से जाना जाता है।

बाणाद्येकतमार्चितेषु किसी एक प्रकार के पवित्र से पूजित बाण लिंग, स्वायंभुव लिंग आदि लिंगविशेषों में **सैका अशीतिः** इक्यासी सूत्रों का **यदि वा** अथवा **अष्टयुक् त्रिंशत्** अड़तीस सूत्रों का **अपि वा** अथवा **बिन्दुशराख्यसंख्यं** पचास सूत्रों का पवित्र समर्पित करना चाहिये। **तत्त्वे** आत्म-विद्या-शिव नामक तत्त्वत्रय के पवित्र की **ग्रन्थीनां** दस ग्रन्थियों में **प्रकृत्यादिकाः** प्रकृति, पौरुषी, वीरा, अपराजिता, जया, विजया, अजिता, सदाशिवा, मनोन्मनी और सर्वतोमुखी — ये दस शिव की शक्तियाँ **अधिपाः** अधिपति देवता के रूप में विराजमान रहती हैं। गंगावतार पवित्र की अठारह ग्रन्थियों के ऊपर और नीचे स्थित दो ग्रन्थियों के **अधिपाः** अधिपति देवता **शिवयुता शिवा** शिव और शक्ति हैं, अर्थात् ऊपर की ग्रन्थि में शिव का और नीचे की ग्रन्थि में शक्ति का निवास है। **चन्द्रांशुशैवाः कलाः** बची हुई सोलह ग्रन्थियों की प्रासाद मन्त्र की सोलह कलाएँ **अधिपाः** अधिपति देवता मानी गई हैं। **सूत्राणां** नवधा विभक्त सूत्रों के **प्रणवादयः** प्रणव, चन्द्र, अग्नि, ब्रह्मा, नाग, गुह, रवि, सादाख्य और सर्वदेव — ये नौ अथवा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, सोम, सूर्य, अग्नि और सर्वदेव — ये नौ **अधिपतयः** अधिपति देवता होते हैं। इनमें से नौ देवताओं का नौ सूत्रों से बने तन्तु के प्रत्येक सूत्र में और दसवें देवता का नौ सूत्रों से बने तन्तु में न्यास करना चाहिये। इनमें से गंगावतार पवित्र **व्यक्तेषु** व्यक्त लिंगों में **जान्वन्तकः** घुटनों तक लम्बा बनाया जाता है ।।६-७।।

यह पवित्र द्विजकन्याओं के द्वारा काते गये सूत से बनाया जाता है। कार्पास (रुई), रेशम आदि से काते गये सूत को नौ गुना करने पर यह सूत्र बनता है। ऐसे सूत्र को १०८ बार लपेटने पर पवित्र बनता है। जैसा कि सोमशम्भु ने बताया है —

सौवर्णं राजतं ताम्रं कृतादिषु यथाक्रमम्।
कलौ कार्पासकं वापि यथाशक्ति पवित्रकम्॥

कर्तितं द्विजकन्याभिस्त्रिगुणं त्रिगुणीकृतम्।
धौतं शुक्लं शुभं सूत्रमन्यदप्युपयुज्यते॥

पट्टवल्कलपत्रोत्थं क्षौमं दर्भशणोद्भवम्।
मुञ्जादिसम्भवं सूत्रं पवित्राय प्रशस्यते॥
(श्लो. ३७३-३७६)

यहां जिस पवित्र का विधान बताया जा रहा है, उसमें साधक के लिये पट्ट और क्षौम के सूत्र प्रशस्त हैं। दर्भ का विनियोग यति के लिये उत्तम माना गया है। अभावग्रस्त व्यक्ति के लिये मुंज से भी इसे बनाया जा सकता है। द्विज पद का प्रयोग यहाँ विशेष रूप से संस्कृत व्यक्ति के लिये है। उसके उपलब्ध न होने पर त्रैवर्णिक का इससे ग्रहण होगा। 'कन्या' शब्द विधवा की निवृत्ति करता है, अतः सुवासिनी के द्वारा काता गया सूत भी पवित्र-निर्माण के लिये मान्य होगा। यहाँ एक सौ आठ सूत्रों का पवित्र उत्तम, चौवन सूत्रों का मध्यम और सत्ताईस सूत्रों का अधम माना गया है। जैसा कि ज्ञानरत्नावली में वर्णित है —

अष्टाधिकशतं सूत्रं रुद्रसंख्या सदोत्तमम्।
सूत्राभावे तदर्धं स्यात् तस्यार्धं वा प्रकल्पयेत्॥

एक सौ आठ सूत्रों का पवित्र स्थण्डिल आदि के लिये बनाया जाता है। जैसा कि यहाँ कहा गया है —

अष्टोत्तरशतैः कार्यं स्थण्डिलादौ पवित्रकम्।
तस्यार्धेन तदर्धेन यथालाभेन वा हरेत्॥

स्थण्डिले चललिङ्गे च बाणलिङ्गे स्वयम्भुवि।
लोहादौ नियमो नास्ति यथापूर्वमुदाहृतम्॥

अष्टोत्तरशतादूर्ध्वं न कर्तव्यं कदाचन।
सर्वेषां नियमः शक्र इत्याज्ञा पारमेश्वरी॥

यह पवित्र चार प्रकार का शास्त्रों में वर्णित है। इनमें से आत्म, विद्या और शिव नामक पवित्र लिंग के सिर के प्रमाण का बनाया जाता है। जैसा कि —

लिङ्गमूर्ध्नि परीणाहे यथोच्चैः स्वात्मकं तथा।
विद्यात्मकपरीणाहं ततो भागद्वयं विना।
तस्माद् भागद्वयन्यूनं शिवाख्यं यत्पवित्रकम्॥

षट्साहस्त्रिका के इस वचन में वर्णित है। यहाँ 'अथो' शब्द से तीनों प्रकार के पवित्रां में दस आदि की संख्या में ग्रन्थियों के निर्माण की बात भी सूचित होती है। स्थण्डिल, चललिंग इत्यादि में यथायोग्य आठ अंगुल आदि प्रमाण का पवित्र बनाया जाता है। ज्ञानरत्नावली को देखिये —

लिङ्गमस्तकविस्तृत्या आत्मतत्त्वपवित्रकम्।
विद्याशिवात्मकं तस्मान्न्यूनं न्यूनं तथा शुभम्॥
अचले तु चले कार्यमष्टार्काद्यङ्गुलायतम्।
कृत्वा कङ्कणवत् तत्र दशग्रन्थि समान्तरम्॥

अन्यत्र भी प्रदर्शित है — "ग्रन्थिभिर्दशभिर्युक्तं नवभिर्वा समान्तरम्"। दस ग्रन्थियों से युक्त तीन पवित्रों का जो यहाँ विधान है, वह अल्प मान युक्त लिंग के विषय में है। जिन लिंगों का शीर्ष भाग विस्तृत है, वहाँ तदनुसार पवित्र में सूत्रसंख्या का विस्तार कर लेना चाहिये। जैसा कि —

पूजाप्रोचनं मूर्ध्नि त्रयं तत्त्वत्रयात्मकम्।
तदिष्टग्रन्थिसंख्यातं शुभं कार्यं विपश्चिता॥

मृगेन्द्रागम के इस वचन में निर्दिष्ट है।

इन तीन के अतिरिक्त चौथा गंगावतार नाम का पवित्र पूजा के निमित्त बनाया जाता है। उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से, अष्टोत्तरशत आदि के भेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। इस पवित्र को अष्टोत्तरशत सूत्रों से ही बनाना चाहिये, ऐसा कुछ आचार्यों का कहना है। सिद्धान्तशेखर में इस पक्ष का वर्णन है—

साष्टं शतं स्यात् प्रवरं पवित्रं मध्यं तदर्धं च तदर्धमन्त्यम्।
एवं पवित्रत्रितयं विदध्याद् गङ्गावतारं च शतं च साष्टम्॥

स्थिर लिंग के लिये गंगावतार की लम्बाई लिंग के मस्तक से लेकर पीठ तक की रखनी चाहिये। जैसा कि इस वचन में कहा गया है —

गङ्गावतारकं नाम चतुर्थं शक्तिसूत्रकम्।
मस्तकात् पिण्डकान्तं तत् स्थिरलिङ्गे च नान्यथा॥

गंगावतार पवित्र में सूत्रों की संख्या के अनुसार ग्रन्थियाँ बनाई जाती हैं। जैसे कि — "ग्रन्थयस्तास्तु संख्यातास्तेषु चा वेदिलम्बिषु" मृगेन्द्रागम के इस वचन में प्रदर्शित है। यहाँ 'आ वेदिलम्बिषु' का अर्थ है पीठ तक की लम्बाई वाले गंगावतार

पवित्रों में। अब आगे ग्रन्थकार उत्तमोत्तम से लेकर कनिष्ठ–कनिष्ठ पर्यन्त नवविध लिंगों के लिये नौ प्रकार की सूत्रसंख्या और नौ प्रकार की ग्रन्थिसंख्या का विवरण दे रहे हैं। 'बिन्दुशरेण वा' यहाँ 'वा' शब्द विकल्प का सूचक है कि पूर्वोक्त अष्टोत्तरशत अथवा उसके आधे प्रमाण का पवित्र नवविध लिंग के लिये बनाना चाहिये अथवा नौ प्रकार का बनाना चाहिये। नौ प्रकार के, अर्थात् नौ हस्त से लेकर एक हाथ तक के लिंग के लिये एकसौ आठ सूत्रों में से दस–दस की संख्या को कम करते जाने से एक हाथ के लिंग के पवित्र की सूत्रसंख्या अट्ठाईस होगी। नौ हाथ के लिंग के लिये पवित्र की सूत्रसंख्या १०८, आठ हाथ के लिये पवित्र की सूत्रसंख्या ९८, सात हाथ के लिये पवित्र की सूत्रसंख्या ८८, छः हाथ के लिये ७८, पांच हाथ के लिये ६८, चार हाथ के लिये ५८, तीन हाथ के लिये ४८, दो हाथ के लिये ३८ तथा एक हाथ के लिंग के लिये बनाये गये पवित्र की सूत्रसंख्या २८ होगी, जैसा कि ऊपर बताया गया है। निम्न वचन में भी इसी प्रक्रिया को बताया गया है —

अष्टबिन्दु समारभ्य यावन्नागसमावधि।
ज्येष्ठादिकन्यसप्रान्ते नवलिङ्गे मया तव॥
दशह्रासात् समाख्याता सूत्रसंख्या पुरन्दर।

तीन कंकणों की सूत्रसंख्या का प्रमाण इस तरह रखना चाहिये। ग्रन्थिसंख्या का प्रमाण गंगावतार पवित्र के समान रखना चाहिये अथवा बारह ग्रन्थियाँ बनानी चाहिये। नौ हाथ के लिंग के लिये बनाये गये पवित्र में ५० ग्रन्थियाँ रहेंगी। इनमें चार–चार की संख्या को कम करके आठ से लेकर एक हस्त तक के लिंग के लिये बनाये गये गंगावतार पवित्र की ग्रन्थियों का निर्धारण किया जाता है। ऐसा करने पर एक हस्त के लिंग के पवित्र में अठारह ग्रन्थियाँ होंगी, अर्थात् पचास ग्रन्थियों की संख्या से चार–चार संख्या को कम करने से नौ प्रकार के लिंगों के पवित्रों में नौ प्रकार की ग्रन्थियाँ होंगी। जैसे कि पचास, छियालीस, बयालीस, अड़तीस, चौतीस, तीस, छब्बीस, बाईस और अठारह। जैसा कि इस वचन में प्रदर्शित है —

बिन्दुं बाणं समारभ्य यावत् स्यान्नागचन्द्रकाः।
युगह्रासात् समाख्याता ग्रन्थयः सुरसत्तम।
ज्येष्ठादिकन्यसप्रान्ते पवित्रे सार्वदैवते॥

इस प्रकार नौ प्रकार के लिंगों के पवित्रों की ग्रन्थियों के लिये यह नियम प्रदर्शित है। स्वायम्भुवागम आदि में ऐसा नियम नहीं बताया गया है। अष्टोत्तरशत

आदि के भेद से वहाँ केवल उत्तम, मध्यम और अधम भेदों का ही वर्णन है। तदनुसार ही ग्रन्थियों का भी विधान है —

स्थण्डिले चललिङ्गे च बाणलिङ्गे स्वयम्भुवि।
लोहादौ नियमो नास्ति यथापूर्वमुदाहृतम्॥

मूल श्लोक में 'किल' शब्द प्रयुक्त है। इससे यह सूचना मिलती है कि स्वयम्भू आदि लिंगों और प्रतिमाओं के लिये बनाये गये गंगावतार पवित्र में अठारह ग्रन्थियाँ बनानी चाहिये। जैसा कि कहा गया है —

व्यक्ताव्यक्ते च वेदिस्पृग् व्यक्तेष्वाजानुलम्बि च।
गङ्गावतारकं तत्र ग्रन्थयोऽष्टादश स्मृताः॥

अठारह ग्रन्थियों के निर्माण का प्रकार इस वचन में बताया गया है —

ग्रन्थीनां द्वितयं चान्ते कुर्याद् गङ्गावतारके।
तत्र कलान्तरं त्यक्त्वा कुर्याद् ग्रन्थिचतुष्टयम्॥
द्व्यङ्गुलान्तरतस्तद्वत् कृत्वा ग्रन्थिचतुष्टयम्।
इत्थं पार्श्वद्वये कार्यं षोडशैवं कलामयम्॥
शिवशक्तिमयं प्रान्ते कुर्याद् ग्रन्थिमये पुनः।

बाण, स्वयम्भू आदि लिंगों के लिये निर्मित अष्टोत्तरशत (१०८) सूत्र आदि में से किसी एक से पूजित लिंगों के लिये इक्यासी सूत्रों से, अड़तीस अथवा पचास सूत्रों से पवित्रारोपण करना चाहिये। जैसा कि सोमशम्भु ने कहा है —

रत्नजे स्थण्डिले बाणे चले लौहे स्वयम्भुवि॥
यथोद्दिष्टपवित्राणामेकं कार्यं यथारुचि।
(श्लो. ३८६-३८७)

आत्म, विद्या और शिव नामक तत्त्वों के त्रिविध पवित्रों की ग्रन्थियों के अधिपतियों के नाम सोमशम्भुपद्धति में इस प्रकार दिये गये हैं —

प्रकृतिः पौरुषी वीरा चतुर्थी त्वपराजिता।
जयान्या विजया षष्ठी त्वजिताथ सदाशिवा॥
मनोन्मनी स्यान्नवमी दशमी सर्वतोमुखी।
(श्लो. ३८४-३८५)

अन्यत्र भी बताया गया है— "नवग्रन्थौ कृते यद्वा वामाद्याः शक्तयस्तदा"। तीन तत्त्वों के लिये अनेक ग्रन्थियों का विधान होने पर इन्हीं कलाओं की बार बार

आवृत्ति करके, एक स्थान पर समास करके अथवा समस्त कलाओं को एक साथ रखकर उनका समुचित न्यास करना चाहिये। जैसा कि आचार्यों ने कहा है– ''एताः सर्वत्र योक्तव्याः पर्यायेणापि देशिकैः''।

अठारह ग्रन्थिवाले गंगावतार पवित्र के ग्रन्थियों के स्वामी ये हैं– ऊपर और नीचे की दो ग्रन्थियों के स्वामी (देवता) शिव और शक्ति हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्रमा की सोलह कलाओं के साथ प्रासाद मन्त्र की सोलह कलाएं बाकी सोलह ग्रन्थियों की देवताएं हैं, अर्थात् अठारह ग्रन्थियों में इन अठारह देवताओं का न्यास करना चाहिये। इस विषय में तीन मत उपलब्ध हैं — एक मत के अनुसार शिव और शक्ति के साथ प्रासाद मन्त्र की सोलह कलाओं का न्यास करना चाहिये। दूसरे मत के अनुसार शिव और शक्ति के साथ चन्द्रमा की सोलह कलाओं का और तीसरे मत के अनुसार शिव और शक्ति के साथ उभयविध कलाओं का न्यास करना चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थकार ने इस तृतीय पक्ष का समर्थन किया है। प्रासाद मन्त्र की सोलह कलाएं ये हैं —

कलास्ताश्च यथाशास्त्रं लिख्यन्ते परिपाटितः।
अकारोकारमकारबिन्द्वर्धेन्दुनिरोधिकाः ॥

नादनादान्तशक्तिश्च व्यापिनी व्योमरूपिणी।
अनन्तानाश्रितानाथा समना चोन्मनी तथा॥

चन्द्रमा की सोलह कलाएं ये हैं —

शशिनी शाकिनी लक्ष्मीः कामिनी च प्रभा तथा।
पुष्पिणी सुप्रभा चैवा मुदा च कुमुदा तथा॥

आश्वासी शायिनी विद्या मोहिनी च प्रमोहिनी।
वितर्किणी तथा सौम्या चामृता षोडशी कला॥

गंगावतार नामक पवित्र में अनेक ग्रन्थियाँ होती हैं। वहाँ बार-बार इन्हीं कलाओं की आवृत्ति करते हुए न्यास करना चाहिये। अथवा अष्टोत्तरशत (१०८) आदि वैकल्पिक संख्याओं के अनुसार पवित्रों में उन उन ग्रन्थियों की संख्या के अनुसार एकसौ अठारह रुद्रों का न्यास किया जा सकता है। इक्यासी सूत्रों के पक्ष में इक्यासी पदों का तथा पचास सूत्रों के पक्ष में पचास वर्णों का और अड़तीस सूत्रों में अड़तीस कलाओं का न्यास करना चाहिये। इन संख्याओं के आधार पर सूत्रों के नौ विकल्पों का उल्लेख ज्ञानरत्नावली में किया गया है —

अष्टाधिकशतं सूत्रं रुद्रसंख्यं सदोत्तमम्।
सूत्राभावे तदर्धं वा तस्यार्धं वा प्रकल्पयेत्॥

एकाशीतिपदाकं वा पञ्चाशद्वर्णसंमितम्।
अष्टत्रिंशत्कलाकं वा सर्वलिङ्गेषु संमतम्॥

यज्ञोपवीत के नौ तन्तुओं के समान त्रिगुणित सूत्र को पुनः तिगुना करके बनाये गये सूत्र में विद्यमान नौ तन्तुओं के प्रणव (ॐकार) आदि नौ अधिपति माने गये हैं। **सोमशम्भुपद्धति** में इनके नाम इस प्रकार हैं —

प्रणवश्चन्द्रमा वह्निर्ब्रह्मा नागो गुहो रविः॥
सादाख्यः सर्वदेवाश्च विन्यसेन्नवतन्तुषु।
(श्लो. ३७६-३७७)

अथवा **कालोत्तरागम** की पद्धति से इनमें ब्रह्मा आदि का न्यास करे —

अजं विष्णुं च रुद्रं च ईश्वरं च सदाशिवम्।
सोमसूर्याग्निदेवांश्च विन्यसेन्नवतन्तुषु॥

इन नौ देवताओं का विन्यास नौ सूत्रों की संख्या के अनुसार अधिक सूत्रों की स्थिति में उन्हीं की बार-बार आवृत्ति कर किया जाता है। व्यक्त प्रतिमा आदि में जानुप्रदेश पर्यन्त प्रमाण के गंगावतार पवित्र का निर्माण किया जाता है। आत्म, शक्ति (विद्या) और शिव नामक पवित्रों का प्रमाण क्रमशः गुह्य, नाभि और हृदय-प्रदेश पर्यन्त रखा जाता है। जैसा कि —

गुह्यनाभिहृदन्तं स्यान्मूर्तीनां कङ्कणत्रयम्।
मस्तकाज्जानुपर्यन्तं चतुर्थं परिकल्पयेत्॥

ज्ञानरत्नावली के इस वचन में निर्दिष्ट है। यहाँ 'कंकण' पद 'पवित्र' का पर्याय है ॥ ६-७॥

ऊपर बताये गये चार प्रकार के पवित्रों के समर्पण के क्रम का और उससे प्राप्त होने वाले फल का अब निरूपण करते हैं —

शैवं मन्त्रमथोच्चरन्निषुकलायुक्चेतनास्थानयुग्
दण्डान्तान्तमनान्तकावधि शिवेऽप्यात्मादितत्त्वत्रयम्।
सर्वात्माख्यचतुर्थकं क्रमयुतं दद्याल्लयोच्चारतः
सर्वान्तं परमीकृतौ च कुसुमं पूर्त्यै विधेर्वत्सरे ।।८।।

अथ इस तरह से पवित्रों का निर्माण कर लेने के बाद **इषुकलायुक्** निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता नामक पाँच कलाओं की

शुद्धि से सम्पन्न **चेतनास्थानयुक्** अन्तर्याग कीं, आन्तरिक ध्यान की पद्धति से स्थानशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और लिंगशुद्धि की प्रक्रिया को पूरी कर **शैवं मन्त्रं** शिव मन्त्र का **दण्डान्तान्तमनान्तकावधि** नाद-नादान्त शक्तियों से लेकर समना पर्यन्त ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों के **क्रमयुतं** त्याग-क्रम को स्वीकार कर **लयोच्चारतः** द्वादशान्त पर्यन्त उन्मना का उच्चारण करते हुए **आत्मादितत्त्वत्रयं** आत्म-विद्या-शिव नामक तीन पवित्रों को और **सर्वात्माख्य-चतुर्थकं** सर्वदेवता-स्वरूप गंगावतार नामक चौथे पवित्र को **शिवे** शिवस्वरूप लिंग के सिर पर **दद्यात्** समर्पित करे। **परमीकृतौ** चारों पवित्रों में स्थित शिव की एकरूपता को सम्पादित करने के लिये **सर्वान्तं** (जपित्वा) इन चारों पवित्रों को समर्पित करने के बाद अन्त में नमः शब्द तक मूल मन्त्र का उच्चारण करके **कुसुमं** तीन पुष्पांजलियाँ **दद्यात्** समर्पित करे। इस तरह से किया गया पवित्र-समर्पण **वत्सरे** पूरे वर्ष भर किये गये **विधेः** शिवपूजा आदि क्रियाकलाप में न्यूनता आदि दोषों की निवृत्ति पूर्वक **पूर्त्यै** परिपूर्णता के लिये (भवेत्) सहायक होता है, अर्थात् पवित्र-समर्पण से पूरे वर्ष में किये गये अनुष्ठानों की त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।।८।।

दीक्षित व्यक्ति शैव मन्त्र का उच्चारण करते हुए पहले निवृत्ति आदि पाँच कलाओं की शुद्धि करता है, अर्थात् भूतशुद्धि की प्रक्रिया से अपने में देवत्व का आपादन करता है। उसके बाद अन्तर्यजन, हवन, ध्यान आदि से स्थान, द्रव्य, लिंग, मन्त्र आदि की शुद्धि करता है। इतना सब कर लेने के बाद आत्मा आदि तीन तत्त्वों में तथा शिव में उक्त चतुर्विध पवित्रों को समर्पित करता है। उक्त तीन तत्त्वों की व्याप्ति नाद, नादान्त और शक्ति पर्यन्त मानी जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी से लेकर प्रकृतितत्त्व पर्यन्त व्याप्ति वाले आत्मतत्त्व में कारणेश्वर ब्रह्मा के रूप में शिव को ही अधिपति मानकर माया पर्यन्त तत्त्वों का, बुद्धितत्त्व से लेकर शुद्धविद्या पर्यन्त व्याप्ति वाले विद्यातत्त्व में कारणेश्वर विष्णु के रूप में शिव को ही अधिपति मानकर सदाशिव पर्यन्त तत्त्वों का तथा पृथ्वी से लेकर शिव-शक्ति पर्यन्त व्याप्ति वाले शिवतत्त्व में कारणेश्वर रुद्र के रूप में शिव को ही अधिपति मानकर शिवान्त तत्त्वों का स्मरण करते हुए क्रमशः नाद, नादान्त और शक्ति कला पर्यन्त मन्त्र का उच्चारण करते हुए आत्म, विद्या और शिव नामक पवित्रों को समर्पित किया जाता है। इसके आगे पृथिवी तत्त्व से लेकर समना पर्यन्त व्याप्ति वाले परशिव के वाचक मन्त्र में कारणेश्वर ईश्वर के रूप में शिव का ही ध्यान करते हुए चतुर्थ पवित्र को समर्पित किया जाता है।

प्रथम तीन पवित्रों को लिंग के सिर पर स्थापित किया जाता है। मुमुक्षु के लिये पवित्र समर्पण की यही विधि मान्य है। बुभुक्षु (भोगेच्छु) व्यक्ति के लिये इन त्रिविध पवित्रों को विपरीत क्रम से समर्पित किया जाता है, जैसा कि सोमशम्भु ने बताया है —

आत्मतत्त्वे प्रकृत्यन्ते पालिते पद्मयोनिना।
मूलं मायान्तमुच्चार्य पवित्रेणार्चयेच्छिवम्॥
विद्यातत्त्वे च विद्यान्ते विष्णुकारणपालिते।
ईश्वरान्तं समुच्चार्य पवित्रमधिरोपयेत्॥
शिवान्ते शिवतत्त्वे च रुद्रकारणपालिते।
शिवान्तं मन्त्रमुच्चार्य तस्मै देयं पवित्रकम्॥
आत्मविद्याशिवैः प्रोक्तं मुमुक्षूणां पवित्रकम्।
विनिर्दिष्टं बुभुक्षूणां शिवविद्यात्मभिः क्रमात्॥
(श्लो. ४५९-४६१, ४६३)

इस विपरीत क्रम में क्रमशः शिव, विद्या और आत्म नामक पवित्रों का समर्पण करने पर शिवतत्त्व की सबसे नीचे स्थिति हो जायगी, जो कि उचित नहीं है। इसके लिये कुछ आचार्यों का कहना है कि प्रथम समर्पित शिव-पवित्र को विद्यातत्त्व-पवित्र का समर्पण करने के बाद उठाकर उसके ऊपर और इसी तरह से आत्मतत्त्व-पवित्र का समर्पण करने के बाद इसके ऊपर उक्त दोनों पवित्रों को रखना चाहिये। अन्य आचार्यों का कहना है कि इस प्रकार का कोई वचन शास्त्रों में उपलब्ध नहीं है, अतः एक ही विशाल पवित्र में इन तीनों का समावेश मान लेना चाहिये। एक बार देवार्पित वस्तु को हटाकर पुनः समर्पित करना अनुचित है। इस प्रसंग में तीसरा मत यह है कि तीन तत्त्वों के लिये समर्पणीय पवित्रों का आकार छोटा होता है, अतः इसी अनुपात में तीनों कंकणों को बनाकर तदनुसार उनकी स्थापना करनी चाहिये। इस प्रकार तीन तत्त्वों के लिये समर्पणीय तीन पवित्रों (कंकणों) का विधान बताकर अब सभी तत्त्वों के अधिष्ठाता के रूप में परशिव के लिये समर्पणीय चतुर्थ गंगावतार पवित्र की विधि बताते हुए कहते हैं कि सर्वदेवता-स्वरूप गंगावतार पवित्र को समर्पित करते समय ब्रह्मा आदि कारणेश्वरों का क्रमशः त्याग करते हुए द्वादशान्त स्थित उन्मना कला पर्यन्त मन्त्र का उच्चारण करे। जैसा कि —

सर्वकारणपाल्येषु सर्वतत्त्वेषु सुव्रतः।
मूलं लयान्तमुच्चार्य दद्याद् गङ्गावतारकम्॥

ब्रह्मादीनामधिष्ठाता सद्योजातादिसंज्ञकः ।
तत्त्वे च शिव एवोक्तः कारणे योगपादके ॥

एको वा नामगैर्भेदैः स्थितः स परमेश्वरः ।
ब्रह्मत्वाद् व्यापकत्वाच्च ब्रह्मा वा ब्रह्मयोगतः ॥

विष्णुः प्रभवशीलत्वात् प्रभवो जगतः प्रभुः ।
रुजं द्रावयते यस्मात् तेन रुद्रो रुजः क्षयात् ॥

सर्वैश्वर्यगुणैः शेषादीश्वरः स महेश्वरः ।
सदाशिवः सदा शान्तः शान्तोऽसौ संस्थितः शिवः ॥

संज्ञाभेदैः स्थितश्चैवमेक एव जगत्प्रभुः ।

इन श्लोकों में प्रतिपादित है। अन्त में इन चारों स्वरूपों में, अर्थात् आत्म, विद्या, शिव और इन सबमें विद्यमान परशिव के स्वरूप में एकीकरण रूप परमीकरण की प्रक्रिया को पूरा कर लेने के उपरान्त, गंगावतार पवित्र को भी समर्पित कर देने के बाद तीन बार पुष्पाञ्जलि समर्पित करे, क्योंकि — "नमोऽन्तं मूलमुच्चार्य भक्त्या पुष्पाञ्जलित्रयम्" ज्ञानरत्नावली का यह वचन गंगावतार पवित्र की समर्पण-विधि के अन्त में मिलता है।

इस प्रकार विधिपूर्वक पवित्र के समर्पण से पूरे वर्षभर में अनुष्ठित कर्मों की पूर्ति, अर्थात् मन्त्रलोप, क्रियालोप और द्रव्यलोप-जन्य कर्मों की विकलता के दोष (त्रुटि) का परिहार होकर उनकी सफल समाप्ति होती है, अर्थात् वे कर्म अपने फलदान में पूरी तरह से समर्थ होते हैं, जैसा कि कहा गया है —

अथ नित्यं यदुक्तं तन्मन्त्रद्रव्यक्रियान्वितम् ।
प्रमादाद् देवतामोहात् कार्यव्यग्रतयापि वा ॥
राजचोरभयालस्यस्वदेहव्यसनैस्ततः ।
अवश्यं जायते छिद्रं तच्छिद्रपरिपूर्तये ॥
नृणां हिताय नित्याङ्गं पवित्रमधुनोच्यते ।

यहाँ पवित्रारोपण को नित्यांग माना गया है। प्रश्न उठता है कि यह कैसे संभव हो सकता है? प्रतिदिन किया जाने वाला कर्म नित्य कहलाता है। वह नित्य कर्म जब किसी विशेष संक्रान्ति अथवा तिथि के अवसर पर द्विगुणित हो जाता है, तो भी उसे नित्यांग ही कहते हैं। जैसा कि कालोत्तर में —

समयीपुत्रकाभ्यां तु साधकस्य विशेषतः ।
नित्यं क्रमेण कथितं यावज्जीवं शिवाज्ञया ॥

स्नानं पूजा जपः सन्ध्या होमश्चैव तु पञ्चमः।
इति नित्यं सदा कुर्यान्नित्याङ्गं प्रोच्यतेऽधुना॥

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि।
पञ्चदश्यां दिनध्वंसे संक्रान्तौ दक्षिणायने॥

मासवृद्धौ दिनाधिक्ये षडशीतिमुखेष्वपि।
रवीन्दुग्रहणे चैव द्विगुणार्चाजपादिकम्॥

चातुर्मास्येऽपि तद्वत् स्याद् व्रतं नक्तं हविष्यभुक्।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां न भोक्तव्यं कदाचन॥

इति नित्याङ्गमेवोक्तम्......................।

नित्यांगों का परिगणन करते समय यहाँ पवित्रारोपण का उल्लेख नहीं है। पवित्र आषाढ आदि में निश्चित समय पर कार्पास (रुई) आदि के तन्तुओं से बनाया जाता है। इसकी नित्यांगता कैसे संभव हो सकती है? इसका अन्तर्भाव तो नैमित्तिक, काम्य अथवा प्रायश्चित्त कर्म में किया जा सकता है, किन्तु इसकी भी परीक्षा अपेक्षित है। विष्णुशयन आदि निमित्त के आधार पर इसका अनुष्ठान विहित है, अतः इसको नैमित्तिक कर्म कह सकते हैं। किन्तु आपके इस लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आवेंगे, आपका लक्षण उसमें घटित नहीं होता, क्योंकि उसका कोई काल नियत नहीं है। दीक्षा का कोई काल नियत नहीं है, तो भी उसको नैमित्तिक कर्म माना जाता है। जैसा कि षट्साहस्रिका में बताया गया है — **"दीक्षा चैव प्रतिष्ठा च नैमित्तिकमिदं द्विधा"**। इसी तरह नियत समय पर अनुष्ठेय प्रातःसन्ध्या आदि में आपके उक्त लक्षण के घटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष भी आवेगा, क्योंकि सन्ध्यावन्दन तो नित्य कर्म है। इस प्रकार पवित्रारोपण का नैमित्तिक कर्म में समावेश नहीं हो सकता। काम्य कर्म में भी इसका समावेश असंभव है। काम्य कर्म में अणिमादि सिद्धियों का तथा वश्य आदि कर्मों का समावेश होता है। पवित्रारोपण से इस तरह की किसी कामना की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि — **"सर्वपूजाविधिच्छिद्रपूरणाय पवित्रकम्" (सो. प., श्लो. ३६४)** इस वचन में बताया गया है कि वर्ष भर में किये गये कर्मों के विधान में उपस्थित मन्त्र-द्रव्य-क्रिया के लोप रूपी छिद्रों की परिपूर्ति के लिये इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसका प्रायश्चित्त कर्मों में भी समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म का लोप होने पर तत्काल प्रायश्चित्त किया जाता है। पवित्रारोपण के लिये तो आषाढ आदि काल निश्चित कर दिया गया है, अतः इसका प्रायश्चित्त कर्म में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यहाँ पुनः अवान्तर शंका उपस्थित होती है कि एक वर्ष के भीतर कर्म का लोप होने पर उस वर्ष के सभी कार्यों की सांगता के लिये इसका

विधान होने से काल तो निश्चित ही है, अतः प्रायश्चित्त कर्म में इसका अन्तर्भाव होगा। किन्तु यह भी संभव नहीं है। लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि विधि के अनुसार अनुष्ठान न होने पर उसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है। प्रायश्चित्त के न करने पर पहले अकरण का प्रायश्चित्त कर लेने के बाद पुनः अनुष्ठान-भंग का प्रायश्चित्त करने का कोई विधान नहीं है। पवित्रारोपण कर्म में तो मन्त्र-द्रव्य-क्रिया का लोप होने पर पहले प्रायश्चित्त करके तदुपरान्त पवित्रारोपण किया जाता है। जैसा कि बताया गया है —

उक्तमासत्रये यस्तु न कुर्यात् सूत्ररोहणम्।
असौ कन्यागते भानौ जप्त्वा दक्षाणुना युतम्।
कुर्यात् पवित्रकं शम्भोस्तुलायां न कथञ्चन॥

इस विषय की चर्चा अन्यत्र भी मिलती है —

आषाढादित्रये दैवादविधाय पवित्रकम्।
लक्षद्वयमघोरस्य जप्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

कर्मलोप के छिद्र के परिपूरण के लिये इसका अनुष्ठान किया जाता है, अतः किसी तरह से इसका प्रायश्चित्त कर्म में समावेश किया जा सकता है, किन्तु उस स्थिति में भी पवित्रोत्सव के न करने पर पातित्य तो बना ही रहेगा, क्योंकि प्रायश्चित्त का कोई प्रायश्चित्त नहीं होता। इस प्रकार इसका प्रायश्चित्त कर्म में भी समावेश नहीं हो सकता। इसीलिये इस पूरी परिस्थिति पर विचार कर पवित्रोत्सव की नित्यांगता मानी गई है। जैसा कि बताया गया है —

स्नानं सन्ध्या तथा पूजा जपो होमश्च पञ्चमः।
इति नित्याङ्गमुद्दिष्टं पवित्रारोपणं तथा॥

प्रतिदिन अनुष्ठेय और प्रतिवर्ष अनुष्ठेय के भेद से दैवसिक और वार्षिक के रूप में नित्यांग भी दो प्रकार के हैं। प्रतिदिन क्रियमाण कर्म दैवसिक और प्रतिवर्ष क्रियमाण कर्म वार्षिक हैं। यदि हम दैवसिक और वार्षिक कर्म को एक ही मानें, तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि पवित्र कर्म तो अनेकविध है, प्रतिदिन भी उसका विधान संभव है। पुष्प, कुशा आदि से प्रतिदिन पूजासामग्री को पवित्र किया जाता है। इनको भी पवित्र का प्रतिनिधि माना जा सकता है। किन्तु ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि इनसे क्रियालोप आदि से उत्पन्न दोषों का परिहार नहीं होने पाता। इसलिये इस वार्षिक पवित्रोत्सव विधि से ही दोषों का परिहार होने से दैवसिक की अपेक्षा [१]वार्षिक नित्य

---

[१] वार्षिक नित्य कृत्य में जन्म की तिथि, वार्षिक श्राद्ध आदि का भी समावेश माना जायगा।

कर्म की अलग से स्थिति स्पष्ट होती है। नित्यव्रत, सन्ध्यावन्दन आदि के लोप के समान प्रतिदिन की जाने वाली पवित्रविधि का लोप होने पर भी प्रायश्चित्त का विधान शास्त्रों में देखा गया है। ऐसी स्थिति में यदि आप यह कहें कि दैवसिक के स्थान पर वार्षिक पवित्रविधि को ही क्यों न माना जाय? किन्तु ऐसा संभव नहीं होगा, क्योंकि दैवसिक कार्यों की अपेक्षा वार्षिक कृत्यों की प्रधानता अस्वीकृत है, **''नित्योत्सवेन या पूजा तस्याः संवत्सरोत्सवम्''** इस वचन में नित्योत्सव की ही संवत्सरांगता मानी गई है। इसीलिये दैवसिक की अपेक्षा वार्षिक पवित्र की नित्यांगता मानी गई है, जैसा कि **मोहशूरोत्तर** में वर्णित है —

पत्रिकाभिः प्रसूनैर्वा कुशैर्वा परिकल्पयेत्।
पवित्रं प्रत्यहं शम्भोर्महापुण्यचिकीर्षया॥

इति नित्यक्रियाऽऽख्याता शृणु नैमित्तिकीं पुनः।
आषाढस्य सिता ग्राह्या श्रावणस्य सितासिता॥

इस वचन को सुनकर शंका उठती है कि यहाँ तो पवित्रारोपण को नैमित्तिक कर्म माना गया है, तब इसकी नित्यांगता कैसे मान्य होगी? इसका परिहार यह है कि नित्यांग दैवसिक पवित्र के विधान से नित्य आदि समस्त कर्मों के दोषों का परिहार प्रतिदिन हो जाने से इसीकी प्रधानता को सूचित करने के लिये वार्षिक पवित्रोत्सव को यहाँ औपचारिक रूप से नैमित्तिक माना गया है, वास्तव में नैमित्तिक कर्म का लक्षण उसमें घटित नहीं होता। इसीलिये यहाँ स्वार्थ में क-प्रत्यय माना गया है। दैवसिक पवित्र का जो निमित्त है, वही वार्षिक पवित्रोत्सव का भी है, यह उसका अभिप्राय होगा। इस तरह से पवित्रोत्सव की नित्यांगता ही सिद्ध होगी। कालोत्तर के —

दीक्षाङ्गं संस्मृतं नित्यं तत्र मन्त्रद्वयात्मकम्।
द्रव्यमन्त्रक्रियोपेतं विकलं विफलं नृणाम्॥

अतो नित्याङ्गमेवोक्तं पवित्रारोपणं मतम्।
उक्तवैकल्यतो घोरात् पुनातीति पवित्रकम्॥

तस्मात् काले प्रकर्तव्यं प्रागुक्तं परमेष्ठिना।
तेन सांवत्सरी पूजा सम्पूर्णा जायते स्फुटम्॥

पूजाङ्गत्वात् प्रकर्तव्यं नित्यमेवं पवित्रकम्।
पवित्रेण विना पूजा तामसी परिकीर्तिता॥

इस श्लोक में पवित्रोत्सव की नित्यांगता स्पष्ट प्रतिपादित है! इस प्रसंग में कुछ आचार्यों के अनुसार मोहशूरोत्तर नामक शिवागम में पवित्रोत्सव को नैमित्तिक कर्म इसलिये माना गया है कि इसमें नियत काल को निमित्त माना गया है। अन्य समर्थ आचार्य इसकी नित्यांगता के ही पक्ष में हैं — ''नित्याङ्गमेव निपुणा दर्शादीनां विधिर्यथा''। दर्श और पौर्णमास इष्टि का जैसे नित्य कर्म में समावेश है, उसी तरह से वार्षिक पवित्रोत्सव विधि की भी नित्यांगता मानी जायगी, किन्तु —

कवौ गुरौ चास्तमयं प्रयाते मासत्रये चाप्युदयेन चास्तु।
तथापि कुर्वीत पवित्रकार्यं नैमित्तिकत्वादनिमित्तकत्वात्॥

सिद्धान्तशेखर के इस वचन में पूर्वमत का समर्थन किया गया है ॥८॥

लोक में अविच्छिन्न रूप से आ रहे सम्प्रदाय वाले और विच्छिन्न सम्प्रदाय वाले दोनों तरह के मनुष्य विद्यमान हैं। इनमें से अविच्छिन्न सम्प्रदाय वाले यदि विच्छिन्न सम्प्रदाय वालों के यहाँ भोजन करते हैं, तो वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। इस दोष के परिहार के लिये अष्टविध प्रासाद-मन्त्र के न्यास का विधान आगे चार श्लोकों में बताते हैं —

श्रुत्योर्दक्षिणवामयोस्तु खमलं न्यस्येत् कलाढ्यं तथा
नासायां सकलाकलौ क्षपणकं चान्तस्थमक्ष्णोर्न्यसेत्।
पूर्वोक्तेषु विरिञ्चिकेशवहरेशानांश्च शक्तिं शिवं
दृष्ट्या चान्नविलोकनं ग्रहमथो शून्येन चौष्ठ्येन च।।९।।

खण्डादेः क्षपणात्तु संग्रहमथो बन्धं तथोत्क्षेपणं
ग्रासस्यास्वदनं विमोचनमधः संचारणं चोष्ठतः।
कृत्वा यः सकलात् कृतात् खमलकाच्छून्यात् तथा निष्कलाद्
ध्यानाच्च क्षधतोऽन्नमोष्ठमनुतो भुञ्जीत लेह्यादिकम्।।१०।।

ब्रह्मान्नं तु रसो हरिस्तु भगवान् भोक्ताः महेशः स्वयं
दाताऽप्येष महेश्वरस्तु यदि वा भोज्यं तु मायात्मकम्।
कर्ता तस्य महेश्वरः किल परो भोक्ता शिवः शक्तिमान्
प्राणापानगमागमीति मतिमान् भुञ्जीत नीचेष्वपि।।११।।

एवं भावयुगेव देशिकवरो गेहे महापापिनां
भुञ्जानोऽपि न दोषभागपि तथा श्राद्धादिदुर्भोजने।
भुक्तेऽस्मिन् सकृदेव वेदविदुषां कोटिर्भवेद् भोजिता
निश्वासोक्तमिदं त्रिसप्तकुलजा दातुर्व्रजेयुः शिवम्।।१२।।

यहाँ अविच्छिन्न सम्प्रदाय वाले आचारोत्तम शिवभक्त भोजन करते समय कालोत्तरसंहिता में निर्दिष्ट १. सकल, २. निष्कल, ३. शून्य, ४. कलाढ्य, ५. खमल, ६. क्षपण, ७. अन्तस्थ, ८. कण्ठौष्ठ्य नामक आठ प्रकार के प्रासाद मन्त्रों के उच्चारण के भेदों को जानकर तथा उनका न्यास कर तब भोजन में प्रवृत्त होते हैं। उनका भोजन का क्रम इस प्रकार है — **दक्षिणवामयोः श्रुत्योः** दाहिने और बायें कान में क्रमशः **खमलं तथा कलाढ्यं** खमल और कलाढ्य नामक दो मन्त्रों का **न्यसेत्** विन्यास करे। **नासायां** नासिका के दोनों रन्ध्रों में **सकलाकलौ** सकल और निष्कल मन्त्रों का **न्यसेत्** दक्षिण और वाम क्रम से न्यास करे। **अक्ष्णोः** दोनों आँखों में भी उसी क्रम से **क्षपणकम् अन्तस्थं च** क्षपणक और अन्तस्थ मन्त्रों का **न्यसेत्** न्यास करे। **पूर्वोक्तेषु** ऊपर बताये गये मन्त्रों में **विरिञ्चिकेशवहरेशानांश्च शक्तिं शिवं** ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, ईशान, शक्ति और शिव नामक उक्त मन्त्रों के अधिपतियों का (ध्यायेत्) ध्यान करना चाहिये। **दृष्ट्या चान्नविलोकनं** परोसे गये अन्न का आँखों से अवलोकन करने के बाद **शून्येन चौष्ठ्येन च** शून्य और ओष्ठ्य मन्त्र से **अथो ग्रहम्** हाथ से अन्न को ग्रहण करे ।।९।।

क्षपणात् क्षपण मन्त्र का उच्चारण करते हुए **खण्डादेः** अलग-अलग विद्यमान शाक आदि को **१. संग्रहं कृत्वा** एक में मिला कर **अथो** इसके बाद **बन्धं** दाल-भाजी आदि को आपस में बाँध कर **तथा** उसी तरह **२. उत्क्षेपणं** हाथ उठाकर अन्न को मुँह तक ले जाकर **ग्रासस्य** ग्रास का **३. आस्वदनं** स्वाद लेकर **४. ओष्ठतो विमोचनं** होठों से हाथों को दूर कर **५. अधः संचारणं च** हाथों को नीचे ले आवे। इस तरह से यहाँ प्रदर्शित इन पाँच क्रियाओं को **१. सकलात्** सकल मन्त्र से, **२. कृतात् खमलकात्** कृत नाम के उपनाम वाले खमल मन्त्र से, **३. शून्यात्** शून्य मन्त्र से, **४. निष्कलात्** निष्कल मन्त्र से, **५. तथा क्षपतो ध्यानात्** उसी तरह से क्षपण मन्त्र के ध्यान से — इस तरह इन पाँच मन्त्रों से क्रमशः **कृत्वा** संपादित

कर **ओष्ठमनुतः** कण्ठौष्ठ्य मन्त्र से **लेह्यादिकं** लेह्य, चोष्य आदि **अन्नं** खाने योग्य वस्तुओं का **भुञ्जीत** आहार करना चाहिये।।१०।।

किञ्च और भोजन करते समय **अन्नं ब्रह्म** अन्न ब्रह्मस्वरूप है, **रसो भगवान् हरिः** मधुर आदि रस महाविष्णु स्वरूप हैं, **भोक्ता** भोजन करने वाला **स्वयं महेशः** साक्षात् महेश्वर शिव ही है, **एष दाताऽपि** अन्न को परोसने वाला भी **महेश्वरः** साक्षात् महेश्वर ही है। **यदि वा** अथवा **भोज्यं** खाने के योग समस्त पदार्थ **मायात्मकं** मायास्वरूप हैं, **तस्य कर्ता किल** उस अन्न की सृष्टि करने वाला निश्चय ही **महेश्वरः** भगवान् शिव ही हैं, **भोक्ता च** और अन्न का आहार ग्रहण करने वाला **परः** सर्वोत्कृष्ट **शक्तिमान्** शक्तिसहित **शिवः** शिव ही है, ऐसा ध्यान करे। (स एव) ऐसा परशिव ही **प्राणापानगमागमी** प्राण और अपान वायु का स्वरूप धारण कर श्वास लेता है और छोड़ता है, अर्थात् हमारे जीवन-सूत्र को निरन्तर चलाता रहता है, **इति मतिमान्** ऐसा विचार कर बुद्धिमान् मनुष्य **नीचेष्वपि** सम्प्रदाय के विच्छेद के कारण नीच गति को प्राप्त मनुष्यों के साथ भी **भुञ्जीत** भोजन कर सकता है।।११।।

एवं भावयुगेव भोजन करते समय ऐसी भावना रखने वाला **देशिकवरः** श्रेष्ठ गुरु कहलाता है। (सः) वह, **महापापिनां** महापातक के नाम से प्रसिद्ध पाँच महापापों से ग्रस्त पापी मनुष्य के **गृहे** घर में **भुञ्जानोऽपि** भोजन करने पर भी **न दोषभाक्** दोष का भागी नहीं होता। **तथा** उसी तरह **श्राद्धादिदुर्भोजने** श्राद्ध आदि के अवसर पर दुष्ट अन्न का भोजन करने पर भी **न दोषभाक्** दोष का भागी नहीं होता। **सकृदेव** एक बार ही **अस्मिन् भुक्ते सति** ऐसे आचार्य के भोजन कर लेने पर **वेदविदुषां कोटिः** अर्थसहित वेदों का अध्ययन करने वाले एक करोड़ विद्वानों के **भोजिता भवेत्** भोजन कराने के समान फल प्राप्त होता है। **किञ्च** इतना ही नहीं, **दातुः** ऐसे आचार्य को भोजन कराने वाले मनुष्य के **कुलजाः** वंश में उत्पन्न हुईं **त्रिसप्त** इक्कीस पीढियाँ **शिवं** परशिव की पदवी (धाम) को **व्रजेयुः** प्राप्त करती हैं, **इदं** शिवाचार्य को भोजन कराने की यह महिमा **निश्वासोक्तम्** निश्वासागम में बताई गई है।।१२।।

अपने दाहिने कान में **खमल** नामक प्रासाद मन्त्र का और बाँये कान में **कलाढ्य** का न्यास करे। इसी तरह से नासिका के दक्षिण पुट में **सकल** और वाम पुट में **निष्कल** मन्त्र का न्यास करे। **क्षपण** और **अन्तःस्थ** मन्त्रों का क्रमशः दक्षिण और वाम नेत्रों में न्यास करे। इन खमल आदि छः मन्त्रों में भी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, शक्ति और शिव नामक छः देवताओं का न्यास करे। इसके बाद **शून्य** मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपने नेत्रों से कांस्य आदि के पात्र में स्थित अन्न का अवलोकन करे और **ओष्ठ्य** मन्त्र से अन्न का संग्रह करे। यहाँ अष्टविध प्रासाद मन्त्रों के नाम दिये गये हैं। इनके उद्धार की पद्धति **कालोत्तरागम** में देखनी चाहिये। उनके नाम ये हैं —

सकलं निष्कलं शून्यं कलाढ्यं खमलं कृतम्।
क्षपणं च तथान्तःस्थं कण्ठौष्ठ्यं चाष्टमं स्मृतम्॥
(सा. का. १९. २)

पात्र (थाली) में अलग-अलग स्थापित शाक आदि का क्षपण मन्त्र से संग्रह करे। इनको इकट्ठा कर लेने के बाद अन्न (ओदन) को दाल आदि से मिलाना, हाथ से अन्न को ऊपर उठाना, ग्रास को मुख में रखना, फिर वहाँ से हाथ को बाहर निकालना और उसे नीचे ले जाना — इन पाँच क्रियाओं को क्रमशः सकल, खमल, शून्य, निष्कल और क्षपण नामक मन्त्रों का ध्यान करते हुए सम्पन्न करना चाहिये। इस तरह पाँच मन्त्रों से बन्धन आदि पाँच कार्यों को सम्पन्न कर साधक इनका न्यास, ध्यान आदि करे। फिर इसके बाद कण्ठौष्ठ्य मन्त्र से लेह्य, पेय, खाद्य, चोष्य आदि पदार्थों का ग्रहण करे॥

भोजन करते समय अन्न का ब्रह्मा के रूप में और अन्न आदि में विद्यमान मधुर आदि षड्विध रस का नारायण के रूप में ध्यान करे, क्योंकि भगवान् नारायण षड्विध ऐश्वर्य आदि गुणों से मण्डित हैं। भोक्ता (भोजन करने वाला) स्वयं अपने को महेश्वर स्वरूप माने। फिर यह महेश्वर ही अन्न का दाता भी है, ऐसा ध्यान करे। अथवा सारे भोज्य पदार्थ अधोमाया और ऊर्ध्वमाया स्वरूप हैं, ऐसा ध्यान करे। मायात्मक इन सारे पदार्थों के कर्ता, सबसे श्रेष्ठ, सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् शिव ही इसके भोक्ता भी हैं। वे ही प्राण और अपान की ऊर्ध्व और अधोगति के रूप में सभी प्राणियों में विद्यमान हैं, ऐसी सर्वत्र शिव की भावना करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति विच्छिन्न सम्प्रदाय वालों के बीच में भी भोजन कर सकता है॥

इस प्रकार की भावना करने वाला आचार्यप्रवर महापातकियों के घर में भोजन कर लेने पर भी पाप का भागी नहीं होता। श्राद्ध आदि के आशौच-ग्रस्त अन्न का

भोजन करने पर भी वह दोष-ग्रस्त नहीं होता। पूर्वोक्त इस सारी भोजनविधि को जानने वाला तथा तदनुसार प्रासाद मन्त्रों के न्यास और ध्यान की विधि का आचरण करने वाला आचार्यप्रवर जिसके घर पर एक बार भी भोजन कर लेता है, तो ऐसा समझना चाहिये कि वेद आदि शास्त्रों के ज्ञाता करोड़ों ब्राह्मणों ने उसके यहाँ भोजन कर लिया है। निश्वासागम में यह बात कही गई है। इससे इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ऐसे आचार्यप्रवर को भोजन कराने वाले गृहस्थ के वंश की इक्कीस पीढियाँ तर जाती हैं, शिवधाम में प्रविष्ट हो जाती हैं। यहाँ टीकाकार ने द्विविध अर्थ किया है— पितृपक्ष की सात, मातृपक्ष की सात और आत्मगत सात, इस प्रकार इक्कीस पीढियाँ अथवा अपने पहले की दस, अपने बाद की दस तथा स्वयं अपने साथ इक्कीस पीढियाँ ॥ ९-१२॥

अगले दो श्लोकों में देशिकों के लिये पापिष्ठ व्यक्तियों के द्रव्य का परिग्रहण करते समय प्रसक्त दोष के परिहार के लिये आठ प्रकार के प्रासाद मन्त्रों के न्यास का क्रम बताते हैं —

हृद्यन्तर्बहिरेव मूर्ध्नि नयने दक्षे च सव्ये तथा
चूडायां वदने तनौ च सकलाद्योष्ठान्तमन्त्रान् न्यसेत् ।
यद्वौष्ठं सकलाङ्गकेऽमृतरुचं न्यस्येत् तथा देशिको
हृद्देशे सकलं तु पञ्चरुचिकं भावं तु शून्यं वरे ॥१३॥

सिन्दूरारुणसुप्रभं क्षपणकं चूडापदे नेत्रयोः
शङ्खाभं खमलं कलाढ्यमरुणं चान्तस्थमब्जाम्बुजम् ।
वक्त्रे कुन्दशशिप्रभं बहिरतोऽप्यन्तस्तनौ निष्कलं
पापिद्रव्यपरिग्रहाद्यघहरो न्यासः शतोऽर्धाधिकः ॥१४॥

देशिकः पूर्वोक्त शिवाचार्य **हृदि** ब्रह्मस्थान हृदय में **१-२. अन्तर्बहिः** अन्दर, बाहर, **३. मूर्ध्नि** सिर पर, **४. दक्षे ५. सव्ये च नयने** दाहिनी और बाईं आँख में, **तथा ६. चूडायां** उसी तरह शिखा में, **७. वदने** मुख पर **८. तनौ च** और समस्त शरीर पर **सकलाद्योष्ठान्तमन्त्रान्** सकल से लेकर कण्ठौष्ठ्य मन्त्र पर्यन्त पहले बताये गये आठ प्रासाद मन्त्रों का **न्यसेत्** क्रमशः न्यास करे। **यद्वा** अथवा पक्षान्तर में **औष्ठं** कण्ठौष्ठ्य मन्त्र का **अमृतरुचं** (ध्वात्वा) अमृत की कान्ति से परिपूर्ण रूप में ध्यान करके **तथा** उसी तरह पहले बताई गई पद्धति से **सकलाङ्गके** समस्त शरीर में **न्यस्येत्**

न्यास करे। **सकलं** सकल मन्त्र का **पञ्चरुचिकं** (ध्यात्वा) पाँच रंगों में ध्यान कर **हृद्देशे** हृदय स्थान में (न्यस्येत्) न्यास करे। **शून्यं** शून्य मन्त्र का **भावं** (ध्यात्वा) भावाकार रूप में ध्यान कर **वरे** श्रेष्ठ अंग के नाम से कहे गये सिर पर (न्यस्येत्) न्यास करे।।१३।।

क्षपणकं क्षपण मन्त्र का **सिन्दूरारुणसुप्रभं** (ध्वात्वा) सिन्दूर की जैसी लाल कान्ति के रूप में ध्यान कर **चूडापदे** शिखास्थान में (न्यसेत्) न्यास करे। **खमलं** खमल मन्त्र का **शङ्खाभं** शंख जैसी सफेद कान्ति के रूप में, **कलाढ्यं** कलाढ्य मन्त्र का **अरुणं** (ध्वात्वा) लाल कान्ति के रूप में ध्यान कर **नेत्रयोः** दोनों आँखों में (न्यसेत्) न्यास करे। **अन्तस्थं** अन्तस्थ मन्त्र का **अब्जाम्बुजं** (ध्वात्वा) सफेद और लाल कमल के रूप में ध्यान कर **वक्त्रे** मुख में (न्यसेत्) न्यास करे। **निष्कलं** निष्कल मन्त्र का **कुन्दशशिप्रभं** (ध्यात्वा) मल्लिका पुष्प और चन्द्रमा की जैसी सफेद कान्ति के रूप में ध्यान कर **तनौ** शरीर के **बहिरन्तरपि** बाहर और भीतर भी (न्यसेत्) न्यास करे। **एवं न्यासः** इस तरह से किया गया यह न्यास **पापिद्रव्यपरिग्रहाद्यघहरः** पापी लोगों के द्वारा दिये गये द्रव्य आदि के दान को ग्रहण करने से उत्पन्न दोष का परिहार कर देता है। **किञ्च** और **अर्धाधिकः शतः** दूसरे मन्त्रों के न्यास की महिमा से डेढ सौ गुना अधिक महिमा वाला है ।।१३-१४।।

हृदय, अर्थात् ब्रह्मस्थान के भीतर और बाहर, मस्तक पर, दाहिने और बायें नेत्रों पर, शिखा में, मुख में और सारे शरीर पर इन आठ स्थानों में सकल आदि ओष्ठ्य पर्यन्त आठ प्रासाद मन्त्रों का न्यास करे।

सकलं निष्कलं शून्यं कलाढ्यं खमलं कृतम्।
क्षपणं च तथान्तःस्थं कण्ठौष्ठ्यं चाष्टमं स्मृतम्॥
(सा. का. १९.२)

यह श्लोक पहले भी उद्धृत हुआ है। इसमें अष्टविध प्रासाद मन्त्रों के नाम दिये गये हैं। न्यास का एक दूसरा भी प्रकार यहाँ दिया गया है। तदनुसार कण्ठौष्ठ्य मन्त्र का पूर्ववत् समस्त शरीर पर न्यास करते समय उसके अमृत की कान्ति के समान रूप का ध्यान करे। इसी तरह से हृदय-प्रदेश में सकल नामक मन्त्र का न्यास करते समय उसके श्वेत आदि पाँच वर्णों की आभा से प्रकाशित स्वरूप का ध्यान करे। शून्य मन्त्र का ब्रह्मरन्ध्र में न्यास करते समय अपनी भावना के अनुसार ध्यान करे।

शिखास्थान में क्षपणक मन्त्र का ध्यान गैरिक आदि धातुओं की लाल कान्ति के रूप में करे। दोनों नेत्रों में शंख के समान शुभ्र वर्ण खमल मन्त्र का और रक्त वर्ण कलाढ्य मन्त्र का ध्यान करे। अब्ज और अम्बुज इन दोनों पर्याय-पदों का एक साथ प्रयोग होने से यहाँ श्वेत और रक्त दोनों तरह के कमलों का ग्रहण होगा। इसका अभिप्राय है कि अन्तःस्थ मन्त्र का मुख में न्यास करते समय श्वेत और रक्त कमल की कान्ति के रूप में ध्यान करे। निष्कल मन्त्र का न्यास शरीर के भीतर और बाहर किया जाता है। उस समय कुन्द-पुष्प और चन्द्रमा की कान्ति के समान उसका-ध्यान करे। यह न्यास पापी मनुष्यों के यहाँ से धन-धान्य का दान लेने से उत्पन्न महापाप का भी नाश कर देता है। अन्य न्यासों की अपेक्षा इसका फल डेढ-सौ गुना अधिक है, अर्थात् अन्य मन्त्रों के डेढ-सौ न्यासों के करने पर जितना फल मिलता है, उतना इस मन्त्र का एक बार न्यास करने से मिल जाता है ॥ १३-१४॥

[कुण्डं हस्तमितं षडङ्गुलवृतिस्तन्मृत्स्नया वेदिका
वायौ तद्वृतिमानतोऽन्तरकरा वह्नौ चतुर्हस्ततः ।
दीर्घा चार्धतता चिता वसुनता पञ्चाधिविंशत्पदै-
र्भक्ता मध्यगतांशपञ्चसु धरा पीताब्जजन्माधिपा ॥१५॥

नैर्ऋत्यां च चतुष्पदे जलहरिः श्वेतेऽसृगग्नौ शिखी
रुद्रो वाय्वसितेश्वरो हरितभे चैशे सदेशो वियत् ।
दिक्ष्विन्द्रान्तकपाशियक्षपतयो हेमासितश्वेतयुग्-
रक्ताः पीतकृशानु कोणगपती शक्रानलौ मध्यतः ॥१६॥

सद्दीक्षाचरणाञ्चितस्य नि(वि)गमेऽसूनामथेष्टिर्भवेद्
आज्ञालङ्घनबुद्धिपूर्वककृतानाचारसन्देहिनाम् ।
देहारम्भकशिष्टकर्ममलिनां शुद्धौ च विश्वामर-
द्वित्रिस्थेशपितृप्रतर्पणशिवं श्राद्धेन दीक्षा ह्यलम् ॥१७॥]

[यहाँ टीका-ग्रन्थ में तीन श्लोक अधिक उपलब्ध हैं। इनमें दीक्षित व्यक्ति की अन्त्येष्टि का विधान वर्णित है। इस अवसर पर जलाशय के पास जाकर कुण्ड का निर्माण करने से पहले नौ अथवा सात हाथ का मण्डप बनाया जाता है। जैसा कि इस वचन में प्रदर्शित है —

नवहस्तमितं कृत्वा मण्डपं कटकावृतम् ।
सप्तहस्तप्रमाणं वा याम्यद्वारं सतोरणम् ॥

इस मण्डप के बीच में चतुरश्र आकार का एक हाथ विस्तार का कुण्ड बनाना चाहिये। इस कुण्ड की छः अंगुल ऊँची एक मेखला बनावे। कुण्ड को बनाते समय निकली मिट्टी से मण्डप में बनाये गये कुण्ड की वायु दिशा (कोण) में कुण्ड की मेखला की ऊँचाई के बराबर एक हाथ विस्तार वाली वेदिका बनावे। मण्डप में बनाये गये कुण्ड की आग्नेय दिशा (कोण) में चार हाथ लंबी और दो हाथ चौड़ी जमीन शव के दहन के लिये बनावे। इसे खोद कर आठ अंगुल गहरी कर दे। अन्य आचार्यों का मत है कि कुण्ड की दक्षिण दिशा में चिता की जमीन बनानी चाहिये। जैसा कि —

तत्र हस्तमितं कुण्डं वेदाश्रं चैकमेखलम्।
ऋत्वङ्गुलोन्नतं वायौ तन्मृदा स्थण्डिलं करम्॥

कुण्डाग्नेय्यां चिताखातं चतुर्हस्तमितायतम्।
अष्टाङ्गुलैश्च गम्भीरं हस्तद्वितयविस्तृतम्॥

कुण्डदक्षिणतः कृत्वा चिताखातं क्वचिन्मतम्।
निष्पाद्य त्रितयं चैवं गोमयेनोपलेपयेत्॥

इस वचन में प्रदर्शित है। वास्तव में 'कुण्डदक्षिणतः' इसका अर्थ कुण्ड का वामेतर, अर्थात् दक्षिण पार्श्व है, कुण्ड की दक्षिण दिशा नहीं। जैसा कि कामिकागम के —

कूटं वा तु प्रपां वापि निधायैवं तदन्तरे।
षडङ्गुलोच्छ्रयोपेतं मेखलैकयुगाश्रकम्॥

कृत्वा कुण्डं विधानेन हस्तकं तन्मृदानिले।
संकल्प्य स्थण्डिले तद्वच्चिताखातं चतुष्करम्॥

हस्तद्वितयविस्तीर्णम् अष्टाङ्गुलगभीरकम्।
कुण्डं दक्षिणतः कुर्यान्निष्पाद्यैवं त्रयं गुरुः॥

इन वचनों में वर्णित है। इस चिताभूमि को पचीस पदों में विभक्त करना चाहिये। इनमें से बीच के पाँच पदों को, अर्थात् मध्यगत एक और उसकी पूर्व आदि चारों दिशाओं के एक-एक पदों को हरिद्रा (हलदी) के चूर्ण से पीला कर देना चाहिये। इसमें अपने अधिपति ब्रह्मा के साथ भूमि का पूजन करे। नैर्ऋत्य दिशा के चार पदों को तण्डुल (चाँवल) के पिष्ट (आटे) से श्वेत वर्ण में रंग कर उसमें जल के साथ उसके अधिपति नारायण की पूजा करे। आग्नेय दिशा के चार पदों को लाल रंग से रंग कर वहाँ अग्नि के साथ उसके अधिपति रुद्र का पूजन करे। वायु दिशा (कोण) के चार पदों को काले रंग से रंग कर वहाँ वायु के साथ उसके अधिपति ईश्वर की पूजा करे।

ईशान कोणगत चार पदों को हरे रंग से रंग कर वहाँ आकाश के साथ उसके अधिपति सदाशिव की आराधना करे। इसी तरह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में स्थित पदों को क्रमशः पीत, कृष्ण, श्वेत और रक्त वर्ण से रंग कर उनमें क्रमशः इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर की पूजा करे। इनके पदों को इन्द्र आदि देवताओं के वर्ण में ही रँगना चाहिये। कुण्ड के चतुरश्र भाग को पीत रंग से और उसके बीच के त्रिकोण भाग को कृशानु (अग्नि) के लाल रंग से रँगे। इनके अधिपतियों के रूप में मण्डप के मध्य में इन्द्र और अग्नि का पूजन करे। अन्यत्र इनमें ब्रह्मा और कालाग्निरुद्र के पूजन का विधान है। जैसा कि ज्ञानरत्नावली में बताया गया है —

कुण्डे च संस्कृते तत्र पीतेन चतुरश्रकम्।
ब्रह्माणं मध्यमेऽभ्यर्च्य तन्मध्ये च त्रिकोणकम्।
रक्तेन रजसा कृत्वा कालाग्निं तत्र पूजयेत्॥

इस प्रकार विरचित अन्त्येष्टि-स्थान में गुरु के द्वारा भलीभाँति दीक्षा-प्राप्त तथा दीक्षा-प्राप्ति के बाद शास्त्रविहित समयाचारों का सम्यक् पालन करने वाले आचार्य, साधक और पुत्रक के प्राणों का वियोग होने पर, अर्थात् इनकी मृत्यु हो जाने पर उनका अन्त्येष्टि-संस्कार किया जाता है। इनमें से समयाचार का पालन करने वाले आचार्य, साधक और पुत्रक की बिना षडध्वशुद्धि के अन्त्येष्टि की जाती है, क्योंकि दीक्षा के समय इनकी षडध्वशुद्धि हो जाती है। जो आचार्य, साधक और पुत्रक समयाचारों का पालन नहीं करते, उनकी अन्त्येष्टि षडध्व की शुद्धि के साथ की जाती है। ऐसे व्यक्तियों की भी दीक्षा के समय यद्यपि षडध्वशुद्धि हो जाती है, तो भी समयाचार का उल्लंघन करने से उनकी यह शुद्धि टिक नहीं पाती, अर्थात् उनमें पुनः मलिनता का प्रवेश हो जाता है। समयी की अन्त्येष्टि में अध्वशुद्धि नहीं की जाती, क्योंकि समय दीक्षा में अध्वशुद्धि का विधान नहीं है। जैसा कि ज्ञानरत्नावली के —

जीवान्ततत्त्वनिष्ठानां सदाचारवतां नृणाम्।
सिद्धान्तार्थविनोदेन कालेन नियतात्मनाम्॥

शिवाग्निना दहेद् देहं किन्तु तेषां क्रियावताम्।
अनाचारेण युक्तानामध्वशुद्धिर्विधीयते॥

साधकाचार्यपुत्राणां कुर्यादध्वविशोधनम्।
नैव तत्समस्थस्य कुर्याद् वा मोक्षकाङ्क्षिणः॥

इन वचनों में वर्णित है। शिवशास्त्र में निर्दिष्ट आज्ञा का, अर्थात् दीक्षित व्यक्ति को ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये, इस तरह के विधि-वाक्यों और निषेध-वाक्यों का बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक उल्लंघन करने पर अध्वशुद्धिपूर्वक अन्त्येष्टि

की जाती है। राजा, चोर आदि के भय के कारण हुआ आज्ञालंघन अबुद्धिपूर्वक तथा जानबूझ कर किया गया उल्लंघन बुद्धिपूर्वक कहलाता है। इसी तरह से जिनको समयाचार का पालन करने से फल की प्राप्ति होगी या नहीं? इस तरह की संदेह की दृष्टि बनी रहती है, उनकी भी अन्त्येष्टि षडध्वशुद्धि के साथ की जाती है। साथ ही जो व्यक्ति ऐहिक भोगों को भोगना चाहता है, उसके वर्तमान देह का आरंभ करने वाले कर्मों के बचे रहने के कारण साधक आदि की मलिनता की शुद्धि के लिये भी अध्वशुद्धि के साथ अन्त्येष्टि की जाती है। यहाँ 'बुद्धिपूर्वक' पद से 'अबुद्धिपूर्वक' पद का भी अध्याहार हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में समयाचार का लोप हो जाने पर और अपने अज्ञान के कारण उसका प्रायश्चित्त न किये जाने पर साधक आदि की अन्त्येष्टि अध्वशुद्धि के साथ ही की जाती है तथा आलस्य आदि के कारण समयाचार का उल्लंघन करने के उपरान्त प्रायश्चित्त कर लेने वालों की अन्त्येष्टि में अध्वशुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती। जैसा कि —

आचार्यसाधकावाप्तपुत्रकाः समयस्थिताः।
गतासवो यदा तेषां कार्याऽन्त्येष्टिस्तु दीक्षितैः॥

आचार्याद्यास्त्रयश्चैते यद्याचारविवर्जिताः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणा मृताश्चान्त्येष्टिकर्मणा॥

तत्त्वशुद्ध्या च नित्यादि कर्म सम्यगनुष्ठितम्।
परिहृत्य निषिद्धं च यैस्तेषामप्रमादिनाम्॥
तत्त्वशुद्धिं विहायैव केवलान्त्येष्टिरुच्यते॥

कामिकागम के इन वचनों में प्रतिपादित है।

दीक्षित व्यक्ति यदि जानबूझ कर समयाचार का उल्लंघन करते हैं और जानते हुए भी प्रायश्चित्त नहीं करते, तो षडध्वशुद्धि के साथ की गई अन्त्येष्टि भी उनके पापों का शोधन नहीं कर पाती। ऐसा मानने पर तो पूरे प्रायश्चित्त शास्त्र की ही व्यर्थता सिद्ध हो जायगी। फिर ऐसा मानना आगमशास्त्र के भी विपरीत पड़ेगा, क्योंकि— ''समयोल्लङ्घनात् प्रोक्तं क्रव्यादत्वं शतं समाः'' (सा. का. २५. २) ऐसा शास्त्रवचन उपलब्ध है। इस प्रसंग में शंका उठती है कि ऐसा मानने पर तो यह सिद्ध हो जायगा कि बुद्धिपूर्वक समयाचार का उल्लंघन करने के उपरान्त प्रायश्चित्त न करने वाले दीक्षित व्यक्तियों की अन्त्येष्टि के समय अध्वशुद्धि नहीं करनी चाहिये, किन्तु ऐसी बात नहीं है। षडध्वशुद्धि तो करनी ही चाहिये, क्योंकि इसके करने पर ही सैकड़ों वर्षों तक पिशाच योनि में रहने के उपरान्त शिवपद की प्राप्ति संभव हो सकेगी। इससे यह विषय भी स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिपूर्वक समयाचार का लोप हो जाने पर जिन्होंने प्रायश्चित्त

कर लिया है, उनकी षडध्वशुद्धि-पूर्वक अन्त्येष्टि करनी ही चाहिये, क्योंकि उन्होंने समयाचार का लोप जान-बूझ कर किया है। जैसा कि द्विशतिकालोत्तर में बताया गया है—

दीक्षितस्तूत्तरे काले समयान् यस्तु लङ्घयेत्॥
देवस्य च गुरूणां च महापातकभाग् भवेत्।
अमुक्तसंशया ये च ये चान्ये समयात्मकाः॥
तेषां पापापनोदार्थमन्त्येष्टिः कथिता मया।
(सा. का. २६. ६-८)

इसकी वृत्ति में बताया गया है कि दीक्षा ग्रहण कर लेने के उपरान्त अज्ञानवश समयाचार का उल्लंघन हो जाने पर और इस अज्ञान के कारण ही प्रायश्चित्त न करने पर इसकी शुद्धि के लिये अन्त्येष्टि के समय षडध्वशुद्धि का विधान है। इससे जान-बूझकर किये गये गुरुद्रोह जैसे पापों की शुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मान लेने पर समस्त प्रायश्चित्त-शास्त्रों की व्यर्थता सिद्ध हो जायगी। यहाँ पर इस श्रुति का विरोध भी स्पष्ट ही है — "समयोल्लङ्घनात् प्रोक्तं क्रव्यादत्वं शतं समाः" (सा. का. २५. २)।

षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया के साथ अन्त्येष्टि-संस्कार को कर लेने के उपरान्त शिवश्राद्ध कर लेने पर ही दीक्षा की विधि सम्पूर्णता को प्राप्त कर पाती है। दो विश्वेदेव देवताओं और तीन अन्य देवताओं की तृप्ति के लिये श्राद्ध किया जाता है। शिवशास्त्र में रुद्र और अनन्त का दो विश्वेदेवों के रूप में तथा पिता, पितामह और प्रपितामह का ईश, सदाशिव और शान्त नामक तीन देवताओं के रूप में आराधन किया जाता है। इन पितृगणों का तर्पण और इनके निमित्त भोजन आदि का विधान ही शिवश्राद्ध के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार के श्राद्ध का आयोजन करने से ही शिवदीक्षा सफल होती है। इससे यह सूचित होता है कि दीक्षित व्यक्ति का भी श्राद्ध अवश्य होना चाहिये, क्योंकि इससे पितृ-ऋण से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। पुत्र और शिष्य आदि के द्वारा अपने पिता और गुरुजन के निमित्त सत्पात्र को जो भोजन, दक्षिणा आदि दी जाती है, उसे ही श्राद्ध कहते हैं। जैसा कि —

शिवश्राद्धविधिं वक्ष्ये गुर्वादीनामृणापहम्।
ऋणमस्खलिताचारो मुनीनामपि नित्यशः॥
गुर्वादीनामृणं दद्याद् दीक्षितः श्राद्धकर्मणा।
श्रद्धया दीयते शिष्यैर्गुरूनुद्दिश्य यद्धनम्।
सत्सु पात्रेषु विद्वद्भिस्तद्धि श्राद्धमुदाहृतम्॥

इस वचन में प्रतिपादित है। रुद्र और अनन्त नामक विश्वेदेव तथा ईश, सदाशिव और शान्त संज्ञक पिता, पितामह और प्रपितामह के निमित्त क्रियमाण श्राद्ध को शिवश्राद्ध कहते हैं। कामिकागम में यह प्रसिद्ध है —

ईशः सदाशिवः शान्तः शिवशास्त्रे प्रकीर्तिताः ।
रुद्रोऽनन्तश्च कथितौ विश्वेदेवा इति द्विजाः ॥

यही विषय अन्यत्र भी प्रदर्शित है —

ईशः सदाशिवः शान्तः शिवश्राद्धमुदीरितम् ।
तत्राह्वानं हृदा कार्यमीशस्य पितृसंज्ञया ॥

सदाशिवं स्वमन्त्रेण कल्पयेत्तु पितामहम् ।
शिवः स्वसंज्ञसूत्रेण कल्पयेत् प्रपितामहम् ॥

शिवधर्मिणी दीक्षा से सम्पन्न व्यक्ति के लिये यह विधान है। लोकधर्मिणी दीक्षा को प्राप्त कर रुद्रपद को प्राप्त व्यक्ति के लिये नन्दी और महाकाल की विश्वेदेव के रूप में तथा चण्ड, स्कन्द और गणाधीश की पितरों के रूप में आराधना की जाती है। भुवनेशपद को प्रदान करने वाली लोकधर्मिणी दीक्षा को प्राप्त व्यक्ति के लिये यम और अरुण की विश्वेदेव के रूप में तथा ब्रह्मा, विष्णु और ईश्वर की पितरों के रूप में पूजा की जाती है। जैसा कि सोमशम्भु की पद्धति में वर्णित है —

ईशः सदाशिवः शान्तः शिवश्राद्धे तपस्विनः ।
रुद्राह्वयश्च नागश्च विश्वेदेवौ स्थितौ द्वयौ ॥

दीक्षितानाममी देवा रुद्रांशानामतोऽन्यथा ।
तत्र नन्दिमहाकालौ विश्वेदेवौ गणौ द्वयौ ॥

चण्डस्कन्दगणाधीशा गणास्त्रिषु यथाक्रमम् ।
लौकिके ब्रह्मविष्णवीशा विश्वेदेवौ यमारुणौ ॥

पञ्चाभावे तु सर्वत्र पूज्यते पुरुषद्वयम् ।
शिरस्कन्धविभागेन त्रयमेकत्र कल्पयेत् ॥

बाहुमूलविभेदेन विश्वेदेवौ द्वितीयके ।
एकत्र बाहुयुग्मेन सह वा पञ्च कल्पयेत् ॥
(श्लो. ११७९-११८३)

यह श्राद्ध नित्य आदि के भेद से पाँच प्रकार का होता है। जैसा कि —

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिः पार्वणमेव च।
प्रोक्तं पञ्चविधं श्राद्धं ज्ञात्वा कर्म समाचरेत्॥

नित्यं दद्यादहरहो निमित्तं स्यान्मृतेऽहनि।
कामाय तु हितं काम्यं कुम्भे पार्वणमिष्यते॥

वृद्धिश्राद्धं विवाहादावेवं पञ्चविधं भवेत्।

कामिकागम के इस वचन में पंचविध श्राद्धों का लक्षण बताया गया है॥ १५-१७॥]

प्रतिष्ठा, स्थापन, स्थितस्थापन, उत्थापन और आस्थापन के भेद से शिवलिंग की प्रतिष्ठा के पाँच भेदों को अब बताते हैं —

पीठं लिङ्गमुमा शिवस्तदनयोर्योगः प्रतिष्ठोदिता
विध्युक्तः परदृक्क्रियात्मकतनुः सा पञ्चधैवोदिता ।
लिङ्गे ब्रह्मशिलादिके शिवयुते पीठे स्थितस्थापनं
बाणे स्थापनमेव बेरजमनु यच्चास्थापनोत्थापने ।।१८।।

शिवपूजा के लिये शिला आदि से बनाया गया **पीठं** पीठ नामक आसन **उमा** शक्तिस्वरूप है। **लिङ्गं** उस पीठ के ऊपर स्थित लिंग **शिवः** शिवस्वरूप है। **तदनयोः** इन दोनों का (पीठ और लिंग का) **विध्युक्तः** शैवागमों में निर्दिष्ट विधान के अनुसार किया गया **योगः** संबन्ध ही **प्रतिष्ठा उदिता** प्रतिष्ठा कही जाती है। **परदृक्क्रियात्मकतनुः** क्रमशः श्रेष्ठ ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की सम्पन्नता के अनुसार **सा** वह पीठ-लिंग संयोग रूप प्रतिष्ठा **पञ्चधा** पाँच प्रकार की **उदिता** कही गई है। जैसे कि **ब्रह्मशिलादिके** ब्रह्मशिला आदि से बने **लिङ्गे** लिंग में की गई शास्त्रविधि प्रतिष्ठा के नाम से कही गई है। **शिवयुते** लिंग में अभिन्न रूप से स्थित **पीठे** स्फटिक आदि से बने पीठ में मन्त्रोच्चारपूर्वक किया गया संयोग **स्थितस्थापनं** स्थितस्थापन नाम से कहा जाता है। **बाणे** बाण लिंग में किया गया संयोग **स्थापनं** स्थापन नाम से शास्त्रों में उक्त है। **बेरजं** सदाशिव आदि की मूर्ति (बिम्ब) में की गई शास्त्रविधि **आस्थापनं** आस्थापन कहलाती है। **किञ्च** और **अनु यत्** लिंग और पीठ के संयोग के पुराने पड़ जाने पर उसका जो पुनः संस्कार किया जाता है, (तद्) **उत्थापनं** उसको उत्थापन नाम से जाना जाता है।।१८।।

पीठ और लिंग का निर्माण शिला आदि से भगवान् शिव की पूजा के आधार के रूप में किया जाता है। इनमें पीठ भगवती उमा (पार्वती) का और लिंग शिव का स्वरूप है। इन दोनों स्वरूपों की शास्त्रोक्त विधि से की गई स्थापना 'प्रतिष्ठा' कहलाती है। प्रतिष्ठा शब्द का अर्थ यह है कि इस क्रिया को करने से देवगण उस मूर्ति आदि में विशेष रूप से रहते हैं। पीठ और लिंग में शिवशक्ति की प्रतिष्ठा हो जाने पर वह उत्कृष्ट ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। यहाँ ज्ञानशक्ति-स्वरूप देह का लक्ष्य लिंग और क्रियाशक्ति-स्वरूप देह का लक्ष्य पीठ है। इन दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले शिवाचार्य के द्वारा शास्त्रोक्त विधि से गुणप्रधान-भाव को ध्यान में रखते हुए जो इनका परस्पर संयोजन किया जाता है, उसी को प्रतिष्ठा कहते हैं, क्योंकि शिव साक्षात् स्वयं चिद्घन (ज्ञान) स्वरूप हैं। वे अपने में समवाय संबन्ध से विद्यमान परसंवित्-स्वरूप ज्ञानशक्ति की सहायता से ही इस प्रपंचात्मक जगत् के कर्ता और करण भी हैं। मतंगागम के— "अथ पत्युरधिष्ठानं स्वशक्तिकरणात्मकम्" इस वचन में यही विषय वर्णित है। इसीलिये भगवान् शिव शक्ति के अधिष्ठान के रूप में और शक्ति को ही अपना देह बनाकर दो रूपों में, अर्थात् कर्ता और करण के रूप में सर्वत्र भासित होते हैं। प्रतिष्ठा के द्वारा इन दोनों स्वरूपों की अभिव्यक्ति होती है। यह प्रतिष्ठा पाँच प्रकार की है। वरुणशिव ने —

ज्ञानशक्त्यात्मके लिङ्गे क्रियाशक्तेः समर्पणम्।
पीठस्य विधिना योगः प्रतिष्ठा सा च पञ्चधा॥

यहाँ यही कहा है। ब्रह्मशिला आदि से बने लिंग में शास्त्रोक्त विधि से किया गया संस्कार प्रतिष्ठा कहलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रतिष्ठा में आधारशिला की स्थापना के साथ उस आधारशिला के गर्त में लिंगभाग का प्रवेश करा कर पिण्डिका के साथ उसको जोड़ दिया जाता है, उसे ही प्रतिष्ठा कहते हैं। जैसा कि बताया गया है —

प्रतिष्ठा स्थापनं तद्वत् स्थितस्थापनमेव च।
आस्थापनं चतुर्थं तत् प्रोक्तमुत्थापनं ततः॥

प्रतिष्ठा पञ्चधा ह्येवं प्रोच्यते तद्विनिर्णयः।
यत्र ब्रह्मशिलामध्ये लिङ्गमादौ विधाय च॥

अव्यक्तं मुखलिङ्गं वा पीठबन्धं विधाय च।
शुद्धलग्नं समासाद्य योगः पिण्डिकया सह॥

क्रियते सा प्रतिष्ठा स्यात्.....................।

यहाँ प्रतिष्ठा के लक्षण के साथ उसके पाँच भेदों के नाम भी बताये गये हैं। स्थितस्थापन आदि का लक्षण ग्रन्थकार ही बताते हैं। 'शिवयुते' पद में शिव शब्द लिंग का बोधक है। स्फटिक आदि में एक साथ बने हुए लिंगसहित पीठ में जो प्रतिष्ठा की जाती है, वह स्थितस्थापन कहलाती है। जैसा कि कहा गया है —

अभिन्नपिण्डिके लिङ्गे स्फटिकादौ विधीयते।
संस्कारो मानसो यत्र स्थितस्थापनमुच्यते॥

बाणलिंग में की गई प्रतिष्ठा स्थापन कहलाती है। जैसा कि —

धातुरत्नमयं लिङ्गं बाणं वा लोहसम्भवम्।
लिङ्गं तत्पञ्चधा कृत्वा त्रिधा वा संविभज्य च॥

भागद्वयमथैकं वा ज्ञात्वा लिङ्गबलाबलम्।
स्थापिते पिण्डिकामध्ये स्थापनं तदुदाहृतम्॥

यहाँ स्थापन नाम की प्रतिष्ठा का स्वरूप प्रदर्शित है। 'बेरज' पद का अर्थ है सदाशिव मूर्ति आदि का बिम्ब। इसमें की गई प्रतिष्ठा आस्थापन कहलाती है। जैसा कि बताया गया है —

चतुर्हस्तादिकं लिङ्गं व्यक्तलिङ्गमथापि वा।
पीठपिण्डिकया युक्तं कृत्वा प्रासादमध्यगम्॥
संस्कारः क्रियते यत्र तदास्थापनमीरितम्।

इसी तरह से जीर्ण लिंग का अथवा जमीन में दबे हुए लिंग का उद्धार कर जो पुनः संस्कार किया जाता है, वह उत्थापन नामकी प्रतिष्ठा कहलाती है। जैसा कि कहा गया है —

व्यग्रादिदोषदुष्टं यल्लिङ्गमुद्धृत्य यत्नतः।
अन्यत् स्थापनकं यत्र तदुत्थापनमुच्यते॥
एवं पञ्चविधा प्रोक्ता शिवलिङ्गस्य सूरिभिः।

इस प्रकार यहां पंचविध प्रतिष्ठा का स्वरूप सप्रमाण प्रतिपादित है॥ १८॥

शिवपूजा के लिये प्रमुख लिंगों के लक्षणों का आगम-ग्रन्थों में बहुत विस्तार है। उन सबका वर्णन करने पर यह ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जायगा। इस भय से यहाँ उनमें से आढ्य, अनाढ्य, सुरेड्य और सर्वसम नामक चार लिंगों का ही लक्षण बताते हैं —

सार्धाशावसुसार्धसिन्धुचरणोनागाद्रिसाङ्घ्र्यष्टको-
दन्वन्मङ्गलनन्ददिक्फणिनगैस्त्र्यंशोन्नतिस्त्र्यष्टके ।
दैर्घ्ये चेद् विकृतौ रसाक्षजलधिस्त्र्यंशान्वितेष्वंशकै-
राढ्यानाढ्यसुरेड्यसर्वसमके लिङ्गे विदुर्विस्तृतिम् ।।१९।।

इस श्लोक में **आढ्यानाढ्यसुरेड्यसर्वसमके** इस द्वन्द्व-समासान्त पद में चार शब्द हैं। इनकी सप्तम्यन्त पद के रूप में अलग व्याख्या कर अर्थ किया जायगा। आढ्य, अनाढ्य, सुरेड्य और सर्वसम नामक चार लिंगों में क्रमशः ब्रह्मभाग, विष्णुभाग, रुद्रभाग — इन तीनों भागों के ऊँचाई के परिमाण की पूर्वार्ध में स्थित तृतीयान्त समास पद से जानकारी दी गई है। इसीलिये इन समास-पदों में मिले हुए बारह शब्दों के चार भाग करके आढ्य आदि चार लिंगों से उनको जोड़ा जाता है। बारह पदों के चार विभाग करने पर एक-एक राशि में तीन-तीन पद आते हैं। हर एक राशि में छिपे हुए इन तीन-तीन पदों में आढ्य आदि चार लिंगों के ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग को और उनके औन्नत्य को क्रमशः दिखाया गया है। इनमें से सार्धाशा, वसु और सार्धसिन्धु ये पहले तीन पद आढ्य नामक पहले लिंग के ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग के औन्नत्य परिमाण को क्रम से दिखाते हैं। चरणोनाग, अद्रि और साङ्घ्र्यष्टक ये दूसरे तीन पद अनाढ्य नामक दूसरे लिंग के ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग के औन्नत्य परिमाणों को क्रम से दिखाते हैं। उदन्वत्, मंगल और नन्द ये तीन पद तीसरे सुरेड्य नामक तीसरे लिंग के ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग के औन्नत्य परिमाणों को क्रम से दिखाते हैं। जैसे कि —

आढ्यलिङ्गे आढ्य नामक लिंग में **त्र्यष्टके** (कृते सति) तीन आठ, अर्थात् चौबीस भाग करने पर **त्र्यंशोन्नतिः** ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग का औन्नत्य प्रमाण इस प्रकार होगा — **सार्धाशा** चौबीस विभागों में विभक्त लिंग के मूल-भाग में चतुरस्र ब्रह्मभाग का प्रमाण साढे आठ भाग का, **वसु** मध्य भाग के आठ कोणों में स्थित विष्णुभाग का प्रमाण आठ भाग का और **सार्धसिन्धु** ऊपर के वर्तुल भाग में रुद्रभाग का साढे सात विभाग का औन्नत्य रहता है। यह चौबीस भागों में विभक्त आढ्य लिंग के ब्रह्मा आदि के भागों का औन्नत्य प्रमाण है। **अनाढ्ये लिङ्गे** अनाढ्य नामक दूसरे लिंग

में **चरणोन-अग** ब्रह्मभाग का औन्नत्य एक पाद कम आठ भाग (पौने आठ भाग) का, **अद्रि** मध्य का विष्णुभाग आठ विभाग का और **साङ्घ्र्यष्टक** रुद्रभाग का औन्नत्य एक पाद सहित आठ विभाग (सवा आठ) का रहता है। **सुरेड्ये लिङ्गे** सुरेड्य नामक तीसरे लिंग में **उदन्वत्** ब्रह्मभाग का औन्नत्य सात विभाग का, **मङ्गल** विष्णुभाग का औन्नत्य आठ विभाग का और **नन्द** रुद्रभाग का औन्नत्य नौ विभाग का रहना चाहिये। **सर्वसमके लिङ्गे** सर्वसम नामक लिंग में **दिक्** मूल में स्थित ब्रह्मभाग का औन्नत्य आठ विभाग का, **फणि** मध्य के विष्णुभाग का औन्नत्य आठ भाग का और **नग** ऊपर के रुद्रभाग का औन्नत्य भी आठ ही विभाग का रहता है, अर्थात् सर्वसम लिंग में ब्रह्मा आदि के तीनों भागों की ऊँचाई बराबर रहती है। इसीलिये इसकी 'सर्वसम' संज्ञा इस शब्द के अर्थ के अनुकूल (अन्वर्थक) है।

इस तरह से चार प्रकार के लिंगों के ब्रह्मा आदि के तीन भागों का यह तीन तरह का नाप **दैर्घ्ये** औन्नत्य (ऊँचाई) के नाप के अनुसार होता है, **चेत्** यदि इनकी चौड़ाई को जानना है, तो वह इस प्रकार होगी — **त्र्यंशान्वितेषु** ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीनों भागों को मिलाकर चार प्रकार के लिंगों की चौड़ाई के **विकृतौ** सोलह भाग करने पर **रस** आढ्य लिंग में तीनों का विभाग छः छः विभाग का, अनाढ्य लिंग में **अक्ष** पाँच-पाँच विभाग का, **जलधि** सुरेड्य लिंग में चार-चार विभाग का नाप रहना चाहिये। **अंशकैः** चौथे सर्वसम लिंग की चौड़ाई का प्रमाण भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भागों में समान रूप से रहता है। (इति) इस प्रकार **विस्तृतिं** चारों लिंगों की चौड़ाई के नापों को **विदुः** शैवशास्त्रों के अध्येता जानते हैं।।१९।।

चल और अचल के भेद से लिंग की दो प्रकार की प्रतिष्ठा की जाती है। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं— व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त और अव्यक्त। समग्र आकार वाला लिंग व्यक्त, सकल-निष्कल मुखलिंग व्यक्ताव्यक्त और निष्कल लिंग अव्यक्त कहलाता है। गृहस्थ के घर में पूजित लिंग चल और प्रासाद (मन्दिर) में स्थापित लिंग अचल, अर्थात् स्थिर कहलाता है। स्वायम्भुव, दैविक, गाणक, आर्ष और मानुष के भेद से यह पाँच प्रकार का है। **सिद्धान्तशेखर में** —

तल्लिङ्गं द्विविधं प्रोक्तमचलं च चलं तथा।
प्रत्येकं त्रिविधं ज्ञेयं व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकम्॥

प्रासादे स्थापितं लिङ्गमचलं तच्छिलादिकम्।
स्थापितं तच्चलं गेहे स्थिरलिङ्गमथोच्यते॥

पञ्चधा तत्स्थिरं लिङ्गं स्वयम्भुर्दैवगाणकम्।
आर्षं च मानुषं लिङ्गं तेषां लक्षणमुच्यते॥

स्फटिक, रत्न आदि से निर्मित लिंगों का लक्षण ज्ञानरत्नावली, सिद्धान्तशेखर आदि ग्रन्थों में बता दिया गया है, अतः उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया। एक हस्त से लेकर नौ हाथ तक के शिला आदि से निर्मित लिंगों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। जैसा कि —

एकहस्तं द्विहस्तं वा त्रिहस्तं कन्यसं त्रिधा।
चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिर्हस्तैः स्यान्मध्यमं तथा।
सप्ताष्टनवभिर्हस्तैरुत्तमं त्रिविधं स्मृतम्॥

इस तरह के नवविध लिंगों की लम्बाई को चौबीस हिस्सों में बाँट दिया जाता है। इनमें से आढ्य लिंग के ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अंशों का प्रमाण क्रमशः साढे आठ, आठ और साढे सात अंश का रहता है। यहाँ ब्रह्मांश को चतुरश्र बनाया जाता है। जैसा कि कहा गया है —

लिङ्गायामार्जनं कृत्वा सार्धाष्टांशैः कजासनम्।
सार्धसप्तभिरैशं स्यादाढ्ये वस्वंशको हरिः॥

यहाँ 'लिङ्गायामार्जन' का अर्थ चौबीस भाग (अंश) और कजासन का अर्थ ब्रह्मांश है। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भागों का आकार क्रमशः चतुरश्र, अष्टाश्र और वृत्त बनाया जाता है। जैसा कि सिद्धान्तशेखर में वर्णित है —

आयामैर्निश्चितं लिङ्गं त्रिभागं तत्प्रकल्पयेत्।
मूले मध्ये तथोर्ध्वे च ब्रह्मविष्णुहरांशकाः॥

ब्रह्मांशं चतुरश्रं स्यादष्टाश्रं विष्णुभागकम्।
कुर्याद् वृत्तं तु रुद्रांशं षोडशाश्रमथापि वा॥

द्वात्रिंशदश्रसंयुक्तं चतुःषष्ट्यश्रसंयुतम्।
नपुंसकं भवेद् ब्राह्मं स्त्रीलिङ्गं विष्णुभागकम्॥

पुंलिङ्गं रुद्रभागं च त्रिविधं तत्प्रकल्पयेत्।

अनाढ्य लिंग के ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भागों की ऊँचाई का प्रमाण क्रमशः पौने आठ अंश, आठ अंश और सवा आठ अंश का होगा। इस तरह से अनाढ्य लिंग का आकार बनेगा। जैसा कि कहा गया है —

सपादाष्टांशकैस्त्र्यक्षश्चक्री स्यान्मङ्गलांशतः ।
पादोनाष्टांशतो ब्रह्मा कार्यमेवमनाढ्यकम् ॥

सुरेड्य लिंग के ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भागों की ऊँचाई का प्रमाण यथाक्रम सात अंश, आठ अंश और नौ अंश का होगा। यह सुरेड्य लिंग का स्वरूप है। जैसा कि कहा गया है —

ग्रहांशेन हरोच्छ्रायं विष्णुमष्टांशकैस्ततः ।
ब्रह्मांशं सप्तभागेन कुर्यादेवं सुरार्चितम् ॥

सर्वसम लिंग के ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भागों की ऊँचाई का प्रमाण सर्वत्र समान रहता है। दिक्, फणि और नग — ये तीनों शब्द आठ की संख्या के द्योतक हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सर्वसम लिंग के तीनों भागों का प्रमाण एक सा रहता है। इसीलिये इसको सर्वसम कहा जाता है। कामिकागम में इसका स्वरूप ऐसे बताया गया है —

लिङ्गायामं त्रिधा कृत्वा ब्रह्मांशस्त्वेकभागतः ।
विष्ण्वंशस्तद्वदेव स्याद् रुद्रांशो भाग एव च ॥

एकांशसदृशस्तारः समखण्डोऽयमीरितः ।

आढ्य, अनाढ्य, सुरेड्य और सर्वसम लिंगों के विस्तार को अब बताते हैं। लिंग की चौड़ाई को यदि सोलह हिस्सों में बाँटा जाय, तो आढ्य लिंग की चौड़ाई छः भागों की, अनाढ्य लिंग की पांच भागों की और सुरेड्य लिंग की चार भागों की होगी। सर्वसम लिंग में इसका विस्तार सोलह भाग का तिहाई होगा, अर्थात् पाँच भाग पूरा और एक भाग का तिहाई अंश होगा। आढ्य, अनाढ्य, सुरेड्य और सर्वसम लिंगों के इस विस्तार की चर्चा सिद्धान्तशेखर में भी इसी रूप में की गई है —

दैर्घ्यं षोडशधा कुर्याल्लिङ्गानां त्रित्रिकस्य च ।
आढ्यलिङ्गस्य विस्तारो ब्रह्मांशे तु षडंशकैः ॥
अनाढ्ये पञ्चभिर्भागैश्चतुर्भिश्च सुरार्चिते ।

यहाँ ब्रह्मभाग के विस्तार को ही दिखाया गया है, विष्णु आदि के भाग को नहीं, अतः इनका समान विस्तार करना चाहिये। जैसा कि कहा गया है —

ऊर्ध्वमानं समाख्यातं विस्तारः कथ्यतेऽधुना।
दैर्घ्यं षोडशधा कृत्वा षट्पञ्चचतुरंशकैः॥

विस्तारं चतुरश्रं स्यादाढ्येऽनाढ्ये सुरार्चिते।
स च सर्वसमे कार्यस्त्र्यंशकैः पञ्चभिः पुनः॥

मोहशूरोत्तर में भी इसका वर्णन मिलता है —

नागभक्ते च लिङ्गार्धे रसबाणकृतौ भवेत्।
आढ्यानाढ्यसुरड्येषु विष्कम्भः सर्वतः समे॥

सत्रिभागैर्भवेद् बाणैर्ब्रह्माङ्गं चतुरश्रकम्।

इस तरह से ब्रह्मभाग का विस्तार आढ्य आदि के क्रम से छः, पाँच और चार अंशों में करे और विष्णु एवं रुद्र के भाग के विस्तार को बाकी बचे अंशों में बराबर बाँट दे। ब्रह्मभाग का आकार चतुरश्र, विष्णु का अष्टाश्र और रुद्र का वर्तुल बनाया जाता है। यही विषय **कारणागम** में भिन्न पद्धति से वर्णित है —

एवं लिङ्गोच्छ्रयं प्रोक्तं वक्ष्ये लिङ्गस्य विस्तरम्।
लिङ्गस्योत्सेधमानार्धमष्टधा विभजेत् ततः॥

विष्कम्भः पञ्चभागः स्यादधस्ताच्चतुरश्रकम्।
अधस्ताच्चतुरश्रं तु ब्रह्मभागं तदुच्यते॥

अष्टाश्रं मध्यमं ज्ञेयं विष्णुभागं तदुच्यते।
ऊर्ध्वं सुवृत्तभागस्तु रुद्राङ्गमिति कीर्तितम्॥

इस प्रकार यहाँ चतुर्विध लिंगों की ऊँचाई और चौड़ाई का विचार किया गया है॥१९॥

ऊपर बताये गये चारों प्रकार के लिंगों के शिरोभाग का आकार अब कहते हैं —

चन्द्रार्धमाढ्ये त्रिपुषं त्वनाढ्ये लिङ्गे सुरेड्ये चरणायुधाण्डम् ।
छत्रं शिरः सर्वसमेऽपि कुर्यात् पृथक् पृथग् भिन्नवपुश्चतुर्धा ।।२०।।

आढ्ये लिङ्गे आढ्य लिंग का **शिरः** शिरोभाग **चन्द्रार्धं** अर्धचन्द्र के समान आकार वाला, **अनाढ्ये (लिङ्गे)** अनाढ्य लिंग का **त्रिपुषं** ककड़ी के

आकार का, **सुरेड्ये** (लिङ्गे) सुरेड्य लिंग के शिरोभाग का आकार **चरणायुधाण्डं** मुर्गी के अंडे के आकार का, **सर्वसमे** (लिङ्गे) सर्वसम लिंग के शिरोभाग का आकार **छत्रं** छाते के सरीखा **कुर्यात्** बनाना चाहिये। (इदं) इस तरह से अभी कहे गये इन चारों तरह के लिंगों के शिरोभाग का आकार **पृथक् पृथक्** अलग-अलग होने से **चतुर्धा** चार प्रकार के लिंगों के **भिन्नवपुः** चार भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वरूप हो जाते हैं।।२०।।

शिवलिंग के शिरोभाग का आकार चार तरह का बनाया जाता है। ये आकार हैं — छत्र, त्रिपुष, चन्द्रार्ध और कुक्कुटाण्ड। लिंग के शिरोभाग को आठ खण्डों में बाँट कर उसमें से एक भाग का त्याग चारों तरफ कर दिया जाय, तो ऐसा करने पर छात्राकार का; शिरोभाग को तीन खण्डों में विभक्त कर चारों तरफ एक भाग का त्याग करने पर अर्धचन्द्राकार का; शिरोमान को छः भागों में बाँट कर चारों तरफ से सवा एक भाग का त्याग करने पर त्रिपुष नामक आकार का; शिरोभाग को चार भागों में विभक्त कर चारों तरफ से एक भाग का त्याग करने पर कुक्कुट के अंडे के जैसा आकार बन जाता है। मृगेन्द्रागम का यह वचन —

विभाज्यमथ सिद्ध्यर्थं शिरोऽष्टाग्निरसस्वराः।
भागं समन्ततो जाग्रत् त्रिपुषाख्ये सपादकम्॥

इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। अन्यत्र भी यही विषय प्रदर्शित है —

अष्टांशस्यैकसंत्यागाच्छत्राकारं भवेच्छिरः।
रसभक्ते सपादैकशातनात् त्रिपुषाकृतिः॥
श्रुत्यंशस्य परित्यागात् कुक्कुटाण्डं भवेच्छिरः।
गुणभक्तेंऽशसंत्यागाद् बालेन्दुः स्यात् परिस्फुटम्॥

यहाँ त्रिपुष पद से उर्वारुक फल (ककड़ी) का ग्रहण किया जाता है। ककड़ी के शिर के जैसा आकार त्रिपुषाकार कहलाता है। इस प्रकार लिंग के शिरोभाग का आकार चार तरह का बनाया जाता है। आढ्य लिंग के सिर का आकार अर्धचन्द्र के जैसा, अनाढ्य का ककड़ी के सिर का जैसा, सुरेड्य लिंग का कुक्कुट के अण्डे के जैसा और सर्वसम लिंग के शिरोभाग का आकार छत्र के सदृश बनाना चाहिये। अन्यत्र भी —

कं त्रिधा विभजेत् पूर्वं पार्श्वभागार्धविच्युतात्।
कोणसूत्रक्रमेणैव भ्रमणादर्धचन्द्रकम्॥

आढ्यस्यैव तु कर्तव्यमनाढ्यस्य तु षण्मुखम्।
पुनरस्य भवेल्लिङ्गे षोढा भक्ते तु मस्तके॥

भागद्वयपरित्यागात् त्रिपुषं मस्तकं तथा।
अनाढ्यस्य प्रकर्तव्यमाढ्यस्य तु कदाचन॥

कुक्कुटाण्डं समाख्यातं सुरेड्यस्य न चान्यथा।
चतुर्भागात्मके लिङ्गे चतुर्थांशपरिक्षयात्।
छत्रं चतुर्धा कथितं तथा सर्वसमे हितम्॥

इन छत्र आदि चतुर्विध शिरोभागों के आधार पर लिंग की आकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जैसा कि निम्न वचन में बताया गया है —

छत्रं कुक्कुटमर्धेन्दु त्रिपुषं लिङ्गमस्तकम्।
एकैकस्य चतुर्भेदः कथ्यते चागमोदितः॥

अष्टमांशे चतुर्भक्ते भागैकैकविलोपनात्।
विमलं विपुलं नाम वर्तमानं तृतीयकम्॥

श्रीवत्सं च चतुर्थं स्यात् कुक्कुटाण्डं चतुर्विधम्।
तृतीयांशे चतुर्भक्ते भागभागविशातनात्॥

अमृतं पूर्णकुम्भं च बलं कुमुदसंज्ञकम्।
इत्थं चतुर्विधं चन्द्रशिरः सर्वमभीष्टदम्॥

षष्ठेंऽशे तु युगैर्भक्ते भागैकैकनिकृन्तनात्।
विजयं च विमानं च भीमाख्यं मित्रसंज्ञकम्॥

इत्थं चतुर्विधं ज्ञेयं त्रिपुषाख्ये समादकम्।

[इस उद्धरण में छत्राकार शिरोभाग वाले लिंगों का विवरण नहीं दिया गया है]॥२०॥

आढ्य और सुरेड्य लिंगों में चिह्नों की संख्याविशेष का और सर्वसम लिंग में मुखलिंग की संख्याविशेष का विवरण अब देते हैं —

एकाधिकं लिङ्गसहस्रमाढ्ये त्वष्टोत्तरं लिङ्गशतं सुरेड्ये ।
विशेषतः सर्वसमे सवक्त्रमाढ्येऽप्यनाढ्येऽपि न देवपूज्ये ।।२१।।

आढ्ये आढ्य लिंग में **एकाधिकं लिङ्गसहस्रं** एक हजार एक लिंगों की **कुर्यात्** रचना करे। **सुरेड्ये** सुरेड्य लिंग में **अष्टोत्तरं लिङ्गशतं** एक सौ आठ लिंगों का (कुर्यात्) निर्माण करे। **विशेषतः** विशेष रूप से **सर्वसमे**

सर्वसम लिंग को **सवक्त्रं** पाँच मुखों का (कुर्यात्) बनावे। **आढ्येऽपि** आढ्य लिंग में भी, **अनाढ्येऽपि** अनाढ्य लिंग में भी **देवपूज्ये** और सुरेड्य लिंग में भी **वक्त्रं न** (कुर्यात्) मुख नहीं बनाना चाहिये।।२१।।

आढ्य लिंग में एक हजार एक और सुरेड्य लिंग में एक सौ आठ लिंगों का निर्माण किया जाता है। इसकी विधि यह है कि आढ्य लिंग में उसके अंग के रूप में एक हजार एक लिंगों का निर्माण करते समय रुद्रभाग की ऊँचाई को ग्यारह भागों में विभक्त कर फिर प्रत्येक भाग के विस्तार को चारों तरफ इक्यानबे (९१) भागों में विभक्त करे। इस प्रकार विभक्त किये गये प्रत्येक भाग में अलग-अलग लिंग के आकार को अंकित करने से एक हजार एक लिंग बन जायेंगे। इसी तरह से सुरेड्य लिंग में एक सौ आठ लिंगों का निर्माण करने के लिये इसके रुद्रभाग की ऊँचाई को चार भागों में विभक्त कर फिर प्रत्येक भाग के विस्तार को चारों तरफ से २७-२७ भागों में विभक्त करे। इन विभक्त भागों में से प्रत्येक में लिंग के आकार को अंकित करने पर एक सौ आठ लिंग बन जायेंगे। सिद्धान्तशेखर में इसकी यही पद्धति बताई गई है —

मुखलिङ्गमिह प्रोक्तं शतलिङ्गमिहोच्यते।
सुरार्चितस्य लिङ्गस्य रुद्रभागस्य दैर्घ्यकम्॥

चतुर्भागं प्रकुर्वीत भागेषु च चतुर्ष्वपि।
सप्तविंशतिलिङ्गानि कारयेच्च पृथक् पृथक्॥

एवमष्टशतं लिङ्गं रुद्रभागे भवन्ति हि।
अधोभागः स लिङ्गानां कुर्याल्लिङ्गानि नोपरि॥

लिङ्गस्योपरिभागं च त्यक्त्वा लिङ्गानि कारयेत्।
अष्टाधिकशतेनार्धं युक्तं तच्छतलिङ्गकम्॥

सहस्राख्यस्य लिङ्गस्य वक्ष्यते लक्षणं ततः।
आढ्याख्यस्य च लिङ्गस्य रुद्रभागस्य कारयेत्॥

एकादशांशमुत्सेधं तेषु चैकैकमुत्तमम्।
एकोत्तरनवत्यंशं तेषु लिङ्गानि कारयेत्॥

तत्संख्यातानि तल्लिङ्गं भवेच्चैकसहस्रकम्।
सहस्रलिङ्गमित्युक्तं सर्वकामप्रदं नृणाम्॥

कालोत्तर में भी यही पद्धति प्रदर्शित है —

यत्तदाढ्यं समाख्यातं सहस्राङ्कं प्रकल्पयेत्।
सर्वकामप्रदं तस्मात् सहस्राङ्कं ततो हितम्॥

रुद्रवद् रुद्रभागं तु उच्छ्रायेण तु कारयेत्।
चन्द्ररन्ध्रैः समं तत्र विस्तारं विभजेत् पुनः॥

एकोत्तरसहस्रं तु लिङ्गं संजायते स्फुटम्।
विषमत्वेन कार्याणि उपर्युपरि वर्जयेत्॥

लक्ष्मरेखासमायुक्ताऽसमायुक्ताऽथवा न्यसेत्।
अष्टोत्तरशतं चान्यल्लिङ्गं सुरगणार्चितम्॥

उच्छ्रायं श्रुतिवत् कृत्वा विस्तारं सप्तलोचनैः।
तेन चाष्टशतं लिङ्गं कर्तव्यं पूर्ववत् सुत॥

सर्वसम लिंग में विशेष रूप से पंचवक्त्र, चतुर्वक्त्र आदि मुखलिंगों की रचना करनी चाहिये। इसका विधान सिद्धान्तशेखर में वर्णित है —

शिरोवर्तनमित्युक्तं मुखलिङ्गमथोच्यते।
पञ्चवक्त्रं चतुर्वक्त्रं त्रिमुखं द्विमुखं तथा॥

एकवक्त्रमितीमानि मुखलिङ्गानि पञ्च च।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाजैः पञ्चवक्त्रकम्॥

मस्तके चेशवक्त्रं स्यात् पूर्वे तत्पुरुषं मुखम्।
अघोरं दक्षिणे भागे वामदेवं तथोत्तरे॥

लिङ्गपश्चिमभागे तु सद्योजातं प्रकल्पयेत्।
ईशं विना चतुर्वक्त्रं कुर्याल्लिङ्गं विचक्षणः॥

पुरुषाघोरवामैश्च त्रिवक्त्रं लिङ्गमीरितम्।
पुरुषाजातवक्त्राभ्यां द्विमुखं लिङ्गमीरितम्॥

पुरुषेणैकवक्त्रं स्यादित्येवं मुखनिर्णयः।
संस्थापयेच्चतुर्वक्त्रं प्रासादे चतुरानने॥

पश्चिमद्वारहीनेन त्रिवक्त्रं त्रिमुखे गृहे।
प्राक्प्रत्यग्द्वारयुग्माढ्ये स्थापयेद् द्विमुखं गृहे॥

प्रासादे प्राङ्मुखं लिङ्गं स्थापयेदेकवक्त्रकम्।
प्रतिमाशास्त्रमार्गेण मुखलिङ्गानि कारयेत्॥

आढ्य, अनाढ्य और देवेड्य लिंगों में मुखलिंगों का निर्माण नहीं किया जाता॥ २१॥

बाणलिंग के लक्षणों का और उसकी पूजा से प्राप्त फलविशेष का वर्णन अब किया जा रहा है —

बाणं लिङ्गमधिष्ठितेशमनिशं माषादिहस्तान्तकं
जम्बूपक्वफलोपमं मधुनिभं भृङ्गप्रभं काचभम् ।
नीलं वा प्रतिबिम्बवद्धरितभं तद्वर्णपीठं ककुप्-
तुल्यं गोस्तनकुक्कुटाण्डसदृशं स्निग्धं सदार्च्यं श्रियै ।।२२।।

बाणं लिङ्गं बाणलिंग **अनिशं** सदा ही (हमेशा) **अधिष्ठितेशं** ईश्वर से अधिष्ठित रहता है। बाणलिंग का स्वरूप **माषादिहस्तान्तकं** एक माष से लेकर एक हस्त पर्यन्त परिमाण का रहता है। **जम्बूपक्वफलोपमं** जामुन के पके हुए फल के समान रंग का, **मधुनिभं** शहद के जैसे रंग का, **भृङ्गप्रभं** भौंरे के समान रंग वाला, **काचभं** काच (सीसा) के समान चमकीला, **नीलं वा** अथवा नीले रंग का, **प्रतिबिम्बवत्** बिम्बफल के समान लाल रंग का, **हरितभं** हरे रंग का, **तद्वर्णपीठं** अपने ही जैसे रंग के पीठ वाला, **ककुप्तुल्यं** दिशाओं (दिक्पालों) के जैसे रंग वाला यह होता है। **गोस्तनकुक्कुडाण्डसदृशं** गाय के स्तन जैसा मुर्गी के अण्डे के जैसा इसका आकार होना चाहिये। **स्निग्धं** यह सीसे जैसा अथवा चमकीला हो। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त (तत्) वह बाणलिंग **श्रियै** भोग और मोक्ष नामक द्विविध सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये **सदा** सर्वदा **अर्च्यम्** पूजनीय माना गया है ।।२२।।

प्राचीन काल की बात है कि बाण नाम का कोई असुर शिवपूजा के निमित्त भगवान् शिव को लिंग अर्पित करूँगा, ऐसी प्रार्थना करके महेश्वर से विविध लिंगों को प्राप्त करता है और उनमें शिव की पूजा करता है। पूजा पूरी हो जाने के बाद उसने उन लिंगों को पर्वत आदि पर स्थापित कर दिया। यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। बाणासुर के द्वारा पूजित होने से इनको बाण लिंग कहा जाता है। जैसा कि **कामिकागम** में वर्णित है —

बाणो नामासुरः प्रोक्तः स च सिद्ध्यर्थमादरात् ।
प्रार्थयामास पूजार्थं लिङ्गानि विविधानि च ॥

दत्तवान् लिङ्गकोटीनां[1] चतुर्दश महेश्वरः।
तानि सम्पूज्य कालान्ते स्थानेष्वेतेषु न्यक्षिपत्॥
लिङ्गाद्रौ कालिकागर्ते श्रीनगे कन्यकाश्रमे।
कन्यातीर्थे च नेपाले माहेन्द्रे चामरेश्वरे॥
अन्यत्र च नदीमध्ये पर्वते च विशेषतः।

सिद्धान्तशेखर में भी यह बताया गया है —

बाणाख्येन च दत्तानि बाणलिङ्गानि तानि हि।
[2]स्वयम्भुसदृशान्येव कोटयश्च चतुर्दश॥

इस बाण लिंग में भगवान् शिव निरन्तर निवास करते हैं। अतः भगवान् शिव की बाण लिंग में पूजा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। जैसा कि—

नर्मदासम्भवं लिङ्गं बाणलिङ्गमितीरितम्।
स्वायम्भुवं तथा पूज्यं सर्वलिङ्गोत्तमोत्तमम्॥
बाणलिङ्गं तथा ज्ञेयं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।

'अधिष्ठितेशम्' इस विशेषण से यह सूचित होता है कि इस बाण लिंग में शिव की प्रतिष्ठा करनी चाहिये, "बाणलिङ्गप्रतिष्ठां तु वक्ष्ये संक्षेपतः क्रमात्" कामिकागम के इस वचन में भी यही बात कही गई है। इस बाण लिंग का प्रमाण एक माष से लेकर एक हाथ के बराबर होता है। एक अंगुल का आठवाँ भाग माष कहलाता है। बाण लिंग का प्रमाण कामिकागम में बताया गया है —

माषमात्रादिहस्तान्तं तेषां मानमुदाहृतम्।
पादाङ्गुलविवृद्ध्या तु गृह्णीयाद्वा यथेच्छया।
विस्तारनाहमानं तु बाणलिङ्गस्य नेष्यते॥

इस बाण लिंग का आकार और कान्ति पके हुए जामुन की जैसी होनी चाहिये। जैसा कि —

पक्वजम्बूफलाकारं कुक्कुटाण्डसमाकृति।
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतद् बाणलिङ्गमुदाहृतम्॥

---

[1] नव कोटि शिवलिंगों की चर्चा सिद्धान्तशिखामणि (२१.२६-३३) में मिलती है।

[2] योगिनीहृदय (१.४४-४७) में वाक्चतुष्टय, पीठचतुष्टय आदि के प्रकरण में स्वयंभू, बाण, इतर और पर नामक चतुर्विध लिंगों का परिचय दिया गया है।

इस वचन में प्रतिपादित है। अथवा इसकी आभा मधु (शहद) सरीखी होनी चाहिये। इसका वर्ण भौरों जैसा अथवा काचमणि के समान नीली अथवा काली आभा लिये हुए हो। पके हुए बिम्ब फल के समान लाल अथवा हरा रंग या सफेद रंग भी इसका हो सकता है। जैसा कि इस वचन में कहा गया है —

श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं विप्रादिपूजितम्।
अभावात् कृष्णवर्णं तु सर्वजातिषु सिद्धिदम्।
नर्मदासम्भवं लिङ्गं बाणलिङ्गं समीरितम्॥

इस बाण लिंग का पीठ भाग भी उसी वर्ण की शिला आदि से बनाया जाना चाहिये, जिस वर्ण का कि बाण लिंग पूजा के लिये गृहीत है। कामिकागम में यह उक्त है —

शिलामृल्लोहसद्वृक्षरत्नाद्यैः पीठिका भवेत्।
एकवर्णा भवेत् पीठी सर्वकामार्थसिद्धये॥

बाण लिंग की पीठिका का लक्षण अन्यत्र प्रदर्शित है —

बाणलोहाद्रिलिङ्गानां परिणाहेन विस्तृता।
तत्त्र्यंशेन समुच्छ्रेया पिण्डिका वसुभाजिता॥

नेत्रेणाङ्घ्रिस्तु तत्पङ्क्तिरूपेण युगलैर्गलः।
कर्णपट्टिकरूपेण कलाधारं करेण तु॥

व्यासत्र्यंशेन नालं स्यात् क्वचिदर्धेन वा मतम्।

ककुप् शब्द से यहाँ उस उस दिशा के अधिपति का ग्रहण होता है। इन्द्र आदि दिक्पालों के द्वारा पूजित होने से बाण लिंग का वर्ण भी उस उस दिक्पाल के लिये शास्त्रों में निर्दिष्ट वर्ण का होना चाहिये। जैसा कि सिद्धान्तशेखर के इस विस्तृत उद्धरण में प्रदर्शित है —

इन्द्रादिपूजितं लिङ्गं तत्तच्चिह्नसमन्वितम्।
आपीतं च षडश्रं च शाक्रं वज्राङ्कितं भवेत्॥

तत्साम्राज्यप्रदं लिङ्गं बाणाख्यं समुदाहृतम्।
ताम्रवर्णं च शक्त्यङ्कं लिङ्गं वा शक्तिचिह्नितम्॥

उष्णस्पर्शं तदाग्नेयं तेजोवृद्धिप्रदायकम्।
दण्डाकारं भवेद् याम्यं यदि वा दण्डचिह्नितम्॥

यदव्यक्तमुहूर्तेन निर्मितं जायते तथा।
कृष्णं तच्छत्रुनाशार्थं शिवेनोक्तं शिवागमे॥

खड्गाभं खड्गचिह्नं वा नैर्ऋतेर्लिङ्गमीरितम्।
धूम्राभं शत्रुविद्वेषे नियोक्तव्यं विशेषतः॥

वारुणं वर्तुलाकारं पाशाङ्कं शुक्लवर्णकम्।
तोयमध्ये गते तस्मिन् तोयं तत् स्वादु निर्मलम्॥

वायव्यं धूम्रवर्णं स्याल्लिङ्गं ध्वजविभूषितम्।
तन्मूर्ध्नि निहितं तूलं निर्वातं चलति ध्रुवम्॥

उच्चाटने च तल्लिङ्गं कर्तव्यं तन्त्रपारगैः।
गदाकारं गदाङ्कं वा मध्यस्थलसुवर्णवत्॥

सस्यमध्ये स्थिते तस्मिन् सस्यवृद्धिर्भवेद् दिने।
रात्रौ वा तत्कुबेरस्य लिङ्गं सर्वसमृद्धिदम्॥

शूलाभं वा त्रिशूलाङ्कं हिमकुन्देन्दुसंनिभम्।
ईशानस्य तदा दृष्टं लिङ्गं सर्वार्थसाधनम्॥

शङ्खचक्रगदापद्मं श्रीवत्सं स्वस्तिकाङ्कितम्।
मत्स्यकूर्मवराहादिचिह्नं वा वैष्णवं स्मृतम्॥

लिङ्गं तत् सर्वकामार्थं बाणलिङ्गेषु चोदितम्।
पद्माङ्कं पद्मवर्णं च कुण्डिकाक्षविभूषितम्॥

स्रुग्दण्डचिह्नितं वापि ब्राह्मं पुत्रादिवृद्धिदम्।
सर्वेषां बाणलिङ्गानां साधारणमथोच्यते॥

त्रिवारं पञ्चवारं वा तुलायां तुलितं तु यत्।
साम्यं न याति चेल्लिङ्गं तदा तद् बाणमुच्यते॥

अथवाऽन्यप्रकारेण लक्षणं तस्य कथ्यते।
नद्यां वा प्रक्षिपेद् भूयो यदा तदुपलभ्यते॥
बाणलिङ्गं तदा ज्ञेयं शेषं पाषाणवत् त्यजेत्॥

यह बाण लिंग गाय के स्तन की जैसी अथवा कुक्कुट के अण्डे की जैसी आकृति का तथा दर्पण के समान निर्मल, श्लक्ष्ण (चिकना) होना चाहिये। ऐसे बाण लिंग की पूजा भुक्ति (भोग) और मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये सदा करनी चाहिये ॥ २२॥

पूजनीय बाणलिंग का स्वरूप बताकर अब पूजा के लिये वर्ज्य (निषिद्ध) बाणलिंग का स्वरूप बताते हैं —

वर्ज्यं कर्कशरूक्षकुब्जमगुरु स्थूलं शितាग्रं कृशं
त्र्यश्रं दीर्घमलक्षणं ससुषिरं नीलासि नीचक्षतम् ।
रेखाबिन्दुकलङ्कशूलि चिपिटं पिङ्गं स्फुरद्धीरकं
पीठं वा स्फुटितं सकर्णिकमिदं सर्वं मुमुक्षोः शुभम् ।।२३।।

कर्कशरूक्षकुब्जं बहुत कड़ा, बहुत रूखा (निस्तेज), बहुत छोटा, **अगुरु** वजन में हलका, **स्थूलं** बहुत मोटा, **शिताग्रं** आगे के भाग (हिस्से) में तीखापन लिया हुआ, **कृशं** दुबले-पतले आकार का **त्र्यश्रं** त्रिकोणाकार, **दीर्घं** बहुत लम्बाई वाला, **अलक्षणं** शास्त्र में प्रदर्शित लक्षणों से रहित, **ससुषिरं** छिद्रों से युक्त, **नीलासि नीचक्षतं** बहुत काली तलवार के जैसा और चाण्डाल आदि नीच जातियों से छुआ गया, **रेखाबिन्दुकलङ्कशूलि** रेखा, बिन्दु, कलंक, शूल — इन सब दोषों से युक्त, **चिपिटं** मध्य में सफेद दाग वाला और **पिङ्गं** अग्र भाग में कपिल वर्ण वाला, **स्फुरद्धीरकं** हीरक नामक दोष से स्पष्ट रूप से ग्रस्त, **पीठं वा स्फुटितं** टूटे हुए पीठ वाला अथवा स्वयं अपने ही टूटा हुआ, **सकर्णिकं** कर्णिका से मिला हुआ बाणलिंग **वर्ज्यं** त्याज्य है, अर्थात् यह पूजा के अयोग्य है। **इदं सर्वं** अभी ऊपर बताये गये सभी दुर्लक्षणों से युक्त बाणलिंग **मुमुक्षोः** मोक्ष की कामना वाले के लिये **शुभम्** शुभ फल को देने वाला ही माना गया है।।२३।।

अत्यन्त कठोर बाण लिंग पूजा के अयोग्य है, क्योंकि "**कर्कशे बाणलिङ्गे च पुत्रदारक्षयो भवेत्**" ऐसा वचन उपलब्ध है। इसी तरह से रूखा (खुरदरा), बहुत छोटा, हलका, बहुत बड़ा, अग्र भाग में तीखा, अत्यन्त कृश, तिकोना, बहुत भारी, बहुत काले रंग का, ऊपर बताये गये लक्षणों से रहित, टेढे सिर वाला, अत्यन्त हीन जाति के गृह में स्थित, रेखा आदि चिह्नों से युक्त, त्रिशूल की सी आकृति वाला, चिपटा, बीच में सफेद और आगे के भाग में कपिल वर्ण का, हीरक नामक दोष से ग्रस्त, फटा (चिटका) हुआ और कर्णिका से युक्त बाण लिंग तथा इन्हीं दोषों से ग्रस्त पीठ भी पूजा के लिये निषिद्ध है। **टीकाकार** ने यहाँ '**सुषित्रास्यन्त्यजाति**' ऐसा पाठ मान कर कहा है कि सुषित्रास्य और अन्त्य में छन्दोभंग से बचने के लिये अकार का लोप कर दिया जाता है। अथवा सुषित्र और असि ऐसा पदच्छेद करना चाहिये। तब

सुषित्र का अर्थ छिद्रयुक्त और असि का अर्थ तलवार सरीखी आकृति वाला होगा। इन सारे दोषों से युक्त बाण लिंग मुक्ति की इच्छा वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी के लिये परम मंगलमय है, अर्थात् ऐसे व्यक्ति के लिये तो अवश्य पूजनीय है, किन्तु गृहस्थ के लिये नहीं। जैसा कि —

चिपिटे पूजिते तस्मिन् गृहभङ्गो भवेद् ध्रुवम्।
एकपार्श्वे क्षते धेनुपुत्रदारधनक्षयः॥

शिरसि स्फुटिते बाणे व्याधिर्मरणमेव च।
अन्त्यजातिविलग्ने तु सर्वगात्रक्षयो भवेत्॥

चित्रलिङ्गेऽर्चिते बाणे विदेशगमनं भवेत्।
लिङ्गे च कर्णिकां दृष्ट्वा व्याधितो जायते पुमान्॥

अग्रं स्यात् कपिलं लिङ्गं शुभदं मोक्षकाङ्क्षिणाम्।
लघु वा कपिलं स्थूलं गृही नैवार्चयेत् क्वचित्॥

दक्षिणाग्रं वक्रशीर्षं त्र्यश्रं लिङ्गं विवर्जयेत्।
अतिस्थूलमतिकृशं स्वित्रं श्वभ्रघनान्वितम्॥

गृही प्रवर्जयेत् तादृक् तं मुमुक्षोर्यथोदितम्।
पूजितव्यं गृहस्थेन वर्णेन भ्रमरोपमम्॥

तत्सपीठमपीठं वा मन्त्रसंस्कारसंस्कृतम्।
विद्धि मुक्तिप्रदं बाणं सर्वप्रासादपीठगम्॥

इस उद्धरण में गृहस्थ और संन्यासी के लिये उपादेय और अनुपादेय बाण लिंगों का विवरण दिया गया है ॥ २३॥

अब इस भूलोक में विद्यमान चौदह करोड़ बाणलिंगों के स्थलों को दिखाया जा रहा है —

प्रत्येकं कोटिरेका ह्यमरपतिमहेन्द्राद्रिनेपालकन्या-
तीर्थारण्येषु कोटित्रितयमथ पृथक् श्रीगिरौ लिङ्गशैले।
कालीगर्ते च पीठैर्विरहितसहितान्येव लिङ्गानि सर्व-
प्रासादोपेतपीठान्यथ हरिदधिपार्च्यानि काम्यानि च स्युः ।।२४।।

अमरपति अमरेश्वर नामक पर्वत, महेन्द्राद्रि महेन्द्र पर्वत, नेपाल नेपाल देश, कन्यातीर्थारण्येषु कन्यातीर्थ और उसके समीप के वन में — इन पाँच

क्षेत्रों में से **प्रत्येकं** प्रत्येक स्थान में **एका कोटिः** एक-एक करोड़ बाणलिंग स्थित हैं, अर्थात् सब मिल कर इन पाँच स्थानों में पाँच करोड़ बाणलिंग विद्यमान हैं। **अथ** इसके आगे **श्रीगिरौ** श्रीशैल पर्वत, **लिङ्गशैले** लिंगाचल, **कालीगर्ते च** और कालीगर्त नामक पर्वत पर भी इसी तरह **पृथक्** प्रत्येक स्थल पर **कोटित्रितयं** तीन-तीन करोड़ बाणलिंग विद्यमान हैं। इस तरह से इन नौ करोड़ बाणलिंगों की स्थिति इस भूमण्डल पर है। ऐसे बाणलिंगों में (कतिचित्) **लिङ्गानि** कुछ लिंग **पीठैः** पीठों से **विरहितसहितानि** रहित और सहित **एव** ही **स्युः** हैं। उनमें से पीठरहित लिंगों के लिये मिट्टी, पेड़-पौधों से पीठं बना देना चाहिये। **अथ** इनके अतिरिक्त **सर्वप्रासादोपेतपीठानि** सभी प्रासादों में पीठस्थान पर विराजित **हरिदधिपार्च्यानि** इन्द्र आदि दिक्पालों के द्वारा पूजित लिंग **काम्यानि च स्युः** काम्य (अभीष्ट) कर्मों (फलों) की प्राप्ति के भी साधन हैं, अर्थात् इनके पूजन से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।।२४।।

अमरेश्वर पर्वत, नेपालस्थित पर्वत, महेन्द्र पर्वत, कन्यातीर्थ और उसके समीप के वन में से प्रत्येक में एक-एक कोटि शिवलिंगों की स्थिति है। इस तरह ये पाँच करोड़ शिवलिंग हुए। श्रीशैल पर्वत, लिंगशैल और कपालीगर्त पर्वत पर प्रत्येक में तीन-तीन करोड़ शिवलिंग विराजमान हैं। इनकी संख्या नौ करोड़ हुई। पहले के पाँच करोड़ शिवलिंगों को इनके साथ मिलाने पर यह संख्या चौदह करोड़ हो जायगी। जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में प्रदर्शित है —

स्वयम्भूसदृशान्येव कोटयश्च चतुर्दश।
लिङ्गाद्रौ कोटयस्तिस्त्रस्तिस्त्रः श्रीपर्वतेऽपि च॥

तिस्त्रश्च कालिकागर्ते कोटिरेका महेन्द्रके।
महेश्वरे च नेपाले कन्यातीर्थे तदाश्रमे॥

एकैका कोटिरित्युक्ता तेषां लक्षणमुच्यते।

इन चौदह करोड़ बाण लिंगों में से कुछ लिंग पीठों के साथ और कुछ बिना पीठों के ही हैं। पीठों के साथ विद्यमान बाण लिंग दुर्लभ हैं, अतः मिट्टी, लकड़ी, शिला आदि से निर्मित सभी प्रासादों (मन्दिरों) में मिट्टी, लकड़ी, शिला, लोह, कांचन आदि से पीठों का निर्माण कर उन पर पीठरहित लिंगों की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। जैसे कि —

नर्मदासम्भवं लिङ्गं बाणलिङ्गमुदीरितम्।
सर्वप्रासादयोग्यं च सर्वपीठार्हकं मतम्॥

इस वचन में प्रकारान्तर से यही विषय प्रतिपादित है। इन बाण लिंगों में से कुछ इन्द्र आदि दिक्पालों के द्वारा पूजित हैं। इनका पूजन अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये करना चाहिये, क्योंकि इनके पूजन से जैसे इन्द्र आदि पद को प्राप्त करने में वे समर्थ हुए, उसी तरह से अन्य व्यक्ति भी इनका पूजन कर अपनी मनोवांछित अभिलाषा पूरी कर सकते हैं। अतः फल की इच्छा रखने वालों को इनकी पूजा करनी चाहिये। इसीलिये इनको काम्य लिंग कहा जाता है ॥ २४॥

मण्डूक वास्तु के नाम से प्रसिद्ध चौसठ पदों के वास्तु-क्षेत्र में तिरपन देवताओं से अधिष्ठित वास्तुपुरुष का उद्धार-क्रम अब बताया जा रहा है —

क्षेत्रे चाष्टपदीकृते यमरसै रज्ज्वष्टकं वंशकौ
कोणस्थौ विधिरन्तरे श्रुतिपदे पूर्वादिषड्भागगाः ।
चत्वारस्त्रिदशा विदिक्षु पदयोर्द्वौ द्वौ पदस्थौ बहिः
कोणार्धेषु तथाऽपरेऽष्ट पदगा बाह्येऽन्य ऐशेन्द्रतः ।।२५।।

अष्टपदीकृते पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में नौ-नौ धागों को मिलाने से आठ-आठ कर चौसठ पदों का निर्माण हो जाने पर **क्षेत्रे** उस चतुष्कोण क्षेत्र में **यमरसैः** दोनों पार्श्वों के अन्तिम भाग में दूसरे पद से लेकर कोने-कोने में किये गये दो जुड़वाँ, अर्थात् चार धागों से और उसके बगल में स्थित तीसरे पद से लेकर छः पदों तक के कोने-कोने में बनाये गये चार सूत्रों से **रज्ज्वष्टकं** वास्तुपुरुष को बाँधने के लिये आठ पाशों की एक समष्टि तैयार हो जाती है। **कोणस्थौ** ईशान कोण से लेकर नैर्ऋत्य कोण पर्यन्त और आग्नेय कोण से लेकर वायव्य कोण पर्यन्त स्थित देवताओं को **वंशकौ** वंश नाम से जाना जाता है। **अन्तरे** मध्य के **श्रुतिपदे** चार पदों में पूजनीय देवताओं में **विधिः** ब्रह्मदेव का स्थान है। **पूर्वादिषड्भागगाः** उस ब्रह्मस्थान के पूर्व भाग आदि चार पार्श्वों के समीप की पंक्ति के पदों में और उसके बाहर की पंक्ति में स्थित दो पदों में — कुल मिलाकर छः पदों में **चत्वारः** मरीचि, विवस्वान्, मित्र और पृथिवी नामक चार **त्रिदशाः** देवता और **विदिक्षु** आग्नेय आदि चार कोणों के **पदयोः** दो-दो पदों से बनने वाले आठ पदों में **पदस्थौ** एक-एक पद में स्थित देवताओं की **द्वौ द्वौ** युगल रूप में स्थिति रहती है, अर्थात् आप-आपवत्स, सवितृ-सावित्र, इन्द्र-इन्द्रजय और रुद्र-रुद्रदास नामक आठ युगल-देवता स्थित हैं। **बहिः** बाहर की पंक्ति में

कोणार्धेषु चार कोणों के आधे-आधे पदों में **पदगाः** एक-एक अर्धपद के लिये एक-एक देवता **तथा अपरे अष्ट** तथा ईश, अग्नि, पितृ, वायु आदि दूसरे आठ देवता स्थित हैं। **बाह्ये** इन पंक्तियों के बाहर के भाग में **ऐशेन्द्रतः** ईशान आदि चार कोणों में और पूर्व आदि चार दिशाओं में क्रम से स्थित **अन्ये** चरकी, विदारी, पूतना, पापराक्षसी नामक तथा स्कन्द, अर्यमा, जम्भ, बलिपुच्छ नामक आठ देवता रहते हैं। इन तिरपन देवताओं की चौसठ पदों से बने मण्डवास्तु नामक वास्तुक्षेत्र में पूजा होती है।।२५।।

वास्तुपद के निर्माण के लिये गृहीत भूमि पर पूर्वाभिमुख और उत्तराभिमुख नौ सूत्रों की सहायता से चौसठ पदों का निर्माण कर उस चतुरश्र क्षेत्र में दो और छः पदों से आठ रज्जुओं की रचना करे। ईशान कोण के पद का तथा उसके समीप स्थित पश्चिम पद पर्यन्त दो पदों का ग्रहण कर इन पदों में अग्निकोण से प्रारंभ कर वायु कोण पर्यन्त कर्णसूत्र का विस्तार करने पर दो पदों के बीच में एक रज्जु का आकार बन जाता है। इसी तरह से अग्नि कोण के पद के समीप स्थित उत्तर पद को तथा उसी के समीप में स्थित पश्चिम पद को लेकर इन पदों में भी ईशान से निर्ऋति पर्यन्त कर्णसूत्र का विस्तार करने पर इन दो पदों के बीच में भी एक रज्जु का आकार बन जाता है। इसी पद्धति से निर्ऋति और वायु कोण स्थित दो पदों में चार रज्जुओं का आकार बन जाता है। इसी तरह से ईशान कोण के पद से याम्य (दक्षिण) गत तृतीय पद को ग्रहण कर उस पद के ईशान कोण से लेकर छः पद पर्यन्त कोण का मार्ग बनाकर कर्णसूत्र के समान रज्जु बनाने से इन छः पदों की एक रज्जु बनेगी तथा अग्नि कोण से उत्तरगत तृतीय पद से लेकर छः पद पर्यन्त कर्णसूत्र-सदृश रज्जु का आकार बनाने से छः पदों की दूसरी रज्जु बनेगी। निर्ऋति कोण और वायु कोण को जोड़ कर रज्जु का निर्माण करने पर छः पदों में चार रज्जुओं का निर्माण पहले बताया जा चुका है। इस प्रकार बनाई गई ये आठ रज्जुएँ वास्तुपुरुष को बाँधने वाले आठ पाशों का काम करती हैं।

रज्जवोऽष्टौ सकोणस्थाश्चतस्रो द्विपदस्थिताः ।
चतस्रः षट्पदास्तासां नाम वक्ष्ये यथाक्रमम् ॥

सिद्धान्तशेखर के इस वचन में इनकी संक्षिप्त चर्चा है। सोमशम्भु की पद्धति में भी इनका विवरण मिलता है —

कोणेषु विन्यसेद् वंशौ रज्जूरष्टौ त्रिकोणगाः ।
द्विपदाः षट्पदास्ताश्च वास्तुं तत्रार्चयेद् यथा ॥

आकुञ्चिकवचं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम्।
स्मरेत् पूजासु कुड्यादिनिवेशे त्वधराननम्॥
(श्लो. १२७१-१२७२)

इस तरह वास्तुपुरुष को बाँधने के लिये आठ पाशों का निर्माण सर्वत्र प्रदर्शित है। ऐसा क्यों किया जाता है? इसके लिये एक पुरानी कथा प्रसिद्ध है। कल्प-भेद के अनुसार वास्तु की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। अन्धकासुर का वध करते समय भगवान् शिव के क्रोध से इसकी उत्पत्ति की कथा सिद्धान्तशेखर में इस प्रकार प्रदर्शित है —

अन्धकासुरसंग्रामे पुरा क्रुद्धस्य शूलिनः।
आपतत् स्वेदपानीयं ललाटाद् भुवि भूषणम्॥

अभूत् स्वेदोदकोद्भूतस्त्रैलोक्यग्रसनक्षमः।
शिवाज्ञप्तेन भूतेन तेन पीतेन शोणितम्॥

भूगतस्यान्धकस्यापि तथा तृप्तिर्न चाभवत्।
तदा शिवस्य पुरतस्तपश्चक्रे सुदारुणम्॥

ततः कालेन सन्तुष्टः शिवस्तस्मै वरं ददौ।
शरण्योऽसौ भवत् तेन त्रैलोक्यग्रसनक्षमः॥

न्यरुन्धत् स्वेन देहेन त्रैलोक्यं स महासुरः।
तदा भीताः सुराः सर्वे श्रीकण्ठं शरणं ययुः॥

देवानां रक्षणार्थाय श्रीकण्ठः करुणानिधिः।
रुद्रं चातिबलं नाम मायापाशान् ततोऽसृजत्॥

पाशैरतिबलो रुद्रो बद्ध्वा तच्चाष्टभिस्ततः।
कृत्वा चोर्ध्वमुखं दैत्यं चिक्षेप धरणीतले॥

ब्रह्मादीनां च देवानां दैत्यदेहे बलात् प्रभुः।
निवासमकरोत् तेन वास्तुदेवाधिवासनात्॥

एवं वास्तुः समाख्यातो ब्रह्मणो दिवसावधि।
देवैरधिष्ठितः शेते तावत्कालं शिवाज्ञया॥

अन्यथा तस्य वोत्पत्तिश्चोदिता च शिवागमे।
शक्रकोपात् समुद्भूतो वास्तुर्यज्ञापहारकः॥

तस्योच्यतेऽन्यथा जन्म वराहेण यदोद्धृता ।
मही तदाद्रयः सर्वे सपक्षाः सकलं जगत् ॥

पीडयन्ति स्म तत्काले पक्षाश्छिन्ना विडौजसा ।
पक्षभारसमाक्रान्ता धरणी पन्नगैः सह ॥

तदा मुमोच निश्वासं मुमुचुः पन्नगा विषम् ।
विषमात्रसमुद्भूतो वास्तुरित्यभिधीयते ॥

एवं वास्तुसमुत्पत्तिर्बहुधा कीर्तितागमे ।
कल्पभेदेन तन्त्रज्ञैर्व्यवस्थाप्या विचक्षणैः ॥

ईशानमस्तकः क्रुद्धो नैर्ऋत्यां गतपादकः ।
हृद्यञ्जलिरधोवक्त्रः स्थिरवास्तुः प्रकीर्तितः ॥

कन्यादिमासत्रितये प्राक्शिरोऽचलवास्तुकः ।
चापादिमासत्रितये वास्तुर्दक्षिणमस्तकः ॥

मीनादिमासत्रितये वास्तुः प्रत्यक्शिरोऽचलः ।
शेषे च मासत्रितये वास्तुरुत्तरमस्तकः ॥

पूजाकाले समुत्तानस्ततोऽवाङ्मुख उच्यते ।

इस वास्तुमण्डल के ईशान-नैर्ऋत्य और आग्नेय-वायव्य कोणों में विद्यमान ऊर्ध्वभाग और अधोभाग में क्रमशः वंशों की रचना की जाती है। इनके नाम क्रमशः दुर्धर और दुर्जय हैं। जैसा कि कहा गया है — "तिर्यगूर्ध्वस्थितौ वंशौ दुर्जयो दुर्धरस्तथा"। रज्ज्वष्टक (पाशाष्टक) के नाम इस प्रकार हैं —

कर्णयोः पादगुल्फे च क्रीडनी बन्धिनी ततः ।
संवर्ता च विवर्ता च जानुकूर्परसङ्गमे ॥

हृद्गुह्यकुक्षिमार्गेषु सद्भावा जननीति च ।
पक्षी यक्षीति विज्ञेया रज्जवोऽष्टौ च नामतः ॥

प्रागग्राण्युत्तराग्राणि वास्तोः सूत्राणि नाडयः ।
लक्ष्मीर्यशोवती कान्ता स्वप्रिया विमला शिवा ॥

सुभगा सुमती सारा नाड्यः प्राचीमुखोद्गताः ।
धन्या प्राणी विशाला च स्थिरा भद्रा जया निशा ॥

विरजा विभवा चैता नाड्यः सौम्यमुखाः स्मृताः ।

मर्म–स्थानों का वर्णन भी शास्त्रों में मिलता है —

समस्तनाडीसम्पातः सन्धिरित्यभिधीयते।
महामर्म तदित्याहुर्ब्रह्मस्थानं यदुच्यते॥

अष्टसूत्रसमायोगादम्बुजं परिकीर्तितम्।
वंशरज्ज्वात्मकं सूत्रं सम्पुटं कोणसंगतम्॥

तस्यार्धेन हलां कोष्ठचतुष्के स्वस्तिकं मतम्।
रज्जूर्ध्वं रज्जुवंशोर्ध्वं महास्वस्तिकमुच्यते॥

वज्रं षट्सूत्रसंयोगात् शूलं कोणे तदर्धतः।
सूत्रपञ्चकसंयोगान्मणिबन्धः प्रकीर्तितः॥

सुप्रान्तनाडीसम्पातस्त्रिकरं मणिबन्धयुक्।
सुविशुद्धपदं यत्र रज्जुवंशविवर्जितम्॥

एवं द्वादशमर्माणि शतमष्टोत्तरं परम्।
सूक्ष्ममर्मसहस्त्रं तु वर्जनीयं प्रयत्नतः॥

यहाँ इन्द्र और इन्द्रजय नामक युगल देवताओं की वायुकोण में तथा रुद्र और रुद्रदास की ईशान कोण में पूजा की जाती है। आप और आपवत्स की बाहर की पंक्ति के कोणार्धों में, अर्थात् ईशान कोण स्थित एक पद के आधे पद में, उत्तरगत आधे भाग को छोड़कर पूर्वगत अर्धपद से लेकर आगे के पदों में ईशान आदि आठ देवता पूर्व की पंक्ति के एक एक पद में पूजे जाते हैं। ईशान कोण के पहले आधे भाग में ईशान आदि, अग्नि कोण के पहले भाग में अन्तरिक्ष आदि की इसी क्रम से पूजा होती है। इनके नाम —

ईशानार्धपदे चेशः पर्जन्यश्च जयन्तकः।
महेन्द्रश्च तथादित्यः सत्यश्च भृशकस्तथा।
अन्तरिक्षोऽग्निकोणार्धे शेषार्धे चाग्निरेव च।

यहाँ दिये गये हैं। इसी तरह से अग्नि आदि आठ देवता दक्षिण पंक्ति में, पितृगण आदि आठ देवता पश्चिम पंक्ति में, वायु आदि आठ देवता उत्तर पंक्ति में पूजनीय हैं। ईशान, अग्नि, निर्ऋति और वायु कोणों में चरकी आदि चार देवताओं की और पूर्व आदि चार दिशाओं में स्कन्द आदि की पूजा की जाती है। जैसे कि —

वास्तोर्बाह्ये चरक्याद्याः शङ्कुस्थापनवर्जिताः।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी॥

ईशानादिषु कोणेषु राक्षस्योऽत्र व्यवस्थिताः ।
स्कन्दोऽर्यमा च जम्भश्च पिलिपिच्छग्रहा इमे ॥
वास्तुबाह्ये क्रमाद् दिक्षु सम्पूज्याः पदवर्जिताः ।

यहाँ वास्तु के बाहरी भाग में पूजनीय आठ देवताओं के नाम दिये गये हैं ॥ २५॥

इक्यासी कोष्ठों में विभक्त क्षेत्र में वास्तुपुरुष के उद्धार-क्रम को और वास्तु-देवताओं के नामों को आगे के तीन श्लोकों में बताते हैं —

एकाशीतिपदेऽब्जजो नवपदः षट्त्रिस्थरज्ज्वष्टकं
चापाद्या द्विपदा मरीचिकमुखाः षड्गाः पदस्थाः परे ।
ब्रह्माऽऽद्योऽथ मरीचिकश्च सविता सावित्रवैवस्वता-
विन्द्रश्चेन्द्रजयोऽथ मित्र इतरो रुद्राह्वयो रौद्रकः ।।२६।।

दासश्चान्यो धराद्यो धर इति च तथापापवत्सौ बहिः स्या-
दीशः पर्जन्यनामा जय इति मघवान् सूर्यसत्यौ भृशश्च ।
व्योमाख्योऽग्निश्च पूषा वितथ इति गृहाध्यक्षकः श्राद्धदेवो
गन्धर्वो भृङ्गराजो मृग इति पितृदौवारसुग्रीवसंज्ञाः ।।२७।।

पौष्पो दन्तः प्रचेता इति दितितनुजः शोषरोगौ च वायु-
र्नागो मुख्योऽथ भल्लो विधुरपि च वरः सौम्यनामाऽदितिश्च ।
दित्याख्यो बाह्य ऐशाच्चरकिसुविदरी पूतना पापराक्ष-
स्याख्याःस्कन्दोऽर्यमा जम्भक इति बलिपिच्छास्त्रिपञ्चाशदुक्ताः ।।२८।।

एकाशीतिपदे पूर्व-पश्चिम एवं दक्षिण-उत्तर में दस-दस सूत्रों को खींच कर नवगुणित इक्यासी पदों से बनायें गये वास्तुक्षेत्र में **अब्जतः** ब्रह्मदेव की **नवपदः** मध्य के नौ पदों में स्थिति रहती है। **रज्ज्वष्टकं** आठ सूत्रों की समष्टि **षट्त्रिस्थं** छः और तीन पदों में रहती है। जैसे कि ईशान कोण के दक्षिण और पश्चिम में स्थित चौथे पद से लेकर नैर्ऋत्य कोण के पूर्व और उत्तर भाग में स्थित चौथे पद तक खींचे गये दो सूत्रों को तथा उसी तरह आग्नेय कोण के उत्तर और पश्चिम भाग में स्थित चौथे पद से लेकर वायु कोण के पूर्व भाग और उत्तर भाग में स्थित चौथे पद तक खीचें गये दो सूत्रों को मिला कर छः पदों में बने चार पाशसूत्र और ईशान कोण के दक्षिण एवं पश्चिम भाग में तीसरे पद से लेकर नैर्ऋत्य कोण के पूर्व और उत्तर भाग के

तीसरे पद तक खींचे गये दो सूत्रों को आग्नेय कोण के उत्तर भाग और पश्चिम भाग के तीसरे पद से लेकर वायु कोण के पूर्व भाग और दक्षिण भाग के तीसरे पद तक डाले गये दो सूत्रों से मिलाकर तीन पदों में बने चार पाशसूत्र — इस तरह आठ पाशसूत्रों का विन्यास ही रज्ज्वष्टक नाम से जाना जाता है। इस तरह रज्ज्वष्टक का निर्माण कर लेने के बाद **आपाद्याः** आप-आपवत्स आदि आठ देवता **द्विपदाः** ब्रह्मस्थान के ईशान भाग से लेकर दो-दो पदों में स्थापित किये जाते हैं। **मरीचिकमुखाः** मरीचि, विवस्वान् आदि चार देवता **षड्गाः** ब्रह्मस्थान के पूर्वभाग से लेकर चारों दिशाओं में आप-आपवत्स आदि देवताओं के पदों के समीप बाहर की पंक्ति के पूर्व भाग आदि छः-छः पदों से युक्त स्थान में स्थापित किये जाते हैं। **परे** बचे हुए ईशान आदि बत्तीस देवता **पदस्थाः** सबसे बाहर की पंक्ति में ईशान कोण से लेकर प्रदक्षिणा रूप में स्थित बत्तीस पदों में एक-एक कर स्थापित किये जाते हैं। इसके बाद सभी पदों के बाहर ईशान आदि चार कोणों में चरकी आदि चार स्त्री देवता, पूर्व आदि चार दिशाओं में स्कन्द आदि चार पुरुष देवता बिना पदों के स्थापित किये जाते हैं। इन सब वास्तु-देवताओं के नाम इस प्रकार हैं — **१. आद्यो ब्रह्मा** वास्तु-देवताओं में सबसे पहले चतुर्मुख ब्रह्मा का स्थान है। **२. अथ मरीचिकश्च** अन्तर मरीचि, **३. सविता** सूर्य, **४-५. सावित्रवैवस्वतौ** सावित्र और वैवस्वत, **६. इन्द्रश्च** इन्द्र और **७. इन्द्रजयः** इन्द्रजय, **८. अथ मित्रः** इसके बाद मित्र, **९. इतरो रुद्राह्वयः** और दूसरा रुद्र, **१०. रौद्रको दासः** रुद्रदास, **११. धराद्यो धरः** धराधर अर्थात् पृथ्वीधर, **१२-१३. आपापवत्सौ** आप और आपवत्स — इस तरह से प्रथम ब्रह्मा को छोड़कर और आगे के मरीचि आदि बारह देवताओं में से प्रथम चार को छोड़कर बाकी बचे आठ देवता ब्रह्मस्थान के समीप की पंक्ति में पूजित होते हैं। मरीचि आदि पहले चार देवता **बहिः** बाहर की पंक्ति में पूजनीय हैं। उसके ऊपर सबसे बाहर की अन्तिम पंक्ति में बत्तीस पदों के अन्तर्गत जो बत्तीस देवता पूजनीय हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं — **१४. ईशः** ईश, **१५. पर्जन्यनामा** पर्जन्य, **१६. जयः** जयन्त, **१७. मघवान्** महेन्द्र, **१८-१९. सूर्यसत्यौ** सूर्य और सत्य, **२०. भृशश्च** भृश नामक, **२१. व्योमाख्यः** व्योम नामकं (अन्तरिक्ष), **२२. अग्निश्च** और अग्नि, **२३. पूषा** पूषा **२४. वितथः** वितथ, **२५. गृहाध्यक्षकः** गृहाध्यक्ष,

२६. श्राद्धदेवः यम, **२७. गन्धर्वः** गन्धर्व, **२८. भृङ्गराजः** भृंगराज़, **२९. मृगः** मृग, **३०-३२. पितृदौवारसुग्रीवसंज्ञाः** पितृदेवता, द्वारदेवता और सुग्रीव, **३३. पौष्णो दन्तः** पुष्पदन्त, **३४. प्रचेता** वरुण, **३५. दितितनुजः** असुर, **३६-३७. शोषरोगौ** शोष और रोग, **३८. वायुः** वायु, **३९. नागः** नाग, **४०. मुख्यः** मुख्य, **४१. अथ भल्लः** भल्लाट, **४२. विधुः** चन्द्रमा, **४३. सौम्यनामा** सौम्य नामक, **४४. अदितिः** अदिति, **४५. दितिश्च** और दिति। इस तरह से बत्तीस देवता पहले बताये गये तेरह देवताओं के साथ मिलकर संख्या में पैंतालीस देवता उक्त विधि से विभिन्न क्षेत्र-पदों में पूजित होते हैं। इनके ऊपर सभी पंक्तियों से **बाह्ये** बाहर के भाग में **ऐशात्** ईशान कोण से लेकर क्रम से **४६-४७. चरकिसुविदरी** चरकी और सुविदारी, **४८. पूतना** पूतना, **४९. पापराक्षस्याख्या** और पापराक्षसी नाम वाली चार देवियाँ चारों कोणों के पदों में पूजित होती हैं और पूर्व आदि चार दिशाओं में क्रम से **५०. स्कन्दः** स्कन्द, **५१. अर्यमा** अर्यमा, **५२. जम्भः** जम्भ एवं **५३. पिलिपिच्छः** पिलिपिच्छ नामक देवता पूजित होते हैं। **इति त्रिपञ्चाशत्** इस तरह पदहीन और पदसहित सब मिलाकर इन वास्तु-देवताओं की तिरपन संख्या **उक्ताः** शैवागमों में बताई गई है।।२६-२८।।

पूर्वाग्र और उत्तराग्र दस सूत्रों की सहायता से निर्मित एकाशीति (इक्यासी) पद वाले क्षेत्र के मध्य में नौ पदों में ब्रह्मा पूजनीय है। छः पदों में स्थित चार रज्जु (पाश) और तीन पदों में स्थित चार रज्जु, कुल आठ रज्जुओं में आप-आपवत्स आदि आठ देवताओं की पूजा होती है। रज्ज्वष्टक का विवरण निम्न वचन में मिलता है—

शान्तिर्यशोवती कान्ता विशाला प्राणवाहिनी।
सती वसुमती नन्दा सुभद्रा च मनोरमा॥

दश नाड्यः स्मृता ह्येताः प्रत्यक्प्राचीमुखोद्गताः।
हिरण्या सुप्रभा लक्ष्मीर्विभूतिर्विमला स्त्रियः॥

जया ज्वाला विशोका च इडा चैवोत्तरामुखाः।
वंशद्वयं यथापूर्वं रज्जवोऽष्टौ तथैव च॥

त्रिपदा षट्पदा किन्तु ब्रह्मा नवपदे स्थितः।

रज्ज्वष्टक (पाशाष्टक) के विन्यास का प्रकार अन्वयार्था में टीका की पद्धति से ही दिया गया है। इनमें आप-आपवत्स आदि आठ देवताओं की पूजा ब्रह्मस्थान के

ईशान कोण में स्थित पदों में से दो-दो पदों में की जाती है। मरीचि आदि चार देवताओं की पूजा ब्रह्मस्थान से पूर्व आदि दिशाओं में स्थित छः पदों में होती है। अन्य ईश आदि बत्तीस देवता ईशान कोण से लेकर एक-एक पद में पूजनीय हैं। वास्तु देवताओं में प्रथम ब्रह्मा के पूजास्थल का निर्देश अभी हो चुका है। मरीचि, सविता, सावित्र, विवस्वान्, इन्द्र, इन्द्रजय, मित्र, रुद्र, रुद्रदास, धराधर, आप, आपवत्स— इन सब देवताओं की पूजा ब्रह्मस्थान के समीप की पंक्ति में और ईश आदि देवताओं की पूजा बाहर की पंक्ति में की जाती है। ईश आदि बत्तीस देवताओं के नाम ये हैं— ईश, पर्जन्य, जयन्त, महेन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, व्योम, अग्नि, पूषा, वितथ, ग्रहाध्यक्ष, श्राद्धदेव, गन्धर्व, भृंगराज, मृग, पितृगण, दौवार (द्वारदेवता), सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शोष, रोग, वायु, नाग, मुख्य, भल्लाट, सोम, सौम्य, अदिति और दिति। ईशान, अग्नि, निर्ऋति और वायु कोण के बाहरी भाग में चरकी, सुविदारी, पूतना और पापराक्षसी नामक देवियों की तथा स्कन्द, अर्यमा, जम्भ और पिलिपिच्छ नामक देवताओं की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में बाहर की ओर पूजा होती है। ये चार ग्रहदेवता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ तिरपन संख्या के वास्तु देवताओं की पूजा की जाती है। जैसा कि बताया गया है—

ब्रह्मेशपर्जन्यजयमहेन्द्ररविसत्यकाः ।
भृशोऽन्तरिक्षः सप्तार्चिः पूषा वितथसंज्ञकः ॥

ग्रहाध्यक्षः प्रेतपतिर्गन्धर्वो भृङ्गराणमृगः ।
पितृदौवारसुग्रीवपुष्पदन्तप्रचेतसः ॥

असुरः शोषरोगौ च वायुर्नागोऽथ मुख्यकः ।
भल्लाटश्चैव सोमोऽथो उरगोऽदितिरेव च ॥

मरीचिश्च विवस्वांश्च मित्रश्चैव धराधरः ।
आपाऽऽपवत्सौ सविता सावित्रेन्द्रेन्द्रजित् ततः ॥

रुद्रोऽथ रुद्रदासश्च चरकी च विदार्यथ ।
पूतनापापराक्षस्यौ स्कन्दोऽर्यमाऽथ जम्भकः ॥

पिलिपिच्छ इति प्रोक्तास्त्रिपञ्चाशच्च देवताः ।

इस उद्धरण में वास्तुमण्डल में पूजनीय ५३ देवताओं की नामावली का परिगणन किया गया है ॥ २६-२८॥

लिंग और पीठ में ध्यान करने के लिये आत्म, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों के एवं शक्ति के स्वरूप का अब वर्णन करते हैं —

आत्मा विद्या शिवश्चेत्युदितमिह पदं यत्तु तत्त्वत्रयं स्याद्
इच्छाज्ञानक्रियाऽऽविष्करणमपि च तद् ब्रह्मविष्ण्वीशदेवम् ।
प्रत्यात्मस्थं पुनश्चोदितमपि कुटिलायां निवृत्त्यादिभिन्नं
पूज्याधाराख्यशक्त्यावृतमिति च तथाहुस्त्रिधाऽवस्थितं च ।।२९।।

इह यहाँ शैवसिद्धान्त में **आत्मा विद्या शिवश्चेति** आत्मा, विद्या और शिव इस तरह से तीन तत्त्व **उदितं** वर्णित हैं। **तत्त्वत्रयं यत्पदं** इन तीन तत्त्वों के रूप में जो पद वर्णित हैं, वे ही **इच्छाज्ञानक्रियाविष्करणं** इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति नामक तीन शक्तियों को प्रकाशित करते हैं। **अपि च, तद् ब्रह्मविष्ण्वीशदेवं** और ये ही तीन तत्त्व ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक तीन देवताओं के रूप में भी अवतरित होते हैं। **प्रत्यात्मस्थं** प्रत्येक आत्मा में उपादान कारण के रूप में स्थित, **कुटिलायां** कुण्डलिनी शक्ति में **उदितं** उदित हुई **निवृत्त्यादिभिन्नं** निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता नामक पाँच कलाओं में विभक्त होकर स्थित **पूज्याधाराख्यशक्त्यावृतं** लिंग के नीचे के भाग में पीठ के रूप में पूजनीय आधार शक्ति से आवृत होकर ये ही तीन तत्त्व **त्रिधाऽवस्थितं** ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग के रूप में तीन तरह से विभक्त होकर लिंग तत्त्व में **स्यात्** विद्यमान रहते हैं, **तथा आहुः** ऐसा शैवागमों के विद्वानों ने बताया है।।२९।।

आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व के नाम से शैवशास्त्रों में तीन तत्त्व वर्णित हैं। इसी तरह से इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति नामक तीन शक्तियाँ इन्हीं से प्रकाशित होती हैं। यहाँ आत्मतत्त्व की क्रियाशक्ति, विद्यातत्त्व की ज्ञानशक्ति और शिवतत्त्व की इच्छाशक्ति बताई गई है, जैसा कि – **''शिवविद्यात्मतत्त्वं चेदिच्छाज्ञानक्रियान्वितम्''** इस वचन में निर्दिष्ट है। यहाँ आत्मतत्त्व आदि तीन तत्त्वों के वर्णन के बाद इच्छा आदि तीन शक्तियों का वर्णन किया गया है। इससे यह द्योतित होता है कि एक स्थिति ऐसी भी है, जब कि आत्मतत्त्व में भी इच्छाशक्ति विद्यमान है। **अघोरशिवाचार्य** ने भी ''शिवतत्त्वाधिपायै इच्छायै नमः'' ऐसा कह कर आगे कहा है कि शिला, वृक्ष आदि सभी में आत्म, विद्या और शिव नामक तत्त्व तथा उनमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक शक्तियाँ विद्यमान हैं। यह बात उन्होंने अपने **क्रियाक्रम** नामक ग्रन्थ में कही है। इन तीन तत्त्वों और तीन शक्तियों के स्वामी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और ईश्वर (रुद्र) हैं, जैसा कि कहा गया है– **''ब्रह्मविष्णुहरा एव लिङ्गे तत्त्वत्रयाधिपाः''**। इस प्रसिद्ध षडध्वात्मक जगत् में सभी मलिन आत्माओं के शरीरों

की उपादानकारण के रूप में विद्यमान, समस्त अध्वाओं को धारण करने वाली कुटिला शक्ति है, अर्थात् इसीसे सारा जगत् उत्पन्न होता है। बीज की उच्छूनावस्था में, अर्थात् उसके अंकुर के रूप में विकसित होते समय जैसे उसमें कुटि़लता (वक्रता=टेढापन) दिखाई पड़ता है, उसी तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति भी जगत् के रूप में परिणत होते समय कुटिलाकार धारण करती है। यह अशुद्ध अध्वा की आधारभूत तथा शुद्ध अध्वा की उपादानभूत मानी गई है। इस तरह समस्त जगत् की अधिष्ठानस्वरूप यह शक्ति उन-उन आकारों को धारण कर लेती है। यही आधारशक्ति शिव की समवायिनी शक्ति से अधिष्ठित होकर कुटिल आकार को ग्रहण कर कुण्ड़लिनी शक्ति कहलाती है। इस विषय का विस्तार आगमों में देखा जा सकता है। यह [१]कुण्डलिनी शक्ति निवृत्ति आदि पाँच कलाओं से भिन्न है, अर्थात् इनकी भी उत्पत्ति कुण्डलिनी से ही होती है। लिंग के नीचे के भाग में पीठ के रूप में पूजनीय आधारशक्ति से आवृत होकर ये ही तीन तत्त्व त्रिविध रूप में स्थित रहते हैं। अभिप्राय यह है कि पादशिलाओं के नीचे विद्यमान भूमि में सर्वत्र व्यापक रूप में स्थित तत्त्व त्रिधा विभक्त होकर इस लिंग में ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग के रूप में विद्यमान रहते हैं। अतः कूर्मशिला में यह आधारशक्ति ही त्रिधा विभक्त होकर तीन रूपों में पूजनीय होती है।

अधः कूर्मशिलासीनां क्षीरोदसितविग्रहाम् ।
मौलौ बीजाङ्कुराकारां शक्तिमाधाररूपिणीम् ॥

इस श्लोक में इसी आधारशक्ति का परिचय दिया गया है ॥ २९॥

पत्थर से बनने वाले देवालय की प्रथम शिला पत्थर की तथा ईंट से बनने वाले आलयों की प्रथम शिला ईंट की ही होनी चाहिये। इस शिला को शास्त्रों में पादशिला कहा जाता है। ऐसी शिला के न्यास के क्रम को अब बताते हैं —

धाम्नः पादशिला त्रिखण्डसरणिर्धीचित्तमात्रान्तिका
भूतान्ता क्ष्माम्बु शब्दावधि च हुतवहः कर्मखान्तश्च वायुः ।
बुद्ध्यक्षान्तश्च मेधावधि च तु गगनं ब्रह्ममुख्यस्तथेशाः
शर्वाद्यास्त्वष्टपक्षे शशितरणिसखो यज्ञमूर्तिश्च बुद्धौ ॥३०॥

---

१. “कलास्ता बिन्दुवृत्तयः” (श्लो. ८६) रत्नत्रय के इस प्रकरण में यही विषय विस्तार से प्रतिपादित है।

धाम्नः देवालय की **पादशिला** पादशिला **त्रिखण्डसरणिः** तीन विभाग में विभक्त मार्ग वाली होती है। **धीचित्तमात्रान्तिका** यह बुद्धितत्त्व, मनस्तत्त्व और तन्मात्राओं को व्याप्त कर रहती है। इस पादशिला के तीनों खण्डों में मूर्तिन्यास किया जाता है। यह अष्टमूर्तिन्यास और पंचमूर्तिन्यास के रूप में दो प्रकार का होता है। पंचमूर्तिन्यास के पक्ष में मूर्तियों की तत्त्वव्याप्ति इस प्रकार की है — **क्ष्मा** पृथिवी, अर्थात् पार्थिव मूर्ति की **भूतान्ता** पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त पाँच तत्त्वों में व्याप्ति रहती है। **अम्बु** जल, अर्थात् आंप्य मूर्ति की व्याप्ति **शब्दावधि** गन्ध से लेकर शब्द पर्यन्त पाँच तत्त्वों में, **हुतवहश्च** और तैजस मूर्ति की व्याप्ति **कर्मखान्तः** पाँच कर्मेन्द्रियों तक, **वायुः** वायु, अर्थात् वायवीय मूर्ति की व्याप्ति **बुद्ध्यक्षान्तश्च** पाँच ज्ञानेन्द्रियों तक तथा **गगनं** आकाश, अर्थात् नाभस (आकाश) मूर्ति की व्याप्ति **मेधावधि च** बुद्धि तत्त्व पर्यन्त रहती है। इस तरह से पंचमूर्तिन्यास के पक्ष में पादशिला में बुद्धितत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों के न्यास का विधान शास्त्रों में किया गया है। **ब्रह्ममुख्याः** ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव नामक पाँच कारणेश्वर **तथा** उसी क्रम से क्रमशः पार्थिव आदि पाँच मूर्तियों के **ईशाः** ईश्वर हैं। **अष्टपक्षे तु** अष्टमूर्तिन्यास के पक्ष में तो **शशितरणिसखो यज्ञमूर्तिश्च** ऊपर की पाँच मूर्तियों के अतिरिक्त चन्द्रमूर्ति, सूर्यमूर्ति और इनके साथ रहने वाली यजमानमूर्ति को भी मिलाकर यह किया जाता है। इन मूर्तियों की तत्त्वव्याप्ति का क्रम इस प्रकार है — पार्थिव आदि पाँच मूर्तियों की व्याप्ति तो पहले बताई गई विधि के अनुसार ही बुद्धितत्त्व पर्यन्त रहती है। इसके बाद चन्द्र, सूर्य और यजमान मूर्ति की तत्त्वव्याप्ति आकाशमूर्ति के समान **बुद्धौ** बुद्धितत्त्व में रहती है। **शर्वाद्याः** इस अष्टमूर्ति पक्ष में शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, भव, महेश्वर, महादेव और भीम **ईशाः** (स्युः) ये आठ देवता इन अष्टमूर्तियों के क्रमशः ईश्वर (स्वामी) माने जाते हैं। इन दो पक्षों में मूर्तियों और मूर्तीश्वरों की व्याप्ति को जान कर नवशिला पक्ष में भी मूर्तियों और मूर्तीश्वरों के न्यासों के प्रकार को जान लेना चाहिये।।३०।।

मन्दिर की प्रथम शिला उसी सामग्री से बनानी चाहिये, जिससे कि मन्दिर का निर्माण होने वाला है। प्रस्तर से बनाये जाने वाले मन्दिर की प्रथम शिला का प्रस्तर से

और ईंट से बनाये जाने वाले मन्दिर की प्रथम शिला ईंट की ही होनी चाहिये। यह शिला एक हाथ की लम्बी-चौड़ी तथा आठ अंगुल ऊँचे आकार की बनाई जाती है। अथवा यह इससे आधे विस्तार की भी हो सकती है। जैसा कि ज्ञानरत्नावली में बताया गया है—

शिलान्यासः प्रकर्तव्यः शिलास्ताश्च शिवागमे।
शैलधाम्नि शिलाधस्ताद् हस्तमात्राः समन्ततः॥

हस्तमात्रा क्वचिद् दैर्घ्यात् तदर्धा विस्तरोच्छ्रिता।
तदर्धदैर्घ्यका शस्ता प्रासादे चेष्टकामये॥

चतुरश्रा शुभा मध्ये चक्राद्यैरङ्किता नव।
नन्दा भद्रा जया पूर्णा त्वजिता चापराजिता॥

विजया मङ्गलाख्या च धरणी नवमी मता।
निधिकुम्भाश्च कर्तव्याः.................॥

अन्यत्र भी यह विषय चर्चित है —

हेमताम्रमयाः कुम्भास्तदभावाच्च दारुजाः।
हास्तिकाष्टाङ्गुलाः शस्तास्त्रिपञ्चपलमानतः॥

हस्ते हस्ताङ्गुला वृद्धिः पलानां पञ्चभिस्तथा।
विचित्ररचनायुक्ता लोकपालास्त्रलाञ्छिताः॥

सुभद्रश्च विभद्रश्च सुनन्दः पुष्पनन्दनौ।
जयश्च विजयश्चाथ कुम्भपूर्णमथोत्तरः॥

इति कुम्भा नव प्रोक्ता यदा नवशिलास्तदा।
नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा पञ्च शिलास्तथा॥

आसां पद्मो महापद्मः शङ्खो मकरकस्तथा।
सुभद्रश्चेति कुम्भाः स्युः सर्वे पङ्कजलाञ्छिताः॥

स तु रत्नौषधीगर्भकुम्भो मध्वाज्यपूरितः।

नौ शिलाओं की स्थापना करते समय धरणीशिला को बीच में स्थापित करना चाहिये। उसकी बगल में उत्तर नामक कुंभ की स्थापना करे। नन्दा आदि शिलाओं की स्थापना पूर्व आदि दिशाओं में करके उनके पार्श्व में सुभद्र आदि आठ निधिकुंभों की स्थापना की जाती है। इस नवशिला पक्ष में निर्ऋति कोण की शिला को विष्णु के अस्त्र से चिह्नित करना चाहिये।

पाँच शिलाओं की स्थापना करनी है तो इस पक्ष में बीच में पूर्णशिला और उसके बगल में सुभद्र नामक कुंभ की स्थापना की जाती है। अग्नि आदि कोणों में नन्दा, भद्रा, जया और रिक्ता नामक शिलाओं की और उनके पार्श्व में पद्म, महापद्म, शंख और मकर आदि कुंभों की स्थापना की जाती है। इन कुंभों को पद्म से अलंकृत करे। जैसा कि—

मध्यमे धरणी प्रोक्ता उत्तराख्यो घटः स्मृतः।
कुम्भानष्टौ सुभद्रादीन् दिक्षु पूर्वादितः क्रमात्॥

लोकपालाणुभिर्न्यस्त्वा श्वभ्रेषु न्यस्तशक्तिषु।
शिलास्तेषु च नन्दाद्याः क्रमशो विनिवेशयेत्॥

एवं नवशिलापक्षे शिलाः पञ्च यदा तदा।
मध्ये पूर्णशिलां न्यस्त्वा सुभद्रकलशस्ततः॥

पद्मादिषु च नन्दाद्याः कोणेष्वग्न्यादिषु क्रमात्।

इस वचन में निर्दिष्ट है। इन नन्दा आदि शिलाओं में से प्रत्येक के तीन खण्ड कर उनमें तीन तत्त्वों का न्यास किया जाता है। यहाँ 'धी' शब्द से बुद्धि और अहंकार का, 'चित्त' शब्द से मनसहित एकादश इन्द्रियों का और 'मात्रा' शब्द से सूक्ष्म और स्थूल भूतों का एवं उनके गुणों का ग्रहण होता है। 'अन्तिका' शब्द इन तीनों से संबद्ध है — बुद्ध्यहङ्कारान्तिका, चित्तान्तिका और मात्रान्तिका। तब इसका यह अर्थ होगा — बुद्धितत्त्व और अहंकारतत्त्व में शिवतत्त्व की, मन से लेकर उपस्थ पर्यन्त तत्त्वों में विद्यातत्त्व की तथा शब्द से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त आत्मतत्त्व की व्याप्ति है। जैसा कि ज्ञानरत्नावली में प्रदर्शित है —

बुद्ध्यहङ्कृतितत्त्वे तु शिवतत्त्वं स शङ्करः।
विद्यातत्त्वं च विष्णुं च न्यसेदेकादशेन्द्रिये॥

ब्रह्माणमात्मतत्त्वं च तन्मात्रादौ न्यसेत् पुनः।

अथवा 'धीचित्तमात्रान्तिका भूतान्ता त्रिखण्डसरणिः' इस तरह से ग्रन्थ की योजना करनी चाहिये। इस पक्ष में धीचित्तान्तिका, मात्रान्तिका और भूतान्ता त्रितत्त्वव्याप्ति होगी। उसका अर्थ यह होगा — बुद्धि, अहंकार और मन पर्यन्त शिवतत्त्व की, श्रोत्र से लेकर गन्ध पर्यन्त विद्यातत्त्व की और आकाश से लेकर धरा पर्यन्त आत्मतत्त्व की व्याप्ति होगी। क्रियाक्रम के शिलान्यास प्रकरण में यही पक्ष मान्य हुआ है।

पंचमूर्ति-न्यास में तत्त्वव्याप्ति का क्रम इस प्रकार का होगा — पृथ्वी की व्याप्ति आकाश पर्यन्त, जल की शब्दतत्त्व पर्यन्त, अग्नि की कर्मेन्द्रिय पर्यन्त, वायु की

ज्ञानेन्द्रिय पर्यन्त और आकाशतत्त्व की व्याप्ति बुद्धितत्त्व पर्यन्त होती है। इससे यह सूचित होता है कि शिलाओं में बुद्धितत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों का न्यास किया जाता है।

बुद्ध्यादीनि धरान्तानि तासु तत्त्वानि विन्यसेत्।
तत्त्वेशांश्च हृदा न्यस्य तत्र तत्त्वत्रयं न्यसेत्॥

भूतान्ता क्ष्माऽम्बु शब्दान्तं वह्निः कर्मेन्द्रियान्तकः।
बुद्धीन्द्रियान्तको वायुर्व्योम बुद्ध्यन्तमश्मनि॥

इस वचन में यही विषय प्रतिपादित है। इसी तरह से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव क्रमशः पृथिवी आदि पंचमूर्तियों के अधिपति हैं।

अष्टमूर्ति-न्यास के पक्ष में शर्व, पशुपति आदि शिव की आठ मूर्तियाँ पृथिवी आदि आठ मूर्तियों की अधिपति मानी जाती हैं। सिद्धान्तशेखर के इस वचन के अनुसार —

क्ष्मावह्नियजमानार्का जलवाय्विन्दुकानि च।
व्योमान्ता मूर्तयश्चाष्टौ न्यस्तव्याः प्रतिखण्डकम्॥

शर्वं पशुपतिं चोग्रं रुद्रं भवमथेश्वरम्।
महादेवं च भीमं च मूर्तिमूर्तीश्वरान् न्यसेत्॥

नवस्वपि शिलास्वेवं मूर्तिपञ्चसु पञ्चधा।
पृथ्व्यप्तेजोनिलाकाशान् आकाशान्ताधिपान् न्यसेत्॥

ब्रह्माणं च हरिं रुद्रमीश्वरं च सदाशिवम्।

पंचमूर्ति पक्ष में पृथिवी से बुद्धितत्त्व पर्यन्त तत्त्वव्याप्ति का जो क्रम है, अष्टमूर्ति पक्ष में भी उसी का अनुसरण करना चाहिये। इस क्रम में चन्द्र, सूर्य और यजमान की व्याप्ति आकाश के समान बुद्धितत्त्व में मानी जाती है॥ ३०॥

लिंग में अंकित करने के लिये चिह्न-विशेषों के लक्षणों को अब बताते हैं —

अर्च्यांशात्रिद्विभागात् तदहिविभजनादेकतो विस्तरं तद्
रन्ध्रांशाद् रेखयोस्तद्वितितिसुवितते लक्ष्मणोऽर्धाच्च पक्षौ ।
अष्टाभिर्भाजितेऽर्धे नवभिरपि बहिः सप्तभिः षट्कतो वा
भ्रान्त्याऽधः पृष्ठयोगो द्वितयविरहतो लिङ्गमूर्ध्नेव मूर्ध्ना ।।३१।।

लिंग के नीचे ब्रह्मभाग, मध्य में विष्णुभाग और ऊपर रुद्रभाग स्थित हैं। इनमें से रुद्रभाग के पुनः तीन विभाग कर उनमें से ऊपर के एक भाग को छोड़कर बाकी के दो भागों में चिह्न बनाना चाहिये, यही बात **अर्च्यांशत्रिद्विभागात्** इस समस्त पद से कही गई है। इसका अर्थ यह है कि **अर्च्य** पूजनीय, **अंश** रुद्रभाग के **त्रि** तीन में से **द्वि** दो भागों को लेकर **तदहिविभजनात्** उनको आठ भागों में विभक्त कर **एकतः** एक भाग में **विस्तरं** चिह्नों के विस्तार को, **तद्रन्ध्रांशात्** उस विस्तार के नवें अंश से **तद्रेखयोः** उन चिह्नों की दोनों रेखाओं को, **विततिसुवितते** चौड़ाई और गहराई तक **लक्ष्मणोऽर्धात्** चिह्नों का विस्तार कर उसके आधे नाप से **पक्षौ** दोनों पार्श्वों में भी क्षेत्र का विस्तार करे। तदनन्तर **अष्टाभिर्नवभिरपि वा** आठ अथवा नौ संख्या से भी **भाजिते** विभाजित क्षेत्र को **अर्धे** उस चिह्न के विस्तार के आधे भाग में पार्श्व में किये गये विस्तार से **बहिः** बाहर आठ में से एक और नौ में से दो भागों हटा कर **सप्तभिः** सात भागों से अथवा बाहर आठ में से दो और नौ में से तीन भागों को हटा कर **षट्कतो वा** छः भागों में से **अधः** लिंग के नीचे **द्वितयविरहतः** दो भागों को बाद कर चार भागों को लेकर **भ्रान्त्या** सूत्रों को घुमा कर **पृष्ठयोगः** (कार्यः) पिछले भाग में इस रेखा को संयुक्त कर देना चाहिये। **मूर्धा** इस रेखा का शिरोभाग **लिङ्गमूर्धेव** लिंग के शिरोभाग का जैसा (स्यात्) बनाना चाहिये। रत्न, लोह, बाण और चल लिंगों में ये चिह्न नहीं बनाये जाते, इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये।।३१।।

अर्चनीय शिवलिंग के ब्रह्म-विष्णु-रुद्र नामक तीन भागों में से रुद्रभाग को पुनः तीन भागों में विभक्त करने के उपरान्त ऊपर के एक भाग को छोड़ कर बाकी के दो भागों में चिह्नों का निर्माण किया जाता है। जैसा कि कहा गया है—

> रुद्रभागे त्रिधा भक्ते भागमूर्ध्वं परित्यजेत्।
> भागयुग्मेन कुर्वीत लक्ष्मरेखाद्वयं गुरुः॥

इनमें से एक भाग को अष्टधा विभक्त कर उसके एक भाग में चिह्नों का विस्तार करना चाहिये। इस प्रकार चिह्नों का विस्तार करने के उपरान्त उनको नवधा विभक्त करने पर उन नौ भागों में से एक अंश में दोनों रेखाओं के विस्तार और निम्नता की रचना की जाती है, अर्थात् चिह्नों का जितने अंश में निर्माण होता है, उसके नवें अंश

में रचित दो रेखाओं से उनके विस्तार और निम्नता को समान रूप से दिखाना चाहिये। इस चिह्न के आधे विस्तार के बराबर दोनों तरफ की रेखाओं का विस्तार करना चाहिये, जैसा कि कहा गया है — "लक्ष्मक्षेत्रार्धमानेन पक्षक्षेत्रस्य विस्तरः"। फिर आठ अथवा नौ भागों में विभाजित आधे क्षेत्र में उसकी दीर्घता को आठ भागों में विभक्त करे। बाहर के प्रदेश में सात अथवा छः भागों में, अर्थात् नौ भाग में से दो को हटाने पर सात और आठ में दो भागों को हटाने पर छः भागों में सूत्र को घुमा कर उसका पृष्ठदेश से संबन्ध जोड़ देना चाहिये। जैसा कि निम्न वचन में प्रदर्शित है —

लक्ष्मक्षेत्रेऽष्टधा भक्ते मूर्ध्नि भागद्वये च्युते।
षड्भागपरिवर्तेन उक्तभागद्वयं त्वधः॥
रेखाभ्रमणसंबन्धं कारयेत् पृष्ठदेशतः।

वरुणपद्धति में भी यह विषय वर्णित है —

रुद्रभागे त्रिधा भक्ते ब्रह्मरेखानुसारतः।
अधो भागद्वये लक्ष्म लम्बयेदा जलाश्रयम्॥

लिङ्गायामजिनांशे तु लक्ष्मविस्तृतिरीरिता।
पृथ्वी निम्ना पतद्रेखा विस्तृते नवमांशतः॥

लक्ष्मार्धे पक्षरेखे द्वे तत्क्षेत्रेऽष्टांशभाजिते।
षट्सप्तांशभ्रमात् पृष्ठे तद्योगोऽधोविवर्जनात्॥

यहाँ जिन चिह्नों के निर्माण की विधि बताई गई है, उनके शिरोभाग की आकृति लिंग के शिरोभाग की जैसी ही होनी चाहिये। 'इव' शब्द से यह द्योतित होता है कि भिन्न आकृति का निर्माण उचित नहीं है, जैसा कि —

यथा लिङ्गशिरः प्रोक्तं तथा लक्ष्मशिरो हितम्।
सर्वसिद्धिप्रदं धन्यं सर्वविघ्नभयङ्करम्॥

इस वचन में निर्दिष्ट है। रत्न आदि से बनाये गये लिंग में चिह्नों की रचना नहीं की जाती, यह विषय भी शास्त्रों में वर्णित है —

नैतद् रत्नमये लिङ्गे न लोहेऽपि चले नहि।
न बाणलिङ्गे रौहे वा नदीप्रस्रवणोद्भवे॥

स्वाकारो लक्षणं तेषु तेजोरत्नेषु भास्वरम्।
रत्नजे लोहजे लक्ष्म विधेयं वा न वा भवेत्॥

प्रस्तुत वचन में वैकल्पिक व्यवस्था भी वर्णित है॥ ३१॥

लिंग के आधारभूत पिण्डिका नामक पीठ में अंकित किये जाने वाले

चिह्न-विशेषों के लक्षणों को अब बताते हैं —

पीठे लक्ष्म भगाकृतिस्तु पुरतस्तूर्ध्वाग्रकं पिण्डिका-
रन्ध्रस्यापि गुणांशभागयुगले मूले भ्रमद्वन्द्वयुक् ।
नालस्यार्धततं पृथुत्वनतयो रेखास्थयोः साङ्घ्रिके
लिक्षे यूकयुगैकहस्तपरतो यूकैकलिक्षैकतः ।।३२।।

पीठे लिंग को धारण करने वाले पिण्डिका नामक पीठ पर **लक्ष्म** चिह्न **पुरतः** लिंग के सामने **पिण्डिकारन्ध्रस्य** पीठद्वार के **गुणांशभागयुगले** तीन में से एक भाग को हटा कर बचे हुए दो भागों में **भगाकृतिः** योनि का आकार **ऊर्ध्वाग्रकं** (कार्यम्) अग्रभाग ऊपर रहे, ऐसा बनाना चाहिये। **मूले** पीठ का मूल भाग **भ्रमद्वन्द्वयुक्** चारों तरफ दो रेखाओं से घिरा रहना चाहिये। **नालस्यार्धततं** उसका विस्तार नाल-मार्ग से आधा रहे। **रेखास्थयोः** दो रेखाओं में स्थित **पृथुत्वनतयोः** चौड़ाई और गहराई का नाप **साङ्घ्रिके लिक्षे** एक पाद सहित लिक्षा होता है। लिक्षा का नाप आठ बालों को एक साथ रखने के बराबर होता है। दो रेखाओं के बीच का अन्तर इतना ही रहना चाहिये। **यूकयुग** यह चार यूक का रहना चाहिये। ये सभी परिमाण एक हस्त-परिमाण के लिंग के लिये उपयुक्त हैं। **एकहस्तपरतः** एक हाथ से अधिक प्रमाण के लिंग के लिये रेखाओं के मध्य भाग के लिये कहे गये नाप को **यूकैकलिक्षैकतः** एक-एक यूक और एक-एक लिक्षा के प्रमाण से बढ़ाना चाहिये।।३२।।

पिण्डिका भाग में अश्वत्थ-पत्र के समान योनि के आकार का चिह्न बनाना चाहिये, **''लिङ्गलक्ष्मसमीपस्थं यथा स्याद् भगलक्षणम्''** यह वचन इसमें प्रमाण है। तदनुसार लिंग के अग्र भाग में ऊर्ध्व मुख वाले पिण्डिका रन्ध्र के बीच के एक भाग को हटाकर शेष दो भागों में इसका निर्माण किया जाता है। पिण्डिका-रन्ध्र के मूल भाग से घुमावदार दो रेखाएँ खींचनी चाहिये। इनका प्रमाण पीठ में निर्मित जलमार्ग का आधा रखा जाता है। इन रेखाओं की मोटाई और गहराई एक पाद सहित लिक्षा के बराबर होती है। घोड़े की पूँछ के एक बाल के अगले भाग को आठ गुना मोटा करने पर लिक्षा का प्रमाण बनता है। आठ लिक्षाओं के बराबर यूक का प्रमाण होता है। जैसा कि कामिकागम में वर्णित है —

परमाणुक्रमाद् वृद्ध्यां मानाङ्गुलमिति स्मृतम् ।
परमाणुरिति ख्यातो योगिनां दृष्टिगोचरः ॥

रजो रेण्वश्वबालाग्रं लिक्षा यूको यवस्तथा।
क्रमशोऽष्टगुणाः प्रोक्ता यवैः षड्भिश्च सप्तभिः॥

मन्तान्तर में इन दोनों रेखाओं के बीच का अन्तर दो यूक और पाँच लिक्षाओं का होना चाहिये। यह सारा विधान एक हस्त-प्रमाण के लिंग के लिये है। एक हाथ से ऊपर दो हाथ आदि के लिंगों में इनके प्रमाण में एक यूक और एक लिक्षा की वृद्धि करते जाना चाहिये। जैसा कि —

रन्ध्रमध्ये भगाकारमूर्ध्वाग्रं लक्ष्म पीठयोः।
रन्ध्रस्यैव विभागेन तन्मूले भ्रमरेखि सत्॥

अश्वत्थपत्रवद् गुह्यं वर्तयेद् गुह्यलक्षणम्।
प्रणालः स्यात् स विस्तारात् पीठरन्ध्रे कलेन्दुवत्।
द्वे यूके पञ्च लिक्षा वा रेखयोरन्तरं भवेत्॥

रेखापृथुत्वं साङ्घ्रीके द्वे लिक्षे मूर्धजौ तथा।
एकैकां वर्धयेद् यूकां लिक्षां च द्विकरादिषु॥

इन श्लोकों में वर्णित है॥ ३२॥

अब लिंग के तीन कण्ठों में भी आत्म, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों को मिलाकर पृथिवी आदि अष्टमूर्तियों की तत्त्वव्याप्ति के क्रम को दिखाते हैं —

विद्याशक्त्यन्तशैवावधि शिवजनितं चैतदुक्तं त्रिखण्डं
क्षित्याद्याश्चाष्ट शर्वात् प्रभृति च परमा मूर्तयो मूर्तिपाश्च।
रागान्ता क्ष्माम्बु कालावधि च हुतवहः शुद्धविद्यावसानो
वायुर्विद्येश्वरान्तो वियदपि च शशी यज्वसूर्यः शिवान्तः ।।३३।।

ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग नामक विभागों में स्थित लिंग को पुनः तीन कण्ठों में एक-एक के तीन-तीन विभाग कर मूर्तियों का और मूर्तीश्वरों का न्यास किया जाता है। उसी को दिखाने के लिये रुद्रभाग के तीन कण्ठों में तत्त्वव्याप्ति और मूर्तिव्याप्ति का क्रम इस प्रकार है — **शिवजनितं** रुद्रभाग से उत्पन्न हुए **एतत् त्रिखण्डं** इस तीन खण्ड वाले कण्ठ में **विद्याशक्त्यन्तशैवावधि** आत्मतत्त्व की व्याप्ति शुद्धविद्यातत्त्व तक, विद्यातत्त्व

की व्याप्ति शक्तितत्त्व तक और शक्तितत्त्व की व्याप्ति शिवतत्त्व में **उक्तं** कही गई है। **क्षित्याद्याश्च अष्ट** पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और यजमान — ये आठ मूर्तियाँ **शर्वात् प्रभृति च अष्ट** और शर्व, पशुपति उग्र, रुद्र, भव, ईशान, महादेव और भीम नाम से जाने गये आठ देवता **परमाः** पृथिवी आदि श्रेष्ठ मूर्तियों के **मूर्तिपाः** पालन करने वाले श्रेष्ठ अधीश्वर हैं। इन मूर्तियों में तत्त्वव्याप्ति का क्रम इस प्रकार है — **क्ष्मा** पृथिवीमूर्ति में **रागान्ताः** राग पर्यन्त तत्त्व स्थित हैं। **जल** मूर्ति में **काल** तत्त्व पर्यन्त और **हुतवहः** तैजसमूर्ति की व्याप्ति **शुद्धविद्यावसानः** शुद्धविद्या पर्यन्त है। **वायुः** वायवीय मूर्ति की व्याप्ति **विद्येश्वरान्तः** ईश्वरतत्त्व तक है। **अपि च** और **वियत्** आकाश, **शशी** चन्द्रमूर्ति, **यज्वसूर्यः** सूर्यमूर्ति और यजमानमूर्ति की व्याप्ति **शिवान्तः** शिवतत्त्व पर्यन्त है, अर्थात् ये शिवतत्त्व के विभिन्न स्वरूप हैं। इस विषय को भलीभाँति जान कर तदनुसार ही त्रिकण्ठ-न्यास का विधान करना चाहिये।।३३।।

शुद्धविद्या पर्यन्त, शक्तितत्त्व पर्यन्त और शिवतत्त्व पर्यन्त क्रमशः आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व की व्याप्ति माननी चाहिये, अथवा ऊपर बताये गये क्रम से भी व्याप्ति मानी जा सकती है। कामिकागम में ये दोनों पक्ष प्रदर्शित हैं —

शिवशक्तिसदेशान्तं त्रिखण्डं कल्पयेत् पुनः।
विद्याशक्तिशिवप्रान्तं मायासादेशशक्तिगम्॥

शब्दचित्तमनीषान्तं लिङ्गपीठेऽश्मनि क्रमात्।

रुद्रभाग में बताये गये तीन खण्डों की तरह ब्रह्मभाग और विष्णुभाग में भी तीन-तीन खण्डों की कल्पना करनी चाहिये, जैसा कि ज्ञानरत्नावली में प्रदर्शित है—

आत्मतत्त्वं तदात्मान्तं विद्या विद्यान्तगोचरा।
रागान्तं शिवतत्त्वं तु त्रितत्त्वं ब्रह्मणि न्यसेत्॥

आत्मतत्त्वं नियत्यन्तं विद्यातत्त्वं कलान्तकम्।
शिवाख्यं शुद्धविद्यान्तं विष्णुभागे त्रयं न्यसेत्॥

आत्मांख्यमीश्वरान्तं तु विद्याख्यं सकलावधि।
शक्त्यन्तं शिवतत्त्वं च रुद्रभागे त्रयं न्यसेत्॥

पृथ्वी आदि शिव की आठ मूर्तियाँ कही जाती हैं। इसी तरह शर्व, पशुपति आदि इन आठ मूर्तियों के अधिपति माने जाते हैं। **कामिकागम में —**

क्ष्मावह्नियजमानार्कजलवायुनिशाकराः ।
व्योमान्ता मूर्तयश्चाष्टौ न्यस्तव्याः प्रतिखण्डकम् ॥

शर्वः पशुपतिश्चोग्रो रुद्रो निर्ऋतिगोचरे ।
भवेशानमहादेवा भीमश्चेत्यष्टमूर्तयः ॥

यहाँ पृथिवीतत्त्व की व्याप्ति रागतत्त्व तक, जलतत्त्व की व्याप्ति कालतत्त्व तक और अग्नितत्त्व की व्याप्ति शुद्धविद्या पर्यन्त मानी गई है। वायुतत्त्व की व्याप्ति विद्येश्वर पर्यन्त है। इसी तरह आकाश, चन्द्रमा, यजमान और सूर्य इन चार की व्याप्ति शिवतत्त्व पर्यन्त मानी गई है। **वरुणपद्धति** के निम्न वचन में —

रागान्तं क्ष्माऽम्बु कालान्तं विद्यान्तं च हुताशनः ।
वायुरीश्वरपर्यन्तं व्योम लिङ्गे शिवान्तकम् ॥

पंचभूतों की भी व्याप्ति बताई गई है ॥ ३३॥

अष्टमूर्ति पक्ष में त्रिकण्ठ-न्यास का विधान बताकर अब पंचमूर्ति पक्ष में इसका प्रकार बताया जा रहा है —

प्रोक्ता खण्डेऽष्टदिक्षु स्थितिरिति खलु वा क्ष्मादयो ब्रह्ममुख्याः
पञ्चाजातादिदिक्स्थाः पतय इह किल प्रोक्तवद्व्याप्तियुक्ताः ।
मायासादेशशक्त्यन्तततमिदमधः पीठकण्ठान्तमात्मा
विद्या पिण्ड्यां च नाले शिव इह पतयः स्युः क्रिया दृक् तथेच्छा ॥ ३४॥

इति इस तरह से अष्टमूर्ति-न्यास के पक्ष में **खण्डे** पीठ के तीन कण्ठों में भी **अष्टदिक्षु** पूर्व आदि आठ दिशाओं में **स्थितिः** अष्टमूर्ति न्यास के क्रम को **प्रोक्ता** पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से ही कहा गया है। (अथवा) पक्षान्तर में **क्ष्मादयः पञ्च** पृथिवी आदि पाँच भूतों को ही पंचमूर्ति कहा जाता है। **इह** इस पंचमूर्ति पक्ष में **पतयः** इन पाँच मूर्तियों के अधीश्वर क्रमशः **ब्रह्ममुख्याः** **पञ्च** ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव नामक पाँच देवता हैं। **ते च** ब्रह्मा आदि इन पाँचों देवताओं की स्थिति **अजातादिदिक्स्थाः** क्रमशः सद्योजात आदि पाँच ब्रह्ममूर्तियों की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओं में बताई गई है। **प्रोक्तवत्** इन सबकी व्याप्ति पहले बताई गई

व्याप्तियुक्ताः तत्त्वव्याप्ति के सदृश ही है। **इह** इस पंचमूर्ति पक्ष में **इदं** आत्मा, विद्या और शिवतत्त्व नामक तीन तत्त्वों का क्रम **मायासादेशशक्त्यन्ततत्तं** क्रमशः मायातत्त्व, सदाशिवतत्त्व और शक्तितत्त्व पर्यन्त व्याप्त है। **किञ्च** और **आत्मा** आत्मतत्त्व की स्थिति **अधः** पीठ के मूल से लेकर **पीठकण्ठान्तं** पीठ के कण्ठ स्थान तक, **विद्या** विद्यातत्त्व की स्थिति **पिण्ड्यां** कण्ठ के ऊपर स्थित पिण्डी तक तथा **शिवः** शिवतत्त्व की स्थिति **नाले** गोमुख-पर्यन्त रहती है, अर्थात् इन्हीं स्थानों में इनका न्यास किया जाता है। **किञ्च** और **इह** इन तीन तत्त्वों के **क्रिया** क्रियाशक्ति, **दृक्** ज्ञानशक्ति एवं **इच्छा** इच्छाशक्ति क्रमशः **पतयः स्युः** अधिदेवता माने गये हैं। यहाँ तत्त्वत्रय के अधिदेवताओं को बताने का अभिप्राय यह है कि इनके साथ ही तत्त्वत्रय का न्यास करना चाहिये।।३४।।

शिवलिंग के तीनों खण्डों में पूर्व आदि ईशान पर्यन्त आठ दिशाओं में पृथिवी आदि आठ मूर्तियों की क्रमशः स्थिति मानी गई है। अथवा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पाँच मूर्तियों के अधिपति क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं। जैसा कि कामिकागम में प्रदर्शित है —

पञ्चमूर्त्यात्मके न्यासे क्ष्मावारिदहनानिलाः ।
खं चेति मूर्तयो लिङ्गे ब्रह्माद्या मूर्तिपा मताः ॥

इन पाँच मूर्तियों और उनके अधिपतियों की स्थिति क्रमशः सद्योजात आदि पंचब्रह्म–मूर्तियों की पाँच दिशाओं में, अर्थात्[१] पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पूर्व और ईशान (ऊर्ध्व) दिशाओं में माननी चाहिये। इस पंचमूर्ति पक्ष में छत्तीस तत्त्वों की व्याप्ति पहले बताई जा चुकी है। मूल श्लोक में 'खलु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे यह सूचित होता है कि मुमुक्षु साधक आकाश आदि मूर्तियों के अधिपतियों के रूप में पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से अनन्तेश्वर आदि का न्यास करे। जैसा कि ज्ञानरत्नावली में प्रदर्शित है —

यद्वा मूर्तिषु ताश्चैव विद्येशा मूर्तिपा न्यसेत् ।
अनन्तः सूक्ष्मसंज्ञश्च शिवोक्तश्चैकनेत्रकः ॥

एकरुद्रस्त्रिमूर्तिश्च श्रीकण्ठश्च शिखण्ड्यथ ।
खादिमूर्तिषु पूर्वादिदिक्क्रमेणैव विन्यसेत् ॥

---

[१] सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक पंचब्रह्म शिव की पाँच मूर्तियों (मुखों) की स्थिति क्रमशः इन दिशाओं में मानी जाती है।

'किल' शब्द से यहाँ सूचित होता है कि पंचमूर्ति पक्ष में निवृत्ति आदि पाँच मूर्तियाँ हैं और सद्योजात आदि पाँच इन मूर्तियों के अधिपति हैं, जैसा कि– **"मूर्तयो वा निवृत्त्याद्याः सद्योजातादयोऽधिपाः"** इस वचन में कहा गया है। यहाँ मायातत्त्व पर्यन्त आत्मतत्त्व की, सदाशिवतत्त्व पर्यन्त विद्यातत्त्व की और शक्तितत्त्व पर्यन्त शिवतत्त्व की व्याप्ति रहती है। इनमें आत्मतत्त्व की स्थिति ब्रह्मभाग से युक्त पीठ के मूल भाग से प्रारंभ कर कर्णपर्यन्त भाग में, विद्यातत्त्व की व्याप्ति कण्ठ के ऊर्ध्व भाग में स्थित पिण्डीपर्यन्त और शिवतत्त्व की व्याप्ति नाल (गोमुख) पर्यन्त है। मूल श्लोक में 'सह' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि अपने-अपने अधिपतियों के साथ इन तत्त्वों का न्यास करना चाहिये। इनमें क्रियाशक्ति को आत्मतत्त्व की, ज्ञानशक्ति को विद्यातत्त्व की और इच्छाशक्ति को शिवतत्त्व की स्वामिनी माना गया है, **"क्रिया ज्ञानी तथेच्छा च त्रितत्त्वादीश्वरा मताः"** यह वचन इसमें प्रमाण है ॥ ३४॥

अष्टमूर्ति पक्ष और पंचमूर्ति पक्ष का अनुसरण कर पिण्डिका में मूर्तिन्यास करते समय धारिका आदि शक्तियाँ इन मूर्तियों की अधिदेवता बन जाती हैं, इस विषय का उल्लेख करते हुए यहाँ ब्रह्मशिला आदि में त्रिकण्ठ-व्याप्ति आदि विषयों को भी अब दिखाते हैं —

क्ष्माद्यास्वष्टसु धारिकादय इहाधीशाश्च वा मूर्तयः
क्ष्माद्याः पञ्च तु वामया तदधिपा ज्येष्ठा क्रिया दृक् तथा ।
इच्छा ब्रह्मशिलातले खमनःसादेशखण्डत्रयं
गौर्यादिर्गलजानुखण्डपरिधिः पीठोक्तमूर्त्यादयः ॥३५॥

इह पिण्डिका में न्यास करते समय **क्ष्माद्यासु** पृथिवी आदि **अष्टसु** आठ मूर्तियों में **धारिकादयः** धारिका आदि (धारिका, दीप्तिमती, उग्रा, ज्योत्स्ना, छेदा, बलोत्कटा, दात्री और बह्नी) आठ शक्तियाँ **अधीशाः** अधिपति देवता होती हैं। **च वा** और विकल्प से पंचमूर्ति पक्ष में **क्ष्माद्याः** पृथिवी आदि पाँच भूत **पञ्चमूर्तयः** जब पाँच मूर्तियाँ कहलाती हैं, (तदा) उस समय **वामया** वामा शक्ति के साथ **ज्येष्ठा** ज्येष्ठा शक्ति, **क्रिया** क्रियाशक्ति, **दृक्** ज्ञानशक्ति **तथा** उसी तरह **इच्छा** इच्छा नामक पाँच शक्तियाँ **तदधिपाः** इन पाँच मूर्तियों की अधिदेवता होती हैं। **ब्रह्मशिलातले** ब्रह्मशिला में भी **खण्डत्रयं** तीन खण्ड माने गये हैं। इनमें **खमनःसादेशं** क्रमशः आत्मतत्त्व की शब्दतत्त्व तक, विद्यातत्त्व की मनस्तत्त्व तक और शिवतत्त्व की व्याप्ति सदाशिवतत्त्व तक मानी गई है, अतः तदनुसार ही न्यास करना चाहिये।

गौर्यादिः गौरी, मनोन्मनी, लक्ष्मी नामक तीन शक्तियों की **खण्डपरिधिः** तीनों खण्डों में व्याप्ति **गलजानु** सिर से लेकर कण्ठ तक शिवतत्त्व के साथ, कण्ठ से लेकर जानु तक विद्यातत्त्व के साथ और (पादावधि) जानु से लेकर पाद तक आत्मतत्त्व के साथ रहती है, ऐसा जान कर न्यासों को करना चाहिये। अष्टमूर्ति और पंचमूर्ति दोनों ही पक्षों में मूर्तिन्यास करते समय **पीठोक्तमूर्त्यादयः** पीठ के प्रसंग में वर्णित मूर्तियों और मूर्तीश्वरों का ही ग्रहण किया जाता है, अतः तदनुसार ही न्यास करना चाहिये।।३५।।

अब पिण्डिका में अष्टमूर्ति और पंचमूर्ति न्यास का प्रकार बताया जा रहा है। पिण्डिका में भूमि आदि आठ मूर्तियों का न्यास करते समय उनके अधिपतियों के रूप में धारिका, दीप्तिमती आदि शक्तियों का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि **कामिकागम** के —

धारिका दीप्तिरत्युग्रा ज्योत्स्ना चेति बलोत्कटा।
धात्री विधात्री देव्यश्च मूर्तिपाः परिकीर्तिताः॥

इस वचन में निर्दिष्ट है। 'वा' शब्द से सूचित होता है कि उग्र कर्मों का अनुष्ठान करते समय 'धारिका' इत्यादि के स्थान पर 'तमा' आदि देवियों का मूर्तिप के रूप में न्यास किया जाता है। जैसा कि —

तमा मोहा जया निष्ठा मूर्तिर्माया भया ज्वरा।
एवं पीठे शिलायां च न्यासः कार्योऽभिधानया॥

वरुणपद्धति के इस वचन में निर्दिष्ट है। पंचमूर्ति न्यास के पक्ष में भूमि आदि पाँच मूर्तियों के अधिपतियों के रूप में वामा, ज्येष्ठा, क्रिया, ज्ञानी और इच्छा नामक पाँच शक्तियों का न्यास किया जाता है। जैसा कि बताया गया है —

पञ्चमूर्त्यात्मके न्यासे वामाद्या मूर्तिपा मताः।
वामा ज्येष्ठा क्रिया ज्ञानी चेच्छा चेति प्रकीर्तिताः॥

यहाँ पक्षान्तर में तमा आदि का मूर्तिपा के रूप में ग्रहण विहित है। जैसा कि इस वचन में कहा गया है —

पञ्चपक्षे तमा मोहा घोरा मूर्तिर्ज्वराधिपाः।
पञ्चानामपि मूर्तीनां लिङ्गपीठशिलास्वपि॥

यहाँ ब्रह्मशिला स्थान में शब्दतत्त्व पर्यन्त आत्मतत्त्व की, मनस्तत्त्व पर्यन्त विद्यातत्त्व की और सदाशिवतत्त्व पर्यन्त शिवतत्त्व की व्याप्ति के रूप में तीन खण्डों

की कल्पना करनी चाहिये, जैसा कि— ''शब्दचित्तसदेशान्तं न्यसेद् ब्रह्मशिलोपरि'' इस वचन में निर्दिष्ट है। इनमें गौरी, मनोन्मनी आदि शक्तियों का क्रमशः इनके अधिपतियों के रूप में न्यास करना चाहिये। इनमें मस्तक से लेकर कण्ठ पर्यन्त शिवतत्त्व का, क़ण्ठ से लेकर जानु पर्यन्त विद्यातत्त्व का तथा जानु से लेकर पाद पर्यन्त आत्मतत्त्व का उनके अधिपतियों के साथ न्यास किया जाता है। इसीके आधार पर यहाँ तीन खण्डों का विभाग किया जाता है। जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में निर्दिष्ट है—

प्रतिमासु च सर्वासु व्याप्तिर्ज्ञेया यथोक्तवत्।
जानुकण्ठशिरोव्याप्त्या व्याप्तिस्तत्त्वत्रयस्य च॥

मूल श्लोक में 'गलजानु' ऐसा पाठ है। इससे वैकल्पिक रूप में जानु पर्यन्त आत्मतत्त्व की, नाभि पर्यन्त विद्यातत्त्व की तथा गल पर्यन्त शिवतत्त्व की व्याप्ति मानी जायगी। तदनुसार ही इनका न्यास करना चाहिये। इस पक्ष को मान्यता **''वैकल्पिको जानुगलावधि त्रितत्त्वम्'' क्रियाक्रम** के इस वचन से मिलती है। इस प्रकार इस श्लोक में प्रदर्शित विधि से पीठ-स्थान में भी अष्टमूर्ति और पंचमूर्ति का न्यास उनके अधिपतियों के साथ किया जाता है॥ ३५॥

लिंग के आश्रयवाला गर्भगृह प्रासाद के नाम से जाना जाता है। लिंग को परमशिव का सूक्ष्म शरीर और प्रासाद को स्थूल शरीर कहते हैं। प्रासाद में चैतन्य की सिद्धि के लिये उसके मध्य में स्थापित कलश (कुम्भ) को हृदय-कुम्भ के नाम से जानते हैं। ऐसे कुम्भ में एक पुरुषाकार प्रतिमा रखी जाती है। उस प्रतिमा में त्रिकण्ठ-न्यास की तत्त्वव्याप्ति को अब दिखाते हैं—

हृत्कुम्भे च मनः कला च सरणिः खण्डेषु माया नरे
शब्दो धीः पुरुषश्च चूलिकवरे प्रासादके वारिधौ ।
व्याप्तिर्लिङ्गवदीरिताऽत्र शिखरे कण्ठेऽथ जङ्घास्पदे
द्वारोदुम्बरशाखयोरुपरितस्तत्त्वत्रयं सेश्वरम् ॥३६॥

हृत्कुम्भे गर्भगृह के मध्य में स्थापित हृदय-कुम्भ नाम के कलश में **नरे च** और उस कलश में स्थापित पुरुष-प्रतिमा के **खण्डेषु** तीन कण्ठों में **सरणिः** तत्त्वत्रय-मार्ग की व्याप्ति क्रम से **मनः** मनस्तत्त्व तक आत्मतत्त्व की, **कला** कलातत्त्व तक विद्यातत्त्व की **माया च** और मायातत्त्व तक

शिवतत्त्व की व्याप्ति रहती है। प्रासादाग्र को आगमों में चूलिका अथवा स्तूपिका कहा जाता है। इनमें चूलिका प्रासाद के ऊर्ध्व भाग में लोहमय अथवा दारुमय, नीले वर्ण से युक्त लिंग के आकार की जैसी, नीचे के भाग में चतुरश्र और मध्य में आठ कोणों से युक्त तथा अग्र भाग में एक अंगुल प्रमाण से वर्तुल होती है। ऐसे लक्षणों से युक्त चूलिका में, प्रासाद में और तीर्थ में अर्थात् इन त्रिकण्ठों में तत्त्वत्रय की व्याप्ति इस प्रकार होगी — **चूलिकवरे** प्रासादाग्र में, **प्रासादके** प्रासाद में और **वारिधौ** देवखात तटाक आदि तीर्थों में स्थित **खण्डेषु** तीन कण्ठों में **सरणिः** तत्त्वत्रय का मार्ग (व्याप्ति) क्रमशः **शब्दः** शब्दतत्त्व तक आत्मतत्त्व की, **धीः** बुद्धितत्त्व तक विद्यातत्त्व की, **पुरुषश्च** और पुरुषतत्त्व तक शिवतत्त्व की व्याप्ति मानी गई है। **अत्र** इस चूलिका नामक प्रासादाग्र में ब्रह्मभाग, विष्णुभाग और रुद्रभाग नाम के तीन भागों की **व्याप्तिः** व्याप्ति **लिङ्गवत्** लिंग के समान ही नीचे के चतुरश्र आकार में ब्रह्मभाग की, मध्य के अष्टकोणाकार में विष्णुभाग की और अग्रभाग के वर्तुलाकार में रुद्रभाग की स्थिति **ईरिता** शैवागमों में बताई गई है। इसका अभिप्राय यह है कि लिंग के अग्रभाग में स्थित वर्तुलाकार रुद्रभाग में शिवतत्त्व की व्याप्ति शक्तितत्त्वान्त, मध्य में स्थित अष्टकोण विष्णुभाग में विद्यातत्त्व की व्याप्ति सदाशिव तत्त्व पर्यन्त और नीचे के चतुरश्र ब्रह्मभाग में आत्मतत्त्व की व्याप्ति मायातत्त्वान्त है। तदनुसार ही न्यास करना चाहिये। अब बचे हुए प्रासाद और तटाक में भी ऊँचाई और गहराई के हिसाब से तीन विभाग कर त्रिकण्ठ-न्यास किया जाता है। गोपुर के द्वार में त्रिखण्ड-न्यास का विधान इस प्रकार है — **शिखरे** शिखर में शिवतत्त्व की, **कण्ठे** कण्ठस्थान में विद्यातत्त्व की, **अथ** और **जङ्घास्पदे** ज़ंघास्थान में आत्मतत्त्व की व्याप्ति है। **द्वारोदुम्बरशाखयोः** इसी तरह द्वार के नीचे दोनों तरफ आत्मतत्त्व की, द्वार के मध्य में दोनों तरफ विद्यातत्त्व की और **उपरितः** ऊपर के सोपान में शिवतत्त्व की, इस तरह **तत्त्वत्रयं** त्रितत्त्व-व्याप्ति बताई गई है। ये तीन तत्त्व **सेश्वरं** ब्रह्मा आदि तीन अधिदेवताओं से अधिष्ठित हैं। इनमें आत्मा आदि तीन तत्त्वों की व्याप्ति क्रमशः मायान्त, सदाशिवान्त और शक्त्यन्त रहेगी। तदुनसार ही इनका (न्यसेत्) न्यास करना चाहिये।।३६।।

शिखर के आधे भाग का निर्माण पूरा हो जाने पर पूर्ववेदिका में प्रासाद के चैतन्य की सिद्धि के लिये प्रासाद के हृदयप्रदेश में कुम्भ की स्थापना की जाती है,

जैसा कि– "हृत्कुम्भस्थापनं प्रोक्तं धामचैतन्यसिद्धये" इस वचन में निर्दिष्ट है। लिंग शिव का सूक्ष्म शरीर और प्रासाद (मन्दिर) स्थूल शरीर माना जाता है। अतः प्रासाद में चैतन्य का आधान करने के लिये उसके हृदयप्रदेश में कुम्भ की स्थापना की जाती है। सिद्धान्तशेखर के निम्न वचन में यह प्रदर्शित है —

हृत्कुम्भस्य प्रतिष्ठा च कथ्यते च यथागमे।
सूक्ष्मस्य लिङ्गदेहस्य प्रासादं स्थूलदेहकम्॥

आत्मनः सूक्ष्मदेहस्य बाह्यदेशो यथा स्मृतः।
तद्वदत्रापि चैतन्यसंयोगे विधिरीरितः॥

यहाँ स्वर्ण आदि से निर्मित कुम्भ में स्वर्ण से ही निर्मित पुरुष का न्यास किया जाता है। जैसा कि ज्ञानरत्नावली में निर्दिष्ट है —

हेमताम्रादिकं कुम्भं निधिकुम्भवदुन्नतम्।
हेमरत्नादिसम्पूर्णं स्थापयेल्लिङ्गवद् गुरुः॥

तालमानं तदर्धं वा हेमजं पुरुषं तथा।
अङ्गुष्ठार्धप्रमाणं वा सर्वरूपसमन्वितम्॥

इस प्रकार के कुम्भ में और उसमें स्थापित स्वर्णमूर्ति में उनके तीन तीन विभाग कर उनमें से प्रत्येक में मनस्तत्त्व पर्यन्त आत्मतत्त्व का, कलातत्त्व पर्यन्त विद्यातत्त्व का और मायातत्त्व पर्यन्त शिवतत्त्व का न्यास करे। इस प्रकार यहाँ त्रिखण्ड-न्यास करना चाहिये। अथवा इस कुम्भ और उसमें स्थापित मूर्ति में शब्दतत्त्व पर्यन्त आत्मतत्त्व का, बुद्धितत्त्व पर्यन्त विद्यातत्त्व का और पुरुषतत्त्व पर्यन्त शिवतत्त्व का न्यास करे। प्रासाद के शिखर भाग में चूड़ा (चोटी) के आकार जैसी लिंग की दीर्घता के अनुसार प्रमाण वाली चूलिका का निर्माण कराया जाता है। जैसा कि यहाँ बताया गया है —

लोहजं दारुजं वापि चूलिकाकीलमिष्यते।
ऊर्ध्वभूम्यङ्घ्रिणा कुर्याद् विस्तारं पादतः समम्॥

अग्रमङ्गुलविस्तारमानुपूर्व्या कृशं यथा।
चतुरश्रं समं कुर्यात् त्रिभागैकमधस्ततः॥

अष्टाश्रं च सुवृत्तं च मूलतः कल्पयेत् क्रमात्।
शैलादिकुम्भसंयुक्ता धाम्नि शैलादिके तथा॥

कुम्भाग्रे च त्रिशूलं वा वृत्तं वा कारयेत् तथा।

इस चूलिका-स्थान में, शिखरयुक्त प्रासाद (मन्दिर) में तथा ह्रद, तटाक, कूप आदि जलाधारों में त्रितत्त्व की व्याप्ति लिंग के समान ही मानी गई है, अर्थात् चूलिका

के वृत्त भाग में रुद्र के साथ शक्तितत्त्वान्त शिवतत्त्व का, अष्टाश्र में विष्णु के साथ सदाशिवतत्त्वान्त विद्यातत्त्व का तथा चतुरश्र भाग में ब्रह्मा के साथ मायातत्त्वान्त आत्मतत्त्व का न्यास करे। इसी तरह से खात आदि के भी तीन-तीन विभाग कर त्रितत्त्व की व्याप्ति करनी चाहिये। यहाँ प्रासाद में शिखर पर्यन्त शिवतत्त्व की, शिखर-कण्ठ पर्यन्त विद्यातत्त्व की और शिखर के पादप्रस्तर पर्यन्त आत्मतत्त्व की व्याप्ति मानी जाती है। मूल श्लोक में माया शब्द से शक्त्यन्त तीन तत्त्वों का न्यास किया जाता है, क्योंकि — "जङ्घागलकचूडान्तं प्रासादेऽपि विचिन्तयेत्" ऐसा वचन उपलब्ध है। द्वारस्थित उदुम्बर के नीचे विद्यमान देहली में, द्वार के दोनों तरफ विद्यमान स्तम्भों में और द्वार के ऊर्ध्व भाग में स्थित उदुम्बर में क्रमशः आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का, उनके अधिपतियों — ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के साथ न्यास करना चाहिये। जैसा कि ज्ञानरत्नावली के —

देहल्यामात्मतत्त्वं तु मायातत्त्वान्तगोचरम्।
विन्यस्याथ सदेशान्तं विद्यातत्त्वं च शाखयोः।
ऊर्ध्वोदुम्बरके न्यस्त्वा शक्त्यन्तं शिवतत्त्वकम्॥

इस वचन में प्रदर्शित है ॥ ३६॥

शिवलिंग की स्थापना करने वाला भोग और मोक्ष का भी अधिकारी हो जाता है, यही विषय अब वर्णित है —

लिङ्गे स्थापनतो भवेत् करमिते मुक्तिः प्रसङ्गात् परा
भुक्तिः पीठवरेऽपि गर्भविषयान्मानाच्च लिङ्गे तथा ।
पिण्डीलिङ्गधरेषु मुक्तिरचला बेरेषु भोक्तुः फलं
यावन्तः परमाणवः शिवगृहे साहस्रलोकानि च ।।३७।।

नौ हस्त से लेकर एक हस्त तक प्रमाण वाले लिंगों की स्थापना का विधान आगमों में बताया गया है और उनके उत्तमोत्तम आदि नौ विभाग किये गये हैं। उत्तमोत्तम से लेकर अधमाधम पर्यन्त किये गये इन नौ विभागों में से अब प्रत्येक का फल **प्रसङ्गात्** प्रसंगवश बताया जा रहा है कि **करमिते** एक हस्त से लेकर नौ हाथ तक के प्रमाण वाले **लिङ्गे** शिवलिंग की **स्थापनतः** प्रतिष्ठा करने पर **परा मुक्तिर्भवेत्** श्रेष्ठ मुक्ति प्राप्त होती है। **गर्भविषयात्** गर्भगृह के अनुरूप **मानात्** परिमाण के अनुसार (विहिते) विहित, अर्थात् गर्भगृह के नाप के तीन भाग कर उसके एक भाग में पीठ

का विस्तार होना चाहिये, ऐसे विधान के अनुसार **पीठवरे** श्रेष्ठ पीठिका में **स्थापनतः** देवी की प्रतिष्ठा करने पर **परा भुक्तिर्भवेत्** श्रेष्ठ भुक्ति (भोग=ऐश्वर्य) की प्राप्ति होती है। **लिङ्गेऽपि** लिंग की भी गर्भगृह के मान के अनुसार प्रतिष्ठा करने पर **तथा** उसी तरह भोग की प्राप्ति होती है। **पिण्डीलिङ्गधरेषु** पीठिका और लिंग से संयुक्त **बेरेषु** व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त नामक त्रिविध बेर-मूर्तियों की (स्थापितेषु सत्सु) विधिपूर्वक स्थापना करने पर **अचला मुक्तिर्भवेत्** शाश्वत रूप से मुक्ति मिल जाती है। स्थापना करने वाला यदि भोग की इच्छा रखता है, तो उसे भोग की प्राप्ति में भी कोई संशय नहीं रहता, अर्थात् **भोक्तुः फलम्** भोक्ता की इच्छा के अनुसार उसको फल अवश्य मिलता है। **शिवगृहे** शिवालय में **यावन्तः** जितनी संख्या में **परमाणवः** धूलि के सूक्ष्म कण रहते हैं, (तावन्तः) उतनी ही संख्या में **साहस्रलोकानि च** सहस्र कल्प पर्यन्त कैलास आदि शुद्ध भुवनों में उस शिवालय को बनाने वाले का वासस्थान बन जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि शिवलिंग की प्रतिष्ठा के फल का वर्णन करना बड़ा कठिन है।।३७।।

एक हाथ से लेकर नौ हाथ पर्यन्त प्रमाण वाले शिवलिंग की शैवशास्त्र में प्रदर्शित विधि के अनुसार स्थापना करने वाले को श्रेष्ठ मुक्ति प्राप्त होती है। प्रासाद के गर्भ भाग के अनुरूप प्रमाण वाली उत्तम पिण्डिका (पीठिका) में क्रियाशक्ति की जो स्थापना करता है, उसे इस संसार में उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है। यहाँ गर्भगृह के प्रमाण को तीन हिस्सों में बाँट कर उसके एक भाग में पीठ का विस्तार किया जाता है। जैसा कि **सिद्धान्तशेखर** में प्रदर्शित है —

गर्भगेहप्रविस्तारं त्रिभागं परिकल्पयेत्।
तेषु भागेन चैकेन पीठविस्तारमाचरेत्॥

सर्वेषामेव पीठानामेवं विस्तारनिर्णयः।
दैर्घ्यं कुर्वीत पीठानां विष्णुभागावसानकम्॥

आकारमथ वक्ष्यामि वृत्तं वा चतुरश्रकम्।
अष्टाश्रं षोडशाश्रं वा पीठं कुर्याद् विचक्षणः॥

उत्तम सर्वलक्षणसम्पन्न पीठ की स्थापना करने से भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि पीठरहित लिंग की स्थापना से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जैसा कि **मोहशूरोत्तर** में निर्दिष्ट है —

यया व्यामोहितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
शक्तिः क्रिया च या शक्र पिण्डिका चैव कीर्तिता॥

विधिना स्थापितं लिङ्गं पिण्डिकारहितं यदा।
तदा पूजां न गृह्णाति सान्निध्यं नैव गच्छति॥

तस्मात् पीठं च कर्तव्यं यत्नमास्थाय सुव्रत।
येन सर्वफलावाप्तिर्जायते साधकात्मनाम्॥

'लिङ्गे तथा' का अर्थ यह है कि जैसे पीठिका का प्रमाण प्रासाद के गर्भस्थान के आधार पर निश्चित किया जाता है, उसी तरह से लिंग का प्रमाण भी रखना चाहिये। इसके लिये गर्भस्थान को पाँच हिस्सों में बाँटकर तीन भागों में उत्तम आदि त्रिविध लिंगों का निर्माण करे, अर्थात् तीन भाग का उत्तमोत्तम, दो भाग का उत्तममध्यम और एक भाग का उत्तमाधम लिंग बनेगा। जैसा कि इस वचन में कहा गया है —

गर्भमानेन वा कार्यः प्रासादो यदि निर्मितः।
तद्गर्भे पञ्चधा भक्ते त्रिभिः स्यादुत्तमोत्तमम्॥
पुनश्च नवभिर्भक्ते पञ्चभिर्मध्यमोत्तमम्।
द्विधाभूते पुनर्गर्भे भागैकं कन्यसोत्तमम्॥

ज्येष्ठी ज्येष्ठात् समारभ्य कन्यसात् कन्यसावधि।
नव लिङ्गानि जायन्ते चेतराणि स्वमानतः॥

नौ पीठों की रचना का प्रकार इस तरह से है —

वसुभागकृते गर्भे तुर्यांशैः कन्यसं भवेत्।
ताराभागकृते भूयः पञ्चभिर्मध्यमं भवेत्॥

वसुभागे गुणात्मांशे ज्येष्ठं पीठमुदाहृतम्।
द्वे द्वे मध्ये प्रकर्तव्ये कन्यसश्च यथा द्वयम्॥

यहाँ तुर्यांश का अर्थ दो भाग है। दो भाग के प्रमाण के तीन हिस्से करके त्रिविध कन्यस पीठों का निर्माण किया जाता है। तारा भाग का अर्थ सोलह भाग है। ऐसा पीठ भोगार्थियों की कामना को पूरा करने वाला होता है। इसीको यदि व्यक्त, अव्यक्त अथवा उभयात्मक लिंगों के साथ स्थापित किया जाता है, तो उससे अचल, सुस्थिर मुक्ति प्राप्त होती है। इसका अभिप्राय यह है कि लिंग की स्थापना करने वाले को भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति पीठयुक्त लिंग की स्थापना करता है, तो उस शिवालय में जितने भी परमाणु विद्यमान हैं, उतने सहस्र कल्पों तक

वह शिवपुर, अर्थात् कैलास नामक शुद्ध भुवन में निवास करता है। एक-एक परमाणु एक एक सहस्र कल्प पर्यन्त फल देने में समर्थ है।

पीठादिपरमाणूनां संख्या यावच्छिवालये।
तावत् कल्पसहस्राणि कर्ता शैवपुरं वसेत्॥

इस श्लोक में भी यही बात कही गई है ॥ ३७॥

शिवलिंग की पूजा के फल को, मूर्तिपूजा के फल को और शक्तिसहित सदाशिव आदि भुवनेश्वरों की पूजा के फल को बताने के साथ अब यहाँ उन मूर्तियों में शिव-शक्तियों के न्यास के क्रम को अगले छः पाद के श्लोक में बताते हैं —

लिङ्गार्चा परमुक्तिदेह कथिता शुद्धाध्वजाः सिद्धयः
शैवार्चार्चनतो भवन्ति च तथा लिङ्गार्चनात् साधके ।
अङ्गब्रह्मसदाशिवाः शिवयुता शक्त्यात्मिका तच्छिवा
कालाग्न्यादिषु सिद्धदेववपुषः सादेशचिच्छक्तिकाः ।।
तेषामीश्वरलोकसंस्थितिजुषां संस्कारयुक्तैस्तनौ
देवीनामपि शम्भुशक्तिविषयो न्यासो विधेयः सदा ।।३८।।

इह इन शैवागमों में **लिङ्गार्चा** शिवलिंग की पूजा **परमुक्तिदा** श्रेष्ठ मुक्ति को देने वाली है, (इति) ऐसा **कथिता** बताया गया है। **शैवार्चार्चनतो** शिव का आवाहन करके पूजा करने के लिये आधारभूत स्थण्डिल आदि अर्चा के आधारों में शिव की पूजा करने से **साधके** पूजा करने वाले साधक को **शुद्धाध्वजाः** शुद्ध मार्ग से प्राप्त होने वाली **सिद्धयः** ऐश्वर्य आदि समस्त सिद्धियाँ **भवन्ति** प्राप्त हो जाती हैं। **लिङ्गार्चनात्** शिवलिंग की पूजा करने से भी **तथा** उसी तरह से शुद्ध मार्ग में ऐश्वर्य आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। **अङ्गब्रह्मसदाशिवाः** हृदय आदि छः अंगमन्त्र, ईशान आदि पाँच ब्रह्ममन्त्र और सदाशिव, **शिवयुता** शिव के साथ ही रहने वाली **शक्त्यात्मिका** पराशक्ति स्वरूपिणी **तच्छिवा** शिव की वह मनोन्मनी शक्ति **कालाग्न्यादिषु** कालाग्निरुद्र आदि भुवनों की पंक्तियों में **सिद्धदेववपुषः** जिनको देवता का शरीर सिद्ध हो गया है, अर्थात् इन भुवनों में पहुँच कर जिनको देवत्व प्राप्त हो गया है, जहाँ वे भुवनेश्वरों के रूप में निवास करते हैं, **सादेशचिच्छक्तिकाः** सदाशिव की ज्ञानशक्ति से जो सम्पन्न हैं, **संस्कारयुक्तैः** दीक्षा आदि संस्कारों को प्राप्त कर लेने वाले ऐसे साधकों के द्वारा सदा (पूज्याः) पूजनीय हैं।

ईश्वरलोकसंस्थितिजुषां ईश्वर से अधिष्ठित भुवनों में वास करने वाले **तेषां** सदाशिव आदि देवताओं के और **देवीनामपि** मनोन्मनी आदि शक्तियों के **तनौ** मूर्तियों में **शम्भुशक्तिविषयो न्यासः** शिवमूर्ति-न्यास और शक्तिमूर्ति-न्यास **विधेयः** करना चाहिये।।३८।।

शिवलिंग और पीठिका की स्थापना के समान इनकी पूजा से भी भुक्ति-मुक्ति की प्राप्ति होती है। शिवलिंग की पूजा से श्रेष्ठ मुक्ति की तो प्राप्ति होती ही है, साथ ही शैवशास्त्र में विहित पूजा-योग्य स्थण्डिल आदि स्थानों में पूजा करने से इस लोक में प्राप्त होने वाली और शुद्ध भुवनों में प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ भी उसे प्राप्त होती हैं। जैसा कि —

लिङ्गं त्रिविधमाख्यातं व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकम्।
स्वयम्भुबाणदैवार्षमानवाद्यम् अनेकधा ॥

स्थिरलिङ्गं चलं वाथ मण्डलं स्थण्डिलं तथा।
पटं वा भित्तिचित्रं वा पीठं वा [1]मन्त्रसंस्कृतम् ॥

आवाह्य गुरुवृद्धाद्यान् विद्यापीठमथापि वा।
विशेषतः स्वयंसिद्धं सूर्यमण्डलमेव वा ॥

अन्यद्वा *लिङ्गकल्पोक्तं* सैकताद्यं विशेषतः।
एतत्सर्वं शिवेज्यार्थं यथायोगं प्रकल्पयेत् ॥

इस वचन में निर्दिष्ट है। इसी तरह से लिंग की आराधना करने वाले को भी ये सारी सिद्धियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शिव की पूजा के आधार तो स्थण्डिल आदि अनेक हैं, किन्तु उनमें से लिंग में शिव के पूजन का विशेष महत्त्व है। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में और अन्यत्र भी लिंगार्चन का विशेष महत्त्व प्रदर्शित है। जैसा कि —

यद्यप्यस्ति सदेशस्य पूजाधारमनेकधा।
तथापि लिङ्गे नित्यार्चा सम्पूर्णफलदायिका ॥

---

[1] अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में पूजा-स्थानों का विवरण इस प्रकार दिया है — "स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा। प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः।। मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम्। लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरिव च।। इत्येकादशधा बाह्यं पुनस्तद् बहुधा भवेत्।" (६.२-४)। यहाँ प्रयुक्त विशेष शब्दों का अर्थ तथा प्रतिमा और मूर्ति का अन्तर इस ग्रन्थ की विवेक टीका में देखना चाहिये। इस प्रसंग में "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हमारा "तान्त्रिकी वरिवस्या तस्या भेदाश्च" (पृ. ६६-७८) शीर्षक निबन्ध भी देखा जां सकता है।

यहां बताया गया है। यह विषय कालोत्तर में भी वर्णित है —

पूजाधाराणि वक्ष्यामि समासात् कीर्तितानि ते ।
स्वमूर्तौ पूजनं कार्यं पूजारम्भे प्रयत्नतः ।।

योगिनां वा स्वमूर्तौ तु पूजनं विहितं सदा ।
यदारम्भे सदा पूजां गुरुमूर्तौ प्रकल्पयेत् ।।

आशीर्वाद्यवर्नीं यावत् सकृदेव शिवं यजेत् ।
विद्यापीठे तु यागान्ते पूजा कार्या सदैव हि ।।

विद्यापीठं कोटिमात्रं पूजयेद् वा सुसंहिताम् ।
जले सदाशिवः पूज्यः स्नानान्ते तु सकृत् सुताः ।।

अग्नौ पूजावसानान्तं यष्ट्वा होमं समापयेत् ।
निर्विघ्नार्थं स्थण्डिले तु शिवास्त्रं पूजयेत् सदा ।।

शिवो वा स्थण्डिले पूज्यो जलवत् कलशे हितम् ।
स्थिरलिङ्गे सदा कार्यं सिद्धिकामैः प्रयत्नतः ।।

भुक्तिमुक्तिप्रदं पुंसां चललिङ्गे शिवार्चनम् ।
पूजयेत् सूर्यबिम्बस्थं दर्पणे प्रतिबिम्बितम् ।।

तद्वद् वै सोमबिम्बस्थं पूजयेन्मृत्युवञ्चने ।
सर्वत्र संस्थितः पूज्यः सर्वाधारेषु सर्वदा ।।

तत्रापि लिङ्गे भगवान् पूजां गृह्णाति धूर्जटिः ।
असम्पूर्णा कृता पूजा मन्त्रद्रव्यक्रियायुता ।।

क्षणिके भित्तिचित्रादौ तथा वै स्थण्डिले सुत ।
न्यूनाधिका तु या पूजा फलहीना प्रकीर्तिता ।।

एतस्मात् कारणाद् वत्स लिङ्गाराधनमारभेत् ।
लीयन्ते यत्र भूतानि निर्गच्छन्ति यतः पुनः ।।

तेन लिङ्गं परं पूज्यं निष्कलः परमः शिवः ।
लिङ्ग्यते चिह्न्यते येन मान्यते भगवान् शिवः ।।

योगिभिस्तत्क्रियालिङ्गं व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकम् ।
व्यक्तं तत्सकलं ज्ञेयमव्यक्तं निष्कलं मतम् ।।

ज्ञानज्योतिर्मयं लिङ्गं व्यक्ताव्यक्तमिति स्मृतम् ।
तदाकारतया भक्तं कृत्रिमं तदनुष्ठितम् ।।

लिङ्गमित्युच्यते तत्र शिलामृद्दारुलोहजम् ।

'अंग' शब्द से हृदय आदि छः अंग-मन्त्रों का तथा 'ब्रह्म' शब्द से ईशान आदि पाँच ब्रह्म-मन्त्रों का ग्रहण किया जाता है। इन पंचब्रह्म-मन्त्रों से ही सदाशिव के शरीर के मूर्धा आदि अंगों की कल्पना होती है। इस सदाशिव की पूजा प्रासाद मन्त्र से लिंग में की जाती है। इस सदाशिव के साथ समवाय (अविनाभाव) संबन्ध से संबद्ध परशक्तिस्वरूप मनोन्मनी नामक शक्ति ही इनकी भार्या (पत्नी) है। लिंग में मनोन्मनी नाम से स्थित यह मूर्ति नृत्त करते समय गौरी का रूप धारण कर लेती है। जैसा कि कामिकागम में बताया गया है —

एवं देवी प्रकर्तव्या तत्संज्ञा द्विविधा मता।
मनोन्मनीति गौरीति लक्ष्मभेदस्तु नानयोः ॥

मूर्तिः सादाशिवी यत्र कल्प्यते तत्र कल्पिता।
तदा मनोन्मनीसंज्ञां लभते विप्रपुङ्गवाः ॥

नृत्तमूर्त्यादिदेहेषु गौर्याद्याख्यां समश्नुते।

भुवन-परम्पराओं में, अर्थात् कालाग्नि आदि विभिन्न भुवनों में उन-उन भुवनों के अनुरूप सिद्ध, देव आदि का शरीर धारण करने वाले जीव भुवनेश्वरों की तथा सदाशिव से संबद्ध विभिन्न शक्तियों की सहायता से नाना प्रकार के शरीर धारण करते हैं। इन सब भुवनेश्वरों की भी वहाँ वहाँ स्थिति परशिव के अनुग्रह से ही होती है। इन भुवनेश्वरों के शरीरों का दीक्षा-संस्कार भी उन्हीं के अनुग्रह से हुआ माना जाता है। मनोन्मनी आदि देवियों का परमेश्वर के विग्रह के साथ ज्ञानशक्ति का संबन्ध भी पीठ में तीन प्रकार का माना गया है। साथ ही यहाँ क्रियाशक्ति का न्यास भी सदा करना पड़ता है। जैसा कि कहा गया है —

गौर्यादीनां प्रतिष्ठायां ज्ञानशक्तिं त्रिधात्मिकाम्।
विन्यसेद् विग्रहे ज्ञानी शेषं पीठवदाचरेत् ॥

इस प्रकार अन्ततः यहाँ शिव और शक्ति में ही समस्त भुवनों तथा उनके अधिपतियों का उपसंहार कर लिया जाता है, क्योंकि इनको यह सारा अधिकार शिव के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है ॥ ३८-३९॥

अब ब्रह्मा आदि देवताओं की तत्त्वव्याप्ति को अगले दो श्लोकों में दिखाते हैं —

ब्रह्माऽव्यक्तगतश्च मोहकगतो विष्णुश्च विद्यागतो
रुद्रश्चेश्वर ऐशिकोऽपि च सदेशानः सदेशात्मकः ।
दुर्गार्कौ शैवतत्त्वे वृषभवरमहाशक्तिके वागधीशः
स्वाहानाथः सदेशे गणपतिकमले चैश्वरे वाक् तथैव ।।३९।।

विद्येशाः शुद्धिविद्याभुवि च गणवरा लोकपा द्वारपाला
धर्माद्या मातृरुद्राः शिवमतसहिताः कौहरा मूर्तयश्च ।
लोकेशासुरयक्षकिन्नरमुनिक्षेत्रेशवेतालका
भूताः सर्पसरित्समुद्रगणपा विद्याधराश्चाश्विनौ ।।४०।।

ब्रह्मा चतुर्मुख ब्रह्मदेव **अव्यक्तगतश्च** पृथिवीतत्त्व से लेकर प्रकृति तक व्याप्ति वाला है और **विष्णुः** विष्णुदेव **मोहकगतश्च** प्रकृति से ऊपर मायातत्त्व तक व्याप्त है और **रुद्रश्च** रुद्रदेव **विद्यागतः** शुद्धविद्यातत्त्व में स्थित हैं। **ईश्वरः** महेश्वर देव **ऐशिकः** ईश्वरतत्त्व में **अपि च सदेशानः** और सदाशिव देव **सदेशात्मकः** सदाशिवतत्त्व में स्थित है। **दुर्गार्कौ** शैवागम की विधि का अनुसरण कर पूजित भगवती दुर्गा और भगवान् सूर्य की व्याप्ति **शैवतत्त्वे** शिवतत्त्व में है। **वृषभवरमहाशक्तिके** नन्दिकेश्वर की व्याप्ति शक्तितत्त्व में, **वागधीशः स्वाहानाथः** वागीश्वर और शिवाग्नि की व्याप्ति **सदेशे** सदाशिवतत्त्व में, **गणपतिकमले च** गणपति और लक्ष्मी की व्याप्ति **ऐश्वरे** ईश्वरतत्त्व में और **वाक् तथैव** वाणी सरस्वती की भी व्याप्ति उसी तरह ईश्वरतत्त्व में है। **विद्येशाः** आठ विद्येश्वर **शुद्धविद्याभुवि च** शुद्धविद्यातत्त्व में और **गणवराः** नन्दी आदि शिवप्रमथगण, **लोकपाः** इन्द्र आदि दिक्पाल, **धर्माद्याः** धर्म, ज्ञान, वैराग्य और वैराग्य नामक **द्वारपालाः** द्वार की रक्षा करने वाले, **मातृरुद्राः** सप्तमातृका और एकादश रुद्र, **शिवमतसहिताः** शैव मत का अनुवर्तन करने वाले भक्तगण, **कौहराः** पाताल आदि में निवास करने वाली **मूर्तयश्च** मूर्तियाँ — इन सबकी तथा **लोकेशासुरयक्षकिन्नरमुनिक्षेत्रेशवेतालकाः** भुवनेश्वर, दैत्य, यक्ष, किन्नर, ऋषि, क्षेत्रपाल, पिशाच (वेताल), **भूताः** भूतगण, **सर्पसरित्समुद्रगणपाः** सर्प, नदियाँ, समुद्र, गणाधिप, **विद्याधराः** विद्याधर, **अश्विनौ च** और दोनों अश्विनीकुमार (एते सर्वे) इन सबकी व्याप्ति **तथैव** उसी तरह शुद्धविद्यातत्त्व में है।।३९-४०।।

ब्रह्मा पृथिवीतत्त्व से लेकर प्रकृतितत्त्व पर्यन्त व्यापक रूप में स्थित हैं, विष्णु पृथिवी से लेकर मायातत्त्व पर्यन्त व्यास हैं, रुद्र पृथ्वी से लेकर शुद्धविद्यातत्त्व पर्यन्त सर्वत्र व्यास हैं। इसी तरह से ईश्वर की व्यासि ईश्वरतत्त्व पर्यन्त तथा सदेश की व्यासि पृथिवी से लेकर सदाशिवतत्त्व पर्यन्त है। शैवशास्त्र की पद्धति से पूजनीय शक्तिरूप दुर्गा और शिवस्वरूप सूर्य की व्यासि पृथिवी से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त है, जैसा कि **वरुणशिव** ने कहा है —

क्ष्मादिपुंसोऽवधौ ब्रह्मा क्ष्मादिमायान्तमच्युतः ।
क्ष्मादिविद्यान्तको रुद्रः क्ष्मादीशावधि चेश्वरः ॥
सादाख्यः क्ष्मादिनादान्तः शक्तिः क्ष्मादिपरावधिः ।

वृषभवर, अर्थात् वृषभश्रेष्ठ नन्दी की व्याप्ति शक्तितत्त्व पर्यन्त है। गणवर पद से अश्विनी आदि देवताओं का ग्रहण किया जाता है। इनकी व्याप्ति शुद्धविद्या पर्यन्त है। अन्य पदों की व्याख्या अन्वयार्था में देखी जा सकती है ॥ ३९-४०॥

अब ग्रन्थकार इस ग्रन्थ की समाप्ति के अवसर पर ग्रन्थ का और अपना नाम बताने के साथ ग्रन्थरचना का प्रयोजन भी स्पष्ट करते हैं —

श्रीमच्छैवमतार्थसारखचिता सिद्धान्तसारावलिः
शैवज्ञानवता त्रिलोचनशिवाचार्येण क्लृप्ता शुभा ।
श्रीमच्छैवमतानुसारिविदुषामानन्दसन्दायिनी
शम्भोः प्रीतिकरी सदा विजयतां शक्त्या समेतस्य च ।।४१।।

।। इति श्रीत्रिलोचनशिवाचार्येण विरचितायां
श्रीमत्सिद्धान्तसारावल्यां चर्यापाद-
श्चतुर्थः समाप्तः ।।

शैवज्ञानवता शैवागमों के अच्छे ज्ञाता **त्रिलोचनशिवाचार्येण** त्रिलोचन शिवाचार्य के द्वारा **क्लृप्ता** रचित **शुभा** मंगलस्वरूप **श्रीमच्छैवमतार्थसारखचिता** शैवमत के श्लाघनीय श्रेष्ठ विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाली **सिद्धान्तसारावलिः** यह सिद्धान्तसारावलि **श्रीमच्छैवमतानुसारिविदुषां** श्लाघनीय शैवमत का अनुसरण करने वाले पण्डितों को **आनन्दसन्दायिनी** आनन्द देने वाली **च शक्त्या समेतस्य** और पराशक्ति से समवेत **शम्भोः** परशिव को **प्रीतिकरी** प्रसन्न करने वाली **सदा** निरन्तर **विजयतां** उत्कर्ष को प्राप्त करे ।।४१।।

।। इस प्रकार श्री त्रिलोचन शिवाचार्य कृत सिद्धान्त-
सारावलि नामक ग्रन्थ का यह चतुर्थ
चर्यापाद समाप्त हुआ ।।

शैवशास्त्र में निष्णात **त्रिलोचन** नामक **शिवाचार्य** ने इस अन्वर्थक नाम वाले सिद्धान्तसारावलि ग्रन्थ की रचना की है। इसका नाम अन्वर्थक इस लिये है कि

सिद्धान्त-शैवशास्त्र का अत्यन्त संक्षेप में यहाँ परिचय दिया गया है। यह सिद्धान्तसारावलि शैवमत का अनुसरण करने वाले, शैव तत्त्व की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्तियों के लिये अत्यन्त सन्तोषप्रद होगी, अर्थात् उनकी सारी जिज्ञासाओं का समाधान इससे हो जायगा। यह शक्ति के साथ अविनाभाव से विद्यमान शिव की प्रीति को देने वाली भी है। अतः यह रचना सदा उत्कर्ष को प्राप्त करती रहे, यही ग्रन्थकार की कामना है ॥४१॥

।। इति राजकुमारानुशास्तृश्रीरघुनाथद्विवेदपौत्रेण श्रीगोपीनाथद्विवेदात्मजेन नर्मदाम्बागर्भसंभूतेन राष्ट्रियपण्डितश्रीव्रजवल्लभद्विवेदेन विरचितः श्रीमदनन्तशम्भुकृतटीकानुसारी सिद्धान्तसारावलिभाषानुवादः समाप्तः ।।

।। समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।।

विविध परिशिष्ट

२२४ भुवननामावली
८१ पदनामावली
९४ पदनामावली
सिद्धान्तसारावलि-श्लोकार्धानुक्रमणी
उद्धृतग्रन्थ-ग्रन्थकारनामावली
विशिष्टविषयानुक्रमणी
संकेतसूची
व्याख्योद्धृतश्लोकार्धानुक्रमणी
सहायकग्रन्थसूची

२२४ भुवनानि

पुराणि शान्त्यतीतायां भवन्ति दश पञ्च च।
अनाश्रिता तथानाथा चानन्ता व्योमरूपिणी।।

व्यापिनी चोर्ध्वगा चैव मोचिका रोचिका तथा।
दीपिका चेन्धिका चैव शान्त्यतीता च शान्तिका।।

विद्या चैव प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्च तथा स्मृता।
कलायां शान्तिकाख्यायामष्टादश पुराणि तु।।

सदाशिवः शिखण्डी च श्रीकण्ठश्च त्रिमूर्तिकः।
एकरुद्रस्तथा चैवमेकनेत्रस्तथा स्मृतः।।

शिवोत्तमस्तथा चैव सूक्ष्मश्चानन्तसंज्ञकः।
मनोन्मनी तदा ज्ञेया सर्वभूतदमन्यपि।
बलप्रमथनी चैव तथा विकरणी भवेत्।।

कलविकरणी चैव काली चैव तथा परा।
रौद्री ज्येष्ठा च वामा च विद्यायां वक्ष्यते क्रमात्।।

तस्यां तु भुवनानां च सप्तविंशतिकं मतम्।
अङ्गुष्ठमात्र ईशान एकेक्षणैकपिङ्गलौ।।

उद्भवश्च भवश्चैव वामदेवो महाद्युतिः।
शिखेदश्चैकवीरश्च पञ्चान्तकश्च शूरकः।।

पिङ्गो ज्योतिश्च संवर्तः क्रोधेशैकशिवौ तथा।
अनन्ताजौ तथा चैवमुमापतिप्रचण्डकौ।।

एकवीरस्तथेशानो भवेशोग्रौ च भीमकः।
वामश्चैव तथा ज्ञेयः प्रतिष्ठायां तु वक्ष्यते।।

श्रीकण्ठादीनि तत्रैव षट्पञ्चाशत्पुराणि तु।
श्रीकण्ठोमौ तथा ज्ञेयौ कौमारं वैष्णवं तथा।
ब्राह्मं च भैरवं चैव कृतं चैव तथाऽकृतम्।।

ब्राह्मं प्राजेशसंज्ञं च सौम्यं चैव तथैन्द्रकम् ।
गान्धर्वं च तथा ज्ञेयं यक्षराक्षससंज्ञकम् ।।

पैशाचं च तथा ज्ञेयं स्थलेश्वर इति स्मृतः ।
स्थूलेश्वरः शङ्कुकर्णो कालञ्जर इति स्मृतः ।।

मण्डलेश्वरमाकोटौ द्विरण्डश्छगलाण्डकः ।
स्थाणुसंज्ञ इति प्रोक्तः स्वर्णाक्षश्च तथापरः ।।

भद्रकर्णश्च गोकर्णो महाकाल इति स्मृतः ।
अविमुक्तो रुद्रकोटिः वस्त्रापदकसंज्ञकः ।।

भीमेश्वरो महेन्द्रश्चाप्यट्टहासस्ततः परः ।
विमलेशस्तथा प्रोक्तः नखलो नाखलस्तथा ।।

कुरुक्षेत्रं गया चैव तथा भैरवसंज्ञकः ।
केदारश्च महाकालो मध्यमेशस्तथा भवेत् ।।

आम्रातकश्च जल्पेशः श्रीशैलश्च तथापरः ।
हरिश्चन्द्रस्तथा प्रोक्तो लकुलीशस्तथा स्मृतः ।।

भारभूतिस्तथा चैव डिण्डिमुण्डी तथैव च ।
ओषधिः पुष्करश्चाथ नैमिशो(षश्)च तथा भवेत् ।।

प्रभाससंज्ञकश्चाथो अमरेश इति स्मृतः ।
निवृत्त्याख्यकलायां तु पुरामष्टोत्तरं शतम् ।।

भद्रकाली तथा प्रोक्ता वीरभद्रस्तथैव च ।
त्रिलोचनश्च लिप्सुश्च नभश्चैव तथापरः ।।

विवाहश्च तथा प्रोक्तः संवर्तश्च तथैव च ।
त्रिदशेशस्तथा प्रोक्तस्त्र्यक्षश्चैव तथा स्मृतः ।।

गाणाध्यक्षो विभुश्चैव शम्भुदंष्ट्री च वज्रकः ।
फणीन्द्रोदुम्बरीशश्च(शौ च) ग्रसनो मारुताशनः ।।

क्रोधनानन्तसंज्ञौ च वृषाधारस्तथा स्मृतः ।
वृषो बलिप्रियः प्रोक्तो भूतपालस्तथा भवेत् ।।

ज्येष्ठशर्वौ तथा प्रोक्तौ सुरेशो वेदपारगः ।
ज्ञानभुक् च तथा प्रोक्तः सर्वज्ञश्च तथापरः ।।

ईशविद्याधिपौ ज्ञेयौ प्रकामदप्रसादकौ ।
श्रीधृक् चैव तथा प्रोक्तो रत्नधृक् च तथापरः ।।

लक्ष्मीधृक् च तथा प्रोक्तो जटाधर इति स्मृतः ।
सौमदेहश्च धन्यश्च रूपवांश्च तथा भवेत् ।।

निधीशश्च तथा प्रोक्तो मेघवाहन इत्यपि ।
कपर्दी च तथा प्रोक्तस्तथा पञ्चशिखो भवेत् ।।

पञ्चान्तकस्तथा प्रोक्तः क्षयान्तक इति स्मृतः ।
तीक्ष्णः सूक्ष्मो वायुवेगो लघुशीघ्रौ प्रकीर्तितौ ।
सुनादो मेघनादश्च जलान्तक इति स्मृतः ।।

दीर्घबाहुरिति प्रोक्तो जयभद्रस्तथापरः ।
श्वेतश्चैव तथा प्रोक्तो महाबल इति स्मृतः ।।

पाशहस्त इति ख्यातस्तथा चातिबलो भवेत् ।
बलो दंष्ट्री च विज्ञेयो तथा लोहितधूम्रकौ ।।

विरूपाक्षोर्ध्वशेफौ च भयानक इति स्मृतः ।
क्रूरदृष्टिस्तथा हन्ता मारणो निर्ऋतिस्तथा ।।

तथा धर्मपतिः प्रोक्तो धर्मश्चापि तथापरः ।
वियोक्ता च तथा प्रोक्तः संयोक्ता च तथापरः ।।

कर्तृसंज्ञो विधाता च धाता च हरमृत्युकौ ।
याम्यः क्षयान्तकश्चैव भस्मान्तक इति स्मृतः ।।

बभ्रुश्चैव तथा प्रोक्तो दहनज्वलनौ तथा ।
हरश्च खादकश्चैव पिङ्गलश्च हुताशनः ।
अग्निरुद्रस्तथा चैव त्रिदशाधिपसंज्ञकः ।।

पिनाकी चैव शास्ता च अव्ययश्च विभूतिकः ।
प्रमर्दन इति ख्यातो वज्रदेहस्तथापरः ।।

बुद्धो ह्यजः कपालीशो रौद्रं वैष्णवमित्यपि ।
ब्राह्मं च हाटकं चैव कूष्माण्डं च तथा भवेत् ।
कालाग्निना सह प्रोक्तं पुरमष्टोत्तरं शतम् ।।

एवं पञ्चकलानां तु भुवनानां शतद्वयम् ।
चतुर्विंशोत्तरं चैतत् स्फुटं प्रोक्तं यथाक्रमम् ।।

अनाश्रितादिभुवनं शिवतत्त्वे व्यवस्थितम् ।
भुवनं शान्त्यतीतादि पञ्चप्रोक्तं च शान्तिके ।।

एकं सादाशिवं प्रोक्तं भुवनं च सदाशिवे ।
शिखण्डाद्यष्टभुवनं तत्त्वे त्वीश्वरसंज्ञके ।।

मनोन्मन्यादिभुवनं शुद्धविद्याख्यके नव ।
अष्टावङ्गुष्ठमात्रादिपुरं मायाख्यके स्मृतम् ।।

शिखेदश्चैकवीरश्च तत्त्वे कालाख्यके भवेत् ।
पञ्चान्तकश्च शूरश्च कलायां भवति स्फुटम् ।।

पिङ्गश्च ज्योतिरित्येवं तत्त्वे विद्याख्यके मतम् ।
संवर्गश्चैव क्रोधेशस्तत्त्वे नियतिके भवेत् ।।

एकशिवादिभुवनं रागे पञ्च व्यवस्थितम् ।
एकवीरादिभुवनं षट्तत्त्वे पुरुषे भवेत् ।।

श्रीकण्ठाद्यष्टभुवनं प्रकृतौ च व्यवस्थितम् ।
ब्राह्मादिभुवनं चैव बुद्धावष्टौ भवेत् स्फुटम् ।।

अहङ्काराख्यतत्त्वे च स्थलेश्वर इति स्मृतः ।
मनस्तः प्राणपर्यन्ते षट्के स्थूलेश्वरो भवेत् ।
पञ्चके शङ्कुकर्णस्तु तत्त्वे कर्मेन्द्रियाख्यके ।।

कालञ्जरादिभुवनं छगलण्डान्तमेव च ।
शब्दादिगन्धपर्यन्ते पञ्चके च भवेत् स्फुटम् ।।

स्थाणुमारभ्य भुवनमष्टकं व्योम्नि संस्थितम् ।
भीमेश्वरादिभुवनमष्टकं मरुति स्थितम् ।।

भैरवाद्यष्टभुवनं तेजस्तत्त्वे व्यवस्थितम् ।
लकुलीशादिभुवनमष्टकं च जले स्थितम् ।।

भद्रकाल्यादिभुवनमष्टोत्तरशतं भवेत् ।
पृथ्वीतत्त्वे तथा चैव(वं) पुरन्यासः प्रकीर्तितः ।।

* * *

एकाशीति-पदनामानि

कलायां शान्त्यतीतायामोमित्येकं पदं मतम् ।
व्योमव्यापिनमारभ्य पदान्येकादश स्फुटम् ।।

नित्यं योगिनपर्यन्तं शान्त्याख्यायां भवन्ति हि ।
ध्यानाहारकमारभ्य व्यापिन्व्यापिन्पदान्तकम् ।
विद्याख्यायां कलायां च पदानां विंशतिर्भवेत् ।।

प्रतिष्ठायामरूप्यादिपदानामेकविंशतिः ।
महेश्वरपदान्तं च स्फुटं प्रोक्तं यथाक्रमात् ।
महादेवपदादीनामष्टाविंशतिसंख्यया ।।

निवृत्तौ तु कलायां च पदानां विततिर्भवेत् ।
इत्थं न्यासक्रमः प्रोक्त एकाशीतिपदस्य च ।।

अथवाऽन्यप्रकारेण पदन्यासो विधीयते ।
चतुर्नवतिसंख्यानां पदानां च यथाक्रमम् ।।

अत्रापि शान्त्यतीतायामोमित्येकं पदं मतम् ।
व्योमव्यापिनमारभ्य ध्यानाहारपदावधि ।।

शान्तौ तु रविसंख्यानि पदानि च भवन्ति हि ।
ओङ्कारपदमारभ्य व्योमिन्व्योमिन्पदान्तकम् ।
एकविंशतिसंख्यानि विद्यायां च पदानि तु ।।

व्यापिन्व्यापिन् समारभ्य शर्वशर्वपदावधि ।
प्रतिष्ठायां तु द्वात्रिंशत् पदानां विततिर्भवेत् ।।

भवभवेति समारभ्य ओङ्कारपदकावधि ।
अष्टाविंशतिसंख्यानि निवृत्तौ च पदानि तु ।।

एकाशीतिपदानामप्युद्धारः पूर्वमुच्यते ।
ओमित्येकाक्षरेणैव प्रथमं पदकं स्मृतम् ।।

व्योमव्यापिन इत्येव व्योमरूपाय चैव हि ।
सर्वव्यापिन इत्येव पञ्चार्णं त्रिपदं मतम् ।।

त्र्यक्षरं च शिवायेति अनन्ताय पदं तथा ।
अनाथाय तथा प्रोक्तं द्विपदं चतुरक्षरम् ।।

अनाश्रिताय पञ्चार्णं ध्रुवाय त्र्यक्षरं मतम् ।
शाश्वताय पदं चापि चतुरक्षरमेव हि ।।

अष्टाक्षरं योगपीठसंस्थिताय पदं तथा ।
नित्यं योगिन इत्येवं ध्यानाहाराय चैव हि ।।

द्वे पदे च तथा प्रोक्ते पञ्चाक्षरसमन्विते ।
तथोंनमः शिवायेति षडक्षरमिति स्मृतम् ।।

सर्वप्रभवे पञ्चार्णं शिवाय त्र्यक्षरं मतम् ।
ईशानमूर्धाय पदं षडक्षरमिति स्मृतम् ।।

तत्पुरुषवक्त्रायेति पदं सप्ताक्षरं स्मृतम् ।
अघोरहृदयायेति पदं सप्ताक्षरं भवेत् ।।

वामदेवगुह्यायेति पदं सप्ताक्षरं मतम् ।
सद्योजातमूर्तये च पदं सप्ताक्षरं भवेत् ।।

ओं नमो नम इत्येवं पदं पञ्चाक्षरं भवेत् ।
गुह्यातिगुह्याय पदं षडक्षरमिति स्मृतम् ।।

गोप्त्रे चेति पदं चैव द्व्यक्षरं परिकीर्तितम् ।
अनिधनायेति पदं पञ्चाक्षरमिति स्मृतम् ।।

सर्वयोगाधिकृताय पदमष्टाक्षरं भवेत् ।
सर्वविद्याधिपायेति पदं सप्ताक्षरं स्मृतम् ।।

ज्योतीरूपायेति पदं पञ्चाक्षरमिति स्मृतम् ।
परमेश्वरपराय पदमष्टाक्षरं भवेत् ।।

अचेतनाचेतनाय पदमष्टाक्षरं भवेत् ।
व्योमिन्व्योमिन् पदं पश्चात् व्यापिन्व्यापिन् पदं तथा ।।

द्वौ पदौ च परिज्ञेयौ चतुरर्णसमन्वितौ ।
अरूपिन्नरूपिन् पदं प्रथमप्रथमेति च ।।

द्विपदौ च परिज्ञेयौ षडक्षरसमन्वितौ ।
तेजस्तेजः पदं पश्चात् ज्योतिर्ज्योतिः पदं तथा ।।

उभौ पदौ परिज्ञेयौ चतुरर्णसमन्वितौ।
अरूपेति पदं पश्चात् अनग्नीति ततः परम्॥

अधूमेति पदं पश्चात् अभस्मेति ततः परम्।
अनादे च तथा प्रोक्तं त्र्यक्षरेण समन्वितम्।
निधनेति पदं प्रोक्तं त्र्यक्षरं पञ्चकं पदम्॥

नानानाना पदं पश्चात् धूधूधूधू तथैव च।
द्विपदं च परिज्ञेयं चतुरर्णसमन्वितम्।
ओंभूश्चेति पदं प्रोक्तं द्व्यक्षरेण समन्वितम्॥

ओंभुवश्च पदं पश्चात् ओंसुवश्च ततः परम्।
द्विपदं च परिज्ञेयं त्र्यक्षरेण समन्वितम्॥

अनिधनपदं पश्चात् चतुरर्णसमन्वितम्।
निधनेति पदं प्रोक्तं त्र्यक्षरेण समन्वितम्॥

निधनोद्भवेति पदं पञ्चाक्षरसमन्वितम्।
शिवेति पदकं पश्चात् शर्वेति पदकं तथा॥

द्विपदं च परिज्ञेयं द्व्यक्षरेण समन्वितम्।
परमात्मपदं पश्चात् माहेश्वरपदं तथा॥

महादेवपदं प्रोक्तं त्रिपदं चतुरर्णकम्।
सद्भावेश्वर इत्येवं पदं पञ्चाक्षरं भवेत्॥

महातेजः पदं प्रोक्तं चतुरर्णसमन्वितम्।
योगाधिपते च पदं पञ्चाक्षरसमन्वितम्॥

मुञ्चमुञ्चपदं पश्चात् चतुरर्णसमन्वितम्।
प्रमथप्रमथपदं षडक्षरमिति स्मृतम्॥

शर्वशर्वपदं प्रोक्तं भवभवेति पदं तथा।
भवोद्भवपदं चापि प्रत्येकं चतुरर्णकम्।
सर्वभूतसुखप्रदपदमष्टाक्षरं भवेत्॥

सर्वसांनिध्यकरेति पदं सप्ताक्षरं मतम्।
ब्रह्मविष्णुरुद्रपरपदमष्टाक्षरं भवेत्॥

अनर्चितानर्चितेति संस्तुताऽसंस्तुतेति च।
पूर्वस्थितपूर्वस्थितपदमष्टाक्षरत्रयम्॥

साक्षिसाक्षिपदं पश्चात् तुरुतुरुपदं तथा ।
द्विपदं च परिज्ञेयं चतुरर्णसमन्वितम् ।।

पतङ्गपतङ्गपदं षडक्षरसमन्वितम् ।
पिङ्गपिङ्गपदं पश्चाद् सूक्ष्मसूक्ष्मपदं तथा ।।

शब्दशब्दपदं पश्चात् ज्ञानज्ञानपदं तथा ।
चतुष्पदं च विज्ञेयं चतुरर्णसमन्वितम् ।।

शिवेति पदकं पश्चात् शर्वेति पदकं तथा ।
द्विपदं च परिज्ञेयं द्व्यक्षरेण समन्वितम् ।।

सर्वदेति पदं पश्चात् त्र्यक्षरेण समन्वितम् ।
ओं नमो नम इत्येव पदं पञ्चाक्षरं मतम् ।।

ओं शिवाय नमो नमः पदमष्टाक्षरं मतम् ।
ओमित्येकाक्षरं चैव पदमन्ते प्रकीर्तितम् ।।

एकाशीतिपदस्यैवमुद्धारः प्रोक्त एव हि ।

चतुर्णवति-पदनामानि

चतुर्णवतिसंख्यानामुद्धारः कथ्यतेऽधुना ।।

एकाशीतिपदोद्धारे चतुर्णवतिकं भवेत् ।
ओङ्कारपदमारभ्य ध्यानाहारपदावधि ।।

त्रयोदश पदानि स्युः एकाशीति पदे यथा ।
ध्यानाहारपदादूर्ध्वम् ओमित्येकपदं मतम् ।।

द्व्यक्षरेण नमश्चेति तस्मादूर्ध्वं प्रकल्पयेत् ।
त्र्यक्षरेण शिवायेति तस्मादूर्ध्वं प्रकीर्तितम् ।।

सर्वप्रभव आरभ्य सद्योजातपदावधि ।
पदानां सप्तकं प्रोक्तमेकाशीतिपदे यथा ।।

सद्योजातपदादूर्ध्वमोमित्येकं पदं मतम् ।
द्व्यक्षरेण नमश्चेति तस्मादूर्ध्वं प्रकल्पयेत् ।।

तस्मादूर्ध्वं प्रकर्तव्यं नमश्चेति पदं तथा ।
गुह्यातिगुह्यमारभ्य ध्रूर्ध्वेतिपदकावधि ।।

पदानां विंशतिः प्रोक्ता एकाशीतिपदे यथा।
घूर्ध्वेति पदकादूर्ध्वम् ओमित्येकं पदं मतम्।।

भूरित्येकाक्षरेणैव तस्मादूर्ध्वपदं भवेत्।
ओमित्येकपदं प्रोक्तं भुवश्चेति ततः पदम्।।

ओमित्येकपदं प्रोक्तं सुवश्चेति ततः पदम्।
अनिधनपदाच्चैव सर्वदापदकावधि।।

द्वात्रिंशत्पदकं प्रोक्तमेकाशीतिपदे यथा।
सर्वदा च पदादूर्ध्वमोमित्येकं पदं स्मृतम्।

द्व्यक्षरेण नमश्चेति शिवाय त्र्यक्षरं ततः।
ओमित्येकं पदं प्रोक्तं नमश्चेति पदं ततः।।

नमश्चेति पदं प्रोक्तं शिवायेति पदं ततः।
ओमित्येकाक्षरेणैवमन्ते च पदकं स्मृतम्।।

चतुर्नवतिसंख्यस्य चोद्धारः प्रोक्त एव च।
आगमेषूभयं प्रोक्तं तस्माच्च द्विपदं कृतम्।।

द्विसंख्यानां पदानां च न्यासः प्रोक्तो यथाक्रमम्।
द्विसंख्यापदमध्ये च न्यासमेकेन कारयेत्।।इति।

सिद्धान्तसारावलि-श्लोकार्धानुक्रमणी

अक्षाणां विषयप्रवृत्ति १.१७
अङ्गब्रह्म सदाशिव: ४.३८
अत्यन्तं तीव्रपाके २.३
अन्ते क्रव्यादताप्त्या २.५
अन्नैरन्नसमृद्धये २.२८
अन्या स्याच्छिवधर्मिणी २.३०
अर्कांशे व्यापिकान्ते २.७
अर्के युग्मगते हरि ४.५
अर्च्यांशत्रिद्विभागात् ४.३१
अर्धेन्दुभौ दण्डतदन्त २.११
अष्टाभिर्भाजितेऽर्धे ४.३१
अष्टाविंशतिभाजिते २.५२
अष्टैकागसवेदिका २.४०
आज्याढ्यां निहितस्त्रुवां २.८३
आत्मस्थापनमन्त्र २.६७
आत्मा पञ्चभिरेभि १.१५
आत्मा विद्या शिवश्चे ४.२९
आद्यन्तभागविरहा २.३६
आद्यं तारपदं हनाद् २.७५
आद्यात् तेषु च शौच २.९०
आधिक्येनेशतत्त्वं १.९
आवाहनस्थापन २.२३
इच्छा ब्रह्मशिलातले ४.३५
ईशे नां नां च ह्यास्तु २.१६
उक्ति: शैवमनोश्च २.६८
उद्गीतं ललितं च ४.४
उद्योगाच्छक्तितत्त्वं १.९
उल्लिख्यास्त्रकुशै: २.६६
ऊर्ध्वोऽध्वा सकलोऽपि १.२०
ऋष्यादेस्तदनुग्रहो २.८९
एकद्वित्रिचतुष्क २.३४
एकं पङ्क्ति शतं सहस्त्र १.२५
एकाधिकं लिङ्गसहस्त्र ४.२१
एकाशीतिपदेऽब्जजो ४.२६
एवं भावयुगेव देशिक ४.१२
ओतं येन जगत् १.१
ओमित्यादिमनूच्चर १.१
कन्दो नाभ्यध उत्थित ३.१
कन्यावर्तितवह्नि २.४४
कर्ता तस्य महेश्वर ४.११
कर्षन्नङ्गुलिमध्यतो २.२५
कानिष्ठाङ्गुलविस्तृत २.४१
कार्पासोत्थनवात्म ४.६
कार्याचित्त्वप्रकाशा १.८
कालीगर्ते च पीठै ४.२४
काले वार्षिकपौष २.३२
कालो भूतभवद्भिभावि १.१४
कुड्यावेष्टितगेह ३.४
कुण्डं हस्तमितं षड ४.१५
कुण्डाग्नेयकमण्डले २.६८
कुम्भापूरकरेचका २.१५
कुर्यान्मत्स्यचतुष्टयं २.४६
कृत्वा य: सकलात् ४.१०
कृत्वा शक्तिवशाद् ३.५
कृत्वा शुद्धपथेऽशुचौ १.११
कृत्वोर्ध्वे द्विपदं गलं २.६५
कोणेष्वब्धिपदैर्लता २.५१
क्षिप्त्वा सावृतिचिद्गतां १.१२
क्षुब्ध्वा शक्त्यमृतं तत: २.२७
क्षेत्रांशपञ्चमविभाग २.३६

क्षेत्रे चाष्टपदीकृते ४.२५
क्षेत्रे रुद्रपदीकृते २.६२
क्षेत्रे विंशतिवेद २.५७
क्षेत्रे वृत्तचतुष्टया २.४७
क्षेत्रे वेदविभाजिते २.६५
क्षेत्रे षट्पदभाजिते २.५४
क्षेत्रे षण्णवतीकृते २.५९
क्षेत्रे सप्तपदीकृते २.५३
क्ष्मातत्त्वं त्वजहन्मनुः २.७१
क्ष्मातत्त्वं शतकोटि १.२१
क्ष्माद्यास्वष्टसु धारिका ४.३५
खण्डादेः क्षपणात्तु ४.१०
गत्वा दक्षिणतो २.६७
गन्धात् पञ्चगुणाश्च २.७१
गन्धो मूलफलादि २.२४
गात्राणि कृष्णेन्दुभ २.४९
ग्रन्थिच्छेदत एव २.८४
ग्रन्थिर्बिन्दुशरेण ४.६
ग्रन्थीनामधिपा शिवा ४.७
घोषो मेधा क्षमाख्यो २.९
चतुष्कृते वृत्तक २.३८
चत्वारस्त्रिदशा विदिक्षु ४.२५
चन्द्रार्धमाढ्ये त्रिपुषं ४.२०
चन्द्रार्धानि च षोडश २.४७
चित्रं गात्रकमिन्दु २.५८
चेष्टन्ते मरुतः शरीर १.१७
छत्रं शिरः सर्वसमेऽपि ४.२०
ज्ञानं चात्मगतं प्रकाश्य १.१३
ज्ञानात् केवलिषु स्थितेषु १.११
ज्योतिस्तद्गतमानसो ३.६
तत्कर्णशेषेण च २.३९
तत्प्राणेऽप्यपरं परा २.८५
तत्रत्या मुनिपङ्क्तिकाश्च २.९०
तत्राब्जोत्पलस्वस्तिकानि २.५७
तत्त्वाध्वा प्राकृतान्तः २.७२
तत्त्वान्येव सहायभूत १.२०
तत्त्वे शक्तिशिवे २.७५
तत्त्वे शक्त्यन्तशैवे २.८१
तन्मात्रं ह्यविशिष्टमेव १.१९
तन्माना ऋजवः २.४२
तस्मिन् सत्सुधयाढ्य २.८६
तस्या योनिषु योजितस्य २.७८
तालुर्विंशतिवेद ३.३
तिर्यक्खातसमोर्ध्व २.३५
तेनाष्टादश संख्ययो ४.४
तेषामीश्वरलोक ४.३८
त्रिद्व्येकार्धतदर्ध २.८
त्र्यश्रं त्रिभागपरिवृद्धि २.३७
दण्डस्तत्परतस्तु २.६
दन्ताङ्गुल्युपरिस्थ २.५०
दर्भाग्रैस्तत्त्वसंख्यैः २.४३
दासश्चान्यो धराद्यो ४.२७
दिक्षु द्वारमृषिद्वयै २.६३
दिक्ष्वादित्यपदेष्वथो २.६२
दिक्ष्विन्द्रान्तकपाशि ४.१६
दित्याख्यो बाह्य ऐशा ४.२८
दीक्षा भौतिकनैष्ठिकी २.३०
दीपः सद्विषयाः २.१९
दीपाद्याभरणादि २.२४
दीर्घा चार्धतता चिता ४.१५
दुर्गार्कौ शैवतत्त्वे ४.३९
देवाद् दिव्यगतो ४.२
देहाद्यैर्योगहेतु १.७
देहान्यः समलः पशुः १.५
देहारम्भकशिष्टकर्म ४.१७
देहे त्विन्द्रियवृत्ति ३.८
दैर्घ्ये चेद् विकृतौ ४.१९
दैवेष्वर्कसहस्रवर्षे १.२४
द्वात्रिंशत्पदभाजिते २.६३
द्वाभ्यां स्वस्तिकमष्ट २.६०

द्वारं दिक्षु मुनिद्वयै २.५२
द्वाराणि दिक्षु द्विपदं २.५६
द्वाराण्यष्ट कजान्तर २.५३, ५९
द्विस्फिक् कट्यौ च पार्श्वौ २.१७
धान्यस्थास्तन्तुजालाः २.४३
धाम्रः पादशिला त्रिखण्ड ४.३०
ध्यानाज्जापयुतान् ३.५
ध्यानाहारमुखो यशा च २.७४
नाडीशुद्धिषु मन्द ३.४
नानावैकल्यहीनां २.५
नालस्यार्धततं पृथुत्व ४.३२
नासापूरकतः प्रवेश्य २.७७
नित्यं तत्सकलान्यकर्तृ १.४
नीत्वा कान्तकमञ्जलिं २.२२
नीलं वा प्रतिबिम्ब ४.२२
नीहारोऽनादिरेको १.६
नेमीनाभिगहास्त २.२६
नेमीनां त्रितयं २.३५
नैर्ऋत्यां च चतुष्पदे ४.१६
नैवेद्यं स्वयमुद्यतां २.१९
पञ्चाधारसमस्थिताध्व २.८३
पत्राष्टकं सार्धयुगेन २.३८
पद्मैर्भूपतिमुत्पलै २.२९
परानपेक्षं शिवसंज्ञ १.३
पाके तीव्रतरे रुजः २.३१
पाणिभ्यां च विमर्दनं २.७९
पादाङ्गुष्ठयुगाच्च ३.२
पाद्यं तथा चाचमना २.२३
पाशानुग्रहणाद्यथा १.२३
पाशान् संच्छिद्य शक्त्या २.१
पाश्यः शोध्यश्च बोध्यः १.६
पिङ्गा कन्दविनिर्गता ३.१
पिण्डीलिङ्गधरेषु ४.३७
पीठं लिङ्गमुमा शिव ४.१८
पीठे लक्ष्म भगाकृतिस्तु ४.३२
पीतेनोज्ज्वलकर्णिकां २.४८
पुत्तल्यादिभिरन्वहं २.२९
पुष्पायोरचितां च २.४४
पूर्णान्तं हवनं समर्प्य २.२०
पूर्वादापरगं सुमध्य २.४६
पूर्वोक्तेषु विरिञ्चि ४.९
पौष्पो दन्तः प्रचेता ४.२८
प्रत्यग्द्वारकमण्डले २.६६
प्रत्यात्मस्थं पुनश्चो ४.२९
प्रत्येकं कोटिरेका ४.२४
प्राप्तेष्वत्र परार्धतां १.२४
प्रोक्ता खण्डेऽष्टदिक्षु ४.३४
बस्तिर्वेदशिरा ३.२
बस्तेर्नादोऽथ नाभे २.१०
बाणं लिङ्गमधिष्ठितेश ४.२२
बाणाद्येकतमार्चितेषु ४.७
बाह्यान्तःकरणैरणोः ३.८
बाह्ये दिक्ष्वभितो २.५४
बिन्दोस्तत्स्थमहेश्वरा २.८९
बुद्धिश्चातोऽप्यहङ्कृत् १.१०
बुद्धिः सा पुरुषस्य १.१६
बुद्ध्यक्षान्तश्च मेधावधि ४.३०
बौद्धाद् वैषयिकाद् १.१३
ब्रह्माङ्गाहुतिपञ्च २.७०
ब्रह्माऽऽद्योऽथ मरीचिक ४.२६
ब्रह्मात्रं तु रसो हरिस्तु ४.११
ब्रह्माऽव्यक्तगतश्च ४.३९
भक्ते विंशतिधा बहिः २.५१
भावाशेषप्रसूनं २.१४
भास्करेण च विकल्पितैः २.३३
भुक्तेऽस्मिन् सकृदेव ४.१२
भुक्तौ स्वार्जितकर्मणां १.१४
भूतान्यत्र धरा तु १.१९
भोक्तृत्वं प्रथमं प्रवृत्ति १.१५
मध्यस्थकोष्ठान्त २.६४

मध्ये संप्लवनात् २.१३
मन्त्रं षट्कलमास्य २.१२
मन्दाद्यैः केऽपि पक्वे २.४
मायाख्यं चित्रशक्त्या १.८
मायातत्त्वान्तमादौ २.७३
मायातोऽनन्तयोगात् १.१०
मायान्तात्माख्यतत्त्वे २.८१
मायासादेशशक्त्यन्त ४.३४
मायास्रोतसि निष्कृतौ २.७८
मां कोऽस्मादत्र शक्तः २.३
मिमोवेत्रीणि मां २.१६
मूर्धानः पञ्च वक्त्रा २.१७
मूलाणुं लयनान्त २.१३
मूले कालेन पक्वे २.१
मेधादयो वह्निशिखा २.११
मैत्रार्कानिलसौम्य २.३२
यद्वौष्ठं सकलाङ्कके ४.१३
यागधामकृतभू २.३३
युक्तं शक्तिसुकेसरैः ३.३
युक्ते त्वर्कांशके तु २.८
योनेस्तद्धवदेहतो २.६९
योन्यादिकुण्डानि तु २.३९
रागान्ता क्ष्माम्बु काला ४.३३
रुक्पाके स्वपदेच्छया १.२६
रेखाबिन्दुकलङ्क ४.२३
रौद्रास्ते विजयं च ४.३
लब्ध्वा व्याप्त्याप्तविश्व २.२
लिङ्गं पट्टसरोज २.६१
लिङ्गार्चा परमुक्तिदेह ४.३८
लिङ्गे ब्रह्मशिलादिके ४.१८
लिङ्गे स्थापनतो भवेत् ४.३७
लीयन्ते परिणामतस्तु १.२३
लेपो धीरवसायिनी २.१८
लोकेशासुरयक्ष ४.४०
लौकिक्या योजिता ये २.४
वक्त्रे कुन्दशशिप्रभं ४.१४
वर्गैरष्टभिरादिकैश्च २.५५
वर्ज्यं कर्कशरूक्ष ४.२३
वस्त्रं चर्म विलिप्त २.४५
वह्नावेवमपि प्रपूज्य २.२०
वह्न्यादौ समयश्रुतिश्च २.७०
वह्न्यूर्ध्वास्यसुसन्धिते २.२७
वागाद्यं देहसंस्थं १.१८
वागीश्यां जनितं २.२६
वाग्धीकार्यार्थसाध्यं १.७
विज्ञानप्रलयाकला २.३१
विद्या ईशसदाशिवौ २.७४
विद्याशक्त्यन्तशैवा ४.३३
विद्येशाः शुद्धविद्या ४.४०
विद्येशौ बिन्द्वनन्तौ २.१०
विशेषतः सर्वसमे ४.२१
विश्रान्त्यै भविनां च १.२७
वीथी पूर्ववदष्ट २.६०
वृत्तं त्र्यङ्गुलविस्तरं २.४१
वृत्तार्कत्रिशिखं २.९
वृन्दं चैव महासरोज १.२५
वेदी दर्पणसन्निभा २.३४
वेदैश्चतुष्षष्टिपदेषु २.५६
व्यापिन्नन्तानि शर्व २.७२
व्यापी मुक्तसखः १.२
व्याप्तिर्लिङ्गवदीरिता ४.३६
व्यांप्यव्यापकभावना २.७६
व्याप्याः कर्ममलाख्य २.७६
व्योमन्नादिर्मरौ द्वौ २.७३
व्योमाख्योऽग्निश्च ४.२७
शक्तिर्धीः समनान्तराढ्य २.८२
शक्तिश्चित्तनुरीश्वरस्य १.४
शक्तिं पूर्तिमतीमनन्त २.८७
शक्तौ स ध्वनिरूर्ध्व २.८५
शक्त्याख्यमाहु १.३

शब्दस्पर्शादिरूपा २.८०
शब्दाद्यष्टकशुल्क २.७९
शान्तः सर्वकृदव्ययः १.२
शिष्टैरष्टपदैश्च २.५५
शिष्टैः कोणमथेन्दु २.५८
शिष्यन्ते पशवः सशक्ति १.२७
शिष्यस्योक्षणताडने २.७७
शिष्यात्मस्वमनः २.८४
शुक्लं मध्यगरत्न २.४५
शुद्धाध्वादिमतत्त्व २.८२
शून्ये चण्डांशुघोणे २.७
शैवं मन्त्रमथोच्चरन् ४.८
शैवाः कामिकयोगजा ४.३
शोषाद् दाहनतश्च २.१५
श्यामेनाब्जदलान्तर २.४८
श्यामैर्दर्भदलैः २.४२
श्रीमच्छैवमतानुसारि ४.४१
श्रीमच्छैवमतार्थ ४.४१
श्रीमत्स्कन्दगुरोः २.६
श्रुत्योर्दक्षिणवामयोस्तु ४.९
श्रोत्राद्यं विग्रहाङ्गं १.१८
श्रोत्राद्यैर्विप्लुतौ २.८०
षट्त्रिंशाङ्गुलसंमित २.४०
षड्भागवृद्ध्या रचितै २.३७
सङ्कल्पाद् दश चात्मनः ४.१
सत्त्वादिरेखा यवनिम्न २.४९
सत्त्वादेर्लघुताप्रका १.१६
सद्दीक्षाचरणाश्रितस्य ४.१७
सन्धिस्थैकतमे ४.५
सप्तादीन् विषमान् २.५०
सब्रह्माङ्गशिवार्चना २.८८
सम्बन्धस्तु परोऽणु ४.२
सर्वात्माख्यचतुर्थकं ४.८
सर्वाध्वाधिकभाग २.२१
संहारे भुवनेश्वरा १.२६
साक्षाद्देव उपादिदेश ४.१
सायाह्ने ह्यूर्ध्वपद्मे ३.७
सार्धांशावसुसार्ध ४.१९
साहस्राच्च सदाशिवा १.२१
सिक्तः पाशविमोचका २.८८
सिक्ताः सौधरसैः २.१२
सिन्दूरारुणसप्रभं ४.१४
सूक्ष्मस्थूलनिनाद १.१२
सूक्ष्माङ्गी सकलोऽल्पवित् १.५
सूत्रैः सप्तदशात्मकैः २.६१
सृष्ट्याग्नौ च नियोज्य २.८७
सेशानाहतधारिको २.२१
स्थित्यै तांश्च नरान् १.२२
स्यात् स्वस्तिकं चेष्टि २.६४
स्रुक् चेत्यान्तरभावनात् २.८६
स्रोतांसि प्रतिपुंसि १.२२
स्वं देहं भूतबीजं २.१४
स्वर्णाप्त्यै मधुना च २.२८
स्वात्मस्थापनरेचन २.६९
स्वाधारे गतमानसः २.२२
स्वाधारोदितनादतः २.२५
स्वाम्नायज्ञानसिद्धा २.२
हृत्कुम्भे च मनः कला ४.३६
हृत्पद्मे प्रातरर्कोदय ३.७
हृत्पद्मे मनसा विभावित २.१८
हृद्यन्तर्बहिरेव ४.१३
हृद्व्योमाम्बुजकर्णिका ३.६

उद्धृतग्रन्थ-ग्रन्थकार नामावली

अघोर शिवाचार्य २, ३, ४, ३८, ४६, ४८, ६०, ६५, १७५, १८६, ३४७
अचिन्त्यागम २७३, २७४
अत्रि २९१
अनन्तशम्भु ३, ५, ७, २९१
अन्यत्र ८१, १४८, १५०, १५५, १५६, १६२, २८९, २९०, २९५, २९७, ३०४, ३१७, ३२६, ३३२, ३४९
अमरकोश ९१, ९३, ९९, १५५, १६१, २६७, २८७, २८८
अमरसिंह २८८
आगम ३४, ४३, ७६, ७९, ११२, १२८, १३१, १८५, २७९, ३४०, ३६२-३६४, ३६७, ३७१
आगमशास्त्र ६, १०, ८९, १३६
आचार्य १०, १६, ४६, ९४, १३२, १३९, १४५, १८४, १८५, २८१, २९५, २९८, ३०६
आचार्य वचन १६८
आत्रेय संहिता २८७
आपिशलि शिक्षा ५५
ईशानदेवगुरु २७४
करण २९१
करणाधिकार पटल १७७, १७८
कामिकागम(तन्त्र) १, २३, ४२, ७८, ८१, ८७, १०९, ११५, १४४, १४५, १५६, १६२, १६३, १६४, १६५, १६७, १६८, १७०, १७३, १७५, १७६, २०५, २०७, २११-२१३, २१५, २४०, २४२, २५६, २७५, २७७, २८०, २८१, २८३, २८५, २९१, ३१३, ३१५, ३१७, ३१८, ३२४, ३३०, ३३१, ३३२, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३६०, ३७०
कारणागम ११६, १४०, १६२, १६३, १७०, १७१, १७२, १७५, २८३, २८४, ३२५
कारणागम (योगपाद) ३०२
कालोत्तरागम (तन्त्र) १४, ४२, ५४, ५५, १०५, १०६, १०७, ११०, १४४, १५४, २३८, २३९, २९९, ३०२, ३०५, ३०७, ३०९, ३२९, ३६९
किरणागम ९, १५, १६, २०, २१, २४, २५, ५०, ७२, ७४, ७५, १६२, १९३, १९५, २०१, २०४, २७७, २७८, २७९
किरणागमवृत्ति २४
क्रियाक्रम (द्योतिका) ११८, १७५, २०५, २०७, ३४५, ३४९, ३५९
ज्ञानरत्नावली १३९, २०५, २९४, २९५, २९८, २९९, ३०२,

३१४, ३४९, ३५०, ३५७, ३५९, ३६३, ३६४
ज्ञानशिवाचार्य ६, ९, २५४
ज्योतिषसंग्रह २८८
ज्योतिःशास्त्र २९०
टीका १३
टीकाकार (सिद्धान्तसारावलि) ७, ९, १६, २५, ४६, ९०, ११९, १३४, १३५, १४७, १९९, २०२, २१७, २१९, २४३, २४५, २४६, २४७, २४९, २५८, ३१०, ३३४
तत्त्वत्रयनिर्णय ७२
तत्त्वप्रकाश ४, २९, ३०, ३३, ३४, ४२, ४५, ४६, ४८, ५१, ५२, ५६, ६०, ७२, ८२
तत्त्वसंग्रह १४, ३७, ५६, १०१, १०५
तन्त्र ५१, ८१, ३४०
तन्त्रसागर २९१
त्रिलोचन शिवाचार्य १, २५८, ३७०, ३७१
त्रिशतिकालोत्तर ८०, ९७
दुर्गासप्तशती २३
दुर्वासा १०
द्विशतिकालोत्तर १०१, १०३, १०७, ३१६
नाड़ीशास्त्र २६२
नारायणकण्ठ ३३, ३६, ३८, ४९, १७४
निश्वास (आगम) १२२, ३०७, ३१०
निश्वासकारिका ११७, १२२, २८७
निघण्टुवचन ९३
नैघण्टुक २८७
न्याय १७५
न्याय-वैशेषिक ५८
पञ्चावरणस्तव ६०, १८६
पतञ्जलि १०६
पराख्यसंहिता १६, १३०, १७०
पवित्रकालनिर्णय २८९
पाणिनीय शिक्षा ४०, ५५, ९६, १०६
पुराण २५, ७९
पूजास्तव (स्तोत्र) ६, ९८
पौष्करागम ११, १२, २९, ५२, ९०
प्रतिमाशास्त्र ३२९
प्रतिष्ठासारसंग्रह १६७
ब्रह्मशम्भुपाद २०६
भोगकारिका ५३
भोजदेव ४, १४, ८२
मतङ्गपारमेश्वर ४८, १२७
मतङ्गागम ३०, ५१, ५२, ५५, ५८, ६३, १८३, १८८, १९१, २८१, ३१९
मनुस्मृति १५३
मन्त्रनिघण्टु ९०, ९१, १०३
महाभारत १६
माध्यन्दिनसंहिता ६
मुण्डकोपनिषत् ५
मृगेन्द्रागम १, १२, १६, १९, २१, २२, २४, २५, २६, २७, ३३, ३४, ३७, ३९, ४४, ४६, ४७, ४८, ५२, ५३, ५४, ५५, ५८, ५९, ६८, ७०, ७५, ७६, ८२, ९१, १०८, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १८२, १८३,

१९५-१९७, २०३, २०५, २०८, २२९, २४३, २५०, २५१, २८५, २९५, ३२६
मृगेन्द्रागमवृत्ति (टीका) ३६, ३८, १८५
मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका ३८
मोक्षकारिका ७
मोहशूरोत्तर ७९, २८६, २८९, २९१, ३०५, ३०६, ३२५, ३६६
याज्ञवल्क्य ५
योगसूत्र १०६
रत्नत्रय ८, ३१, ३९, ४०, ४१, ६२
रत्नमाला २८६
रामकण्ठ २४, ९४, १०५
रुरुसंहिता (रौरवागम) ३२, ८२, ८७, १४९, २८०, २८५
लिंगकल्प ३६८
वचन ३६, ३७, ७९, ८२, ८४, १०८, ११२, ११५, १२१, १२३, १३३, १४६, १५१, १५५, १५६, १६२, १७१, १७३, १७४, १८३, १८५, २०५, २१९, २२१, २२२, २३२, २३८, २४५, २४६, २४८, २५१, २५२, २५४, २५७, २५८, २६१, २६६, २६८, २८६, २८८, २९०, २९२, २९५, २९६, २९७, ३०३, ३०५, ३१२, ३१३, ३१७, ३२७, ३३१, ३३२, ३३४, ३३७, ३४५, ३४७, ३५०, ३५१, ३५४, ३५५, ३५९, ३६०, ३६१, ३६३, ३६४, ३६६, ३६७
वरुणपद्धति १२७, २१७, ३५३, ३५७, ३६०
वरुणशिव १७, ८४-८६, १४८, १५१, ३१९, ३७२
वाग्भट २८७
वातुलशुद्धाख्यतन्त्र ९, ११, ११८
वातुलसूत्र १०६
वातुलागम १०४, १२४
वायुपुराण (वायवीयसंहिता) ८२, २८५
विजयागम २७५, २७८, २७९
विष्णुरहस्य २९१
विंशतिकालोत्तर ९६
वेदान्त २८५
वैखानससंहिता २९१
वैष्णवागम २९१
व्याकरणशास्त्र ३४
शास्त्र १५, १६, ५६, ७५, ८१, ९२, १२६, १४५, १५८, १६०, २१७, २५५, २६७, ३२३, ३४१
शास्त्रवचन ५७, ८८, १११, १२५, १५३, १६०, १६२, १७३, २४३, ३१५
शिवशास्त्र ३१४
शिवागम ८२, २८५, २९१, ३३३, ३३९, ३४९
शैवशास्त्र ४, १४, २४, १०९, ३१६, ३४७, ३६५, ३६८, ३७२, ३७३
शैवसिद्धान्त ४६, ४९, ७८, ८२
शैवागम ४, ३४, ४८, ५८, ७४, ७९, २६९, २७८

श्रीपति २८६
श्रुति ६, ७९, २८८, ३१६
श्रौतस्मृति २०१
षट्साहस्रागम १९३
षट्साहस्रिका १४१, १९२, २८८, २९५, ३०३
सद्योज्योति शिवाचार्य २, ७
सर्वज्ञानोत्तर १०४, ११५, २६७
सांख्य दर्शन ५१, ५२, २८५
सार्धत्रिशतिकालोत्तर १४, ९४, ९६, १०५, ११०, ११६, १२२, २३५, २३८, २३९, ३०९, ३११, ३१५, ३१६
सिद्धान्तदीपिका ११३
सिद्धान्तरहस्य ९४, १०१
सिद्धान्तशास्त्र ८१-८२
सिद्धान्तशेखर १४४, १५०, १५२, १५५, १५६, १६०, १६३, १६५, १८१, २०४, २०५, २०७, २६१, २६७, २८८, २९१, २९५, ३०६, ३२२, ३२३, ३२८, ३२९, ३३१, ३३२, ३३६, ३३८, ३३९, ३५१, ३६१, ३६३, ३६५
सिद्धान्तशैवशास्त्र २, ३७३
सिद्धान्तसारावलि १, ३, ५, ३७२, ३७३
सुप्रभेदागम १०८
सूतसंहिता ६७
सोमशम्भु १४४, २९३, २९७, ३०१, ३३८
सोमशम्भुपद्धति १३९, २९७, २९९, ३०३, ३१७, ३३८
स्मृतिशास्त्र ७९, २९१
स्वच्छन्दतन्त्र ४, ६, ९४, ९६, ९७, ९८, १०२
स्वतन्त्रतन्त्र २७७
स्वायम्भुवागम ४६, ८४, १०९, १८९-१९१, २५१, २७७, २९६

* * *

विशिष्टविषयानुक्रमणी

अकार-हकार की एकता ९४-९५, १०१-१०२
अक्षनिकर १३६
अक्षपाट (कुण्डसंस्कार?) १३९-१४०
अक्षर ९१
अक्षमाला (मेरुहीना) १३६
अक्षसूत्र (रुद्राक्षमाला) १३६
अक्षिबन्धन २०५
अगस्त्य २५५
अग्नि (त्रिविध उत्पत्ति) १४०
अग्निकार्य (हवन) १३७-१४७
अग्निशक्ति १२
अग्निसंस्कार १४०-१४५
अंगमन्त्र (पाँच एवं छः) १०२, ११०, २१३, ३७०
अंगिरा १५६
अजिन २६५
अणु (मन्त्र) २८०
अणुनाथ २८०
अणुसंहिता ८१
अदृष्ट २४-२५
अधिकार पद १७, ३७, ४१, ४९, ६०, ६४
अधिकार मल ३६, ३७, ६०, ७०
अधोमाया ३०९
अनन्त (अनन्तनाथ=अनन्तेश्वर) ४, ९, ३२, ३३, ३६, ३७, ४२-४४, ४८,४९, ६०, ७२, १२२, २७५, २८०, ३५९
अनवस्था (दोष) २४
अनादिमुक्त ४
अनादिरुद्र २७५, २७६, २७८
अनाहतशिव ५, १०, ३९, ९९, १००, १०४, ११२
अनुग्रह (कृत्य) १३, २०, २२, २५, ३७, ४४, ६९, ७०, ७२, ७४, ७६
अनुग्रह शक्ति ४४
अन्तःकरण (त्रिविध) ७, ५६, २४२
अन्तर्याग १२१
अन्त्ययाग (अन्त्येष्टि) ७८, ८१, ८८, ३१२-३१८
अन्त्येष्टिकुण्ड ३१२-३१४
अन्त्येष्टिमण्डप ३१२-३१३
अन्त्येष्टिविधान ८१, ३१२-३१८
अन्धकासुर कथा ३३९-३४०
अपान का व्यापार ५४
अभाव (लक्षण) ९८
अभिघारण १४२
अभिषेक (विधि) १०८, ११०, २५०-२५२
अमनस्क (परमशिव) ५
अमरेश्वर (पर्वत) ३३१, ३३५-३३६
अमृतकला ४२
अमृतप्रवाह ११०
अमृतीकरण १३२
अम्बुज ३४१
अयनकाल १५५-१५६

- अरणि-मन्थन १४०
- अर्जुन वृक्ष २५५
- अर्ण (वर्ण) ४०
- अर्धेन्दु (अर्धचन्द्र) ५, ६
- अवस्थात्रय ११, १२, २८-३१
  - अधिकारावस्था ११, १२, २८-३१
  - भोगावस्था ११, १२, २८-३१
  - लयावस्था ११, १२, २८-३१
- अवस्थापंचक १०७, २७१-२७४
  - जाग्रत् ६७, १०६, १०७, २७१-२७४
  - स्वप्न ६७, १०७, २७१-२७४
  - सुषुप्ति १०७, २७१-२७४
  - तुरीय (तुर्य) १०७, २७१-२७४
  - तुरीयातीत (तुर्यातीत) १०७, २७१-२७४
- अवान्तर संहार ६५-६६
- अव्यक्त (प्रकृति) ५१
- अशक्ति (अट्ठाईस) ५२
- अशुद्ध तत्त्व (इकतीस) ३, ३१-३४, ४३, ४४, ५९-६०, ६८
- अशुद्ध भुवन ३, ४, ६०, ७२
- अशुद्धाध्वा ९, ३७, ३९, ४४
- अष्टगुण (सिद्धि) १४७-१५०, २६८
- अष्टप्रकृति २६०-२६१
- अष्टमूर्ति (नाम) १३, ३४९, ३५१, ३५६
- अष्टमूर्तिन्यास (व्याप्ति) ३४, ८९, ३५१, ३५५-३५७, ३५९-३६१
- अष्टमूर्तिमय १३
- अष्टविध पुष्प १२३
- अहंकारतत्त्व (त्रिविध) ३४, ५२-५५
- अहंकारवृत्ति (त्रिविध) ५३
  - गर्व ५३
  - जीवन ५३
  - संरम्भ ५३
- आकर्षण १०७
- आगमशास्त्र ६
- आगमों का उद्भव २८४
- आगमों का प्रामाण्य २८१-२८२, २८५
- आगमों के पचीस भेद २८४
- आचार (लौकिक एवं वैदिक) १५०
- आचार्य ७६, ८१, ८४, १४९, १५१, १५२, २०७, २०९, २५२, ३१०, ३१५
- आचार्यमूर्ति ७६, ८४
- आचार्यव्रत २५२
- आचार्याभिषेक १९१, २५०-२५२
- आणव मल ३८
- आतिवाहिकं (देह) ५४
- आत्ममन्त्र २०९, २१४, २२८
- आत्मस्थापन २०८
- आत्माग्नि २३०
- आदिशैव २५२
- आधार १५२, १७९
- आधारशक्ति ३४६-३४८
- आधारशिला ३१९, ३४८
- आन्तरपूजा १२०-१२३
- आप्तवाक्य ८२, २८५
- आप्यायन १०७, १११-११२
- आप्लावन ११४-११७, २०८
- आमर्दक मठ १, २५३-२५७
- आवाहन आदि संस्कार १३०-१३३
  - अर्घ्यदान १३०-१३३
  - अवकुण्ठन १३०-१३३
  - आचमन १३०-१३३

  - आवाहन (द्विविध) १३०-१३३, २४१
  - आवाहन विधि १२८-१३०, २४१
  - निरोधन १३०-१३३
  - पाद्य १३०-१३३
  - पुष्पदान १३०-१३३
  - सन्निधान १३०-१३३
  - स्थापन १३०-१३३
- आसन (द्विविध) ८०, १०४, २६४-२६६
- आहुति २३९
- इडा (नाडी) १२४, २५९-२६३
- इडा-स्रुवा १२४
- इध्मलक्षण १७४-१७५
- इन्धिका २४१
- इष्टि २०१, ३०६
- ईशान (मन्त्र) २२५-२२६
- ईश्वरतत्त्व ३०, ३५, ३६, ४२, ४३
- उच्चाटन १०७, १६६, ३३३
- उत्क्रान्ति ६, १०, ८०, ८१
- उत्सेध ३२५
- उदान का व्यापार ५५
- उन्मना(नी) ५, ९१, ९३, ९७, १००, १०५, १११, १३०, २४२, २४७, २६२, २६३, २६४, ३०१
- उपवेदिका १३८, १६१
- उपादानकारणता ४, २६, ४३, ७२
- ऊर्ध्वमाया ३०९
- (प्रो.) एन. आर. भट्ट १४
- ओषधी २५०-२५१
- कण्ठ (कुण्ड) १६२
- कण्ठ (चक्र) १०४
- कदम्ब वृक्ष २५३, २५५
- कन्दस्थान (लक्षण) ४२, ४३, १२२, २५९-२६२
- कन्यातीर्थ ३३१, ३३५-३३६
- कन्यारण्यक ३३१, ३३५-३३६
- करणाधिकार १७७-१७८
- कर्णसूत्र १८०, १९१
- कर्णिका १६२
- कर्णिका (बाणलिंग) ३३५
- कर्तरी (ज्ञानशक्ति) ७६, १७६-१७८, २३३
- कर्तृत्वशक्ति ४४-४५
- कर्म (पाश) १६, २२-२५, ७१-७२, ७४, ७७
  - अनादिता २४-२५
  - नियतिसापेक्षता ४८
  - त्रिविध कर्म ७७-७८, ८८, १५२, १८९, २५१, ३०३, ३१५
  - कर्मक्षय के कारण १६-१७
- कर्मदेव ५७, २३८
- कर्मफलविचार १६, ३४, ४८, ६३
- कर्मसाम्य १८, २०, २५, ७४, ८३
- कर्मेन्द्रिय ३४, ५६-५७
- कलश (कुम्भ) १७६-१७७, २१५
- कला (द्वादश) ६, १३५-१३६
- कला (सोलह) १३-१४, ४१-४२, ९२-९५, २९८
- कला (चौसठ) १२९
  - अकार कला (दस) १२९
  - उकार कला (सोलह) १२९
  - मकार कला (चौबीस) १२९

  नाद कला (दस) १२९
  बिन्दु कला (चार) १२९
कला (अड़तीस) ३५
कलातत्त्व ३८-४४
कलान्यास (अड़तीस) ११७-१२०
कलाध्वा ९
कलापञ्चक ४, २८, ३३, ३८, ३९, ४३, ४४, ११६, २०८, २१५-२२६, ३४६
  निवृत्ति ४, ११६, २१५-२१७
  प्रतिष्ठा ४, ११६, २१८-२१९
  विद्या ४, ११६, २१९-२२१
  शान्ति ४, २९, ११६, २२१-२२३
  शान्त्यतीता ४, २८-२९, ११६, २२३-२२४
कला-मात्रा १३५-१३६
कला-वर्ण ८९, ९१, १००-१०१
कला-स्वरूप ३८-४४, ४७, ८९, ९१-९२, १०४-१०५
कांची २५८
काम्य कर्म (षड्विध) ७७, १६६-१६७, १९१, ३०३
काम्य होम १४६-१४७
कारणेश्वर (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, अनाहत शिव) २, ५-६, ८०, ९९-१०१, १०४-१०७, ११०, ११२, १२९-१३०, १३६, २१५-२२४, २३५, ३१२-३१४
कारणेश्वरत्याग (द्विविध) ५-६, १२९-१३०, १३६, २२८, २३६, २३९, ३०१, ३४८, ३५१, ३५८
कारणेश्वर-पवित्रसमर्पण ३००
कारणेश्वर-विचार १०१, १०६, ११२
कारणेश्वर-व्याप्ति ३७२
कारणेश्वर-व्युत्पत्ति ३०२
कारणेश्वर-स्थान १०७
कालतत्त्व ३३, ४७-४८
  कालतत्त्व की प्रथम स्थिति ४७
कालमान ६६-६८
कालाग्नि (रुद्र) १८, ६३, ६९, ३१४, ३६८, ३७०
कालीगर्त ३३१, ३३५-३३६
काश्यप २५३, २५५-२५६
कुटिला (कुण्डलिनी) ३४६
कुण्ड (अष्टविध) १३८, १५८-१६८, ३१२, ३१३
  अर्धचन्द्र १६३-१६५
  अष्टकोण १६६-१६८
  चतुरस्र १६१-१६८
  त्रिकोण (त्र्यक्ष) १६५-१६६
  पद्म १६३, १६६-१६८
  योनि १६३-१६५
  वृत्त १६५-१६६
  षट्कोण १६५-१६६
कुण्डलिनी शक्ति (लक्षण) १३, ३८-४४, ८०, ९४, १०४, ११२, १२२, १४२, २६०, २६१, ३४६
कुण्डसंस्कार (अठारह) १३८-१४७
कुण्डसामान्यलक्षण १६१-१६३
कुण्डों का विनियोग १६६-१६८
कुम्भ (बत्तीस) १७६-१७७
कुम्भ (विविध) ३४९-३५०
कुम्भ (शिवदेह) १७७-१७९, २०८, २०९
कुम्भदेवता (बत्तीस) १७७
कुशिक आदि मुनि २५४
कुहर २६१

- कूर्मशिला १२५-१२६, २४८
- कृतक (अनित्य) २८१
- कृत्य (पंचविध) १२-१३
- कैवल्य १०७, १४९
- कौशिक २५३, २५५-२५७
- क्रव्याद ८७, २३७-२३८, ३१५-३१६
- क्रिया (करणरूपा) १२
- क्रिया (संकल्परूपा) १२
- क्रियालोप ८८, २३९, ३०२, ३०४
- क्रियाशक्ति १३, ३८, ४३, ७६, १२५, १२७, ३१९, ३७०
- क्रोधेश (आठ) १८
- गर्भगृह ३६१
- गर्भगृहविस्तार ३६५-३६६
- गर्भाधान २११-२१३
- गहनेश १८
- गायत्री शक्ति २५३-२५४
- गुणतत्त्व ३४, ५०-५२
- गुणत्रय ५०-५२
- गुणमस्तक (आठ भुवन) ९०
- गुणापादन २४९-२५०
- गुणाभिव्यक्ति ८१, २४९, २७५
- गुणाष्टक (ऐश्वर्य) १५०
- गुरु (शिव) ७६, १५२
- गुरु-क्रम (परम्परा) ८१, २७६-२७७
- गुरुमूर्ति १५२-१५३
- गुरुवर (लक्षण) ७५-७६, ८४, ८६, ८९, १५२, १६०, २०८, २१४, २५०, २५२
- गोत्रपुरुष (सात) २५७
- गोदावरी २५५
- गोलकी (मठ) २५५
- गौतम २५५
- गौरी ३६१, ३७०-३७१
- ग्रन्थि १३६
- ग्रन्थिदशक २४५
- ग्रहणकाल १५६
- घट १७६
- घण्टानाद १३०
- चक्र(आधार)दशक २६३-२६४
  - अनाहत २६३
  - आज्ञा २६३
  - तालु २६३
  - नाभि २६३
  - ब्रह्मरन्ध्र २६३
  - मणिपूर २६३
  - मूलाधार २६३
  - विशुद्धि २६३
  - स्वाधिष्ठान २६३
- चतुरस्र(चतुष्कोण)क्षेत्र १६१-१६८, १७९-१८१
- चतुर्मठ २५५
- चर्याशब्दार्थ ८८
- चान्द्र मान २८७
- चिच्छक्ति १२, १३
- चिताखात ३१३
- चिति (शुद्ध) २३२, २६८
- चित्त (मन) ५५-५६
- चिदानन्द १२५
- चिदैक्यमनन २३४
- चिद्घन ३१९
- चिद्रूप १५४
- चिद्व्यक्ति २३२, २४९
- चूर्ण (धूलि) १८४
- चूलिकाकील ३६३-३६४
- चैतन्य (शक्ति) ४४, १४०, २०८
- चोल भूप २५८

छोटिका २६७
जगत् (शुद्ध एवं अशुद्ध भुवन) २-४, ४२, ४३, २५३
जप (त्रिविध) १०८-१०९, १११, १३६, १३७, २३९-२४०
    उपांशु (राजस) १३७, २३९-२४०
    भाष्य (तामस) १३७, २३९-२४०
    मानस (सात्त्विक) १३७, २३९-२४०
    नादात्मा ९, १२०-१२३
जपनिवेदनविधि १३७
जपभावना १३५-१३७
जपमाला १३६
जपविचार १०८-१०९
जपविधि १०४-१०५, १३६-१३७
जमदग्नि २५६
जम्बुद्वीप २५४
जम्बू वृक्ष २५५
जम्भ १४७
जातकर्म २१२-२१३
जिह्वादीपन १४४
जीव (१६ स्वर) १०९
ज्ञान (अवबोध रूप) २७५-२७७, २८१
ज्ञान (निर्विकल्पक) ७, ११-१२
ज्ञान (शब्दरूप) २७५-२७७, २८१
ज्ञान (सविकल्पक) ७, ११-१२
ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं ४
ज्ञानखड्ग १७६
ज्ञानशक्ति २७, ४४-४६, ७६, १११, १२७, ३१९, ३७०, ३७१
ज्ञानेन्द्रिय ५६-५७
ज्येष्ठा २०९
ज्योति (त्रिविध) ६, २६९
ज्योतिर्लिंग १२१, १२४, १३०
तत्त्व (लक्षण) ६०-६१
तत्त्व (शिव) ११
तत्त्वत्रय १४५, ३४६, ३६१
    आत्म २३९-२४१, ३४६
    विद्या २३९-२४१, ३४६
    शिव २३९-२४१, ३४६
तत्त्वव्याप्ति ३४९, ३५५-३५७, ३७१-३७२
तत्त्वशुद्धि ८१, २३२, ३१५
तत्त्वों का योजन-प्रमाण ६१-६३
तत्त्वों की अचेतनता ३४
तनु (शरीर) ६३-६४
तन्मात्रा ३४, ५७-५९
तर्पण (देव-ऋषि-गोत्रपुरुष) २०३-२०४, २११-२१२
तार (प्रणव) १०३
ताल (लक्षण) ११५, २६७
तालुमध्य ५
तिमिर (मलावरण) ४४
तिरोधान (कृत्य) १३, १९, २२, ४४, ६५, ७४, २०८, २३१
तुष्टि (नवविध) ५२
तैजस (सात्त्विक) ३४, ६५
तोरण १५८
त्रिकण्ठन्यास (अष्टमूर्ति) ३५७-३५९, ३६१
त्रिकण्ठन्यास (पंचमूर्ति) ३५७-३५९
त्रिगुण (लक्षण) ५०-५२
त्रिगुण-वृत्तियाँ ५१
त्रितत्त्व-व्याप्ति (आत्म-विद्या-शिव) १४२, २३९-२४०, ३४६-३४७, ३५१, ३५५-३५७, ३६१-३६४
त्रिपुष ३२६

त्रुटिलक्षण २४६
त्वगिन्द्रिय ५७
दक्षिणामूर्ति २५४, २५५
दण्ड (नाद) ९१
दमनकोत्सव १५४-१५६
दशावतारनाम १७५
दाह ११४-११७
दीक्षा १७, ३४, ४९, ७३-८८, १४७-१५४, १६६, २४१
  असद्योनिर्वाण. ८६, १०६, १५२
  गुरु. १९, २५
  निरधिकारा. १५२
  निराधारा. १४७, १५२, १५३
  निर्बीजा. १०६, १४७, १५१, १५२
  निर्वाण. ३४, ८४-८५, ८७, १४७, १५०, २१५, २२७-२३०
  नैष्ठिकी. १४७-१५०
  नैष्ठिकी निरपेक्षा. १४९
  नैष्ठिकी सापेक्षा. १४९
  ब्राह्मी. ७९
  भौतिकी. १४७-१५०
  भौतिकी निरपेक्षा. १४९
  भौतिकी सापेक्षा. १४९
  लोकधर्मिणी. ७९, ८७, १४७, १५०, १५१, ३१७
  लोकशिवधर्मिणी. १५०
  लौकिकी. १४७, १५०
  विशेष. ८४,८६, २०९-२१०
  वैदिकी. ७९
  शिव. ७७
  शिवधर्मिणी. ७९, १४७, १५०, १५१, ३१७
  शैवी. ७९
  सद्योनिर्वाणदा. ८४-८६, १११, १४७, १५२
  सबीजा. १४७, १५१-१५२
  समय. ८४, ८६, २०२-२१५, ३१४
  साधारा. १४७, १५२-१५३
  साधारा चतुर्विधा. १५३
  साधिकारा. १५२
  हौत्री. ७३, ७६
दीक्षाकाल १०६, १५४-१५७
दीक्षांग ३०५
दीक्षाधिकारी २५२-२५३
दीक्षापदार्थ १४८-१४९
दीक्षाविधि २०२-२३९
दीक्षाव्यापार १९-२०
दीक्षासंस्कार किसका? १५३-१५४
दीक्षासंस्कार (इकतीस) २०२-२१०
दीक्षित (समयी, पुत्रक, साधक) ७६, ७७, ८१, १११, १५८, २१५, ३०२, ३१४, ३१५, ३१६
दुर्योधन १६
दुर्वासा १०, २५३-२५४, २५७
देव (इन्द्रियाँ) ६३-६४
देवत्रय (ब्रह्म-विष्णु-रुद्र) ३४६
देशिक (कुलगुरु) ८१, ३१०
देहमध्य २६०-२६१
देहली ३६४
दोष (त्रिविध) २३९-२४०
द्रव्यलोप ३०२
द्वादश पदार्थ २१५-२२४

- द्वादशान्त (पद) ५३, ८०, ९७, १०७, ११०-११२, ११७, १२४, १२९, १३६, २०९, २१४, २२८, २३५, २४५, २५९, २६०, २६२, २६३, २६९, २७०, २७१, ३०१
- द्वारोच्छ्राय १५७
- द्वारोत्सेध १५७
- धातुपंचक २५०-२५१
- धान्यसप्तक १७७, २५०-२५१
- धारणा (विविध) २६८
- धारिका शक्ति १२६, ३५९-३६०
- नन्दी १७६-१७७
- नवपद (ब्रह्म) ३४५
- नवात्मा २११
- नाडिका काल २७०
- नाडी (इडा-पिंगला-सुषुम्ना) १२४, १३७, २०९, २४६, २५९-२६०, २६४
- नाडीचक्र २५९-२६८
- नाडीदशक (वास्तु) ३४४
- नाडीशुद्धि २६४-२६६
- नाडीसन्धान २०९
- नाद (हंस) २, ५, ६, ३८, ४२, ८०, ९१, ९६, १०६, १०९, १२२, १३५, २४५-२४७
  - परनाद ४०
- नादकला (पाँच) ४२
- नाद की जगत्कारणता ४२
- नादब्रह्म २७०
- नादलक्षण २४२
- नादशक्ति ४२
- नादशिखा ९७
- नादसंयोग २७२, २७४
- नादात्मा (जप) ९, १२०-१२३
- नादान्त २, ६, ११०
- नाभि(कमल) १०४, २५९-२६०, २७२
- नाभि (कुण्डयोनि) १३८, १६१-१६३
- नाभिकुण्ड १२३-१२५, १४०
- नामकरण १४१, २०७-२०८, २१२-२१३
- नित्यकर्म ७७, ८१, ३०५
- नित्यांग(ता) ७७, ३०३-३०६,
- नित्योत्सव ३०५
- निधिकुम्भ ३४९
- निमित्तकारणता २, ४
- नियति (तत्त्व) ३३, ४७-४८
- निरोधिनी ५, ६, १०४
- निषिद्ध कर्म ३१५
- निष्कल (शिव) १, ७, १२, ९७, ११०, १३०, १३५, २५३
- निष्कल मूलमन्त्र १, ११०
- निष्कल-सकल ११, ९६
- निष्कृति ७८, २३०
- निष्ठा १४९
- नीहार १९
- नेत्रपट २०७
- नेत्रबन्ध २०५
- नेत्रमन्त्र ११०
- नेपाल देश (पर्वत) ३३१, ३३५-३३६
- नेमि (उपवेदिका) १६१
- नैमित्तिक (कर्म) ७७, ३०३, ३०५
- नैष्ठिक (मुमुक्षु) ७९, १४९, २०५
- न्यग्रोध वृक्ष २५५
- न्यास १२७-१२८, २४१, ३४८, ३५९-३६१, ३६७-३७१
  - अध्व. १२७-१२८
  - कला. १२७-१२८

  - तत्त्व. १२७
  - त्रिकण्ठ. ३५५-३५९
  - पद. १२८
  - भुवन. १२७
  - मूर्ति. २४८, २५९-३६१
  - विशक्तिक. ११८
  - शिवशक्ति. ३६७-३७१
  - षडध्व. २४१
  - सशक्तिक. ११८
- पंचकला (पंचभूतात्मक) ११६
- पंचकंचुक ३२, ३४, ४८-५०
- पंचकृत्य ३५, ७१, ७२, ८२
- पंचकृत्यलक्षण ६३-७२
- पंचतत्त्वमण्डल २१५-२२४
- पंचप्रणव ९
- पंचप्रासाद ९
- पंचबीजाक्षर ९
- पंचब्रह्म १८६, २०३, २०७, २१२, २५१, २८४, ३२९, ३५९
- पंचब्रह्ममन्त्र ९, ३५, १०१-१०२, १०९, ११७, १४२-१४४, २१२-२१३
- पंचमन्त्रतनु ४, ८२, १४१
- पंचमुखवर्ण १८६
- पंचमूर्तिन्यास ३४८, ३५१, ३५७-३६१
- पंचस्थानार्चन २४३
- पंचाक्षर मन्त्र ८१
- पंचाधार (मण्डल-अग्नि-कुंभ-शिष्य-आत्मा) २४२-२४३
- पंचाधिकरण (शिव) २४३
- पंचोपचार (पंचभूतव्याप्ति) १२३, १३३-१३५
- पति (पदार्थ) १, ७-१४, १८
- पतिभेद (औपचारिक) ३६
- पद (विषम व सम) १७, १८५, २२५
  - अधिकार. १७,
  - ईश्वर. ८४, ८६-८७, २१५
  - ग्रह. १४९
  - मन्त्र. १७
  - मन्त्रेश्वर. १७, ७६, २१५
  - मोक्ष. १८
  - रुद्र. १७, ७६, ८४, ८६, ८७, २१५, ३१७
  - विद्येश्वर. ७६
  - शिव. १७, १८, ४१
  - सायुज्य. १७, ७३,७६, ७७, ८५, ८७, ८८, ९७-९८, १०४, ११०, ३१५
- पदार्थत्रय (पति-पशु-पाश) १, २५०
- पद्मप्रमाण १८५
- परनाद ४०, १०९
- परमशिव (लक्षण) २, ४, ५, ७-१०, १३, ६०, ८१, १०५, १०७, १२२, १६२, १६८, १६९, २७०, २७५
- परमसाम्य २६८, २७१, २७२, २७४
- परमाणु ३५५
- परमीकरण ३००
- परं व्योम ११७
- परार्ध (संख्या) ६६-६९
- पराशक्ति (मनोन्मनी) १०, १३
- परिधिलक्षण १७४-१७५
- पवित्र (चतुर्विध) २९२-३०२
  - आत्माख्य. २९२, २९४, २९७ ३०२
  - विद्याख्य. २९२, २९४, २९७, ३०२

  शिवाख्य. २९२, २९४, २९७, ३०२
  गंगावतार. २९२, २९४, २९८, ३०२
पवित्रग्रन्थि २९२-२९९
पवित्रग्रन्थिदेवता २९२-२९९
पवित्रतन्तु (सूत्र) २९२-२९९
पवित्रसमर्पण क्रम ३९९-३०२
पवित्रसमर्पण फल ३०१-३०२
पवित्रारोपण की नित्यांगता ३०२-३०६
पवित्रोत्सव १५५, १५८, २८५-३०६
पवित्रोत्सव कालनिर्णय २८५-२९२
पशु (त्रिविध) १, ४, १३, १५-१८, ५०, ८३, ८४, १२३, २८५
  विज्ञानाकल (प्रबोधा. द्विविध) १, ४, ६, १३, १५, २८, ३१, ३५, ३६, ४९, ६०, ६३, ६५, ६९, ७०, ७२, ७५, ८३-८४, १४७, १५२ १५३
  प्रलयाकल (द्विविध) ४, १४, १८, २२, ३२, ३५-३७, ४१, ४९, ६०, ६३-६५, ७५, ८३-८४, १४७, १५२-१५३
  सकल (द्विविध) ४, १३-१४, १६-१८, ३२, ४९, ५०, ६३-६५, ७५, ८३-८४, ८६, ८७, १४७, १५२-१५३
पशुपति १५-१८, ५०
पशुपर्याय १५, १९
पशुस्वरूप १५-१८, ५०
पादचतुष्टय १, २५०
  ज्ञान. १-७२
  क्रिया. १, ७३-२५८
  योग. १, २५९-२७४
  चर्या. १, २७५-३७३
पादशिला ३४८-३५२
पापभक्षण (मन्त्र) २११-२१२
पाश १, ४, १९-२८, ६४-६५
पाशच्छेद ७३, ७६, २२७, २३१-२३३
पाशजाल (समनान्त) ९१, १११
पाशपंचक (मल-माया-कर्म-बिन्दु-रोध) १, ४, १९-२८, २२५
पाशविश्लेष १२३, २०५, २३३
पाशसूत्र १७७-१७८, २४३
पाशसूत्र-विन्यास २१५-२२४, २२७
पाशाष्टक ३४१, ३४५
पाशाहुति २३३-२३६
पाशुपतास्त्र (मन्त्र) १०३, १९२, २०४
पिङ्गला (नाड़ी) २५९-२६३
पिण्डिका (क्रिया-शक्ति) ३१९, ३६६
पिण्डिका-लिङ्गपूजन ३६६
पिशाचयोनि ७६, ८७-८८
पीठ (शक्ति) ३१८-३२०, ३६६
पीठ (सिंहासन) १२६, ३१८-३२०
  नवविध. ३६६-३६७
पीठ-चिह्न ३५४-३५५
पीठविस्तार ३६५-३६६
पीठाकृति ३६६
पीठिकालक्षण ३३२
पुत्रक (दीक्षित) ८१, ३१५
पुरुष(तत्त्व) चेतन ३३-३४, ४८-५०, ७२

- पुरुष(तत्त्व)शुद्धि ३४
- पुरुष (षोडशकल) १३-१४, ४१-४२
- पुर्यष्टक (देह) १४, १७, १०५, २३४-२३६, २३८
- पुर्यष्टक-समर्पण २३३-२३६
- पुष्पक्षेप (पात) २०६, २०७
- पुष्पगिरि (मठ) २५५
- पुष्पांजलि ३०२
- पुष्पांजलिविधि १२९-१३०
- पुंसवन २१२-२१३
- पुंस्तत्त्व ३३
- पुंस्त्व मल ४९
- पूजा (आन्तर एवं बाह्य) १२०-१३५
- पूजा (दशविध संस्कार) १३०-१३३
  - अमृतीकरण १३२
  - अर्घ्यदान १३०-१३३
  - आकुण्ठन १३०-१३३
  - आचमन १३०-१३३
  - आवाहन १२८-१३३
  - निरोधन १३०-१३३
  - पाद्य १३०-१३३
  - पुष्पदान १३०-१३३
  - (सकलीकरण १३३)
  - सन्निधान १३०-१३३
  - स्थापन १३०-१३३
- पूजा (पंचोपचार) १३३-१३५
- पूजा के विविध आधार १२५, ३६९-३७०
- पूजांग ३०६
- पूजापात्र १७७-१७८
- पूजासंभार १७७-१७८
- पूजास्थान ३६८-३७०
- पूर्णकुम्भ ३४९
- पूर्णशिला ३५०
- पूर्णाहुति (विधि) १२४, १४१, १४५-१४६, २०९, २१५, २३३, २४१-२४९
- पूर्वात्मयोग २१२-२१४
- प्रकृति (साम्यावस्था) ३३, ३४, ४३, ४८-५१
- प्रकृति (अष्टधा) २३८
- प्रणव (ओंकार) १०१-१०३, २९२-२९९
- प्रणव (शिवाचार्य) २७५, २७६, २७९, २८१
- प्रणवासन २०४, २०५
- प्रणाल ३५५
- प्रतिमा २७४
- प्रतिमा (तत्त्वत्रयव्याप्ति) ३६१-३६४
- प्रतिमा (त्रिकण्ठन्यास) ३६१-३६४
- प्रतिष्ठा (व्यक्त-व्यक्ताव्यक्त-अव्यक्त) ३२२-३२३
- प्रतिष्ठा (चल एवं अचल) ३२२-३२३
- प्रतिष्ठा (पंचविध) १२७, १५२, १६६, ३१८-३२०, ३७१
  - आस्थापन ३१८-३२०
  - उत्थापन ३१८-३२०
  - प्रतिष्ठा ३१८-३२०
  - स्थापन १५२, ३१८-३२०
  - स्थितस्थापन ३१८-३२०
- प्रतिसंहिताक्रम २७६-२७७
- प्रत्यय ५१-५३
- प्रलय (त्रिविध) ६५-६८
  - अवान्तर. ६५-६६, ६८-७२,
  - दैनन्दिन. ६८
  - महा. २४, २६-२७, ६६, ६८-७२
- प्राचीनिर्णय १३२

- प्राचीसूत्र १८०
- प्राण की पाँच वृत्तियाँ ५३-५४
- प्राण के चार व्यापार ५३-५४
- प्राण-निष्क्रमण १०५
- प्राणापान ३०६-३०७, ३०९
- प्राण-शब्दार्थ ५४
- प्राणायाम (ज्येष्ठ-मध्य-कनिष्ठ) २६७
- प्राणायाम (त्रिविध) ११४-११७, १२४, २१४, २६४-२६९
  - कुम्भक १११, ११४-११७, १४१, २१४, २२८, २६४, २६७, २६८, २६९
  - पूरक ११४-११७, १२४, १४०, २०९, २६४, २६६, २६८, २६९
  - रेचक ११४-११७, १४१, २०९, २१४, २६४, २६६, २६९
- प्राणायाम (सगर्भ-निगर्भ) १११, २६४, २६७, २६८
- प्रायश्चित्त ७६, ७९, ८१, ८७-८८, २३३, २५२, ३०३, ३०४
- प्रायश्चित्ताहुति २११, २३३-२३६
- प्रारब्ध कर्म १५२.
- प्रासाद (स्वायम्भुव-दैविक-गाणक-आर्ष-मानुष) १८९, ३२२-३२३, ३३६, ३४९, ३६१-३६४
- प्रासाद (शिव का स्थूल शरीर) ३६१
- प्रासादचैतन्य ३६१-३६४
- प्रासादमन्त्र (अष्टविध) २, ८०, ८९-१०३, ३०६-३१०, ३६१
  - उद्धार. १०२-१०३
  - त्रिविध ८९-९५
  - पंचविध उच्चारण ५, ८०, ८९-११०
  - कलास्थान ९९-१००
  - कारणेश्वर ९९-१००
  - द्वादशकल ९२-९५
  - ध्यानक्रम ९८-९९
  - नवकल ८९-९२
  - निष्कल ११०
  - न्यास ३१०-३१२
  - पंचविध प्रासाद मन्त्र ९
  - प्रयोगविधि १०२-१०३
  - प्रस्तारक्रम ९८-९९
  - मात्रासंख्या ९५-९६
  - षडध्वव्याप्ति ९९-१००
  - षोडशकल ९२-९५
  - सकल १०७, १०९
- प्रासादमन्त्रार्थ ९०
- प्रासादशिखर ३६२
- बन्ध ४२
- बस्ति (मूलाधार) ९९, १०४, २६२-२६३, २७२
- बहुरूपा १४४
- बहुरूपी २११
- बाणलिंग ३३०-३३७
  - (चौदह करोड़) ३३१, ३३५-३३७
  - आकृति ३३०-३३३
  - दिक्पालपूजित ३३२-३३३, ३३७
  - पूजनीय ३३०-३३३
  - पूजाफल ३३०-३३३
  - मान ३३१
  - लक्षण ३३०-३३३, ३३६
  - वर्ज्य ३३३-३३५

  वर्ण ३३२
बाणासुरकथा ३३०-३३१
बाह्य नाड़ी ८०
बाह्य याग १२१
बिन्दुकला (चार) ५, ६, ३८, ४२, ९१, १०६
बिन्दुकलालक्षण ३९
बिन्दुतत्त्व (शिव) ३, ४, ८, १२, २५-३१, ६०-६२, १०९, २२५-२२७, २५३
बिन्दुतत्त्वलक्षण ३८-४४
बिन्दुनाद ३८, ८०, १३०
बिन्दुपरिग्रह २७२-२७४
बिन्दुशक्ति २४२, २५३
बीजाक्षर १०९, २६४
बीजाक्षर-उच्चारण २७२, २७४
बीजाङ्कुरन्याय २४
बुद्धितत्त्व (महान्) ७, ३४, ५०-५२
बुद्धिदेव ५७
बुद्धीन्द्रिय ३४, ५६-५७
बुभुक्षु (भोगेच्छु) २०४, ३०१
बोध (ज्ञान) ७, १३
ब्रह्म (पंचब्रह्म) ३७०
ब्रह्म (षड्विध) ८-९
ब्रह्मनाडी ११२, २२७, २६४
ब्रह्मबिल ५, १००, २६३
ब्रह्मरन्ध्र ८०, ९६, ९९, १०३, १०७, ११०, १३६, २६०-२६३, २७०, ३११
ब्रह्मराक्षस २३७
ब्रह्मशिला ३१९, ३५९, ३६१
ब्रह्मसृष्टि २५६
ब्रह्मस्थान १००, १०६, ३११, ३४१
ब्रह्मा (अधिपति) ३७, ३८
ब्रह्मांगाहुति २१२-२१३
भारद्वाज २५५
भाव ११, ६३-६४
भाव (धर्म आदि) ५२
भाव (अष्टविध पुष्प) १२३
भावनालोप २३९
भावसर्ग ५०-५३
भुक्ति १३६, १४९, २०४, २८५, ३११, ३६४-३६५
भुवन ६३-६४, ९०
भुवनन्यास १२७
भुवनाधिपति (ब्रह्मा आदि) ३७, ३८
भूतकला ४४
भूतपंचक की कलापंचकता ११६
भूतबीज ११३, ११६
भूतशुद्धि (शोधन) ११०-११७, २०८
भूतसृष्टि (चतुर्दशविध) २३१
भूतादि (तामस) ३४, ६५
भूतोन्माद १०७
भृगु २०३
भोक्तृभाव ४९
भोग (द्विविध) २१-२२, ६०, ७१, ८७, ११०, १३६, १५०, २३२, २५३-२५४, २५७, ३६४
भोगार्थी (बुभुक्षु) १०९, १५५, ३६७
भोजनविधि ३०६-३१०
भौतिक (बुभुक्षु) ७९, २०५
भ्रूमध्य ५, १२४, १३०
मठचतुष्टय (आमर्दक-रणभद्र-गोलकी-पुष्पगिरि) २५३-२५७
मणिबन्ध २४१
मण्डप (यागधाम) १५७-१६०, ३१२
  आलयाग्र १५७
  गृह १५७
  गृहाग्र १५७

  हर्म्याग्र १५७
मण्डप-संस्कार (अष्टादश) १५९
मण्डल (विविध) रचना १८१-२०२, २०८,२०९, २१५,
  मण्डल. (त्रिविध) २६४, २६९
  अनन्तविजय. १८९-१९२
  अर्धचन्द्र. (टंक) २०१-२०२
  उमाकान्त. १९९-२००
  गौरीलता. १९७-१९९
  टंक. (अर्धचन्द्र) २०१-२०२
  नवनाभ. १८८-१८९
  पद्म. १८१-१८५
  पद्ममण्डलरचना १८१-१८२
  पद्ममण्डलरंजन १८२-१८३
  पद्ममण्डलरेखात्रय १८३-१८४
  पद्ममण्डलविस्तार १८४-१८५
  पुराकार. (प्रथम) १९३-१९५
  पुराकार. (द्वितीय) १९५-१९७
  भद्र. १९२-१९३
  लतालिंग. (प्रथम) १८५-१८७
  लतालिंग. (द्वितीय) १८७-१८८
  सुभद्र. १९९
  स्वस्तिक. २००-२०१
मण्डलीदेवता (आठ) १८, ३६, ३८, ७०
मण्डूकवास्तु (चौसठ पद) ३३७-३४२
मण्डूकवास्तु (एकाशीति पद) ३४२-३४६
मत्स्यचिह्न १८०
मध्यनाडी २६९
मन का व्यापार ५५-५६
मनस्तत्त्व ३४, ५२-५३, ५५-५६
मनु (चतुर्दश) २५६
मनोन्मनी (शिवभार्या) १३, २९७, ३६१, ३६८, ३७०
मन्त्र ४, ३६, ३७, १०७, १०९, २२५, २६७
  आत्म. २०८, २१४, २२९
  नेत्र. ११०
  पञ्चब्रह्म ९, ३५, १०१-१०२, १०९, ११७, २०९, २१२, २१३, ३६८, ३७०
  पाशुपतास्त्र. १०३
  मूल. २०९
  षडक्षर. १०३-१०४, ११०
  षडंग. १०२, १०९, ११०, २१२-२१३, ३६८, ३७०
  हंसमन्त्र. ९६-९७, १२२-१२३, २६७
मन्त्रपदनिरुक्ति १०७-१०८
मन्त्रमूर्ति १३०
मन्त्रयोनि ४३
मन्त्रलोप २३९, ३०२
मन्त्रसंहिता २५२
मन्त्रेश्वर ४, १३, १८, ३७
मन्थरकाली २५५
मन्थरकालीश २५५
मन्वन्तर २५७
मर्मद्वादशक ३४१
मर्मसहस्र (सूक्ष्म) ३४१
मर्मस्थान (द्वादश) ३४१
मल (अज्ञान) १९-२०, २७१
मल (पाश) १६, ६०
  आणव. १९-२२, ३८
  पुंस्त्व. ४९
मल का प्रयोजन २१-२२
मल(परि)पाक ४, १७, १८, २०, २१, ३५, ६०, ७१, ७३, ७४, ८३, १४७
मलपाक के भेद ८३-८७

मलविश्लेष २०-२१
मलशब्द के पर्याय १७
महत् (शिवतत्त्व) ३
महाप्रलय ६०
महाभूतपंचक ३४, ५७-५९
  व्यापार. ५९
महामन्त्र (सात करोड़) १३, ३६-३७, ४२
महामर्म ३४१
महामाया (बिन्दु) ४, २५-२८, ४३, ६४, ६८, ७१-७२, १०७, १२२
महासंहार ६५-६६, ७२
महास्वस्तिक ३४१
महेन्द्रपर्वत ३३१, ३३५-३३६
महौघक्रम २७६-२७७, २८१
मातृका ३९, ९१
मात्रा (द्वादश) १३५
मात्राशब्दार्थ ३४, ११५, २६७
मान (विविध) ३५५
मानस याग १२१
मानस स्नान ११०-११२
माया (पाश) ४, १६-१७, २५-२८, ३२-३३, ३६, ४३, ४४, ४८, ६०, ६४, ६८, ७१-७२, १०६, २२६
मायागर्भ २१४
मायाद्वय ७१-७२
मायाबन्ध २१-२२
मारण १६५-१६६
माष (प्रमाण) ३३१
मिश्राध्वा १४, १८
मुक्त ४, ६०, ६९-७०, ८२, २८५
मुक्ति ४, ७५, ८२-८४, १३६, १४९, १५२, २०४, २८५, ३३१, ३६४-३६५
मुद्रा (विविध) १२३, १३०-१३३, २०४
  अंकुश. २०९
  अवकुण्ठनी. १३३
  आवाहिनी. १३०, १३३
  उद्भव. २१४
  धेनु (सौध). १३०-१३३
  निरोधिनी. १३३
  पताका. २०४
  शंख. २४२
  संनिधानी. १३३
  संहार. १४०, २०८, २०९, २१४
  सौध (धेनु). १३०-१३३
  स्थापनी. १३०, १३३
मुद्रापदनिर्वचन १३२-१३३
मुमुक्षु (मोक्षेच्छु) १५५, २०४, ३०१
मूर्ति (सदाशिव) ११
मूर्तिन्यास (पंचविध व अष्टविध) ३४८-३४९, ३५९-३६१
मूलविद्या १९२
मूलाण्ड १११, ११२, २०८, २०९, २१४
मूलाधार ८०, ९६, ९९, ११०, ११२, १२४, १२९, १३५, २६२, २७०
मेखला १६२, ३१३
मोक्ष ४२, ६०, ७०-७१, ११०, १३६, १५१, २५३-२५४, २५७, ३६४
मोक्षपद १८
मोक्षार्थी १५५
मोह ६०
मोहशब्दार्थ ७९

- यज्ञशाला १५७
- यज्ञीय वृक्ष १६९-१७०, १७५-१७६
- यज्ञोपवीतधारण २१२
- यवप्रमाण ३५५
- यागधाम (यज्ञशाला) १५७, २४१
- यूकालक्षण ३५४-३५५
- योग २६९
- योगाग्नि ११२
- योगाभ्यासविधि २५९-२७४
- योनि (कुण्ड) १६२-१६३
- योनि (भुवन) १४, १६३, २३१
- रज्ज्वष्टक (नाम) ३३७-३४१, ३४३, ३४५
- रणभद्र (पीठ) २५५
- रत्नपंचक २५०-२५१
- रागतत्त्व २१, ३३, ३४, ४४-४७
    - तत्त्वात्मकता विचार ४६
    - रागतत्त्वदेवता (रुद्र) ३४
- राजेन्द्र चोल २५७
- रुद्र (एक सौ अठारह) १८, ३३, ३४, ३७, ४९
- रुद्रज्ञानपरम्परा २७६-२७९
    - प्रतिसंहिताक्रम २७६-२७७
    - महौघक्रम २७६-२७७, २८१
- रुद्रभेद (१८ आगम) २७५-२८१
- रुद्रशक्ति ८०
- रुद्राक्ष १३६
- रुद्रांश होम २१०-२१२
- रुद्रांशापादन २१२
- रुद्रागम (अठारह) २७५-२८१
- रुद्रागमनामावली २७८, २८२-२८५
- रोधशक्ति (तिरोधान) १९-२२
- लय २३२
- लयनान्त १११-११२, ३०१
- लवलक्षण २४६
- लिक्षालक्षण ३५४-३५५
- लिंग (चतुर्विध) २७२, ३२०-३२९
    - आढ्य ३२०-३२९
    - अनाढ्य ३२०-३२९
    - सुरेड्य ३२०-३२९
    - सर्वसम ३२०-३२९
    - विस्तार एवं आयाम ३२५
- शिरोभाग ३२५-३२७
    - शिरोभाग का चतुर्विध आकार ३२५-३२७
    - (प्रत्येक के चार-चार भेद ३२७)
- लिंग (त्रिभाग) ३२१-३२९, ३४६-३४७, ३५२-३५४, ३५७
    - ब्रह्मभाग (चतुरश्र व नपुंसक) ३२३
    - विष्णुभाग (अष्टाश्र व स्त्रीलिंग) ३२३
    - रुद्रभाग (वृत्त व पुंलिंग) ३२३, ३५२-३५४
- लिंग (त्रिविध) ३६८, ३७०
- लिंग (नवविध) १५७, ३२३, ३६५
- लिंग (विविध) ३१८-३२०, ३२२, ३२३, ३६८
    - अष्टोत्तरशत. ३२९
    - मुख. (पंचविध) ३१९, ३२७-३२९
    - शत. ३२८
    - सहस्र. ३२८-३२९
- लिंग (शिव का सूक्ष्म शरीर) ३१८-३२०, ३६१
- लिंगकल्प ३६९
- लिंगचिह्न-लक्षण ३५२-३५४

- लिंगचिह्न-संख्या ३२७-३२९
- लिंगपद-व्युत्पत्ति ३७०
- लिंगपूजा की श्रेष्ठता ३६९-३७०
- लिंगशैल ३३१, ३३५-३३६
- लिंगस्थापन-फल ३६४-३६७
- लिंगाराधन १२५, ३७०
- लिंगोच्छ्राय ३२५
- लिपि ३८-३९, ४२
- लोकधर्म १५०
- लौकिकाचार ७९
- वक्त्रसन्धान १४२
- वक्त्राभिघारण १४२
- वक्त्रैकीकरण १४२
- वज्र २४१
- वटवृक्ष (शरीर) ११२-११४, २५५
- वर्गाष्टक १९२
- वर्ण (अक्षर) ३९
- वर्ण (कला) ८९
- वर्ण (चार) २०७-२०८, २५२
- वर्ष (दिव्य एवं मानुष) ६६-६८
- वह्नि १४०, २०९, २१५
- वह्नि-आहरण १४०
- वंश (द्वय) ३३७, ३४१
- वाक्कला १४, ४२
- वाक्-चतुष्टय लक्षण ३८-४१, ९१
  - सूक्ष्मा (नादरूपा) ३९-४१
  - पश्यन्ती ३९-४१
  - मध्यमा ३९-४०, १०६
  - वैखरी ३९-४०, १०६
  - वैखरी (आगमात्मिका) ४२
- वाक्शक्ति १४, ४१-४२
- वागिन्द्रिय ५५
- वागिन्द्रिय-विचार ५६-५७
- वागीशी गर्भ १४१-१४२, २३०-२३१
- वागीश्वर १४०, २०८-२११
- वागीश्वरी १४०, २०८-२११
- वामादि (शक्तिनवक) ११, ३२, ३६, २६४, २९७, ३६१
- वायुजय २६४
- वास्तु(मण्डूक ६४ व ८१ पद) ३३७-३४६
- वास्तुक्षेत्र १५८, ३३७
- वास्तुदेवता (तिरपन) ३३७-३४६
- वास्तुदेवता-नामावली ३४२-३४६
- वास्तुपद ३३८
- वास्तुपुरुष (उत्पत्ति) ३३७-३४२
- वास्तुमण्डल ३४१, ३४६
- विकिर (सप्तधा) १७८
- विद्या ७६, १०१, २०३
- विद्या (मन्त्र) ४२
- विद्यातत्त्व १४, ३१, ३३, ४२-४७, २४२
  - विद्या एवं बुद्धि की भिन्नता ४५-४६
- विद्यापीठ ३६८-३६९
- विद्यामूर्ति १९२
- विद्येश्वर (आठ) ४, १३, ३६-३७, ४३, ४६, ६४, १०१, १९२, २०३, २१५, २५३, २५४, २७५
- विद्येश्वर-नामावली ३६
- विपर्यय ५२
- विप्लुति (विविध) ८७, २३६-२३९
- विलयक्रम ६५-६८
- विश्रान्ति ७१-७२
- विश्वेदेव ३१६-३१७
- विषुवकाल १५५-१५६
- विषुवसप्तक (प्राण-मन्त्र-नाड़ी-प्रशान्त-शक्ति-काल-तत्त्व) २४४-२४७

विष्कम्भ ३२५
विष्टर-लक्षण १७४-१७५
वीरेश १८, ७०
वेदान्तदर्शन ३
वेदिक्षेत्र (चतुरश्र) १७८-१८१
वेदी (चतुर्विधा) १६१
वेदी (लक्षण) १५९-१६१, ३१२
वैकारिक (राजस) ३४, ६५
वैदिक संस्कार २३२
वैदिकाचार ७९
वैराग्य ४६
व्यञ्जन १०९
व्याघारण १४२
व्यान का व्यापार ५४-५५
व्यापकलक्षण २२५-२२६
व्यापकशम्भु २५६-२५८
व्यापिनी (कला) ५, ६, १००, १०४, २४७
व्याप्यलक्षण २२५-२२६
व्योम (शक्ति आदि तीन कला) ६
व्योमव्यापी (निष्कल शिव) २, ९-१०
व्योमव्यापी (पद) ९, २२६
शक्ति (कला) ५, ६, १४, ४२, ९१
- आधार. ३४६-३४७
- कुण्डलिनी. ३९
- चैतन्यस्वरूपिणी. १३
- परा. (मनोन्मनी) १०, १३
- पाशरूपा. २२९-२३०
- बहुविधा. १२
- बिन्दु. (शिव की लयावस्था) ३, ४, ८, २५-३१, ६०, ६२
- रुद्र. ८०
- रोध. (तिरोधान) १९,२२
- षोडशी. ४२

शक्तिक्षोभ ११०-१११
शक्तिगर्भ २१४
शक्तितत्त्व (स्वरूप) ३, ८, १०-१२, २९, ३६, ४२, ६२, ७१-७२, ८०, २२५, २२७, ३७२
शक्तित्रय (इच्छा-ज्ञान-क्रिया) ३४६
शक्तिनवक (वामा आदि) १३
शक्तिपात ४, १६, १८, २०, २१, २५, ७३, ७४, ८३-८६, १०८, १५२-१५३
शक्तिपात (चतुर्धा) ७६, ८४-८६
शक्तिपात के चिह्न १८, ७४-७५, ८४-८६
शक्तिपात के भेद ८३-८७
शक्तिपातलक्षण ८५-८६, १५३
शक्तिपातविचार ७४-७५
शक्तिपिण्ड (सदाशिव) २४३
शक्तिमण्डल २६९
शक्तिमान् ३०६
शक्तिस्वरूप ११-१४
शक्तिसमावेश २७२, २७४
शतरुद्र १८, ३६, ३७,६९, ७०
शत्रुविद्वेष ३३३
शब्द (नाद) १२३
शब्दराशि ३९, ४१, ९६
शब्दादिपंचक ५७-५८
शम्भु (शिव) ७१-७२
शल्योद्धार १५७-१५९
शान्ति (कर्म) १०७
शान्ति (कला) १७६-१७७
शास्त्र (नादरूप) १०९, २७७, २८४
शिखाच्छेद ८७, १५०, २४०

- शिखाबन्धन १०८
- शिखास्थान ३१२
- शिरोवर्तन ३२९
- शिलान्यास ३४९-३५०
  - नवशिला. ३५०-३५१
  - पञ्चशिला. ३५०-३५१
  - पूर्णशिला. ३५०-३५१
- शिव (ईश्वर) ४, ८, ४४, ९४, १०८, २२५, २२७, २४२, २६२, २६३, ३०६
  - .कर्मफल के प्रेरक ६३-६४
  - .गुरु ७६
  - .बिन्दु ३, २८, ६५
  - .शब्दार्थ ३५
  - .शुद्धसृष्टिकर्ता ४, ८, ४४
  - .सदाशिव ३५, २८०
  - .सृष्टिसंहारकर्ता ७२
- शिवज्ञान (द्विविध) २७५, २७७
- शिवज्ञान की श्रेष्ठता २८५
- शिवज्ञान-परम्परा २७८-२७९
- शिवतत्त्व २९, ३६, ४२, ६२, ८०
- शिवत्वोदय २५, ७३, ८४, २७१-२७२, २७४
- शिवधर्म १५०
- शिवधाम ६०, ३१०
- शिवध्यान २६९
- शिवपूजा १२०-१३५, १७८, २४३, ३२०
  - आन्तर. १२०-१२३
  - बाह्य. १२०, १२५-१३५
- शिवभावना २४१
- शिवभेद (दस आगम) २७५-२८१
- शिवलिंगपूजा १२५-१३३
- शिव-विष्णु-गुरु की एकता ७६
- शिव एवं शक्ति ३७१
- शिवशक्तिन्यास ३६७-३७१
- शिवशक्तिसंबन्ध १०-११
- शिवश्राद्ध (पंचदेव) ३१६-३१७
- शिवसाक्षात्कार २६८
- शिवसाम्य ७८, ८१, ८७, २७२
- शिवसायुज्य १०९
- शिवसृष्टि २५६
- शिवहस्त २०८-२१०
- शिवागम (दस) २७५-२७९
- शिवागम-नामावली २७६, २७८, २८२-२८५
- शिवाग्नि ८१, १२३, १४१, १४२
- शिवाचार्य २२७, ३१०, ३१४
- शिवार्चन (पंचस्थान) ८६, २४३
- शिवावस्थात्रय ११-१२, २९-३०
- शिवासन १२५-१२६
- शिष्यपरीक्षा ८६
- शिष्यसंस्कार (अठारह) २३५-२३६
- शुद्धतत्त्व (पाँच) ३, २८-३१, ४४, ६८
- शुद्धभुवन ३, ४, ६०, ७२, ८७, १०९, ११०, १५१, ३६७
- शुद्धविद्या २८, ३०, ३५, ३६, १०६, २४१, ३७२
- शुद्धसंवित् १०७
- शुद्धाध्वा ९, २५, ३७-४१, ४३, ४४, ५९-६०, २४१
- शुद्धाशुद्धतत्त्व ३, ९, ३३, ४३, ५९-६०
- शुल्कदान (समर्पण) २३३-२३६
- शुल्कदानविधि २३६-२३९
- शैवकुलपरम्परा २५३-२५८

शून्य १२४
शून्य (द्विविध) ९७-९८
शून्यषट्क ९६-९८
शूल ३४१
शैव (चतुर्विध) २५७
शैवदर्शन ३
शैवपुर ३६७
शैवसम्प्रदाय १४
शैवाचार ७९
शोष ११४-११७
श्राद्ध (पंचविध) ३०७, ३१७-३१८
श्राद्धलक्षण ३१६-३१७
श्रीकण्ठ(नाथ) रुद्र ९, १८, ७०, ८२, ८९, ९४, २५४-२५५, ३४०
श्रीशैल ३३१, ३३५-३३६
श्रुतिवचन १२
श्रौत सन्ध्या ७९
षट्(कारण)त्याग ५, ६
षट्सरसिज ३६१
षडक्षर मन्त्र १०३-१०४, १०९-११०
षडध्व (अचेतन) ९, ३४
षडध्वक्रम २१५-२२४
षडध्वन्यास १२७-१२८, २४१
षडध्वयोजन १२७-१२८
षडध्वशुद्धि ३४, ३१४-३१६
षडध्वशुद्धि (अन्त्येष्टि) ३१४-३१६
षडध्वा (व्याप्यव्यापकभाव) २२४-२२७
षाड्गुण्याभिव्यक्ति ८४, ८७, १५०, २४९
षोडशकल १३-१४, ४१-४२
षोडशी (अमृत)कला ४२
सकल ११, ९६, २७७
सकलाकल ९
सकलीकरण १३३, २०५
सकार (अपानवृत्ति) ९६
संख्या (परार्धपर्यन्ता) ६८-६९
सदाशिव (द्विविध) ३०
सदाशिव (सदेशाख्य) ९-११, ३१, ३५, ३६, ४२, ८०, १०७, ११०, १२२, १३७, २४३, २५३, ३६८, ३६९, ३७०
सदाशिव (हंसरूप) ९६, १२२
सदेश ६५
सद्योजात १४१, १८६, २८४, ३०१, ३२९
सद्योमुक्ति ८६
सनक २०३, २५५
सनत्कुमार २५५
सनन्दन २५५
सनातन २५५
सन्धि ३४१
सन्ध्याकालनिर्णय २७०
सन्ध्याचतुष्टय २६८-२७१
सप्त गुरु ९०
सप्त ग्रन्थि ३३
सप्त विषुव २४४-२४७
समना ५, ६, ९७, १०५, १११, २४२, २४७, २६२, २६३
समयाचार ७३, ७६-७९, ८७, ८८, १५१, १५२, २१२-२१५, ३१४
समयाचार का महत्त्व ८८
समयाचारलोप (द्विविध) ७६, ७९-८१, ३१४-३१६
समवायिकारणता ४

समाधि १२५
समान का व्यापार ५४
समिधालक्षण १७४-१७६
समुद्रकलश ३५०
सम्पुट ३४१
सम्प्रदाय (द्विविध) ३०६-३१०
सर्वात्मशम्भु ३
संबन्ध (पंचविध) २८१
संबन्ध (षड्विध) २७९-२८१
संभोजन (द्विविध) ६५
संरक्षण ६४-६५, २०८
संवत्सरोत्सव ३०५, ३०६
संहारक्रम ६५
संहार(लय)व्यापार ६४-६८, ७०-७१
साकल्य (प्रणव) ९
सांख्यदर्शन ३
सांजन ३७-३८
सादाख्य (सदाशिव) ७-९, ११, ३०, ४२-४३
साधक ८१, १४९, ३१५
साम्यावस्था (प्रकृति) ५१, १५२
सायुज्य १७, १०९
सिद्ध ८२, ८७, १४९
सिद्धि (अष्टविध) ५२
सीमन्तोन्नयन १४१, २१२-२१४
सुषुम्ना (मध्यमा) १२४, १४२, २०९, २४६, २५९-२६३, २६९
सुषुम्ना (सकल एवं निष्कल) २६३-२६४
सुषुम्ना-स्रुक् १२४
सूक्ष्मपुर्यष्टक ३७
सूक्ष्मशरीर १४, १६, १७, ४१, ६३-६४, २३४, २३८
सूक्ष्मांग शुद्धि २३३-२३६
सूत्र (विविध) २९२-२९४
सूत्रमयदेह २२८
सूर्यमण्डल ३६८
सृष्टि (द्विविध) ६४
सृष्टिक्रम ६५
सृष्टिप्रक्रिया ३४
सृष्टिव्यापार (तनु-देव-भाव-भुवन) ६४
सोमसूत्र १८०
सौर मान २८७
स्कन्द गुरु ८९-९०, ९४
स्खालित्य २३७
स्तम्भ १५९
स्तूपिका ३६२
स्थण्डिल २५१, २९४, २९७, ३१३, ३६७-३६९
स्थापन (प्रतिष्ठा) १५२, १५५
स्थिति (संरक्षण) ६४-६५
स्थिरलिंग (पंचविध) ३२२-३२३
स्थिरासन २५१
स्थूल शरीर ६३
स्नान (अष्टविध) ११०-११२
स्रुक् (शक्ति) १२४, १४५-१४६
स्रुग्लक्षण १६८-१७४, २४२-२४३, २४७-२४८
स्रुव (शिव) १२४, १४५-१४६
स्रुवलक्षण १६८-१७४, २४२-२४३, २४७-२४८
स्वयम्भू लिंग ३३१, ३३६
स्वर १०९
स्वरूपविज्ञान ७५
स्वस्तिक ३४१
स्वात्मस्वरूप २४७
स्वापावस्था ६७, ७०
स्वायम्भुव मनु २५६-२५७
स्वायम्भुव लिंग ३३१, ३३६

हकार (प्राणवृत्ति) ९६, १०२
हर्म्याग्र १५७
हस्तप्रमाण १५८
हंस (नाद) ९६-९७, १२२-१२३
हृत्कुम्भ ३६१-३६३
हृदयकमल १०४, १२२, २७२
हेमपुरुष ३६१-३६३
होम १४३, १४६-१४७, २०९, २१५, ३६९
होमपात्र १६८-१७८

संकेत-सूची

अ. को.	अमरकोश
अचि.	अचिन्त्यागम
अ. शि.	अघोरशिवाचार्य
अ. सिं.	अमरसिंह
आ.	आगम
आ. शा.	आगमशास्त्र
आ. शि.	आपिशलि शिक्षा
आ. सं.	आत्रेयसंहिता
ई. गु.	ईशानदेवगुरु
कठो.	कठोपनिषत्
कामि.	कामिकागम
कार.	कारणागम
कालो.	कालोत्तरागम
किर.	किरणागम
कि. वि.	किरणागम विद्यापाद
कु. का.	कुसुमाञ्जलिकारिका
क्रि.	क्रियापाद
क्रि. द्यो.	क्रियाक्रमद्योतिका
ज्ञा. र.	ज्ञानरत्नावली
ज्यो. शा.	ज्योतिःशास्त्र
ज्यो. सं.	ज्योतिषसंग्रह
तना.	तनादि गण (धातुपाठ)
त. नि.	तत्त्वत्रयनिर्णय
त. प्र.	तत्त्वप्रकाश
त. सं.	तत्त्वसंग्रह
त्रि. का.	त्रिशतिकालोत्तर
दु. श.	दुर्गासप्तशती
द्वि. का.	द्विशतिकालोत्तर
ना. पु.	नारदीयपुराणम्
नि.	निश्वास
नि. का.	निश्वासकारिका
नि. व.	निघण्टुवचन
नि. षो.	नित्याषोडशिकार्णव
ने. त.	नेत्रतन्त्र
न्यू. कैट.	न्यू कैटलाग्स कैटलागरम्
प. नि.	पवित्रकालनिर्णय
प. सं.	पराख्यसंहिता
पं. स्त.	पंचावरणस्तव
पा. गी.	पाण्डवगीता
पा. यो.	पातंजल योगशास्त्र
पा. शि.	पाणिनीय शिक्षा
पू. स्त.	पूजास्तव
पू. स्तो.	पूजास्तोत्र
पौ.	पौष्करागम
प्र. सं.	प्रतिष्ठासारसंग्रह
ब्र. पा.	ब्रह्मशम्भुपाद
म. नि.	मन्त्रनिघण्टु
म. पा.	मतंगपारमेश्वर
म. पा. क्रि.	मतंगपारमेश्वर क्रियापाद
म. पा. वि.	मतंगपारमेश्वर विद्यापाद
म. स्मृ.	मनुस्मृति
मा. सं.	माध्यन्दिनसंहिता
मु. उ.	मुण्डकोपनिषत्
मुण्डक.	मुण्डकोपनिषत्
मृ.	मृगेन्द्रागम
मृ. क्रि.	मृगेन्द्रागम क्रियापाद
मृ. वि.	मृगेन्द्रागम विद्यापाद
मो. का.	मोक्षकारिका
मो. शू.	मोहशूरोत्तर
याज्ञ.	याज्ञवल्क्य

र. त्र.	रत्नत्रय	शा. व.	शास्त्रवचन
र. मा.	रत्नमाला	श्रु. व.	श्रुतिवचन
रौ.	रौरवागम	श्रौ. स्मृ.	श्रौतस्मृति
रौ. वि.	रौरवागम विद्यापाद	श्वेता.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
लुप्ता. उपो.	लुप्तागमसंग्रह उपोद्घात	ष. सं.	षट्साहस्रीसंहिता
व. टी.	वसन्ततिलकटीका	ष. सा.	षट्साहस्रिका
व. प.	वरुणपद्धति	स. ज्ञा.	सर्वज्ञानोत्तर
व. शि.	वरुणशिव	सा. का.	सार्धत्रिशतिकालोत्तर
वा.	वाग्भट	सि. र.	सिद्धान्तरहस्य
वा. शु.	वातुलशुद्ध्याख्यतन्त्र	सि. शे.	सिद्धान्तशेखर
वातु.	वातुलागम	सू. सं.	सूतसंहिता
वा. पु.	वायुपुराण	सो. प.	सोमशम्भुपद्धति
वा. सं.	वायवीयसंहिता (शिवपुराणीया)	स्मृ. शा.	स्मृतिशास्त्र
वि.	विद्यापाद	स्व. त.	स्वच्छन्द(स्वतन्त्र)तन्त्र
शा.	शास्त्र	स्वाय.	स्वायम्भुवागम

व्याख्योद्धृतश्लोकार्धानुक्रमणी

अकारश्च उकारश्च ६, ९३ स्व. त. ४.२५५
अकारश्च हकारश्च ९४, १०२
स्व. त. ४.३४९
अकारादिविसर्गान्ता २२४
अकारोकारमकार २९८
अकारोकारवर्णादि २४५
अकारोकारवर्णौ द्वौ २४६
अकारो विष्णुरादित्यो ९३ नि. व.
अकृतं च कृतं चैव ९० पौ.
अकृत्वा मानसं यागं १२१
अक्रूरस्य क्रियामुख्यं ९१
अक्षपाटाय कण्ठोर्ध्वे १४० ज्ञा. र.
अक्षरान्तरितं कृत्वा १०२
अक्षसूत्रं प्रकर्तव्यं १३६
अगर्भश्च सगर्भश्च २६७ सि. शे.
अगस्त्य: कौशिकश्चैव २५५
अग्निकोणमथारभ्य १४३
अग्नि: प्राणो मन: पात्रं १२३
अग्ने त्वमैश्वरं तेज १४२
अग्नेर्बीजेन चैतन्यं १४१ ज्ञा. र.
अग्नौ पूजावसानान्तं ३६९ कालो.
अग्रमङ्गुलविस्तार ३६३
अग्रं स्याद् कपिलं लिङ्गं ३३५
अग्रे गुरूक्तकन्दादे २४८
अघोरं दक्षिणे भागे ३२९ सि. शे.
अघोरस्य कलाश्चाष्टौ ११८ वा. शु. ७.१८
अङ्गानां वामतो गति: १७५
अङ्कितं बिन्दुभि: षड्भि २२३
अङ्गादीनामनेनैव १९१ स्वाय.
अङ्गिराश्च मनुश्चान्यो २५६ कामि.
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु १३७
अङ्गुष्ठपर्वतुल्यात्र १२२ नि. का.
अङ्गुष्ठमात्रभुवनाद् २२१
अङ्गुष्ठाभ्यां छादयित्वा ३९
अङ्गुष्ठार्धप्रमाणं वा ३६३ ज्ञा. र.
अचले तु चले कार्य २९५ ज्ञा. र.
अजं विष्णुं च रुद्रं च २९९ कालो.
अजितं सुशिवाख्यस्य २७८ कि. वि. १०.५
अणिमा महिमा चैव १५०
अणुशक्तिशम्भुपक्षा १०१ त. सं.४४
अण्डाकृतिवदाकारं १२२
अत एव शिवत्वेन २१४
अतसीपुष्पसन्निभा: १८३
अतिमार्गं च मन्त्राख्यं २८४ कामि.
अतिस्थूलमतिकृशं ३३५
अतो नित्याङ्गमेवोक्तं ३०५ कालो.
अत्यन्तमनुरक्तो २३२
अत्रिर्वसिष्ठश्चागस्त्यो २५६ कामि.
अथ देहादिसापेक्षं ४८ मृ. वि. १०.१७
अथ नित्यं यदुक्तं ३०२
अथ निर्बीजिका दीक्षा १५२ सि. शे.
अथ पत्युरधिष्ठानं १२७, ३१९
म. पा. वि. ३.१
अथ मध्यन्दिनं यावत् १२४ वातु.
अथवाऽन्यप्रकारेण १४२, ३३३ सि. शे.
अथाचार्यव्रतं श्रेष्ठं २५२ स्वाय.
अथाचार्याभिषेकार्थं १९१ स्वाय.
अथात्ममलमायाख्य १७७ स्वाय: १.२

अदृष्टविग्रहाच्छान्ता २७७ पौ.
अद्यप्रभृति कर्तव्यं २५१
अधः कूर्मशिलासीनां १२६, ३४७
अधस्ताच्चतुरस्रं तु ३२५ कार.
अधिकारपदारूढो ६०
अधिकारमले क्षीणे ६०
अधिकारे क्रियोद्रिक्ता १२ पौ.
अधिमासः स विज्ञेयो २९१ मो. शू.
अधिमासे न कुर्वीत १५५, २९१ मो. शू.
अधोभागः स लिङ्गानां ३२८ सि. शे.
अधो भागद्वये लक्ष्म ३५३ व. प.
अनन्तः सूक्ष्मसंज्ञश्च ३५८ ज्ञा. र.
अनन्तानाश्रितानाथा २९८
अनाचारेण युक्ताना ३१४ ज्ञा. र.
अनाढ्यस्य प्रकर्तव्य ३२७
अनाढ्ये पञ्चभिर्भागैः ३२४ सि. शे.
अनाथानाश्रिता चाभि २४२ कामि.
अनाथाऽनाश्रिता चैवं ९४ सि. र.
अनादितत्त्वान्युल्लङ्घ्य २२६
अनादिमलबद्धत्वात् १६ कि. वि. २.३
अनादिमलमुक्तत्वात् १६, २० कि. वि. २.३
अनादिमलसंबन्धान् २० कि. वि. २.४
अनिलाच्चायमाकाशः ६२ म. पा. वि. २४.४१
अनुगृह्य याति हि ३७ त. सं. ३३
अनुग्रहकरो देवो २४३
अनेकभविकं कर्म ७२ कि. वि. ६.१९
अनेनानुमितिः शिष्ट ७५ मृ. वि. ५.५
अन्तरिक्षोऽग्निकोणार्धे ३४१
अन्तर्भाव्यान्यवक्त्राणि १४४
अन्तर्यागं पुरा कृत्वा १२१
अन्तःकरणवृत्तिर्या ७ मो. का. १०६
अन्तःकरणसंयुक्तः २४२ कामि.
अन्तःकरणं त्रिविधं ५६ त. सं. ७
अन्तःसंजल्परूपा ४० र. त्र. ७४
अन्त्यजातिविलग्ने तु ३३५
अन्त्यात् पदान्महादेव २१७ व. प.
अन्धकासुरसंग्रामे ३३९ सि. शे.
अन्यतन्त्रेषु ये मुक्ताः ८१
अन्यत्र च नदीमध्ये ३३१ कामि.
अन्यत् स्थापनकं यत्र ३२०
अन्यथा तस्य वोत्पत्ति ३३९ सि. शे.
अन्यथा निष्फला दीक्षा ७९
अन्यथा शिवतुल्योऽपि १५८
अन्यद्वा लिङ्गकल्पोक्तं ३६८
अन्यशास्त्रेषु ये मुक्ताः २८५ कामि.
अन्ये प्राधानिका मन्त्रा ३८ रौ.
अन्वाहार्यश्चरो मेधा ९१
अपनीय दृगालोका २०७ कामि.
अपरः शक्तिमूर्ध्निस्थो २४७
अपरः षोडशो यावत् २४७
अप्तत्त्वमादितः कृत्वा ४३ आ.
अप्तत्त्वं सेचकं ज्ञेय ४३ आ.
अब्जो जैवातृकः सोमः ९१ अ. को. १.३.१४
अभावस्तु तदुद्दिष्टो ९८ स्व. त. ४.२९३
अभावात् कृष्णवर्णं ३३२
अभिन्नपिण्डिके लिङ्गे ३२०
अभिमुखीकुरुते १३१
अभिषेके त्वयोग्योऽयं २५२
अभूत् स्वेदोदकोद्भूत ३३९ सि. शे.
अभेदाध्यवसायो यो २३२
अमरेशान्तकं त्रिंशत् २१९
अमुक्तसंशया ये च ३१६ सा. का. २६.७
अमृतं पूर्णकुम्भं च ३२७
अमृतीकरणं कुर्या १३२
अयने द्वे गतिरुदग् २८७ अ. को. १.४.१३
अयने विंशतिः पूर्वे १५६
अयं रुद्रो भवत्वात्मा २१२ कामि.
अरतिर्मन्दता दैन्यं ५१ म. पा. वि. १६.२०

अर्कोद्भवाः पलाशोत्था १७६
अर्धचन्द्रनिभं कुण्डं १६८ प्र. सं.
अर्धचन्द्रवदाकारं २१९
अर्धचन्द्रो निरोधी च ६, ९३ स्व. त. ४.२५५
अर्धमात्रः परः सूक्ष्मः १०७ सा. का. २३.८
अलम्बुषा यशा नाड्यौ २२३
अवकुण्ठ्य प्रताप्याग्रा १४५ कामि.
अवरोहश्च हेमन्तः २९१ स्मृ. शा.
अवशिष्टदलं वेद १६७ कामि.
अवश्यमनुभोक्तव्यं २५ ना. पु. १.३१.६९
अवश्यं जायते छिद्रं ३०२
अविभागेन वर्णानां ४१ र. त्र. ७६
अव्यक्तं मुखलिङ्गं वा ३१९
अव्यक्ताद् गुणतत्त्वं ५१ त. प्र. ५१
अशक्तानाममनू सर्वान् २१५
अशीतोष्णो महीवाय्वो ५८ मृ. वि. १२.२७
अशून्यं शून्यमित्युक्तं ९७ स्व. त. ४.२९२
अश्वत्थपत्रवत् कार्या १६३ किर.
अश्वत्थपत्रवद् गुह्यं ३५५
अश्वत्थमुत्तरस्यां तु १५८
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष १७०
अश्वत्थोदुम्बरोद्भूताः १७६
अश्वमेधसहस्राणि १८९ म. पा.
अष्टकाकरणे वापि ७८ कामि.
अष्टकोणं तथैशान्या १६८ प्र. सं.
अष्टत्रिंशत्कलाकं वा २९९ ज्ञा. र.
अष्टधा विभजेत् क्षेत्रं १९३ ष. सा.
अष्टप्रकृतिरूपा सा २६१ सि. शे.
अष्टबिन्दु समारभ्य २९६
अष्टमांशो चतुर्भक्ते ३२७
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां ७७, ३०३ कालो.
अष्टसूत्रसमायोगा ३४१
अष्टाङ्गुलप्रमाणं १२२ नि. का.
अष्टाङ्गुलैश्च गम्भीरं ३१३
अष्टाधिकशतं सूत्रं २९४ ज्ञा. र.
अष्टाधिकशतं सूत्रं २९८ ज्ञा. र.
अष्टाधिकशतेनार्धं ३२८ सि. शे.
अष्टाविंशतिसंख्यानि २१७
अष्टाश्रं च सुवृत्तं च ३६३
अष्टाश्रं मध्यमं ज्ञेयं ३२५ कार.
अष्टाश्रं षोडशाश्रं वा ३६५ सि. शे.
अष्टांशस्यैकसंत्यागा ३२६
अष्टोत्तरशतं चान्य ३२९ कालो.
अष्टोत्तरशतादूर्ध्वं २९४
अष्टोत्तरशतान्यत्र २१७
अष्टोत्तरशतैः कार्यं २९४
अष्टौ शतानि यावन्ति ६७
अष्टौ स्थानानि वर्णाना ४० पा. शि. १३
असनं च शिरीषं च १७०
असम्पूर्णा कृता पूजा ३६९ कालो.
असुरः शोषरोगौ च ३४५
असौ कन्यागते भानौ २९८ ३०४ ष. सा.
अस्त्रब्रह्मशिवै १०८ मृ. क्रि. २.११
अस्त्रं वह्निसमप्रख्य १३२
अस्त्राणि बाहुवीर्यं तु १८९ म. पा.
अस्त्रेण खातमुद्धारं १३९ ज्ञा. र.
अस्त्रेण प्रोक्षितेनैव २०५ कामि.
अस्त्रेण मृदमादाय १०८ मृ. क्रि. २.७
अस्त्रेण हुंफडन्तेन २०४ सि. शे.
अस्मिन्निलीय निखिला २९ त. प्र. ३६
अहङ्कृत् सर्वमध्यस्थ ४३ आ.
अहिंसादिभिरभ्यर्च्यो १२१
अहिंसा प्रथमं पुष्पं १२३
आकारमथ वक्ष्यामि ३६५ सि. शे.
आकाशवायुप्रभवः ५५, ९६, १०६ पा. शि., आ. शि.
आकाशाच्चाप्यहङ्कार ६२ म. पा. वि. २४.४२
आकुञ्चिकवचं वास्तु ३३९ सो. प. १२७२

आकृष्टास्ताडिता वापि ८६
आग्नेयदलमूले तु १९२ स्वाय.
आग्नेयं हेमरत्नादि १३४
आग्नेय्यां तु भगाकारं १६८ प्र. सं.
आग्नेय्यां रक्तकमलं १८९ म. पा.
आग्राही किल ईश्वरः ९, २५४ ज्ञा. शि.
आचार्यमन्तरेणैव १५३
आचार्यमूर्तिमास्थाय ७६, ८४ व. शि.
आचार्यसाधकावाप्त ३१५ कामि.
आचार्यस्यार्चनं तद्वद् १५१
आचार्यः सह शिष्येण ९७ सा. का. २२.४
आचार्याद्यास्त्रयश्चैते ८१, ३१५ कामि.
आचार्याः साधका वा स्युः ८१ कामि.
आचार्यो नाम कुर्वीत २०७, २०८ सि. शे.
आढ्यलिङ्गस्य विस्तारो ३२४ सि. शे.
आढ्यस्यैव तु कर्तव्य ३२७
आढ्याख्यस्य च लिङ्गस्य ३२८ सि. शे.
आढ्यानाढ्यसुरेड्येषु ३२५ मो. शू.
आताड्याऽभ्युक्षयेद् १३९ ज्ञा. र.
आत्मतत्त्वं चतुर्थ्यन्त २४० कामि.
आत्मतत्त्वं तदात्मान्तं ३५६ ज्ञा. र.
आत्मतत्त्वं तु मायान्त २४० कामि.
आत्मतत्त्वं नियत्यन्तं ३५६ ज्ञा. र.
आत्मतत्त्वे प्रकृत्यन्ते ३०१ सो. प. ४५९
आत्मतत्त्वोन्मनः शैवे २४२ कामि.
आत्मनश्च मनः प्राणे २४५
आत्मनस्ताडनादाने २३५
आत्मनः कारयेद् दीक्षा १५४ कालो.
आत्मनः शिवबीजत्वं २१४
आत्मनः सूक्ष्मदेहस्य ३६३ सि. शे.
आत्मनो नादमध्ये तु २४५
आत्मविद्याशिवाख्यैश्च १४२
आत्मविद्याशिवैः प्रोक्तं ३०१ सो. प. ४६३
आत्माख्यमीश्वरान्तं तु ३५६ ज्ञा. र.
आत्मानो बहवः सन्ति १७ शा.
आत्मा प्राणस्तु तुर्येण २७४
आदत्ते न च भुञ्जानो ४७ मृ. वि. १०.१२
आदाय योजयेद् १४० ज्ञा. र.
आदिपञ्चममृत्यु ९९ पू. स्त.
आधानोत्पत्त्यधीकारो २३५
आधूम्रं वायुकोणस्थं १८९ म. पा.
आपतत् स्वेदपानीयं ३३९ सि. शे.
आपापवत्सौ सविता ३४५
आपीतं च षडश्रं च ३३२ सि. शे.
आपूरकं प्रधानादे ३३ मृ. वि. १०.१८
आपूरणी प्राणबद्धा १२९
आप्यं वारिपयोवस्त्र १३४
आप्रलयं यत्तिष्ठति ६१ त. प्र. ७३
आप्लुत्य परिवर्त्यान्त १०८ मृ. क्रि. २.१३
आभिः कलाभिः संक्लृप्त २४२ कामि.
आमर्दकमठपतिः २५५
आमर्दकी पुष्पगिरिः २५५
आ मूलाग्रस्थितस्याग्रे १३१
आयामैर्निश्चितं लिङ्गं ३२३ सि. शे.
आर्षं च मानुषं लिङ्गं ३२३ सि. शे.
आलस्यादिविनिर्मुक्तो २६६
आवरणं भित्त्वैषा ४५ त. प्र. ४६
आवश्यके वा शौचे वा ७८ कामि.
आवाहनं स्थापनं च १३३
आवाहनार्घ्यपाद्यैश्च १९२ स्वाय.
आवाहिन्या पुनर्नीत्वा १३०
आवाह्य गुरुवृद्धाद्यान् ३६८
आशीर्वाद्यध्वनीं यावत् ३६९ कालो.
आश्वासी शायिनी विद्या २९८
आषाढस्य द्विरावृत्ते २९०
आषाढस्य सिता ग्राह्या ३०५ मो. शू.
आषाढादित्रये दैवा २८९, ३०४
आषाढादित्रयो मासाः २८८ ष. सा.

आषाढे माघमासे च १५५ सि. शे.
आसनं पद्मकं बद्ध्वा ८० त्रि. का.
आसनं रुचिरं बद्ध्वा १०४ स. ज्ञा.
आसां पद्मो महापद्मः ३४९
आस्थापनं चतुर्थं तत् ३१९
आहारभावदोषाभ्यां २१२ कामि.
आहुरन्येऽन्यथा मात्रां २६७ सि. शे.
आह्लादिनी प्रवचनी १२९
इडया पूरयेत् सम्यग् २६७
इतरस्तु विरागात्मा ७९
इति कुम्भा नव प्रोक्ता ३४९
इति नित्यक्रियाऽऽख्याता ३०५ मो. शू.
इति नित्यं सदा कुर्या ७७, ३०३ कालो.
इति नित्याङ्गमुद्दिष्टं ३०४
इति नित्याङ्गमेवोक्तं ७७, ३०३ कालो.
इति पञ्चसु शब्दोऽयं ५८ मृ. वि. १२.२७
इति संक्षेपतः प्रोक्ता ८० त्रि. का.
इत्थं चतुर्विधं चन्द्र ३२७
इत्थं चतुर्विधं ज्ञेयं ३२७
इत्थं पार्श्वद्वये कार्यं २९७
इत्यष्टादश संस्काराः १४० ज्ञा. र.
इत्यष्टादश संस्कारा २३५
इत्यादिगुणसम्पन्नो २६६
इत्यादिसमयाचारः ७७ आ.
इन्दुबिन्दुशिखोपेतं २११
इन्दुवृत्तहलाकृतिः ९१
इन्द्रनीलं च रत्नानां २५१
इन्द्राग्नियमकुण्डेषु १६३ सि. शे.
इन्द्राग्न्योरन्तरे भानु १७७
इन्द्रादिपूजितं लिङ्गं ३३२ सि. शे.
इन्द्रादिषु चतुर्दिक्षु १५८
इन्द्रादीशानपर्यन्तं १५८
इन्द्रियाणां च सामर्थ्यं ५६ म. पा. वि.१८.८२
इन्धिका दीपिका चैव २४२ कामि.
इयं चतुर्विधा दीक्षा १५३ शा. व.
ईदृग्रूपं स्थितं ताभ्यां २० कि. वि. २.४
ईशतत्पुरुषाघोर ३५ मृ. वि. ३.८
ईशतत्पुरुषाघोर ३२९ सि. शे.
ईशदेवो नृपः प्रोक्तो २०७ सि. शे.
ईशविद्याद्यपेक्षित्वात् २५ मृ. वि. ८.३
ईशं विना चतुर्वक्त्रं ३२९ सि. शे.
ईशः सदाशिवः शान्तः ३१७ कामि.
ईशानमस्तकः कुद्धो ३४० सि. शे.
ईशानमूर्ध्नि विन्यस्य १९१ स्वाय.
ईशानवक्त्रादूर्ध्वस्था २८४ कामि.
ईशानस्य कलाः पञ्च ११८ वा. शु. ७.१८
ईशानस्य तदा दृष्टं ३३३ सि. शे.
ईशानस्य बलिर्विष्णोः २९१ स्मृ. शा.
ईशानः पञ्चधा मूर्ध्नि ११९
ईशानादिषु कोणेषु ३४२
ईशानार्धपदे चेशः ३४१
ईशानास्त्रशिवा मन्त्रा २२४
ईशाने तु न्यसेद् धीमान् १९२ स्वाय.
ईशाने तु शिरश्चैव १९२ स्वाय.
ईशाने मुक्तये होमः १४३ कालो.
ईशानेनैशमालभ्य २५१
ईशाने मौक्तिकं शङ्खं १८९ म. पा.
ईशित्वं च वशित्वं च १५०
ईश्वरतत्त्वं तदिह ३० त. प्र. २९
ईश्वरश्चैव सादाख्यः ४३
ईश्वरान्तं समुच्चार्य ३०१ सो. म. ४६०
ईषदर्थनिवृत्ते तु ७५ मृ. वि. ५.८
उक्तप्रभस्ततो दण्डः १०४ वातु.
उक्तमासत्रये यस्तु २८८ ष. सा.
उक्तमासत्रये यस्तु ३०४
उक्तवैकल्यतो घोरात् ३०५ कालो.
उच्चाटने च तल्लिङ्गं ३३३ सि. शे.
उच्चा सूर्याङ्गुलैर्वेदी १६०

उच्छ्रायं श्रुतिवत् कृत्वा ३२९ कालो.
उत्तमादित्रयाणां च १७० प. सं.
उत्तमांश्चाधमे कृत्वा ८६
उत्तरात्रितयं मूलं १५६
उत्तरे वा प्रकर्तव्यं १५७
उत्पत्तिस्तत्र शैवानां २५५
उत्सेधं च तथा कृत्वा १६७ कामि.
उदग्दक्षिणतो मध्ये १८१ सि. शे.
उदरस्थसमीरस्य २६६
उद्यानवनतस्तस्य १२१
उद्वेजयति मर्माणि ५५ सा. का. १०.११
उन्मना तु ततोऽतीता ६ स्व. त. ४.२५६
उन्मनायां तथा षष्ठं ९७ स्व. त. ४.२९०
उन्मन्यन्तं ततः प्रोक्तं २४७
उपकण्ठं तथावर्त्य १९५ किर.
उपचारेण शब्दानां ७४ कि. वि. ५.३
उपभुक्तोदकस्येव २३२
उपसंहृतकार्यात्मा १२, २९ पौ.
उपाकर्मोत्सर्जने च २८१ स्मृ. शा.
उपादानं शरीराणां ४३
उपायाच्छक्तिसंरोधः २० कि. वि. २.२९
उपायाः सकलास्तद्वत् २८५ मृ. वि. २.११
उमाभर्ता ह्यजोऽनन्त ३४ आ.
उष्णस्पर्शं तदाग्नेयं ३३२ सि. शे.
ऊकारो वामकर्णं च ९१
ऊर्ध्वकायं स्वके दक्षे २०४ किर.
ऊर्ध्वभूम्यङ्घ्रिणा कुर्याद् ३६३
ऊर्ध्वमानं समाख्यातं ३२५
ऊर्ध्वमार्गेण मुक्त्यर्थं १३६
ऊर्ध्ववक्त्रे तु दातव्यं १३२
ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं ८६ स्व. त. ४.२८९
ऊर्ध्वं नाभेस्त्रिधा मन्त्री २०५ सि. शे.
ऊर्ध्वं सुवृत्तभागस्तु ३२५ कार.
ऊर्ध्वोदुम्बरके न्यस्त्वा ३६४ ज्ञा. र.
ऋजुमार्गाष्टकोपेत १९१ स्वाय.
ऋणमस्खलिताचारो ३१६
ऋतुषट्केऽपि सा कार्या १५५
ऋत्वङ्गुलोन्नतं वायौ ३१३
एककुण्डमथैशान्या १५८
एकत्र बाहुयुग्मेन ३१७ सो. प. ११८३
एकत्राप्यधिमासता २८९ प. नि.
एकद्वित्र्यङ्गुलैर्हीन १७३ शा. व.
एकनेत्रं ततो देव १९२ स्वाय.
एकनेत्रैकरुद्रौ च ३६ मृ. वि. २.३
एकपार्श्वे क्षते धेनु ३३५
एकभागसमं कर्णं १९५ किर.
एकमेव शिवज्ञानं २७७ स्वाय.
एकरुद्रस्त्रिमूर्तिश्च ३५८ ज्ञा. र.
एकवक्त्रमितीमानि ३२९ सि. शे.
एकवक्त्रैस्त्रिवक्त्रैर्वा १३६ आ.
एकवर्णा भवेत् पीठी ३३२ कामि.
एकविंशतिसंख्यानि २२१
एकविंशतिहस्तान्तं १५९
एकहस्तं द्विहस्तं वा ३२३
एकादशांशमुत्सेधं ३२८ सि. शे.
एका वा वक्त्रसन्धाने १४३
एकाशीतिपदाकं वा २९९ ज्ञा. र.
एकांशसदृशस्तारः ३२४ कामि.
एकैकया घृताहुत्या १४३
एकैकशस्ततोऽन्यानि ६७
एकैकस्य चतुर्भेदः ३२७
एकैकस्य भवेदायु ६७
एकैकहानेरुपरि ९७
एकैका कोटिरित्युक्ता ३३६ सि. शे.
एकैकाहुतिदानेन १४३, १४४ कालो.
एकैकां वर्धयेद् यूकां ३५५
एकैव बहुरूपा तु १४४
एकैवानेकतां याति १२ श्रु. व.

एकोत्तरनवत्यंशं ३२८ सि. शे.
एकोत्तरसहस्रं तु ३२९ कालो.
एको वा नामगैर्भेदैः ३०२
एतच्चेन्द्रियसापेक्षं १२ पौ.
एतत्सर्वं विधेयं स्याद् ८१ कामि.
एतत्सर्वं शिवेज्यार्थं ३६८
एतत्स्थानसमुद्भूताः २५७
एतन्मण्डलपूजायाः १८९ म. पा.
एतस्मात् कारणाद् ३६९ कालो.
एतान् पर्यायनामानि ९३
एतावती च रात्रिः ६७
एताः सर्वत्र योक्तव्याः २९८
एते चरन्ति वै स्वप्ने २७४
एते पञ्चोपचारास्तु १३४
एभिर्दोषैरकामत्वं ७९
एवमष्टशतं लिङ्गं ३२८
एवमादिषु चिह्नेषु २११
एवं गुणादिसर्गाणां ६८ मृ. वि. १३.१८९
एवं तत्पुरुषाघोर २०७ सि. शे.
एवं देवी प्रकर्तव्या ३७० कामि.
एवं द्वादशमर्माणि ३४१
एवं नवशिलापक्षे ३५०
एवं पञ्चविधा प्रोक्ता ३२०
एवं पवित्रत्रितयं २९५ सि. शे.
एवं पीठे शिलायां च ३६० व. प.
एवं प्राधानिकः प्रोक्तः २७८ कि. वि. १०.६
एवं मन्त्रास्तु पञ्चैते १०१ सा. का. २२.९
एवं मन्त्रेशमुख्येषु ६८ मृ. वि. १३.१९१
एवं लिङ्गोच्छ्रयं प्रोक्तं ३२५ कार.
एवं वर्गाष्टकावस्था १९२ स्वाय.
एवं वास्तुसमुत्पत्ति ३४० सि. शे.
एवं वास्तुः समाख्यातो ३३९ सि. शे.
एवं शान्तं वपुः कल्प्य १३० प. सं.
एवं समयसंस्कार २१५ कामि.
एवं संवर्धते नित्य ४३ आ.
एवं स्याद् द्वारविन्यासः १९५ किर.
ऐन्द्रे पीठे ततोऽनन्तं १९२ स्वाय.
ऐशान्यामीशलोकेश १७७
ऐशे च जुहुयादाज्यं १४३
ऐश्वरी गर्वधीमूला २३८
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण १३७
औकारो दर्शनान्तं च ९१
औत्सुक्यं चेति सत्त्वस्य ५१ म. पा. वि. १६.१८
कट्यां च पार्श्वयोश्चाथ ११९
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा १०६ पा. यो. ३.३०
कण्ठस्याग्रं भ्रुवोर्मध्ये २४५
कण्ठेऽष्टाङ्गुलकेऽधीशो १०४ वातु.
कथितं वक्त्रसन्धानं १४३
कथ्यते वक्त्रसन्धानं १४३
कदम्बो वृक्ष एव स्यात् २५५
कदलीपुष्पसंकाशं १२२ नि. का.
कनिष्ठामूलमार्गेण २०३, मृ. क्रि. २.१८
कन्दनाभेरधोरन्ध्रे २६१ सि. शे.
कन्दस्थानं मनुष्याणां १२२, २६१
कन्दाद् विनिर्गता नाड्यो २६१
कन्यातीर्थे च नेपाले ३३१ कामि.
कन्यादिमासत्रितये ३४० सि. शे.
करणस्थेन भेदेन १४, ४१ कालो.
करणं च न शक्त्यन्यत् १२ मृ. वि. ३.४
करोत्यन्तःस्थितं भूय ५६ म. पा. वि.१८.८२
कर्कटः सिंहकन्ये च २८७ नि. का.
कर्कशे बाणलिङ्गे च ३३४
कर्णपट्टिकरूपेण ३३२
कर्णयोः पादगुल्फे च ३४०
कर्णार्धाष्टांशसंत्यागाद् १६६
कर्णिकादिदलाग्रान्तं १८२ मृ. क्रि. ८.२८
कर्णिकायां भवेत् १२२ नि. का.

कर्तरी कर्तृरूपेण ७६
कर्तरी ज्ञानशक्तिस्तु १७८, २३३
कर्तरी ज्ञानशक्तिः स्याद् ७६
कर्तव्यं चेदनुष्ठेयं ७९ कामि.
कर्तव्या मन्त्रपूताश्च १४५ आचा.
कर्तितं द्विजकन्याभि १७८,२९४ सो. प. ३७४
कर्तृशक्तिरणोर्नित्या ४४ मृ. वि. १०.३
कर्म चिद्रहितं तस्माद् १६ प. सं.
कर्म व्यापारजन्यत्वा २४ मृ. वि. ८.३
कर्माक्षाणि च राजसे ६५ अ. शि.
कर्माङ्गुलं तु नाहः १७१ कार.
कर्मार्जनं तनौ सत्यां २४ कि. वि. ३.७
कर्माशुद्धियुतश्चान्यो १७ शा.
कर्मांशो योऽधिकः पूर्वं ७४ कि. वि. ५.१०
कर्षणं ग्रहणायैव २३६
कलयन्ति यतो विश्वं २२६
कलातत्त्वाद् रागविद्ये ३३ रौ. वि. २.६
कलाद्यारब्धदेहानां ३७ मृ. वि. ४.९
कलामयाय कुण्डाय १३९ ज्ञा. र.
कलामुत्पादयामास ३२ रौ. वि. १.७
कला लेढि कलां माया ६८ मृ. वि. १३.१८९
कलास्ताश्च यथाशास्त्रं २९८
कलौ कार्पासकं वापि २९४ सो. प. ३७४
कल्पभेदेन तन्त्रज्ञै ३४० सि. शे.
कवौ गुरौ चास्तमयं ३०६ सि. शे.
कं त्रिधा विभजेत् पूर्वं ३२६
काञ्चीमध्ये चोलभूमौ २५८
कामाय तु हितं काम्यं ३१८ कामि.
कामिकं प्रणवाख्यस्य २७८ कि. वि. १०.४
कामिकं योगजं चिन्त्यं २८३ कार.
कामिकाद्यजितान्ताश्च २८४ कार.
काम्यमेतत् सदा कुण्डं १६८ प्र. सं.
काम्यानां च प्रसिद्ध्यर्थं १९१ स्वाय.
कारणं रुद्रदेवं च २२१
कारणेष्टिपशूद्धारा २३६
कार्पासनिर्मितं सूत्रं २१२ कामि.
कार्यं च करणीयं च १२ पौ.
कार्यं शरीरसंस्कारा १५३ म. स्मृ. २.२६
कालाग्निभुवनान्तानि २१७
काले जगत् समुत्पाद्य ७० मृ. वि. १३.१८५
कालोऽपि कालसंख्याने ५० कि. वि. १.१८
काश्यपः परमेशाना २५५
किञ्चित् कुञ्चितनेत्रस्तु १०४ स. ज्ञा.
किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् ३६ मृ. वि. १३.१६४
किरणं वातुलं त्वेता २८३ कार.
कुक्कुटाण्डं समाख्यातं ३२७
कुण्डदक्षिणतः कृत्वा ३१३
कुण्डली परितस्तस्मा २६१ सि. शे.
कुण्डं दक्षिणतः कुर्या ३१३ कामि.
कुण्डाग्नेय्यां चिताखातं ३१३
कुण्डे च संस्कृते तत्र ३१४ ज्ञा. र.
कुम्भाग्रे च त्रिशूलं वा ३६३
कुम्भानष्टौ सुभद्रादीन् ३५०
कुम्भितं रेचयेद् वायुं २६७
कुरुते महार्थसंहृति ७२ त. प्र. ७०
कुरुते सकलस्येशः १५३
कुर्यात् पवित्रकं शम्भो २८९, ३०४ ष. सा.
कुर्याद् द्वेधा भवेन्मात्रा २६७ सि. शे.
कुर्याद् ब्राह्मीं न वा कुर्या ७९
कुर्याद् वृत्तं तु रुद्रांशं ३२३ सि. शे.
कुर्वन्ति तेन तदिदं २९ त. प्र. ३६
कुर्वन्नपानशब्देन ५४ मृ. वि. ११.२४
कुर्वन् समान इत्युक्तः ५४ मृ. वि. ११.२५
कुर्वीत वदनैकत्व १४३
कुर्वीत वर्मणा सेकं १३९ सो. प.
कुशाग्रमात्मजङ्घायां २०९
कुशाग्रैरस्त्रमन्त्रेण २०५ सि. शे.
कुशेन शिवशस्त्रेण १३९ सो. प.

कूटं वा तु प्रपां वापि ३१३ कामि.
कृतं तत्र युगं विप्राः ६७ सू. सं. १.८.८
कृतार्धं द्वापरः प्रोक्त ६७ सू. सं. १.८.१०
कृत्यभेदोपचारेण ३६ मृ. वि. १३.१६४
कृत्यं सकारकफलं ८२
कृत्वा कङ्कणवत् तत्र २९५ ज्ञा. र.
कृत्वा कुण्डं विधानेन ३१३ कामि.
कृत्वा चोत्थाय संतिष्ठे १४६
कृत्वा चोर्ध्वमुखं दैत्यं ३३९ सि. शे.
कृत्वाधिकारं स्थित्यन्ते ३७ मृ. वि. ४.७
कृत्वाऽऽवृतित्रयादीश १९७ मृ. क्रि. ८.४९
कृत्वैवं योजयेत् तस्य २१५
कृष्णश्वेतं पूर्वभागे १८४
कृष्णं तच्छत्रुनाशार्थं ३३३ सि. शे.
कृष्णेऽग्नौ शवगन्धे च २११
केचिद् दिवा तथा रात्रौ २३ दु. श. १.४९
केनापि देवेन हृदि १६ पा. गी. ५७
केवलद्वयमध्ये तु १७
केवलं बुद्ध्युपादाना ४० र. त्र. ७४
केसराणि द्वितीये तु १९१ स्वाय.
कैलासशिखरे रम्ये २५५
कोणबन्धं ततः शिष्टो १९३ ष. सा.
कोणसूत्रक्रमेणैव ३२६
कोणेषु विन्यसेद् वंशौ ३३९ सो. प. १२७१
कौशिकः काश्यपश्चैव २५६ कामि.
कौशिकाद्याश्च मुनय २५६ कामि.
क्रमशोऽष्टगुणाः प्रोक्ता ३५५ कामि.
क्रमात् सन्ध्या च सन्ध्यांश ६७ सू. सं.
१.८.१०
क्रियते सा प्रतिष्ठा स्यात् ३१९
क्रिया ज्ञानी तथेच्छा च ३५९
क्रियावद्भिः सदाभ्यर्च्यो १२१
क्रिया सा कथ्यते दीक्षा १४८ व. शि.
क्रौर्यं शौर्यं मदोत्साहौ ५१ म. पा. वि. १६.१९
क्षपणं च तथान्तस्थं ३०९, ३११
सा. का. १९.२
क्षणिके भित्तिचित्रादौ ३६९ कालो.
क्षत्रविट्शूद्रजातीनां १०७ कामि.
क्षान्तिपुष्पं दयापुष्पं १२३
क्षिप्त्वा भागत्रयं भाग १९५ किर.
क्षेत्रार्धकोणं संगृह्य १६४
क्षेत्रार्धदशमं भागं १६७ कामि.
क्षेत्रार्धमानसूत्रेण १८१ सि. शे.
क्षेत्रार्धावधिकं यावत् १६४
क्ष्मादिपुंसोऽवधौ ब्रह्मा ३७२ व. शि.
क्ष्मादिविद्यान्तको रुद्रः ३७२ व. शि.
क्ष्मावह्नियजमानार्क ३५७ कामि.
क्ष्मावह्नियजमानार्का ३५१ सि. शे.
खड्गाभं खड्गचिह्नं वा ३३३ सि. शे.
खड्गेन खातमुद्धारं १३९ सो. प.
खं चेति मूर्तयो लिङ्गे ३५८ कामि.
खाताद् बाह्येऽङ्गुलः १६२
खादिमूर्तिषु पूर्वादि ३५८ ज्ञा. र.
गगनकुटिलशून्यं ९० म. नि.
गङ्गावतारकं तत्र २९७
गङ्गावतारकं नाम २९५
गङ्गास्नानार्थमागत्य २५८
गजोष्ठपृष्ठसदृश १७३
गण्डिका द्व्यङ्गुला १७१
गतासवो यदा तेषां ८१, ३१५ कामि.
गदाकारं गदाङ्कं वा ३३३ सि. शे.
गन्धः क्षितावसुरभिः ५९ मृ. वि. १२.२९
गन्धेः भूः सलिलं ६५ अ. शि.
गम्योऽनेन क्रमेणैव १०५ वातु.
गर्भगेहप्रविस्तारं ३६५ सि. शे.
गर्भमानेन वा कार्यः ३६६
गर्भाधानादिके वापि ७८ कामि.
गर्भाधानादिसम्पत्तौ २११

गर्भाधानाय योगः · २३६
गायत्रीं पश्चिमे स्थाप्य १९२ स्वाय.
गार्भैर्होमैर्जातकर्म १५३ म. स्मृ. २.२७
गुणत्रयात् प्रधानाख्यं ६३ म. पा. वि. २४.४३
गुणभक्तेंऽशसंत्यागाद् ३२६
गुणानापाद्य तत्रैव २५० मृ. क्रि. ८.१३५
गुदे लिङ्गे तथोर्वोश्च ११९
गुरुणापि त्रयं कार्यं ७७ आ.
गुरुमूर्तिं समाश्रित्य . १५३
गुरुर्वा शिव एवाथ ७६
गुर्वादीनामृणं दद्यात् ३१६
गुहं विष्णुं च धातारं ९०
गुह्यनाभिहृदन्तं २९९ ज्ञा. र.
गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं १३७
गृहिणां लौकिकी ज्ञेया १५०
गृहीत्वा स्रुक्स्रुवाव १४५ कामि.
गृही प्रवर्जयेत् तादृक् ३३५
गोखुराकारवत् १७३
गोदावरीनदीतीरे २५५
गौर्यादीनां प्रतिष्ठायां ३७०
ग्रन्थयस्तास्तु संख्याता २९५ मृ.
ग्रन्थिभिर्दशभिर्युक्तं २९५
ग्रन्थीनां द्वितयं चान्ते २९७
ग्रन्थ्यूर्ध्वगं तु मेर्वाख्यं १३६ आ.
ग्रस्यमाने दिवानाथे १५६ कामि.
ग्रहाध्यक्षः प्रेतपति ३४५
ग्रहांशेन हरोच्छ्रायं ३२४
घकारादिञकारान्ता २२१
घर्घरारावसंयुक्तं २१९
घृतनीराजनोद्द्योत १४५ आचा.
घृतेन वा घृताक्तैर्वा २५२ स्वाय.
घृतेन स्रुचमापूर्य १४६
चक्रेणानेन देहोऽयं २६१ सि. शे.
चक्षुषा सप्रसादेन १३९ ज्ञा. र.
चण्डस्कन्दगणाधीशा ३१७ सो. प. ११८१
चतस्रः षट्पदास्तासां ३३८ सि. शे.
चतस्रो वृत्तयस्तस्य ४० र. त्र. ७२
चतुरङ्गुलमुत्सेध १२२
चतुरङ्गुलविस्तार २६१ सि. शे.
चतुरङ्गुलविस्तारा १७१
चतुरङ्गुले षड्युक्त १०४ वातु.
चतुरस्रं चतुर्द्वार १५८
चतुरस्रं च योन्याभ १५८
चतुरस्रं भवेत् प्राच्यां १६८ प्र. सं.
चतुरस्रं समं कुर्यात् ३६३
चतुरस्राऽथवाऽष्टाश्र १७१
चतुरस्रा शुभा मध्ये ३४९ ज्ञा. र.
चतुरस्री चतुष्कोणा १६१ सि. शे.
चतुर्थी नवमी षष्ठी १५६
चतुर्थे तु दलाग्राणि १९१ स्वाय.
चतुर्थ्यन्ताभिधानेन २०३ मृ. क्रि. १२.१६
चतुर्दशे जघन्येष्टि २०१ श्रौ. स्मृ.
चतुर्धा शक्तिपातेन ८६
चतुर्भागं प्रकुर्वीत ३२८ सि. शे.
चतुर्भागात्मके लिङ्गे ३२७
चतुर्भिः कमलं भागै १९५ किर.
चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भि ३२३
चतुर्युगसहस्रान्त ६८ मृ. वि. १३.१८२
चतुर्विंशतिभागं तु १६४ कामि.
चतुर्विंशतिभागैश्च १७३ शा. व.
चतुर्विंशद्दलं भद्र १८९ म. पा. क्रि. १.५५
चतुर्हस्तादिकं लिङ्गं ३२०
चतुष्कं शक्तिपर्यन्तं ६३ म. पा. वि. २४.४५
चतुष्कोणसमं क्षेत्रं १८१ सि. शे.
चतुष्टयमिदं तत्र १३३
चतुष्षडष्टहस्तं वा १९५ किर.
चतुष्षष्टिकेसरैर्युक्तं १२६
चतुष्षष्ट्यङ्घ्रिसंयुक्तं १५८

चतुष्षष्ट्यंशिका शक्ति १०४ वातु.
चत्वारि वारुणं बीजं २१९
चत्वारो विष्टरा १७५ कामि.
चत्वार्यब्दसहस्राणि ६७
चन्द्रज्ञानं च बिम्बं च २८३ कार.
चन्द्रबिम्बसमप्रख्यं १३०
चन्द्रमध्ये भवेद् १२२ नि. का.
चन्द्ररन्ध्रैः समं तत्र ३२९ कालो.
चन्द्राग्निरविसंयुक्ता ४२, १२२ सा. का. १३.१
चरकी च विदारी च ३४१
चातुर्मास्येऽपि तद्वत् ७७, ३०३ कालो.
चान्द्रेण व्यवहारार्थं २८८
चापादिमासत्रितये ३४० सि. शे.
चिच्छक्त्या निखिलार्थेषु १२ पौ.
चित्यातिवाहिके शक्तौ ५४ मृ. वि. ११. २३
चित्रदिक्‌गात्रकं रक्त १८३ मृ. क्रि. ८.३५
चित्रलिङ्गेऽर्चिते बाणे ३३५
चिद्रूपेऽनुग्रहं प्राह १५४
चिपिटे पूजिते तस्मिन् ३३५
चिह्नत्रये महीक्षेत्रे १८० सि. शे.
चेतना सुमना मूर्ध्नि ९१
चैत्रकृष्णदशम्यादि २९०
चौर्यं हि बीजमावेक्ष्य २१ कि. वि. ३.३
छत्रं कुक्कुटमर्धेन्दु ३२७
छत्रं चतुर्धा कथितं ३२७
छेद्या भेद्याश्च ते पाशाः २२८
छोटिकां च सकृत् कुर्या २६७ सि. शे.
जगतः कारणं देव २८० रौ. वि. ३.६
जगति कृते तत्रार्धं ३७ त. सं. ३३
जगत्सृष्टिस्थितिध्वंस ८२
जङ्घागलकचूडान्तं ३६४
जनकं धारकं भोग्य २५ मृ. वि. ८.४
जननं त्वधिकारार्थं २३६
जपं च प्रत्यहं कुर्या २५२ स्वाय.
जपेदघौघविच्छित्त्यै १०८ मृ. क्रि. २.१३
जयश्च विजयश्चाथ ३४९
जया च विजया सोम्या १२९
जया ज्वाला विशोका च ३४४
जयाऽन्या विजया षष्ठी २९७ सो. प. ३८४
जले सदाशिवः पूज्यः ३६९ कालो.
जाग्रदवस्थासंयुक्तं २१७
जाग्रद्विषयभुक्तिश्च २७४
जाग्रादिस्थानमेवं हि २७३ अचि.
जानामि धर्मं न च मे १६ पा. गी. ५७
जानुकण्ठशिरोव्याप्त्या ३६१ सि. शे.
जानुमण्डलमावृत्य ११५
जायतेऽध्वा यतः शुद्धो ४० र. त्र. २२
जिह्वामूलं च दन्ताश्च ४० पा. शि. १३
जीवान्ततत्त्वनिष्ठानां ३१४ ज्ञा. र.
जीवो भ्रमति चक्रेऽस्मिन् २६१ सि. शे.
जुहुयात् पुरुषेशाभ्यां १४३
जुहुयादजवामाभ्यां १४३
जुहुयाद् वामाघोराभ्यां १४३
ज्ञात्वा संप्रीतमनस २५५
ज्ञानक्रियाख्यशक्त्यो ३० त. प्र. २८
ज्ञानज्योतिर्मयं लिङ्गं १२४ वातु.
ज्ञानज्योतिर्मयं लिङ्गं २६९ कालो.
ज्ञानमेकं विभज्याशु २७८ कि. वि. १०.३
ज्ञानशक्त्यात्मके लिङ्गे १२७, ३१९ व. प.
ज्ञानं तदक्षयोगात् ५५ मृ. वि. १२.११
ज्ञानेन क्रियया वाऽथ ८६
ज्ञानेन मुक्तिदं यस्मात् ९०
ज्येष्ठा ज्येष्ठा सुरज्येष्ठा १६०
ज्येष्ठादिकन्यसप्रान्ते २९६
ज्येष्ठी ज्येष्ठात् समारभ्य ३६६
ज्योतिर्लिङ्गं हृदिस्थं १२१
टादिहान्ताक्षराणीह २१९
तच्चतुर्थांशको १६२ कामि.

तच्च शब्दानुवेधेन ३९ र. त्र. १७२
तच्छक्तिविषुवं २४६
तच्छून्यं तु परं ९७ स्व. त. ४.२९२
तच्छेषमपि संपाद्य १०८ मृ. क्रि. २.१०
तटाकादिप्रतिष्ठायां १६१ सि. शे.
ततश्च पुनराचम्य २०३ मृ. क्रि. २.१५
ततः कालेन सन्तुष्टः ३३९ सि. शे.
ततः परममात्रस्तु १०५ वातु.
ततः प्राधानिकं ३३ मृ. वि. १०.१९
ततः शृणोति तन्नाद ३९
ततोऽनन्ताद्यभिव्यक्तः ३७ मृ. वि. ४.९
ततो नियतिसंश्लेषात् ५० कि. वि. १.१८
ततो नियतिसापेक्ष ४८ मृ. वि. १०.२७
ततो निर्वाणदीक्षाया २१५ कामि.
ततो मेर्ववसाने तु १३७
ततो यज्ञोपवीतेन २०३ मृ. क्रि. २.१७
ततो विद्येश्वरी शक्ति १९२ स्वाय.
तत्कन्दादुत्थितं ज्ञेयं १२२
तत्कुर्वन्नुच्यते प्राणः ५४ मृ. वि. ११.२३
तत् तत्त्वमिति प्रोक्तं ६१ त. प्र. ७३
तत् तत्त्वं विद्याख्यं ३१ त. प्र. ३०
तत्र्यंशेन समुच्छ्रेया ३३२
तत्पातसूचितस्थान २०७ कामि.
तत्र कलान्तरं त्यक्त्वा २९७
तत्र तत्पुरुषं वक्त्रं १३२
तत्र नन्दिमहाकालौ ३१७ सो. प. ११८०
तत्र प्रवाहयेन्नादं २४६
तत्र मन्थरकालीश २५५
तत्र यः क्षुब्धभागोऽस्य २९
तत्र वास्तुं समभ्यर्च्च्य १५८
तत्र सा वैखरी श्रोत्र ४० र. त्र. ७३
तत्र हस्तमितं कुण्डं ३१३
तत्रादौ केवलाणूनां ३६ मृ. वि. ४.२
तत्रापि नादरहितै २५२
तत्रापि लिङ्गे भगवान् ३६९ कालो.
तत्रार्णसंज्ञा वैखरी ४० र. त्र. ७३
तत्राष्टसूत्रसंयोगा १६७ कामि.
तत्राह्वानं हृदा कार्य ३१७
तत्रेन्द्रियानपेक्षं च १२ पौ.
तत्रैव पुरुषो ज्ञेयः ३४ आ.
तत्त्वत्रयं च विन्यस्य १४५ कामि.
तत्त्वद्वययुतोऽनन्तो १०४ वातु.
तत्त्वशुद्धिं विहायैव ८१ कामि.
तत्त्वशुद्धिं विहायैव ३१५ कामि.
तत्त्वशुद्ध्या च नित्यादि ३१५ कामि.
तत्त्वशुद्ध्यादि नित्यादि ८१ कामि.
तत्त्वषट्कयुतो विष्णु १०४ वातु.
तत्त्वं वस्तुत एकं ३० त. प्र. ३३
तत्त्वं विद्याख्यमसृजत् ३३ रौ. वि. २.१५
तत्त्वान्यधिपतीन् २०३ मृ. क्रि. २.१६
तत्त्वे च शिव एवोक्तः ३०२
तत्त्वेशांश्च हृदा न्यस्य ३५१
तत्त्वेषु तेषु विज्ञान ३१ र. त्र. १३१
तत्त्वे सदाशिवे भोगो १५१
तत्संख्यातानि तल्लिङ्गं ३२८ सि. शे.
तत्सपीठमपीठं वा ३३५
तत्सर्वं चैव कर्तव्यं ७८ कामि.
तत्साम्राज्यप्रदं लिङ्गं ३३२ सि. शे.
तत्स्थेनैव च पूर्णा २३६
तत्स्वभावात् पशुः २१ कि. वि. २.२२
तथानाश्रितशक्त्यादि २२४
तथापनयनं भुक्त ५४ मृ. वि. ११.२४
तथा पशुत्वमालोक्य २१ कि. वि. ३.४
तथाऽपसव्येन पितॄन् २०३ मृ. क्रि. २.१८
तथापि कुर्वीत पवित्र ३०६ सि. शे.
तथापि लिङ्गे नित्यार्चा ३६८
तथा पुष्पगिरिश्च २५५
तथा पुष्पगिरिश्चेति २५७

तथाप्याभाति युगप ५५ मृ. वि. १२.११
तथा वै शिवधर्मिण्या १५०
तथोर्ध्वगामिनी चैव २४२ कामि.
तदग्रे पुष्पमारोप्य १४६
तदचेतनमेव स्यात् २७ मृ. वि. ९.४
तदधो विन्यसेत् पाशं २१९
तदधो विन्यसेद् विद्या २२१
तदनुग्राहकं तत्त्वं ३३, ४४ मृ. वि. १०.४
तदन्तराणि द्वात्रिंशद् १९७ मृ. क्रि. ८.४९
तदन्तस्थश्चान्द्रमासः २८८ ज्यो. सं.
तदन्तेनामृतीकुर्याद् १०८ मृ. क्रि. २.११
त्‌दन्ते संस्थिता मेधा १०४ वातु.
तदप्यनेकमेकस्मा २६ मृ. वि. ९.७
तदभिव्यक्तदृक्शक्ति ४७ मृ. वि. १०.११
तदर्थं क्षोभयित्वेशः ३३ रौ. वि. २.१५
तदर्धदैर्घ्यका शस्ता ३४९ ज्ञा. र.
तदर्धं मध्यमं प्रोक्तं १३६ आ.
तदष्टपत्रं द्वात्रिंशत् १८२ मृ. क्रि. ८.२९
तदाकारतया भक्तं ३६९ कालो.
तदाधाराणि कार्याणि २७ मृ. वि. ९.१३
तदा पूजां न गृह्णाति ३६६ मो. शू.
तदा भीताः सुराः सर्वे ३३९ सि. शे.
तदा मनोन्मनीसंज्ञां ३७० कामि.
तदा मुमोच निश्वासं ३४० सि. शे.
तदा रुद्रशतं वीर ७० मृ. वि. १३.१८३
तदा लयाह्वयं तत्त्वं १२, २९ पौ.
तदा शिवस्य पुरत ३३९ सि. शे.
तदिष्टग्रन्थिसंख्यातं २९५ मृ.
तदुन्नतं समाख्यातं २२४
तदूर्ध्वं व्यापिनीशून्यं ९७ स्व. त. ४.२९०
तदेकभागमात्रं १६४ कामि.
तदेकमशिवं बीजं २७ मृ. वि. ९.२
तदेकं सर्वभूताना २१ मृ. वि. ७.८
तदेव वृत्तं वा कार्यं १६८ प्र. सं.
तद्गर्भे पञ्चधा भक्ते ३६६
तद्धर्मापादनं कुर्यात् १५१
तद्बाह्ये वीथिका कार्या १९३ ष. सा.
तद्रागविद्ये च कलां ६५ अ. शि.
तद्वत् तच्छक्तिसंरोधाद् २० कि. वि. २.३०
तद्वदत्रापि चैतन्य ३६३ सि. शे.
तद्वदीश्वरपूजार्थं १२१
तद्वदेकत्र चिद्व्यक्ति १३१
तद्वद् वै सोमबिम्बस्थं ३६९ कालो.
तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः ३५ मृ. वि. ३.८
तद्विस्तारसमं गर्तं १७२ कार.
तन्निवृत्तौ निवर्तन्ते ६८ मृ. वि. १३.१९०
तन्मात्राणीह घटवन् ५८ म. पा. वि. १९.२१
तन्मात्राण्यङ्कुराभाणि ४३ आ.
तन्माना ऋजवः सार्द्रा १७५ कामि.
तन्मूर्ध्नि निहितं तूलं ३३३ सि. शे.
तन्मूले कलशाकार १७१ कार.
तपःपुष्पं सत्यपुष्पं १२३
तमश्छन्नतयाऽर्थेषु ४४ मृ. वि. १०.३
तमसो वृत्तयः ख्याता ५१ म. पा. वि. १६.२२
तमा मोहा जया निष्ठा ३६० व. प.
तयोद्दलितसामर्थ्यो ५० कि. वि. १.१६
तयोर्योगेन यद्रूपं १० वा. शु. १.३८
तल्लिङ्गं द्विविधं प्रोक्त ३२२ सि. शे.
तल्लीनस्तन्मयो योगी १२४ वातु.
तस्माच्चक्रं समुद्भूतं २६१ सि. शे.
तस्मात् काले प्रकर्तव्यं ३०५ सि. शे.
तस्मात् त्वदीयहृत्पद्मे १४२
तस्मात् परस्तु यः कालः २४७
तस्मात् पीठं च कर्तव्यं ३६६ मो. शू.
तस्मात् सर्वप्रकारेण ७६, ८६
तस्मात् सूत्रमयो देहो २२८
तस्मात् स्वरद्वयाद् द्वौ द्वौ १०९ कामि.
तस्मादण्डजविष्णु ९, २५४ ज्ञा. शि.

तस्मादनेन होमेन २१५
तस्मादन्यत्र यात्येव ७५ कि. वि. ५.५
तस्माद् ज्ञातृत्वकर्तृत्वे १२ पौ.
तस्माद् भागद्वयन्यूनं २९५ ष. सा.
तस्माद् विनिर्गतं स्थानं २५५, २५७
तस्मान्नाभ्यन्तमासीनो १०४ वातु.
तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन १२५ शा. व.
तस्माल्लिङ्गानि संवीक्ष्य ८६
तस्य कर्णार्धमानेन १६७ कामि.
तस्य दक्षिणतस्तिष्ठेद् २०७ ब्र. पा.
तस्य मध्ये न्यसेद् देवं १९१ स्वाय.
तस्य मध्ये स्थितं १२२ नि. का.
तस्य सन्ध्या च सन्ध्यांशः ६७ सू. सं. १.८.९
तस्य सान्तानिकाश्च २५५
तस्यार्धेन तदर्धेन २९४
तस्यार्धेन हलां कोष्ठ ३४१
तस्याशुद्धस्य संबन्धं ५० कि. वि. १.१६
तस्यैवाधस्तुर्यकं स्यात् २७३ अचि.
तस्योच्यतेऽन्यथा जन्म ३४० सि. शे.
तं मुख्यमूर्ध्वे कुर्वीत १४४
तानप्याविश्य भगवान् ३७ मृ. वि. ४.१०
तानि सम्पूज्य कालान्ते ३३१ कामि.
तानि सम्यक् प्रणीतानि १९१ स्वाय.
तापनाधिश्रयोद्वास १४५ आचा.
ताभिर्द्वाशमात्राभिः ११५
ता भूरधिष्ठितान्यस्यां २२४
ताम्रवर्णं च शत्त्यङ्कं ३३२ सि. शे.
ताराभागकृते भूयः ३६६
तारेण वाऽथ ताम्रेण १७२ शा. व.
तालद्वादशकं ज्ञेयं ११५ स.ज्ञा.
तालद्वादशको ज्ञेयः ३६७ स. ज्ञा.
तालमानं तदर्धं वा ३६३ ज्ञा. र.
तालुनि गन्धसंवित् १०६
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो १०७ सा. का. २३.१०
तालो द्वादशभिर्जानु ११५
तावत् कल्पसहस्राणि ३६७
तावत् तिष्ठेत् कुम्भकेन २४८
तासां माहेश्वरी शक्ति २२, २२९ मृ. वि. ७.११
तिथ्यङ्गुलं समं खातं १६२
तिर्यगूर्ध्वस्थितौ वंशौ ३४०
तिस्रश्च कालिकागर्ते ३३६ सि. शे.
तिस्रः पूर्वाननाः कार्या १४० ज्ञा. र.
तीक्ष्णाग्रोत्पलसंस्थानाः १९५ किर.
तीव्रशक्तिनिपातेन २५, १५३ कि. वि. १.२०
तीव्रा तीव्रतरा चेति ८६
तीव्रा तु जीवतोऽन्या च ८६
तुर्यातीतं लयं शान्तं २७४ ई. गु.
तुर्यावस्थमनन्तं च २२३
तुलायां क्रियते भानोः १५५
तुल्यमासेऽधिमासेऽस्य २९१ मो. शू.
तृतीयं समनान्तं तु २४७
तृतीयांशे चतुर्भक्ते ३२७
ते च लब्ध्वाऽऽगमार्थं २५५
तेजस्तस्मात् सुसम्पूर्णं ६ आ. शा.
तेन चाष्टशतं लिङ्गं ३२९ कालो.
तेन प्रदीपकल्पेन ४४ मृ. वि. १०.५
तेन लिङ्गं परं पूज्यं ३६९ कालो.
तेन शुद्धाध्वभोगस्य ६०
तेन सांवत्सरी पूजा ३०५ कालो.
तेनोक्तं परमेशेन २८० रौ. वि. ३.७
तेऽपि यान्ति हरस्थानं ८८
ते ब्रह्मलोके तु ५ मु. उ. ३.२.६
तेभ्यः प्रदाय परमेश्वर ६० पं. स्त.
ते योग्याः संयताः शुद्धाः ८६
तेषामनन्तः सूक्ष्मश्च ३६ मृ. वि. ४.३
तेषां तल्लिङ्गमौत्सुक्यं ७५ मृ. वि. ५.४
तेषां धूमेन लिङ्गेन २७ मृ. वि. ९.८
तेषां पापापनोदार्थं ३१६ सा. का. २६.८

तेषां शिष्या: सनन्दाद्या २५५
तेषु पूर्वे दश प्रोक्तं २८३ कार.
तेषु भागेन चैकेन ३६५ सि. शे.
तेष्वेव मन्त्रतन्त्राख्यं २८४ कामि.
ते सामान्या न तेषां तु २५६ कामि.
तैरेव रचितं शास्त्रं १०९ कामि.
तैश्चतुर्दशभि: शक्रै ६७
तैश्च भक्त्या सदा कार्यं १५१
तोयमध्ये गते तस्मिन् ३३३ सि. शे.
त्रयोविंशतिसंख्यानि २१९
त्रिकोणं नैर्ऋताशायां १६८ प्र. सं.
त्रिगुणैरुत्तम: काल: ११५ कामि.
त्रिपञ्चदिनमनांहारो २८६
त्रिपदा षट्पदा किन्तु ३४४
त्रिभागवृद्धितो मत्स्यै १६५, १६६ कामि.
त्रिभिर्वर्षसहस्रैस्तु ६७ सू. सं. १.८.९
त्रिमात्रस्तु द्विमात्रस्तु १०७ सा. का. २३.८
त्रिमात्रा कारणं ब्रह्मा १०४ वातु.
त्रिमूर्तिमग्निदेशे तु १९२ स्वाय.
त्रिमेखला तदूर्ध्वं तु १६२ कार.
त्रिवारं पञ्चवारं वा ३३३ सि. शे.
त्रिषूत्तमेषु लिङ्गेषु १५८
त्रिसरं क्षत्रियाणां तु २१२ कामि.
त्रिसूत्रीपरिधानं च १३९ सो. प.
त्रिसूत्रीपरिधानेन १३९ ज्ञा. र.
त्रिंशद्दर्भदलैर्गाढं १७५ कामि.
त्र्यङ्गुलं सुबिलं शात्वा १७२
त्र्यङ्गुले व्यापिनी चाष्टा १०४ वातु.
त्वक् कराविन्द्रिये प्रोक्तौ २२३
त्वक्पार्श्वे चान्तरे वापि १७० कामि., कार.
त्वगस्थिभूषित: कन्द २६१ सि. शे.
त्वग्भागे तद्बिलं प्रोक्तं १७० कामि., कार.
त्वग्भागे बिलमाख्यात १७० कामि., कार.
त्वयाधिकरणं वत्स २५१
दक्षिणं बहुरूपेण २५१
दक्षिणाग्रं वक्रशीर्षं ३३५
दक्षिणामूर्तिरूपं तु २५५
दक्षिणे चोत्तरे चांश १६५ सि. शे.
दक्षिणे तु तथाघोरं १९१ स्वाय.
दण्डस्य परिणाहस्तु १७०
दण्डाकारं भवेद् याम्यं ३३२ सि. शे.
दत्तवान् लिङ्गकोटीनां ३३१ कामि.
दर्पणोदरसंकाशा १६१ सि. शे.
दर्भाग्रेणैव संस्पृश्या १४५ कामि.
दर्भाणामुपरिष्टात्तु १४५ कामि.
दर्शद्वयमतिक्रम्य २८९
दर्शद्वयं भवेद् यत्र २९१ मो. शू.
दर्शयति विषयजातं ४५ त. प्र. ४६
दर्शाद्या अथ मीनाद्या २८७
दर्शावधिं मासमुशन्ति २८८ सि. शे.
दलान्तरेषु सर्वेषु १९२ स्वाय.
दश नाड्य: स्मृता ह्येता: ३४४
दशब्दो मत्स्वरूपं स्यात् ९०
दशहस्तप्रमाणेन १५७
दशह्रासात् समाख्याता २९६
दशापराष्टकं तत्र २८३ कार.
दशाष्टषट्करोत्सेधै १५८
दशाष्टसंख्ययाऽप्यन्यो २७८ कि. वि. १०.१२
दशाष्टसंख्यया रुद्रान् २७८ कि. वि. १०.१२
दशाष्टादशधा भूयो २७७ स्वाय.
दशाष्टादशभेदेन २८४ कामि.
दहेद् योगाग्निना देह ११२
दानक्षपणयोगाद्धि १४९
दार्ढ्यं च निर्दयत्वं च ५१ म. पा. वि. १६.१९
दिवान्धा: प्राणिन: केचिद् १३ दु. श. १.४८
दिव्यं करणमास्थाय २४८
दिव्यैर्द्वादशसाहस्रै ६७ सू. सं. १.८.८
दीक्षया लोकधर्मिण्या १५०

दीक्षाकार्येषु कालेषु १५६ सि. शे.
दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ १५१
दीक्षाङ्गं संस्मृतं नित्यं ३०५ कालो.
दीक्षा चैव प्रतिष्ठा च ७७, ३०३ ष. सा.
दीक्षाज्ञानविहीना ये ८८
दीक्षादि स्थापनं चैव १५५
दीक्षादि स्थापनाद्ये च २९१ मो. शू.
दीक्षापूता गणपति ८७, १४९ रौ.
दीक्षां पूर्वोदितां कृत्वा १५१
दीक्षितस्तूत्तरे काले ३१६ सा. का. २६.६
दीक्षितानाममी देवा ३१७ सो. प. ११८०
दीक्षैव मोक्षदा पुंसां १५४ कालो.
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं ८४ स्वाय. २.२४
दीपवह्निशिखातुल्यः १२३ नि.
दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं च २८३ कार.
दीप्ताख्यस्याप्यचिन्त्यं २७८ कि. वि. १०.४
दीप्तादिसुप्रभेदान्ता २८४ कार.
दीयते ज्ञानसद्भावः १४९
दुर्गेन्द्रस्वापनोत्थाने २९१ स्मृ. शा.
दूरङ्गमं ज्योतिषां ६ मा. सं. ३४.१
दूर्वापुष्पाक्षतानीकं १३३
देवप्रवर्तकं शीघ्र ५५ मृ. वि. १२.७
देवस्य च गुरूणां च ३१६ सा. का. २६.७
देवः सदाशिवः ३५ मृ. वि. १३.१६०
देवानां रक्षणार्थाय ३३९ सि. शे.
देवाम्बुजाष्टकं कुर्या १९७ मृ. क्रि. ८.४८
देवीं प्रतिष्ठां चण्डेशं १७७
देवैरधिष्ठितः शेते ३३९ सि. शे.
देशे सद्येन वामेन १०८ मृ.क्रि. २.७
देहपाते विमोक्षः स्यात् १५१
देहल्यामात्मतत्त्वं तु ३६४ ज्ञा. र.
देहस्थः सकलो ज्ञेयो ९६ सा. का. २३.२
देहोत्तराणिमाद्यर्थं १५०
दैर्घ्यं कुर्वीत पीठानां ३६५ सि. शे.
दैर्घ्यं षोडशधा कुर्या ३२४ सि. शे.
दैर्घ्यं षोडशधा कृत्वा ३२५
दैवाद् रोगात् तथा मोहाद् ७९
द्रव्यमन्त्रक्रियोपेतं ३०५ कालो.
द्रव्यहिंसा न कर्तव्या १२१
द्वयोरनधिकारित्वात् १५२
द्वात्रिंशदङ्गुलसमं १८९ म. पा. क्रि. १.५३
द्वात्रिंशदङ्गुलादूर्ध्वं १८५
द्वात्रिंशदश्रसंयुक्तं ३२३ सि. शे.
द्वात्रिंशांशस्तु दण्डान्तो १०४ वातु.
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं तु १६३ किर.
द्वादश्येव सिता रवौ २८९ प. नि.
द्वाभ्यां चैव तु वक्त्राभ्यां १४३ कालो.
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु सन्धानं १४४
द्वाराणि पद्ममानानि १९५ किर.
द्वारोच्छ्रायान्तरं त्यक्त्वा १५७
द्विधाधिकारि तच्चित्तं ५५ मृ. पा. वि. १८.८१
द्विधाभूते पुनर्गर्भे ३६६
द्विपदाः षट्पदास्ताश्च ३३८ सो. प. १२७१
द्विभागदलमानं १६२ कार.
द्विराषाढविकल्पोऽयं २९० ज्यो. शा.
द्विराषाढः स विज्ञेयो २९० ज्यो. शा.
द्विसप्ततिसहस्राणि २६१
द्विहस्तपीठगर्भस्थं १९१ स्वाय.
द्विहस्तामालिखेद् वीथीं १९१ स्वाय.
द्वे तत्त्वे शान्त्यतीतायां २२४
द्वे द्वे मध्ये प्रकर्तव्ये ३६६
द्वेधा निर्वाणदीक्षा च १५०
द्वे यूके पञ्च लिक्षा ३५५
द्वौ दर्शविकसंक्रान्तौ २९०
द्वौ द्वौ माघादिमासौ २८७ अ. को. १.४.१३
द्व्यङ्गुलान्तरतस्तद्वत् २९७
द्व्यङ्गुष्ठपर्वगोऽङ्गुष्ठ १७४ मृ. क्रि. ६.३५
धनुश्चैव समाख्यातं २८७ नि. का.

धन्या प्राणी विशाला च ३४०
धर्मानुवर्तनादेव २२, २२९ मृ. वि. ७.११
धातुरत्नमयं लिङ्गं ३२०
धातुसिन्दूरजं रक्तं १८४
धात्रीफलप्रमाणं यत् १३६ आ.
धात्री विधात्री देव्यश्च ३६० कामि.
धारिका दीप्तिरत्युग्रा ३६० कामि.
धूननज्वलनप्लाव ५८ मृ. वि. १२.२०
धूम्राभं शत्रुविद्वेषे ३३३ सि. शे.
धैर्येण योजना कार्या २४८
धौतं शुक्लं शुभं २९४ सो. प. ३७५
ध्यात्वा वक्त्राणि पञ्चाग्रे १४४
ध्यायन् विधानमात्मानं २४८
ध्यायेद् देहे शिशोस्तत्र २२३
न गुरुं साधकं चैव ७७ आ.
न जातेर्न शरीरस्य १५४
न तस्य नियमैः कार्यं १५१
न तीर्थक्षेत्रगमनैर्न १५१
न तु व्यापार इत्युक्ता १२ पौ.
न दन्तैः संस्पृशेद् दन्तान् १०४ स. ज्ञा.
नद्यां वा प्रक्षिपेद् ३३३ सि. शे.
न निन्देत् कारणं देवं ७७ आ.
नन्दा भद्रा जया पूर्णा ३४९ ज्ञा. र.
नन्दा भद्रा जया रिक्ता ३४९
नन्दिशान्तिमहाकाल १७७
नपुंसकं भवेद् ब्राह्मं ३२३ सि. शे.
न प्रकाशयितुं शक्ता ७ मो. का. १०६
न बाणलिङ्गे रौहे वा ३५३
नमस्कारस्वधास्वाहा १३३
नमोऽन्तं मूलमुच्चार्य ३०२ ज्ञा. र.
नरेणैकं ततो जप्त्वा १०८ मृ. वि. २.८
नर्मदासम्भवं लिङ्गं ३३१, ३३२, ३३६
नवखण्डं तु नादाख्यं १०९ कामि.
नवग्रन्थौ कृते यद्वा २९७
नवत्रितन्तुना प्रोतं १३६ आ.
नवधा भाजिते क्षेत्रे १६५ सि. शे.
नवनाभं समाख्यातं १८९ म. पा.
नव लिङ्गानि जायन्ते ३६६
नवस्वपि शिलास्वेवं ३५१ सि. शे.
नवहस्तमितं कृत्वा ३१२
नवाङ्गुलोर्ध्वतस्तस्मा २६१ सि. शे.
न विद्या न शिवाचारो ८६
न शरीरस्य संस्कारो १५४ कालो.
न शिवं शिवशास्त्रं च २१४
न शून्यमस्तकं लिङ्गं ७७ आ.
नष्टे चित्ते चिदानन्दं १२५ वातु.
नष्टे चान्द्रे तथा शुक्रे १५५
नहि संकल्पमात्रेण १२ पौ.
नागपाशं तु सावित्री १३६ आ.
नागभक्ते च लिङ्गार्थे ३२५ मो. शू.
नागः कूर्मश्च कृकरो २७३ अचि.
नाडीमूलावृताङ्गा हि १०४ वातु.
नाड्यौ कुहूः शङ्खिनी २२४
नातिस्थूलकृशं शुभ्रं १७८
नादजं प्रणवं विद्धि २२४
नादनाडीसमायोगात् २४५
नादनादान्तशक्तिश्च २९८
नादनादान्तसंज्ञौ च २४६
नादमत्ति परा शक्तिः ६८ मृ. वि. १३.१९२
नादरूपं विनिष्क्रान्तं २७७ पौ.
नादरूपादिकं कार्यं ३९
नादस्तदूर्ध्वगा शक्ति ९२
नादः संभावयेन्मन्त्रं २४८
नादाद् बिन्दुः समुत्पन्नो १०९ कामि.
नादान्ते तु शिवं विद्यात् १०७ सा. का. २३.११
नादेनाधिष्ठितं सर्वं ४२
नादो गुह्यं परं जीवो ९३
नादो बिन्दुः सकलौ ४२ त. प्र. ३१

नादो मन्त्र इति प्रोक्तः १०९ कामि.
नाद्यान्न लङ्घेन्निर्माल्यं ७७ आ.
नाधो यान्ति पुनर्देवि ८८
नानाविधशक्तिमयी ३३, ४८ त. प्र. ४१
नान्यथाऽस्य विनिर्दिष्टं २१ कि. वि. ३.६
नाभसं गेयवाद्याद्यं १३४
नाभिः स्यात् कुण्डमध्ये १६२ कामि.
नाभुक्तं क्षीयते कर्म २५ ना. पु. १.३१.७०
नाभेरूर्ध्वं वितस्त्यन्ते १०४ वातु.
नाभौ वा वह्निना १४१ ज्ञा. र.
नामकर्म च कर्तव्यं १४१
नामजात्यादिसम्बन्ध १२ पौ.
नामावधार्यं विप्रस्य २०७ कामि.
नाम्ना स पौषो माघाद्या २८८ अ. सिं. १.४.१४ क्षे.
नारसिंहं यमं वह्निं २११
नारायणस्तथापीशो ९१
नासंख्यं न परिभ्रान्तं १३७
नासौ लिप्यति पापेन १८९ म. पा.
नित्यकर्मणि शिष्याणां १४४ सि. शे.
नित्यकर्मविधानं तु १४४ कालो.
नित्यं काम्यं साधकस्य ७७ आ.
नित्यं क्रमेण कथितं ७७ आ.
नित्यं क्रमेण कथितं ३०२ कालो.
नित्यं दद्यादहरहो ३१८ कामि.
नित्यं नैमित्तिकं काम्य ७७, २५१, ३१८ कामि.
नित्याङ्गमेव निपुणा ३०६
नित्ये नैमित्तिके काम्ये १८९ म. पा.
नित्ये वाप्यायने वृत्तं १६८ प्र. सं.
नित्योत्सवेन या पूजा ३०५
निद्राधिक्यं मदालस्ये ५१ म. पा. वि. १६.२१
निधिकुम्भाश्च कर्तव्याः ३४९ ज्ञा. र.
निन्दितः श्रावणश्चैत्रः १५५ सि. शे.
निन्दितेष्वपि मासेषु १५६ सि. शे.
निन्द्यान्न लङ्घयेत् तेषां २१४
निपातो भयदो यद्वद् ७५ कि. वि. ५.५
निमित्तमीश्वरस्तेषां ४
नियतिर्नियमनरूपा ३३ त. प्र. ४२
निरीक्षणं च कुण्डस्य १३९ सो. प.
निरोधस्तस्य कर्तव्यो १५४ कालो.
निर्ऋतेः कोणमारभ्य १४३
निर्गुणं साञ्जनातीतं ११७ नि. का.
निर्बीजा त्वसमर्थानां १५१
निर्मलादर्शनप्रख्यः १०५ वातु.
निर्माल्यभोजनं दानं २१४
निर्वर्त्य कल्पयेच्छोभां १९६ मृ. क्रि. ८.५०
निर्विघ्नार्थं स्थण्डिले तु ३६९ कालो.
निर्व्रणाश्च समच्छेदाः १७५ कामि.
निवासमकरोत् तेन ३३९ सि. शे.
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च ४ स्व. त. ४.२४३
निवृत्तिः पृथिवी ज्ञेया ११६ सा. का. ८.६
निवृत्तिः सा कला ज्ञेया २२६
निवृत्तौ पार्थिवं तत्त्व २१७
निशा तावत्यहोरात्र ६८ मृ. वि. १३.१८२
निष्कलं परमं बीजं १३०
निष्कलं परमं मन्त्रं ११० कालो.
निष्कृतिश्च वियोगार्थं २३६
निष्पाद्य त्रितयं चैव ३१३
निष्पीड्योर्ध्वं तु कुर्वीत ८० त्रि. का.
निःश्वासं यद् दशार्णस्य २७८ कि. वि. १०.१४
निःस्पृहः सर्वविषये २६६
नीत्वा त्यक्त्वा मानसं वै २४८
नृणां हिताय नित्याङ्गं ३०२
नृत्तमूर्त्यादिदेहेषु ३७० कामि.
नृसिंहः प्राप्तवान् सोमाद् २८३ कामि.
नेत्रपटमपनीय २०७ क्रि. द्यो.
नेत्रमन्त्रेण बध्नीया २०५

नेत्रं पूर्वदलाग्रे तु १९२ स्वाय.
नेत्रेणाङ्घ्रिस्तु तत्पङ्क्ति ३३२
नैतद् रत्नमये लिङ्गे ३५३
नैति तज्जनकं रागं ४७ मृ. वि. १०.११
नैर्ऋत्यां निर्ऋतिं विष्णुं १७७
नैर्ऋत्यां पीतकृष्णाभं १८९ म. पा.
नैव तत्समयस्थस्य ३१४ ज्ञा. र.
नैष्ठिकी देहपातान्ता १४९
न्यग्भवति कर्तृशक्ति ३१ त. प्र. ३०
न्यग्भवति यत्र शक्ति ३० त. प्र. २९
न्यग्रोधश्च शमी विल्वं १७०
न्यग्रोधस्तस्य पूर्वस्यां १५८
न्यग्रोधो वृक्षक: प्रोक्त २५५
न्यरुन्धत् स्वेन देहेन ३३९ सि. शे.
न्यस्तव्या: शान्त्यतीता १३९ ज्ञा. र.
न्यूनाधिका तु या पूजा ३६९ कालो.
न्यूनाधिकान्यथाकृत्य २३४
पक्वजम्बूफलाकारं ३३१
पक्षत्रयमध:शायी २५२ स्वाय.
पक्षभारसमाक्रान्ता ३४० सि. शे.
पक्षी यक्षीति विज्ञेया ३४०
पञ्चकुण्डमथैकं वा १५८
पञ्चत्रिंशच्च वर्तन्ते २७३ अचि.
पञ्चदश्यां दिनध्वंसे ७७, ३०३ कालो.
पञ्चधा तत्स्थिरं लिङ्गं ३२३ सि. शे.
पञ्चपक्षे तमा मोहा ३६०
पञ्चभागकृतात् क्षेत्राद् १६४
पञ्चमं तु कलाब्रह्म ९ वा. शु. ७.५
पञ्चमं प्रणवेनैव ११९
पञ्चमांशं पुरो नीत्वा १६५ कामि.
पञ्चमूर्त्यात्मके न्यासे ३५८ कामि.
पञ्चमूर्त्यात्मके न्यासे ३६०
पञ्चवक्त्रं चतुर्वक्त्रं ३२९ सि. शे.
पञ्चवर्गमहापीठे १९७ मृ. क्रि. ८.४७
पञ्चविंशतिभेदेन २८४ कामि.
पञ्चाधिकरणो देव: २४३
पञ्चानामपि मूर्तीनां ३६०
पञ्चाभावे तु सर्वत्र ३१७ सो. प. ११८२
पञ्चाशदधिकान्यत्र २१९
पञ्चाहुतिप्रयोगेण १४३ कालो.
पटस्तन्तुगणाद् दृष्ट: २६ मृ. वि. ९.७
पटं वा भित्तिचित्रं वा ३६८
पट्टवल्कलपत्रोत्थं २९४ सो. प. ३७५
पठेदुत्क्रान्तिसमये ८१ कामि.
पत्रिकाभि: प्रसूनैर्वा ३०५ मो. शू.
पदमोङ्कारमारभ्य २२१
पदानि भवमारभ्य २१७
पदानि रविसंख्यानि २२२
पदार्थ: पतिनामाऽसौ ३० म. पा. वि. २.१४
पद्भ्यां निवदयेत् पाद्यं १३३
पद्मनालं नवद्वारं १२२ नि. का.
पद्ममानं चतुर्द्वारं १९३ ष. सा.
पद्माकारं भवेत् कुण्ड १६८ प्र. सं.
पद्माकारं यथा नाभिं १६२ कार.
पद्माङ्कं पद्मवर्णं च ३३३ सि. शे.
पद्मादिषु च नन्दाद्या: ३५०
परमं शाश्वतं नित्यं १३० प. सं.
परमाणुक्रमाद् वृद्ध्यां ३५४ कामि.
परमाणुरिति ख्यातो ३५४ कामि.
परस्परं विशिष्यन्ते ३६ मृ. वि. ४.५
परं तदात्मनो भोग्यं ५२ मृ. वि. १०.२३
परावाहनमेतद्धि १३० प. सं.
परिणामयत्येताश्च २२ मृ. वि. ७.१२
परिहृत्य निषिद्धं च ८१, ३१५ कामि.
परेषां शृण्वतां भाष्यो १३७
पर्यटति कर्मवशतो १०५ त. सं. २४
पवित्रं कारयेद् यस्तु २८६
पवित्रं प्रत्यहं शम्भो ३०५ मो. शू.

पवित्रेण विना पूजा ३०५ कालो.
पशुत्वरुद्धचिच्छक्तेः १६ प. सं.
पशुत्वेन हि भोक्तृत्वं २१ कि. वि. ३.५
पशुभावतिरोभावः २३३
पशूनां भुक्तिमुक्त्यर्थं ८२, २८५ रौ.
पशोः पाशापनोदाय १२३ नि.
पश्चिमद्वारहीनेन ३२९ सि. शे.
पश्चिमं सद्यमन्त्रेण २५१
पश्चिमादीशपर्यन्तं १४३ कालो.
पश्चिमे तु दले सद्यं १९१ स्वाय.
पश्चिमे मण्डलं कृत्वा २०५ मृ. क्रि. ८.५७
पातयेत् सूत्रमार्गेण १९१ स्वाय.
पादयोर्हस्तयोर्घ्राणे ११९
पादाङ्गुलविवृद्ध्या तु ३३१ कामि.
पादोनाष्टांशतो ब्रह्मा ३२४
पाद्यमाचमनं चार्घ्यं १३३
पापभक्षणमन्त्रेण २११
पापापनुत्तये पश्चात् २०५ सि. शे.
पायोश्च द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं २६१ सि. शे.
पारमेशं महातन्त्रं २७८ कि. वि. १०.१४
पार्थिवं गन्धपुष्पाद्यं १३४
पाशविश्लेषवत् कृत्वा २३९
पाशविश्लेषसंछेदौ २३५
पाशाङ्कुशधरां शक्तिं १२६
पाशाह्वयमिदं सूत्रं १७८
पाशैरतिबलो रुद्रो ३३९ सि. शे.
पाश्यादिवृत्तयो यास्तु २१ कि. वि. २.२२
पितृदौवारसुग्रीव ३४५
पितृमार्गानुगा देव १२९
पिलिपिच्छ इति प्रोक्ता ३४५
पीठपिण्डिकया युक्तं ३२०
पीठस्य विधिना योगः १२७, ३१९ व. शि.
पीठं चाब्जदलं त्र्यंश १९७ मृ. क्रि. ८.४८
पीठं माहेश्वरं कुर्यान् १८३ मृ. क्रि. ८.३५
पीठादिपरमाणूनां ३६७
पीडयन्ति स्म तत्काले ३४० सि. शे.
पीतरक्तसितोदग्र १८३ मृ. क्रि. ८.३४
पुनरण्डं समुद्भिद्य ४३, १२६ सा. व.
पुनरस्य भवेल्लिङ्गे ३२७
पुनराभ्राम्य मूलेन १४५ कामि.
पुनश्च नवभिर्भक्ते ३६६
पुरन्दरेशयोर्मध्ये १५८
पुरं मन्थरकालीति २५५
पुरुषाघोरमन्त्राभ्यां १४३ कालो.
पुरुषाघोरवामाजा २१२ कामि.
पुरुषाघोरवामैश्च ३२९ सि. शे.
पुरुषाजातवक्त्राभ्यां ३२९ सि. शे.
पुरुषेणैकवक्त्रं स्याद् ३२९ सि. शे.
पुरुषे षोडशकले ४१ र. त्र. ७८
पुर्यष्टकदेहयुता १४ त. प्र. ११
पुष्कराधः प्रकर्तव्या १७४
पुष्पगिरिमठपतिः २५५
पुष्पपातवशात् तेषां २०७ सि. शे.
पुष्पिणी सुप्रभा चैव २९८
पुष्ययुक्ता पौर्णमासी २८८ अ. सिं.
१.४.१४२ क्षे.
पुंलिङ्गं रुद्रभागं च ३२३ सि. शे.
पुंसा प्राग्वदने चोर्ध्वं १४२
पुंस्तत्त्वं तत एवाभूत् ३३, ४९ मृ. वि. १०.१८
पुंस्त्वमात्मगुणव्यक्तिः २१४
पूजयेत् सूर्यबिम्बस्थं ३६९ कालो.
पूजाकाले समुत्तान ३४० सि. शे.
पूजाङ्गत्वात् प्रकर्तव्यं ३०५ कालो.
पूजाधाराणि वक्ष्यामि ३६९ कालो.
पूजाप्ररोचनं मूर्ध्नि २९५ मृ.
पूजितव्यं गृहस्थेन ३३५
पूतनापापराक्षस्यौ ३४५
पूरकं कुम्भकं कृत्वा २४८

पूरितस्योदरे वायो २६७
पूर्वं च प्रतिषिद्धानि २९१ स्मृ. शा.
पृथिव्यादीनि बीजानि ११६ कार.
पृथ्वी निम्ना पतद्रेखा ३५३ व. प.
पृथ्व्यप्तेजोनिलाकाशान् ३५१ सि. शे.
पृष्ठे कुम्भद्वयोपेत: १७३ कामि.
पौर्णमासीं विना शेषा १५६
प्रकाशकारकत्वाच्च ६ आ. शा.
प्रकाशयत्येकदेशं ४४ मृ. वि. १०.५
प्रकृतित्वादयं बिन्दुः २९
प्रकृतिस्थाशयान् ७० मृ. वि. १३.१८४
प्रकृति: पौरुषी वीरा २९७ सो. प. ३८४
प्रणवश्चन्द्रमा वह्नि २९९ सो. प. ३७६
प्रणवात् त्रिकल: प्राप्त: २७८ कि. वि. १०.७
प्रणवादिनमोऽन्तं २११
प्रणवासनके तत्र २०४ किर.
प्रणाल: स्यात् स विस्तारात् ३५५
प्रणेतुः सर्वादर्शित्वा २८५ मृ. वि. १.११
प्रतिमाशास्त्रमार्गेण ३२९ सि. शे.
प्रतिमासु च सर्वासु ३६१ सि. शे.
प्रतिष्ठादिशुभारम्भं १५५
प्रतिष्ठा पञ्चधा ह्येवं ३१९
प्रतिष्ठा स्थापनं तद्वत् ३१९
प्रत्यक् श्वेतं वदनमरुणं १८६ पं. स्त.
प्रत्यात्मस्थस्वकालान्ता २१ मृ. वि. ७.८
प्रत्याययन्ति क्षेत्रज्ञं ५२ पौ.
प्रत्येकं त्रिविधं ज्ञेयं ३२२ सि. शे.
प्रत्येकं पञ्चवक्त्रा: २८४ कामि.
प्रपूर्वांश्च गुरूनेवं २०३ मृ. क्रि. २.१९
प्रमाणमेकं तद्वाक्यं २८१ म. पा. वि. ३.२०
प्रमादाद् देवतामोहात् ३०२
प्रयोक्तृदेहसापेक्षं ३७ मृ. वि. ४.७
प्रयोक्तॄणामियं प्राय: ४० र. त्र. ७४
प्रलयाकलेषु येषां १४ त. प्र. ११
प्रवेश्य पुष्पक्षेपं तु २०७ कामि.
प्रशान्तं तद्विजानीयात् २४६
प्राक्प्रत्यग्द्वारयुग्माढ्ये ३२९ सि. शे.
प्राक्सूत्रं साधितं कुर्यान् १८० सि. शे.
प्रागग्राण्युत्तराग्राणि ३४०
प्रागङ्गे प्रत्यगङ्गे च १८१ सि. शे.
प्राङ्मुखो वा भजेत् १०८ मृ. क्रि. २.९
प्राणमेवं त्रिधा कालं २४७
प्राणयुक्तं मनश्चैव २७४
प्राणवद् विषुवं ख्यातं २४५
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य ४० र. त्र. ७५
प्राणस्त्वपानो व्यानश्च २७३ अचि.
प्राणापानादयस्ते तु ५३ मृ. वि. ११.२१
प्राणापानौ तथा घ्राणो २१७
प्रातर्निशाकृतं पापं २६८
प्राप्तं तेन न जातेस्तु १५४
प्रायश्चित्तं प्रकर्तव्यं ७९
प्रायश्चित्तमकुर्वाणा ८१, ३१५ कामि.
प्रायश्चित्ताहुतीरष्टौ २३४
प्रारब्धकर्मणां भोगाद् १५२ सि. शे.
प्रारब्धसञ्चितागामि १५२ सि. शे.
प्रार्थयामास पूजार्थं ३३० कामि.
प्राशब्द: स्याच्छिवज्ञानं ९०
प्रासादा जपहंसाश्च २६७ सि. शे.
प्रासादाध्वशिखान्तस्थ २४८
प्रासादाब्जशिखान्तस्थो ९७ सा. का. २२.४
प्रासादे प्राङ्मुखं लिङ्गं ३२९ सि. शे.
प्रासादे स्थापितं लिङ्गं ३२३ सि. शे.
प्रीतेर्विनाशकरणो ५४ सा. का. १०.१२
प्रोक्तं तु यत्समित्तेन १७५ कार.
प्रोक्तं पञ्चविधं श्राद्धं ३१८ कामि.
प्रोक्ष्य ताड्याम्भसा चैनं २०५ मृ. क्रि. ८.५८
प्रोद्गीताद्यष्टतन्त्राणि २८४ कार.
फाल्गुने मार्गशीर्षे च १५५ सि. शे.

बदरायाः प्रमाणं वा १३६ आ.
बन्धनी मोचिनी माया १२९
बवश्च बालवश्चैव १५६
बस्तिर्नाभिरधः ९९ अ. को. २.६.७३
बस्तिश्चतुष्कलापत्र १०४ वातु.
बहिष्करणभावेन ५५ म. पा. वि. १८.८१
बहुरूपेशजिह्वा १४४ कामि.
बाणलिङ्गप्रतिष्ठां तु ३३१ कामि.
बाणलिङ्गं तथा ज्ञेयं ३३१ सि. शे.
बाणलिङ्गं तदा ज्ञेयं ३३३ सि. शे.
बाणलिङ्गेक्षणे वापि २५२
बाणलोहाद्रिलिङ्गानां ३३२
बाणाख्येन च दत्तानि ३३१ सि. शे.
बाणो नामासुरः प्रोक्तः ३३० कामि.
बाधाशून्ये वनादौ वा २६६
बालबालिशवृद्धस्त्री १५१
बालिशो बालको मूढ १५१
बाहुमूलविभेदेन ३१७ सो. प. ११८३
बाह्यतोऽस्त्रगणं दद्या १९५ किर.
बाह्यादापूरणाद् वायोः २६६
बिन्दुजः पुरुषो ज्ञेय १०१ सा. का. २२.९
बिन्दुनादसमायुक्तं १३०
बिन्दुनादं परित्यज्य ८० त्रि. का.
बिन्दुरनाहतादेष ३९ र. त्र. १७३
बिन्दुशक्तिरिति प्रोक्ता २४२ कामि.
बिन्दुं बाणं समारभ्य २९६
बिन्दुः शक्त्या शिवेनैषा ८, ६२ २२७ र. त्र. ११८
बिन्दोरुद्गीर्णपीयूषै १४६
बिलं सुवर्तितं मध्ये १७२ कार.
बिसतन्तुमये चक्रे २६१ सि. शे.
बीजस्योच्चारणं जाग्रं २७४ ई. गु.
बीजे अले तथा नाड्यौ २१७
बीजे उवौ तथा नाड्यौ २१९
बीजे बिन्दुयकाराख्ये २२३
बीजे मरौ तथा नाड्यौ २२१
बुद्धितत्त्वं ततो नाना ५२ मृ. वि. १०.२३
बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कारः १०५, २३५, २३८ सा. का. १७.४
बुद्धिर्यदास्य भोग्या ४६ त. प्र. ४७
बुद्धीन्द्रियान्तको वायु ३५१
बुद्ध्यहङ्कृतितत्त्वे तु ३५० ज्ञा. र.
बुद्ध्यादिकरणानीक ५० कि. वि. १.१७
बुद्ध्यादीनि धरान्तानि ३५१
बुभुक्षुं प्राङ्मुखं स्थाप्य २०४ किर.
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च २५७
ब्रह्मणि स्पर्शशब्दौ तु १०५ सा. का. १७.६
ब्रह्मणो हृदयं स्थानं १०७ सा. का. २३.१०
ब्रह्मत्वाद् व्यापकत्वाच्च ३०२
ब्रह्मरन्ध्रं च संवेष्ट्य २६१ सि. शे.
ब्रह्मविष्णुहरा एव ३४६
ब्रह्माङ्गानां दशांशेन २०९
ब्रह्माणमात्मतत्त्वं च ३५० ज्ञा. र.
ब्रह्माणं च हरिं रुद्र ३५१ सि. शे.
ब्रह्माणं मध्यमेऽभ्यर्च्य ३१४ ज्ञा. र.
ब्रह्माण्डस्य दले शक्ति ४३ आ.
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि ५ याज्ञ.
ब्रह्मादिपञ्चकान् सर्वान् २०३ मृ. क्रि. २.१५
ब्रह्मादीनामधिष्ठाता ३०१
ब्रह्मादीनां च देवानां ३३९ सि. शे.
ब्रह्माऽप्युत्थाय शयना ६८
ब्रह्मार्थास्तिसृभिः सार्ध २३९
ब्रह्मांशं चतुरस्रं ३२३ सि. शे.
ब्रह्मांशं सप्तभागेन ३२४
ब्रह्मेशपर्जन्यजय ३४५
ब्राह्मणः क्षत्रियादीनां २५२
भक्तिश्च शिवभक्तेषु ७५ मृ. वि. ५.५
भक्त्या निवेशनं तत्र १३३

भगवन्नसमर्थोऽयं २१५
भगवाननुगृह्णाति ७६, ८४ व. शि.
भल्लाटश्चैव सोमोऽथो ३४५
भवति गुणत्रयतो ५२ त. प्र. ५२
भवन्त्येतानि लिङ्गानि ७५ मृ. वि. ५.८
भविष्यदपि संरुद्धं ७२ कि. वि. ६.१९
भवेन्निर्बीजिका दीक्षा १५१
भवेशानमहादेवा ३५७ कामि.
भागद्वयपरित्यागात् ३२७
भागद्वयमथैकं वा ३२०
भागमेकं परित्यज्य १८९ म. पा. क्रि. १.५४
भागयुग्मेन कुर्वीत ३५२
भागं समन्ततो जाग्रत् ३२६ मृ.
भाद्रादूर्ध्वं न कुर्वीत २८८
भावयन्ति यतो लिङ्गं ५२ पौ.
भावयन् विन्यसेत् तत्र २१९
भास्वदग्रौ जले शुक्लं ५८ मृ. वि. १२.२८
भुक्तये सृष्टिमार्गेण १३६
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतद् ३३१
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुंसां ११०, ३६९ कालो.
भुक्त्वा भोगान् सुचिर ८७, १४९ रौ.
भुवनानि गुणेष्वष्टौ ९० पौ.
भुवनानि विचित्राणि ३१ र. त्र. १३१
भूगतस्यान्धकस्यापि ३३९ सि. शे.
भूतब्रह्म तृतीयं स्यात् ९ वा. शु. ७.४
भूतान्ता क्ष्माम्बु शब्दान्तं ३५१
भूतिश्च लयहेतुः २३६
भूमिमाशोध्य जान्वन्तात् १५८
भूमिं शुक्लेन रजसा १९१ म. पा.
भूमेर्दशगुणं तोयं ६२ म. पा. वि. २४.४१
भृशोऽन्तरिक्षः सप्तार्चिः ३४५
भोक्तृत्वं प्रतिपाशेऽस्मिन् २३३
भोगबीजकलानाशे २३३
भोगभूमिषु सर्वासु १५०
भोगानप्यपरिम्लाना ३१ र. त्र. १३२
भोगोऽस्य वेदना पुंसः ४६ स्वाय. १.१२
भौतिकी नैष्ठिकी चेति १५० सि. शे.
भौतिको नैष्ठिकस्त्वद्वद् ७९
भ्रमणे स्त्रीवधे वह्निः २११
भ्रमादश्वत्थपत्राङ्गं १६४ कामि.
भ्रातृन् सखीनुपाध्यायान् २०३ मृ. क्रि. २.१९
भ्रुवोरूर्ध्वं बिलं याव १०४ वातु.
भ्रूक्षेपमात्रो यः कालः २४६
भ्रूमध्ये द्व्यङ्गुले दीप १०४ वातु.
भ्रूमध्ये संस्थिते तत्र १२४ वातु.
मकरः कुम्भमीनौ च २८७ नि. का.
मकारश्चक्षुर्दीप्तात्मा ९१ म. नि.
मङ्गलानन्तरारम्भ १६१ अ. को. ३.३.२४७
मण्डपानां तु सर्वेषां १५९
मण्डलं तैजसं रक्तं २२१
मण्डलं पार्थिवं गौरं २१७
मण्डलं वायवं कृष्णं २२३
मण्डले कलशे वह्नौ २१५
मतिस्तेनेतरा ४६ मृ. वि. ११.१५
मत्स्यकूर्मवराहादि ३३३ सि. शे.
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च १७५
मध्यमा कन्यसा ज्ञेया १७०
मध्यमेकाङ्गुलं तत्र २६१ सि. शे.
मध्यमे धरणी प्रोक्ता ३५०
मध्यश्चतुर्भिर्विंशत्या ११५, २६७ स. ज्ञा.
मध्याम्बुजप्रमाणानि १८९ म. क्रि. १.५४
मध्ये तत्कमलं शुक्लं १८९ म. पा.
मध्ये पद्मे शिवः पूज्यो १९९ म. पा.
मध्ये पूर्णशिलां न्यस्त्वा ३५०
मध्ये वृत्तं तु संभाव्य १७२
मननत्राणधर्मित्वान् १०८
मननं सर्ववेदित्वं १०८, १०९
मनः प्रणवसंयुक्त २४० कामि.

मनः सदाशिवे देवे २३५
मनुरवबोधने १०९ तना. १४७२
मनोन्मनीति गौरीति ३७० कामि.
मनोन्मनी स्यान्नवमी २९७ सो. प. ३८५
मनो बिन्दुशिवे त्यत्त्वा १०५, ३३९
सा. का. १७.६
मनो बुद्धिरहङ्कार २७३ अचि.
मन्त्रमुच्चारयन्नक्ष १३७
मन्त्रमूर्तिं शिवं सृष्ट्या १३०
मन्त्रयोनिः परा या तु ४३
मन्त्रैरालभ्य संवेष्ट्य १०८ मृ. क्रि. २.८
मन्त्रोच्चारणवैकल्या २४० कामि.
मन्त्रौ घोरशिवे प्रोक्तौ २२१
मन्दमन्दतरोद्देशात् ८६
मरीचिश्च विवस्वांश्च ३४५
मलमायाविकारौघ २२६
मलमासः स विज्ञेयः २८९
मलादित्रयनाशाय २३५
मले सति भवन्त्येता २१ कि. वि. २.२३
मस्तकाज्जानुपर्यन्तं २९९ ज्ञा. र.
मस्तकात् पादपर्यन्तं २०४ सि. शे.
मस्तकात् पिण्डकान्तं २९५
मस्तके चेशवक्त्रं स्यात् ३२९ सि. शे.
मस्तके पतिते पुष्पे २०७ सि. शे.
महतः परतो ज्ञेयं ६२ म. पा. वि. २४.४२
महाकालो महामाया ९१ म. नि.
महादेवं च भीमं च ३५१ सि. शे.
महामर्म तदित्याहु ३४१
मही तदाद्रयः सर्वे ३४० सि. शे.
महेन्द्रश्च तथादित्यः ३४१
महेश्वरे च नेपाले ३३६ सि. शे.
माघमासादितः कृत्वा २८७ नि. का.
मात्राद्वादशभिर्हीनो ११५ कामि.
मात्राभाकारणाख्यान १०१ सि. र.
माणिक्यं चैव वैडूर्यं २५१
माधवाद्येषु षट्स्वेक २९०
मानसं मनसा कार्यं १३७
मानसं सात्त्विकं विद्याद् १३७
मायाकर्ममलोपेता १७ शा.
माया कलादिपृथ्व्यन्ता १७ व. शि.
मायाकार्यविवेकेन २२६
मार्यागर्भस्थमुद्धृत्य २१४
मायातत्त्वं विषं रुद्र १०४ वातु.
मायातीताणवोऽपि स्युः १६ मृ.
मायादिपुरुषान्तानि २२१
मायान्तानि तु तत्त्वानि ६३ म. पा. वि. २४.४४
माया माया च माया च ४३
मायायां वर्तते चान्ते २५ मृ. वि. ८.५
माया विमोहिनी प्रोक्ता २२६
मायासीमन्तमूर्धानं २१४
मायां विक्षोभ्य कुरुते ३३, ४४ मृ. वि. १०.४
मायां सुविद्येशमसौ ६५ अ. शि.
मायोपरि महामाया ४, ४३
मायोर्ध्वं शुद्धविद्याधो १७, ३६ शा.
माषमात्रादिहस्तान्तं ३३१ कामि.
मासवृद्धौ दिनाधिक्ये ७७, ३०३ कालो.
मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैः २८७ वा.
मिथुनस्थो यदा भानु २९० ज्यो. शा.
मिथुनः कथितः षष्ठो २८७ नि. का.
मिहिरारुणपूषणः २६७ अ. को. १.३.२९
मीनादिमासत्रितये ३४० सि. शे.
मुक्तात्मानोऽपि शिवाः ४, ८२ त. प्र. ६
मुखलिङ्गमिह प्रोक्तं ३२८ सि. शे.
मुखे जाग्रदिति ज्ञेयं २७३ अचि.
मुखे मुखं प्रकर्तव्यं १३६ आ.
मुखेष्वाचमनं तद्वद् १३३
मुच्यते शिवमन्त्रेण २४० कामि.
मुञ्जादिसम्भवं सूत्रं २९४ सो. प. ३७६

मुदं करोति देवानां १३३
मुमुक्षोः सर्वदा दीक्षा १५५ सि. शे.
मूर्तयो वा निवृत्त्याद्याः ३५९
मूर्तिब्रह्म तथा पूर्वं ९ वा. शु. ७.४
मूर्तिः सादाशिवी यत्र ३७० कामि.
मूर्ध्नि चित्तं समाधाय ८० त्रि. का.
मूलमन्त्रमतिस्पष्टं १४६
मूलमन्त्रं गृणन् कर्णे २०८
मूलमन्त्रं त्रिशूलेन २४५, २४८
मूलं मायान्तमुच्चार्य ३०१ सो. प. ४५९
मूलं लयान्तमुच्चार्य ३०१
मूलं स्रुक्स्रुवयोर्दण्डे १७० कामि., कार.
मूलात् कुण्डलिनीनिवास ९४
मूलालवालकुहरा २६१
मूलेनारोप्य देवस्य १३२
मूले मध्ये तथोर्ध्वे च ३२३ सि. शे.
मेढ्रोर्ध्वे कन्दनाभिश्च २४५
मेधादिकार्काख्यकलासु ९७
मेरुहीनाऽक्षमाला तु १३६
मेरुं न लङ्घयेन्मन्त्री १३६
मेषादिस्थे सवितरि २८८ ज्यो. सं.
मोदनाद् द्रावणाच्चैव १३३
मोहादज्ञानतो वापि २८६
मौनी त्रिषवणस्नायी २५२ स्वाय.
मौलौ बीजाङ्कुराकारां १२६, ३४७
यजनं द्विविधं प्रोक्तं १२१
यजनं श्रेष्ठमेतेभ्यो १२५ शा. व.
यज्ञस्य रक्षकत्वेन २४३
यतस्तस्मात् पुरा १२१
यतः परां भावनिष्ठां १५१
यत्तदाढ्यं समाख्यातं ३२९ कालो.
यत्तदूहं मतिः पुंसां ५४ मृ. वि. ११.२२
यत्र गत्वा न जायेत ८० त्रि. का.
यत्र ब्रह्मशिलामध्ये ३१९
यत्र रौद्रपदे योगो ८७ व. शि.
यत्र शक्तिर्न पतिता ८६
यथाग्नेर्दाहिका शक्ति २० कि. वि. २.२९
यथा तीव्रतरस्तीव्रो ८६
यथाऽनादिर्मलस्तस्य २४ कि. वि. ३.७
यथा पुमान् विभुर्नित्यो ७४ कि. वि. ५.३
यथा राजाङ्गभोगार्थ १२१
यथा लिङ्गशिरः प्रोक्तं ३५३
यथा विलक्षणं चक्षुः २३ कामि.
यथा शिवस्तथा विद्या ७६
यथाऽस्मिन् न निमित्तं २० कि. वि. २.५
यथोद्दिष्टपवित्राणा २९७ सो. प. ३८७
यदव्यक्तमुहूर्तेन ३३३ सि. शे.
यदाकाराणि कुण्डानि १६२
यदा कुण्डलिनी शक्ति ३९
यदा तु निर्वृतिः सद्य ८६
यदाप्तवाक्यमकरो ८२, २८५ रौ.
यदारम्भे सदा पूजां ३६९ कालो.
यदा स्वरूपविज्ञानं ७५ मृ. वि. ५.८
यदि जातेस्तदैकस्मिन् १५४
यदिन्धनाग्निसंयोगात् ६ आ. शा.
यदेतत् कर्म देवेश २४ कि. वि. ३.६
यदोन्मीलनमादत्ते २२ मृ. वि. ७.१२
यद्यनादि न संसिद्धं २४ कि. वि. ३.७
यद्यप्यस्ति सदेशस्य ३६८
यद्वत् ताम्रे क्षयस्तद्वत् २१ कि. वि. २.३१
यद्वा पञ्चसरं तेषां २१२ कामि.
यद्वा मूर्तिषु ताश्चैव ३५८ ज्ञा. र.
यद्वा विपर्ययेणैव २०९
यद्वेशानादिभिः पश्चात् १४३, १४४
ययाऽत्यन्तं विरक्तानां १५२ सि. शे.
ययाऽऽदौ पार्थिवे तत्त्वे २२६
यया व्यामोहितं सर्वं ३६६ मो. शू.
यवगोधूमजैश्चूर्णैः १८४

यवर्गादष्टमं बीजं १०२
यस्मात् प्रवर्तते सृष्टिः ३९
यस्मिन् राशौ स्थितो २८७ नि. का.
यस्मिंश्च लीयते भूय ३९
यस्यां दिशि भवेद् द्वारं १३२
यस्यां दृष्टस्वरूपाया ४१ र. त्र. ७७
यः प्रसरस्तं प्राहुः ३० त. प्र. २८
याज्ञीयवृक्षजा बाहु १७५ मृ. क्रि. ६.५०
याज्ञीयवृक्षजाः शस्ता १७६ कामि.
यादिहान्ता विना रेफं १४४
यान्ति बालादयः सेयं १५२ सि. शे.
याम्ये तन्मारणे शस्त १६५ सि. शे.
यावत् सदाशिवं तत्त्वं ६३ म. पा. वि. २४.४४
यावदेतैर्न मुच्येत १०५ सा. का. १७.५
यावन्तं घटिकामार्गं ८० त्रि. का.
यावन्नो वीक्षते शम्भु १६ मृ.
याऽसौ तदनपेक्षित्वा १४९
युक्तचित्तस्तथात्मानं ५ याज्ञ.
युगह्रासात् समाख्याता २९६
ये चात्र शुद्धभुवनो ६० पं. स्त.
येन सर्वफलावाप्ति ३३६ मो. शू.
येभ्यः सर्वमिदं येषां ३७ मृ. वि. ४.१०
येषां चिद्धर्मकाद्धेतो २७ मृ. वि. ९.८
येषां शरीरिणां शक्तिः ७५ मृ. वि. ५.४
योगपट्टाक्षसूत्रं २५२ स्वाय.
योगपादकृताभ्यास ७५
योगश्च प्रीतिरायुष्मान् १५६
योगिनां वा स्वमूर्तौ तु ३६९ कालो.
योगिभिस्तत्क्रियालिङ्गं २६९ कालो.
यो गुरुः स शिवः प्रोक्तः ७६
योग्यः स्यात् सर्ववर्णानां २५२
योग्यः स्यादैश्वरं रौद्रं २१५ कामि.
योजकः स महेशानः १६ प. सं.
योनिः पूर्वमुखाऽन्येषु १६३ सि. शे.
योनौ तु बीजवत् क्षिप्त्वा १४१ ष. सा.
योनौ योनिर्न कर्तव्या १६३ कार.
योऽन्यत्र कुरुते मोहात् ८६
यो यत्राभिलषेद् भोगान् १०९ स्वाय.
यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्ट ३७
रक्तपीतं पश्चिमतः १८४
रक्तेन रजसा कृत्वा ३१४ ज्ञा. र.
रक्षाकुण्ठनशोध्यं च १४५ आचा.
रजोभिः पूरयेत् १८९ म. पा. वि. १.५५
रजो रेण्वश्वबालाग्रं ३५५ कामि.
रज्जवोऽष्टौ सकोणस्था ३३८ सि. शे.
रज्जूर्ध्वं रज्जुवंशोर्ध्वं ३४१
रणभद्राधिपः प्रोक्तः २५५
रत्नजे लोहजे लक्ष्म ३५३
रत्नजे स्थण्डिले बाणे २९७ सो. प. ३८६
रन्ध्रमध्ये भगाकार ३५५
रन्ध्रस्यैव विभागेन ३५५
रवीन्दुग्रहणे चैव ७७, ३०३ कालो.
रवौ मेषगते दर्श २९०
रसना वैष्णवी रौद्री २३८
रसभक्ते सपादैक ३२६
रसश्च विषयः शब्द २१९
रागतत्त्वे स्थिता ह्येते ३४ आ.
रागान्तं क्ष्माऽम्बु कालान्तं ३५७ व. प.
रागान्तं शिवतत्त्वं तु ३५६ ज्ञा. र.
रागो हि रञ्जकत्वेन ५० कि. वि. १.१७
राजचोरभयालस्य ३०२
राजसाः प्रतिपत्तव्या ५१ म. पा. वि. १६.२०
राजेन्द्रचोल इत्याख्य २५८
राज्ये स्यात् सर्वतोभद्रा १६१ सि. शे.
रात्रौ वा तत्कुबेरस्य ३३३ सि. शे.
रामो रामश्च रामश्च १७५
रुजं द्रावयते यस्मात् ३०२
रुद्रभागे त्रिधा भक्ते ३५२, ३५३ व. प.

रुद्रमन्त्रपतीशान १७, ७६ मृ. वि. ५.३
रुद्रवद् रुद्रभागं तु ३२९ कालो.
रुद्रशक्तिबलाद् भूयो ६८
रुद्रशक्त्यग्रतो ध्यायेत् ८० त्रि. का.
रुद्रस्यानादिसंज्ञस्य २७८ कि. वि. १०.१३
रुद्रं चातिबलं नाम ३३९ सि. शे.
रुद्राक्षजं महाभूत्यै १३६ आ.
रुद्राह्वयश्च नागश्च ३१७ सो. प. ११७९
रुद्रांशापादानं चैव २१२ कामि.
रुद्रोऽथ रुद्रदासश्च ३४५
रुद्रोऽनन्तश्च कथितौ ३१७ कामि.
रूपगन्धौ त्यजेद् रुद्रे १०५, १७६, २३५, २३९ सा. का. १७.६
रूपं च विषयः शब्दः २२१
रूपं त्रिषु रसोऽम्भस्सु ५८ मृ. वि. १२.२८
रेखात्रयमुदक् कुर्या १३९ म. पा.
रेखापृथुत्वं साङ्घ्रीके ३५५
रेखाभिः कारयेन्मन्त्री १९१ म. पा.
रेखाभ्रमणसंबन्धं ३५३
रेचकश्चैवमाख्यातः ११५
रेचकेन बहिर्नीत्वा १४१ ज्ञा. र.
रेचयेदुदरात् सम्यग् २६७
रेवती मृगशीर्षं च १५६
रैवतश्चाक्षुषश्चैव २५७
रोगाभिवृद्धिसंयुक्तः २८८ ष. सा.
रोच्यभावा इमे प्रोक्ता २५७
रौरवान्मुखबिम्बान्ताः २८४, कार.
लक्षकोटिभिरुच्छ्रायं २२३
लक्षणं चतुरस्रस्य १८० सि. शे.
लक्षद्वयमघोरस्य २८९, ३०४
लक्ष्म क्षेत्रार्धमानेन ३५३
लक्ष्मक्षेत्रेऽष्टधा भक्ते ३५३
लक्ष्मरेखासमायुक्ता ३२९ कालो.
लक्ष्मार्धे पक्षरेखे द्वे ३५३ व. प.
लक्ष्मीर्यशोवती कान्ता ३४०
लघु वा कपिलं स्थूलं ३३५
लयभोगाधिकाराख्य ३० म. पा. वि. २.१४
लयं कुर्यात् परे तत्त्वे १५१
लयं याति तमःप्राप्ते ६७
लाजचन्दनसिद्धार्थ १७८
लिङ्गपश्चिमभागे तु ३२९ सि. शे.
लिङ्गमस्तकविस्तृत्या २९५ ज्ञा. र.
लिङ्गमित्युच्यते तत्र ३६९ कालो.
लिङ्गमूर्ध्नि परीणाहे २९४ ष. सा.
लिङ्गलक्ष्मसमीपस्थं ३५४
लिङ्गस्योत्सेधमानार्ध ३२५ कार.
लिङ्गस्योपरिभागं च ३२८ सि. शे.
लिङ्गं तत्पञ्चधा कृत्वा ३२०
लिङ्गं तत् सर्वकामार्थं ३३३ सि. शे.
लिङ्गं त्रिविधमाख्यातं ३६८
लिङ्गाद्रौ कालिकागर्ते ३३१ कामि.
लिङ्गाद्रौ कोटयस्तिस्र ३३६ सि. शे.
लिङ्गायामजिनांशे तु ३५३ व. प.
लिङ्गायामं त्रिधा कृत्वा ३२४ कामि.
लिङ्गायामार्जनं कृत्वा ३२३
लिङ्गे च कर्णिकां दृष्ट्वा ३३५
लिङ्ग्यते चिह्न्यते येन ३६९ कालो.
लीयन्ते यत्र भूतानि ३६९ कालो.
लोकत्रयस्थितिरियं ६७
लोकधर्मिणमारोप्य १५१
लोकपालाणुभिर्न्यस्त्वा ३५०
लोकभर्तृषु तद्धाम्नः १९७ मृ. क्रि. ८.५०
लोकेशाः स्वस्तिके पूज्याः १९५ किर.
लोहजं दारुजं वापि ३६३
लोहादौ नियमो नास्ति २९४, २९७
लौकिकं वैदिकं चैव २८४ कामि.
लौकिके ब्रह्मविष्ण्वीशा ३१७ सो. प. ११८१
वक्त्राणामभिघारोऽग्नेः १४२

वक्त्राभिघारसन्धाने १४३, १४४ कालो.
वक्त्राभिघारः कथितो १४३ कालो.
वचनादानगमन २७३ अचि.
वज्रं षट्सूत्रसंयोगात् ३४१
वज्रीकरणमस्त्रेण १३९ सो. प.
वज्रीकरणमस्त्रेण १४० ज्ञा. र.
वधे स्फुटति बालस्य २११
वरीयान् परिघः सिद्धो १५६
वर्गद्वयमनन्तस्य १९२ स्वाय.
वर्षाः शरच्च हेमन्तो २८७ आ. सं.
वसन्ताद्यृतवो द्वेधा २८७
वसुधाद्यस्तत्त्वगणः १४, १०५ त. सं. २४
वसुभागकृते गर्भे ३६६
वसुभागे गुणात्मांशे ३६६
वस्तुस्वरूपमात्रस्य १२ पौ.
वंशद्वयं यथापूर्वं ३४४
वंशरज्ज्वात्मकं सूत्रं ३४१
वाक्पाणी पादपायू २७३ अचि.
वाक्शक्तिभेदौ द्वौ १४, ४१ कालो.
वागिन्द्रियसहायेन ५५ मृ. वि. ११.२६
वाच्यवाचकताहीनं १३० प. सं.
वामदेवोऽथ भीमश्चा ३४ आ.
वामाङ्गभागे वैश्यस्तु २०७ ब्र. पा.
वामा ज्येष्ठा क्रिया ज्ञानी ३६०
वामादिशक्तिभिर्युक्तं ३६ मृ. वि. ४.२
वामादिशक्तिभिर्युक्तः ३२ रौ. वि. १.६
वामेनोदङ्मुखे हुत्वा १४२
वायव्यं चामरं धूपं १३४
वायव्यं धूम्रवर्णं ३३३ सि. शे.
वायव्यां कवचं तद्वद् १९२ स्वाय.
वायुरीश्वरपर्यन्तं ३५७ व. प.
वायुव्योमहुताशाम्बु ५९ मृ. वि. १२.२१
वायुं गणेशं क्षेत्रेशं १७७
वारुणं वर्तुलाकारं ३३३ सि. शे.
वास्तुबाह्ये क्रमाद् दिक्षु ३४२
वास्तोर्बाह्ये चरक्याद्याः ३४१
विकल्पयोगायोगाभ्यां १२ पौ.
विकृतौ व्यक्तिरूपाणि २७ मृ. वि. ९.१३
विक्षेपायैव विच्छेदो २३६
विचित्ररचनायुक्ता ३४९
विजयं च विमानं च ३२७
विजयं चैव निश्वासं २८३ कार.
विजयाद्याश्च वीरान्ता २८४ कार.
विजया मङ्गलाख्या च ३४९ ज्ञा. र.
विज्ञानाकल इत्यास्ते १७ शा.
विज्ञानाकलकस्यापि १५३
विज्ञेयं लौकिकं कालं २८७ नि. का.
वितर्किणी तथा सौम्या २९८
वितस्तिमात्रं हृदयं १२२ नि. का.
विदधाति शिवः शक्ते ३१ र. त्र. १३२
विदध्यादस्त्रमन्त्रेण १३९ सो. प.
विदित्वा चैव कालादिं १५५ सि. शे.
विदुषां च समर्थानां १५१ व. शि.
विद्धि भुक्तिप्रदं बाणं ३३५
विद्यातत्त्वं च विष्णुं च ३५० ज्ञा. र.
विद्यातत्त्वे च विद्यान्ते ३०१ सो. प. ४६०
विद्यातत्त्वे सदाचार्यो २४२ कामि.
विद्यात्मकपरीणाहं २९४ ष. सा.
विद्यादुकारजं वाम १०१ सा. का. २२.८
विद्यापादार्थकुशलः ७५
विद्यापीठं कोटिमात्रं ३६९ कालो.
विद्यापीठे तु यागान्ते ३६९ कालो.
विद्यामत्ति सदातत्त्वं ६८ मृ. वि. १३.१९१
विद्यामूर्तिः शिवस्यैषा १९२ स्वाय.
विद्याराजाधिराजेशो ३२ रौ. वि. १.६
विद्या व्यक्ताणुचिच्छक्ति ४६ मृ. वि. ११.१४
विद्याशक्तिशिवप्राप्तं ३५६ कामि.
विद्या शान्तिस्तथाप्यूर्ध्वे ४ स्व. त. ४.२४४

विद्याशिवात्मकं तस्मा २९५ ज्ञा. र.
विद्यां तेजो विजानीयाद् ११६ सा. का. ८.६
विद्यां भृङ्गिगणेशौ च १७७
विद्येयं करणं स्याद् ४६ त. प्र. ४७
विद्येशाष्टदलैर्युक्तं १२६
विद्येशाः पुनरीशे ४२ त. प्र. ३१
विद्येश्वरं गणेशानं २१५
विधिना स्थापितं लिङ्गं ३६६ मो. शू.
विधिवैकल्यशुद्ध्यर्थं २४० कालो.
विनिर्दिष्टं बुभुक्षूणां ३०१ सो. प. ४६३
विन्यसेद् भुवनान्यत्र २२१
विन्यसेद् विग्रहे ज्ञानी ३७०
विन्यस्य तत्प्रमाणेन १६७ कामि.
विन्यस्याथ सदेशान्तं ३६४ ज्ञा. र.
विप्रकृष्टं बुद्धिदेवानां ५७ शा. व.
विप्रराजन्यवैश्यानां २०८ सि. शे.
विप्रादयस्त्रयो वर्णा २५२
विभक्तिर्नैव विद्येत ९४, १०२ स्व. त. ४.३५०
विभज्य पाणिगं पूर्व १०८ मृ. वि. २.९०
विभज्य सप्तभिर्भागै १८९ म. पा. क्रि. १.५३
विभाज्यमथ सिद्ध्यर्थं ३२६ मृ.
विभिन्नां पूजयेत् देवीं १९२ स्वाय.
विभोरपि मलस्यास्य २० कि. वि. २.२८
विमलं विपुलं नाम ३२७
विरजा विभवा चैता ३४०
विरुद्धं चेत् परित्याज्यं ७९ कामि.
विलयोऽव्यक्तपर्यन्तं ६८ मृ. वि. १३.१८३
विवक्षायत्नपूर्वेण ५५ मृ. वि. ११.२६
विवाहे श्रीधरा वेदी १६१ सि. शे.
विशिष्टात्मगुणप्राया १४९
विशुद्धः स्फटिकः कस्मात् २० कि. वि. २.५
विशेषतः स्वयंसिद्धं २६८
विशेषाच्छिवमन्त्रं च ८१ कामि.
विश्लेषार्थं ताडनं स्याद् २३६
विश्वानर्थान् स्वेन ८२ मृ. वि. २.२९
विषमत्वेन कार्याणि ३२९ कालो.
विषमात्रसमुद्भूतो ३४० सि. शे.
विषयानियमादेकं १२ मृ. वि. ३.५
विषयो गन्ध एवैकः २१७
विषुवे ह्ययनद्वन्द्वे १५६ सि. शे.
विष्कम्भः पञ्चभागः ३२५ कार.
विष्ठागन्धे स भूहर्ता २११
विष्णुक्रान्ता बला मोटा २५१ मृ. क्रि. ८.१९०
विष्णुः प्रभवशीलत्वात् ३०२
विष्वंशस्तद्वदेव ३२४ कामि.
विस्तारनाहमानं तु ३३१ कामि.
विस्तारं चतुरश्रं ३२५
विस्पष्टस्तामसः प्रोक्त १३७
विंशत्यङ्गुलमायामो १७०
विंशत्या मध्यमेषूक्त १५८
वीक्षणादिचतस्त्रश्च १४५ आचा.
वीक्षणादिसमायुक्तो १५९
वीथीमुखार्धनिर्वृत्त १९१ स्वाय.
वीथी मुखाष्टविच्छेद १९१ स्वाय.
वीथ्यर्धेन च यत्कार्यं १९५ किर.
वीथ्यर्धेन पृथक्कार्यं १९१ स्वाय.
वीरं च रौरवं चैव २८३ कार.
वीरं सिंहासनं कूर्मं २६६ सि. शे.
वृक्षदक्षाङ्गसंभूतः १७० कामि., कार.
वृक्षसारं समादाय १७० कामि., कार.
वृत्तकुण्डं पुरा कृत्वा १६७ कामि.
वृत्तवत् कलशो ज्ञेयो १७१
वृत्तं प्रधानमेवं स्याच् १६८ कामि.
वृत्तं षडश्रकुण्डं च १५८
वृत्तार्धादिचतुर्णां तु १०४ वातु.
वृत्तार्धोऽर्धशशिज्योति १०४ वातु.
वृत्तिः प्रणयनं नाम ५४ मृ. वि. ११.२२

वृथा परिश्रमस्तस्य १२१
वृद्धिश्राद्धं विवाहादा ३१८ कामि.
वृषं निवृत्तिं स्कन्दं च १७७
वेणिका वर्तुला वापि १७५ कामि.
वेदभक्तेऽब्जकर्णार्धे १८२ मृ. क्रि. ८.२८
वेदवृत्तादिपृथुता १७२, १७३ मृ. क्रि. ६.३८
वेदाध्ययनकादौ च ७८ कामि.
वेदाध्ययनसंस्कारे ७८ कामि.
वेदान्तसांख्यसदसत् २८५ मृ. वि. २..१०
वेदान्तविज्ञान ५ मु. उ. ३.२६
वेदाश्रकशशाङ्कार्ध १६८ कामि.
वेदाश्रं योजनानां च २१७
वेदिकायास्त्वधः पद्मं १७३
वेदिकायास्त्रिभागेन १७२
वेदिपृष्ठं प्रकर्तव्यं १७३ शा. व.
वेदीग्रीवामुखांशेषु २४३ मृ. क्रि. ८.१३१
वेदी चतुर्विधा तत्र १६१ सि. शे.
वेद्यर्धसंमिता शस्ता १७१ मृ.
वेष्टयित्वा त्रिधा जानु २६७ सि. शे.
वैकल्पिको जानुगला २६१ क्रि. द्यो.
वैखरी मध्यमाभिख्या ४० र. त्र. ७२
वैदिकीं च पुरा कृत्वा ७९
वैशाखाद्यन्यमासेषु २९०
वैश्यः शूद्रस्य दीक्षायां २५२
वैष्णवं चैव कौमार ९० पौ.
व्यक्तये च शिवत्वस्य २७७ स्वाय. १.२
व्यक्तं कुर्याद् विशेषेण १३० प. सं.
व्यक्तं तत्सकलं ज्ञेय ३६९ कालो.
व्यक्ताव्यक्ते च वेदिस्पृग् २९७
व्यग्रादिदोषदुष्टं ३२०
व्याख्यानादौ च शस्तः २५२
व्याननागौ तथा वायू २२१
व्यानो विनमयत्यङ्गं ५.४ सा. का. १०.१२
व्यानो विमननात् ५४ मृ. वि. ११.२५
व्यापकं सर्वतत्त्वाना १३० प. सं.
व्यापको भुवनादीना ८, २२७ र. त्र. ११८
व्यापिन् व्यापिन् पदा २१९
व्यापिनी व्योमरूपा च २४२ कामि.
व्यासत्र्यंशेन नालं स्यात् ३३२
व्यासात् खातः करः १६२
व्यूहोऽवकाशदानं च ५९ मृ. वि. १२.२१
व्योमप्रभञ्जनाग्न्यम्बु ५८ मृ. वि. १२.१९
व्योमव्यापिनमारभ्य २२२
व्योमव्यापिपदान्यष्टा २१७ व. प.
व्योमान्ता मूर्तयश्चाष्टौ ३५१ सि. शे.
व्योमान्ता मूर्तयश्चाष्टौ ३५७ कामि.
शक्तयस्ताः पराशक्तेः २२६
शक्तिपाताद् भवेद् दीक्षा ८४
शक्तिपातानुसारेण ८६
शक्तिमध्यगतो नादः २४६
शक्तिव्यापृतिभेदा ३० त. प्र. ३३
शक्तिश्च व्यापिनी चैव ६ स्व. त. ४.२५६
शक्तिश्च व्यापिनी चैव ९३
शक्तिं च द्वादशान्तं च २४५
शक्तिं त्यक्त्वा व्रजेदन्तः ८० त्रि. का.
शक्तिं बिन्दुमपीत्यत्र २३५
शक्तिः क्रिया च या शक्र ३६६ मो. शू.
शक्तेर्नादो भवेद्बिन्दु ३९, ९१ मृ. क्रि. १.२
शक्तोऽयं शक्तयो यस्माद् १२ पौ.
शक्त्यन्तं शिवतत्त्वं च ३५६ ज्ञा. र.
शत्त्याकृत्योः कलाव्याप्ति १०१ सि. र.
शत्त्याक्रम्य जगत्सूक्ष्मं ७० मृ. वि. १३.१८३
शत्त्यादिशक्तिपर्यन्त १२६
शत्त्यादीनां वपुश्चोर्ध्वं १०५ वातु.
शत्त्या या क्रियते दीक्षा १७
शक्रकोपात् समुद्भूतो ३३९ सि. शे.
शङ्खचक्रगदापद्म ३३३ सि. शे.
शङ्खपुष्पी बला बीजा २५१ मृ. क्रि. ८.१८९

शतमष्टोत्तरं जप्त्वा १३७
शतमष्टोत्तरं हुत्वा २४० कामि.
शतं च स्वग्निकावस्थं २१९
शताह्वा शाबरी दूर्वा २५१ मृ. क्रि. ८.१९०
शतेनाष्टोत्तरेण १३६ आ.
शतोत्तरगुणानि स्युः ६३ म. पा. वि. २४.४३
शनैः शनैः समाकृष्य ८० त्रि. का.
शफरस्य मुखे पृष्ठे १८१ सि. शे.
शब्दचित्तमनीषान्तं ३५६ कामि.
शब्दचित्तसदेशान्तं ३६१
शब्दराशिश्च बिन्दूत्थो ३९ र. त्र. १७२
शब्दस्पर्शौ ब्रह्मणि च २३५, २३९ सा. का. १७.६
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च १०५, २३५, २३८ सा. का. १७.४
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च २७३ अचि.
शब्दादिवचनादीनि २७३ अचि.
शब्दादीनां ग्रहणं ५६ त. प्र. ५८
शब्दाद्येकोत्तरगुण ५८ मृ. वि. १२.१९
शब्दार्थत्वाच्छ्रुतौ वाणी २३९
शब्दा वाय्वादिषु व्योम्नि ५८ मृ. वि. १२.२०
शम्भुः पुरुषो माया ७२ त. नि. ३
शरण्योऽसौ भवत् तेन ३३९ सि. शे.
शरत्काले च वैशाखे १५५ सि. शे.
शर्वं पशुपतिं चोग्रं ३५१ सि. शे.
शर्वः पशुपतिश्चोग्रो ३५७ कामि.
शर्वेशानैकवीरौ ३४ आ.
शशाङ्का सुप्रभा १२९
शशिनी चोर्ध्वमूला स्यात् ११८ क्रि. द्यो.
शशिनी शाकिनी लक्ष्मीः २९८
शशिमासं च सौरं च २८८
शान्तिर्यशोवती कान्ता ३४४
शान्त्यतीतकलां शक्तिं २४० कामि.
शान्त्यतीता कलाद्वैत २२६
शान्त्यतीता भवेद् व्योम ११६ सा. का. ८.७
शान्त्यादिभुवनात्मा यः २९
शार्वं नयति या धाम १४९
शिखण्डार्धेन्दुमारं २११
शिखण्डिनं च वायव्ये १९२ स्वाय.
शिखाखण्डनसंयुक्ता १५०
शिखाच्छेदविहीनस्य ८७
शिखाच्छेदसमायुक्ता १५०
शिखाच्छेदं विना यत्र १५१
शिखाच्छेदो न यत्रास्ति ८६, १५० व. शि.
शिखामारभ्य फालान्तं २२४
शिखायां तु शिखां रक्तां १३२
शिरसि स्फुटिते बाणे ३३५
शिरस्कन्धविभागेन ३१७ सो. प. ११८२
शिरोवर्तनमित्युक्तं ३२९ सि. शे.
शिलान्यासः प्रकर्तव्यः ३४९ ज्ञा. र.
शिलामृल्लोहसद्वृक्ष ३३२ कामि.
शिलास्तेषु च नन्दाद्याः ३५०
शिव एवावतिष्ठन्ते १२ पौ.
शिवतत्त्वमुपस्थाप्य २४० कामि.
शिवतत्त्वं तदेवोक्तं २९
शिवत्वव्यक्तिः संपूर्णा २५ कि. वि. १.२२
शिवधर्मिणमाशोध्य १५१
शिवधर्मिण्यणोर्मूलं ७९, १५०
शिवमन्त्रेशमन्त्राभ्यां १४३ कालो.
शिवरागानुरागात्मा २२६
शिवविद्यागुरूणां च ७६
शिवविद्यात्मतत्त्वं ३४६
शिवशक्तिमयं प्रान्ते २९७
शिवशक्तिसदेशान्तं ३५६ कामि.
शिवशास्त्रपरो नित्यं ७५
शिवश्च तत्त्वमित्युक्तो १० वा. शु. १.३८
शिवश्राद्धविधिं वक्ष्ये ३१६
शिवसृष्टिसमोपेता २५६ कामि.

शिवसृष्टिं विना ये तु २५६ कामि.
शिवसृष्ट्यन्विता एते २५६ कामि.
शिवस्तत्संख्ययैवेह २७८ कि. वि. १०.१३
शिवं तं तु विजानीयात् ९४ सा. का. १.११
शिवं यान्ति ततश्चोर्ध्वं ८८
शिवं शक्त्यादिभिः सार्धं ७ मो. का. १११
शिवः संकल्पमात्रेण १२ पौ.
शिवः स्वसंज्ञसूत्रेण ३१७
शिवाख्यं शुद्धविद्यान्तं ३५६ ज्ञा. र.
शिवागमोक्तं यज्ज्ञानं ८२, २८५ वा. सं. २.७.३८
शिवाग्निगुरुपूजा च ७७, २१४ आ.
शिवाग्निना दहेद् देहं ३१४ ज्ञा. र.
शिवाग्निर्जायते तेन १४२
शिवाज्ञप्तेन भूतेन ३३९ सि. शे.
शिवान्तकं द्विजेन्द्राणा २०८ मृ. क्रि. ८.६१
शिवान्तं मन्त्रमुच्चार्य ३०१ सो. प. ४६१
शिवान्ते शिवतत्त्वे च ३०१ सो. प. ४६१
शिवार्कशक्तिदीधित्या ७ मो. का. १११
शिवाश्रितानां कारुण्या ८२, २८५ वा. सं. २.७.३९
शिवे षड्गुणसम्पूर्णे २४८
शिवेष्टमन्त्रभृन्नुन्न ७० मृ. वि. १३. १८५
शिवैकवर्णतां ध्याये १३२
शिवो वा स्थण्डिले पूज्यो ३६९ कालो.
शिशिरश्च वसन्तश्च २८७ आ. सं.
शिशिराद्यैस्त्रिभिस्तैस्तु २८७ वा.
शिशुं तत्रैव संस्थाप्य २०४ किर.
शिशोर्जान्वोश्च पादान्तं २१७
शिष्यदेहे तु तच्छिष्य २४३
शिष्यात्मकुम्भवह्निभ्यो २४८
शुक्लपक्षेऽथवा कृष्णे २८८ ष. सा.
शुक्लपक्षे शुभा दीक्षा १५६ सि. शे.
शुक्लादिरागकरणं १८४ म. पा.
शुक्लाम्बरधरः शान्तः २५२ स्वाय.
शुक्लाष्टमीं विना द्वन्द्वे २९२
शुद्धकाञ्चनसंकाशं २१७
शुद्धलग्नं समासाद्य ३१९
शुद्धस्फटिकसंकाशं ११७ नि. का.
शुद्धिरत्र विनिर्दिष्टा २३२
शुद्धिस्तत्त्वविशुद्धिश्च २३५
शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता ४, ४४ कि. वि. ३.२७
शुद्धो द्विजो भवत्वात्मा २१२ कामि.
शुभा मनोरमा दीप्ता १२९
शूद्रस्यापि गृहस्थस्य २५२
शूद्रोऽपि शूद्रदीक्षायां २५२
शूलाभं वा त्रिशूलाङ्कं ३३३ सि. शे.
शेषसंस्कारसंसिद्ध्यै १४१
शेषे च मासत्रितये ३४० सि. शे.
शैलधाम्नि शिलाधस्ताद् ३४९ ज्ञा. र.
शैलादिकुम्भसंयुक्ता ३६३
शैवी तु नियमेनैव ७९
शैवी या च क्रियाशक्ति ४३ आ.
शैवे सिद्धो भाति ८२ मृ. वि. २.२९
शोधयेद् देशिकः शम्भो २१५
श्यामवर्णमिदं सर्वं २२३
श्रद्धया दीयते शिष्यै ३१६
श्रवणाङ्गुष्ठसंयोगाद् १२३ नि.
श्रवणी श्रावणी जल्प १२९
श्रावणीमादितः कृत्वा २८७ नि. का.
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी ३६ मृ. वि. ४.४
श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तः ८२, २८५ वा. सं. २.७.३८
श्रीकण्ठोदरकादिस्तद् ९३ नि. व.
श्रीधरा सर्वतोभद्रा १६१ सि. शे.
श्रीमन्मूलमनूत्थनाद ६५ पू. स्तो.
श्रीवत्सं च चतुर्थं स्यात् ३२७

श्रुतित्वग्विप्लुतिर्ब्राह्मी २३८
श्रुतिस्मृतिपुराणाद्या ७९ मो. शू.
श्रुतिस्मृत्यादिसंसिद्ध ७८ कामि.
श्रुत्यंशस्य परित्यागात् ३२६
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा २७३ अचि.
श्रोत्रियागारजो वह्नि १४० कार.
श्वेतं रक्तं तथा पीतं ३३२
षट्कोणं वायुकोणस्थं १६८ प्र. सं.
षट्त्रिंशदङ्गुलं हित्वा १९७ मृ. क्रि. ८.४७
षट्त्रिंशदङ्गुलायामा १७०
षट्शून्यानि तु संत्यज्य ९७ स्व. त. ४.२९१
षट्षष्टिभिः क्रमेणैव २७९ कि. वि.
षट्सप्तांशभ्रमात् पृष्ठे ३५३ व. प.
षडङ्गुले पुरोभागे १९१ स्वाय.
षडङ्गुलोच्छ्रयोपेतं ३१३ कामि.
षडश्राष्टाब्जकोणानि १६८ कामि.
षड्भागपरिवर्तेन ३५३
षड्भागवृद्धितो मत्स्यै १६६
षड्वक्त्रैर्वाऽथ कर्तव्यं १३६ आ.
षष्ठं त्रयोदशान्तं च ९४ सा. का. १.११
षष्ठेंऽशे तु युगैर्भक्ते ३२७
षोडशस्तम्भसंयुक्तं १५८
षोडशाङ्गुलानिध्मान् १७५ क्रि. द्यो.
षोडशेऽहन्यभीष्टेष्टि २०१ श्रौ. स्मृ.
स उदानः शरीरे ५५ मृ. वि. ११.२७
सकलस्तु वृतो देव २७७ स्व. त.
सकलं निष्कलं शून्यं ३०९, ३११
सा. का. १९.२
सकलीकारशुद्धिं च २४२ कामि.
सकलीकृतिरेकत्व १३३
सकलीकृत्य तं शिष्यं २०५ कामि.
सगर्भो मन्त्रसंयुक्तो २६७ सि. शे.
स च सर्वसमे कार्य ३२५
सततं चैव भावत्वात् ११ वा. शु. १.३९
सती वसुमती नन्दा ३४४
स तु रत्नौषधीगर्भ ३४९
स तेन रञ्जितो भोग्यं ४७ मृ. वि. १०.१२
सत्तामात्रं परं शुद्धं ९८ स्व. त. ४.२९३
सत्त्वं रजस्तमोऽपि च ५१ त. प्र. ५१
सत्रिभागैर्भवेद् बाणै ३२५ मो. शू.
सत्वचस्ताः समच्छेदा १७६ कामि.
सत्सु पात्रेषु विद्वद्भि ३१६
सदाशिवमनन्तं च ९०
सदाशिवं तु तस्योर्ध्वं ८० त्रि. का.
सदाशिवं स्वमन्त्रेण ३१६
सदाशिवः सदा शान्तः ३०२
सदाशिवादिवामान्ता २२२
सदाशिवे पवित्राङ्गः ३५ मृ. वि. १३.१६०
सदाशिवेश्वरौ विद्या २२२
सदाशिवो महेशश्च १२२ नि. का.
सद्यश्चाष्टकलायुक्त १०१ सा. का. २२.८
सद्यादिपञ्चवक्त्रेभ्यो १४३
सद्यादिशिवपर्यन्ता २५२ स्वाय.
सद्येन जुहुयादाज्यं १४२
सद्योजातकला योज्याः ११९
सद्योजातकलाश्चाष्टा ११८ वा. शु. ७.१९
सद्योजातमुखेऽन्यानि १४४ सि. शे.
सद्योजातेन चाभ्यर्च्य १४१ ष. सा.
सद्योनिर्वाणदा त्वाद्या १५२ सि. शे.
सद्योमुक्त्या मूर्च्छया वा ८६
सद्योवाममहाघोर २८४ कामि.
सनकादीन् सभृग्वादीन् २०३ मृ. क्रि. २.१७
सनातनो ऋषिर्वृक्षो २५५
सनादाखिलमन्त्रेषु २५२
सन्तोषो मार्दवं शौचं ५१ म. पा. वि. १६.१७
सन्ध्याया वन्दने वापि ७८ कामि.
सन्ध्यासन्ध्यांशयुक्तानि ६७
सन्निरुद्ध्य मरुन्मार्गान् २६१ सि. शे.

सपादाष्टांशकैस्त्र्यक्ष ३२४
सपाशत्रयविश्लेषं १४८ व. शि.
सप्तकोटिप्रसंख्यातान् ३७
सप्तग्रन्थिनिदानस्य ३३ मृ. वि. १०.१९
सप्तधा विकिराः प्रोक्ता १७८
सप्तमे शक्तिमध्ये तु २४६
सप्तविंशतिभिश्चाक्षैः १३६
सप्तविंशतिलिङ्गानि ३२८ सि. शे.
सप्तहस्तप्रमाणं वा ३१२
सप्ताष्टनवभिर्हस्तै ३२३
सप्तांशसमसूत्रेण १६५ सि. शे.
स बिन्दुः परनादाख्यो ४० र. त्र. २२
समत्वे सति यो भोगः ७४ कि. वि. ५.१०
समनान्तं पाशजालं ९३, १११ शा. व.
समनाव्यापिकान्तस्थे ९४ सि. र.
समनोर्ध्वे मनोमात्रा १०५ वातु.
समन्ततोऽत्रपानस्य ५४ मृ. वि. ११.२५
समन्तात् सोमसूत्रं १८१ सि. शे.
समक्षचारलोपेन ७६
समयाद्यक्षमं वृद्ध १४९
समयीपुत्रकाद्यानां ७७ आ.
समयीपुत्रकाभ्यां तु ७७, ३०२ कालो.
समयोल्लङ्घनात् प्रोक्तं ८८, ३१५, ३१६
सा. का. २५.२
समरात्रिन्दिवे काले १५५ अ. को. १.४.१४
समस्तनाडीसम्पात ३४१
समः संस्कारविज्ञेयो २३६
समाधिः कथितो ह्येव १२५ वातु.
समानोदानवायू च २१९
समीरः प्रेरकस्तस्य ४३ आ.
समे कर्मणि संजाते २५ कि. वि. १.२०
सम्पूज्य तर्पयित्वा तु २१५
सम्पूज्य पूजयेदस्त्रं १९२ स्वाय.
सम्पूर्य प्रक्षिपेत् स्कन्द ८० त्रि. का.
सम्प्रोक्ष्य स्नानसिद्ध्यर्थं २०४ सि. शे.
सर्गस्थित्यादिको ६८ मृ. वि. १३.१९०
सर्वकामप्रदं तस्मात् ३२९ कालो.
सर्वकारणपाल्येषु ३०१
सर्वज्ञत्वादियोगेऽपि ३६ मृ. वि. ४.५
सर्वत्र व्यापिनं शान्तं १३१
सर्वत्र संस्थितः पूज्यः ३६९ कालो.
सर्वदिक्षु क्षिपेत् कुण्डं १६८ प्र. सं.
सर्वदेवात्मकश्चासौ ७६
सर्वदेवार्चने विप्र २५२
सर्वदोषविनिर्मुक्तं १७० कामि., कार.
सर्वपूजाविधिछिद्र ३०३ सो. प. ३६४
सर्वप्रासादयोग्यं च ३३६
सर्वबीजेषु सा शक्ति ४३ आ.
सर्वमन्तःस्थितं शिष्य २१९
सर्वमेतन्न्यसेत् तत्र २२१
सर्वसिद्धिप्रदं धन्यं ३५३
सर्वात्मानं शिरोऽष्टार्णं १९२ स्वाय.
सर्वासामेव नाडीनां २४६
सर्वेषामेव पीठाना ३६५ सि. शे.
सर्वेषां कर्मणां साक्षी २४३
सर्वेषां तेजसां चैव ६ आ. शा.
सर्वेषां ध्यानपूजार्थं ११ वा. शु. १.४२
सर्वेषां नियमः शक्र २९४
सर्वेषां बाणलिङ्गानां ३३३ सि. शे.
सर्वैश्वर्यगुणैः शेषा ३०२
सशब्देन शतं हुत्वा २४० कामि.
ससाधना मुक्तिरस्ति २८५ मृ. वि. २.१०
सस्यमध्ये स्थिते तस्मिन् ३३३ सि. शे.
सहकार्यधिकारान्त २७ मृ. वि. ९.२
सहजा कालिका ताम्रे २१ कि. वि. २.३१
सहदेवी तथा ब्राह्मी २५१ मृ. क्रि. ८.१८९
सहस्रलिङ्गमित्युक्तं ३२८ सि. शे.
सहस्राख्यस्य लिङ्गस्य ३२८ सि. शे.

संकल्प्य स्थण्डिले ३१३ कामि.
संख्यया ते चतुस्त्रिंशत् १०९ कामि.
संगृह्याध्वानमारोप्य २४८
संग्राह्य मध्यसारं तु १७० कामि., कार.
संग्राह्यं वैदिकं सर्वं ७९ कामि.
संज्ञाभेदैः स्थितश्चैव ३०२
संमार्जनं समालेपं १३९ सो. प.
संमार्जनं समालेपं १३९ ज्ञा. र.
संयतासुरपां मध्ये १०८ मृ. क्रि. २.१२
संरम्भाद् यस्य चेष्टन्ते ५३ मृ. वि. ११.२०
संरम्भोऽहङ्कृतेर्वृत्तिः ५३ भो. का. ३३
संवर्ता च विवर्ता च ३४०
संसारे खिन्नानां ७२ त. प्र. ७०
संस्कारः क्रियते यत्र ३२०
संस्कारो मानसो यत्र ३२०
संस्कृतेनैव मूलेन २०५ कामि.
संस्थापयेच्चतुर्वक्त्रं ३२९ सि. शे.
सा कला परमा ज्ञेया २२६
सा कला परमा सूक्ष्मा ७६, २३३
सा कला शान्तिरित्युक्ता २२६
सा च कुण्डलिनी शम्भोः ४२ पौ.
साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्था ३८ रौ.
सा तु ब्रह्माण्डमावर्त्य ४३ आ.
सादाख्यः क्ष्मादितत्त्वान्तः ३७२ व. शि.
सादाख्याः सर्वदेवाश्च २९९ सो. प. ३७७
साधकाचार्यपुत्राणां ३१४ ज्ञा. र.
साधकाचार्ययोर्यस्याद् १५२
साधिकारा सबीजा सा १५२
सान्ततत्त्वान्तभूतान्तं ९३
सान्तं मेधा च षष्ठं च ९२
साऽपि त्रिविधा गुणतः ५२ त. प्र. ५२
सा प्रतिष्ठा कला ज्ञेया २२६
सामान्यं च विशेषं च ७९ मो. शू.
साम्यं न याति चेल्लिङ्गं ३३३ सि. शे.
सायुज्यं कस्यचिज्ज्ञेयं १७
सा योनिः सर्वकुण्डानां १६२ कामि.
सार्धसप्तभिरैशं ३२३
सा विजृम्भति सत्त्वेषु ४३ आ.
साष्टं शतं स्यात् प्रवरं २९५ सि. शे.
सितरेखासुनिर्वृत्तं १९१ स्वाय.
सितवस्त्रद्वयोपेतं २०४ किर.
सितासितासु कर्तव्यं २९२
सिद्धं सन्तानशर्वोक्तं २८३ कार.
सिद्धान्तार्थविनोदेन ३१४ ज्ञा. र.
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात् १०९ स्वाय.
सिद्धिर्भवतु मे येन १३७
सीमन्तोन्नयनं ज्ञेयं २१४
सुकर्मा च धृतिर्वृद्धि १५६
सुखदुःखात्मको भोगः २१ कि. वि. ३.५
सुधूम्रा पिङ्गला पीता १२९
सुप्ते चैव हृषीकेशे २९१ मो. शू.
सुप्तेऽपि विकृतिजाते ७२ त. नि. ३
सुप्रभं यद् गणेशस्य २७८ कि. वि. १०.६
सुप्रान्तनाडीसम्पात ३४१
सुभगा सुमती सारा ३४०
सुभद्रश्च विभद्रश्च ३४९
सुभद्रश्चेति कुम्भाः स्युः ३४९
सुरापो गुरुहन्ता च २११
सुरार्चितस्य लिङ्गस्य ३२८ सि. शे.
सुविशुद्धपदं यत्र ३४१
सुशब्दा वाहिनी चोर्ध्व १२९
सुषुप्तिर्नादयोगस्तु २७४ ई. गु.
सुषुम्नाया इडा वामे २६२
सुषुम्ना सा समा ज्ञेया २४६
सूक्ष्ममर्मसहस्रं तु ३४१
सूक्ष्मस्य लिङ्गदेहस्य ३६३ सि. शे.
सूक्ष्मं तु सूक्ष्मसंज्ञस्य २७८ कि. वि. १०.५
सूत्रपञ्चकसंयोगान् ३४१

सूत्रयित्वा ततः पश्चाद् १९१ स्वाय.
सूत्रं तदेकं शूद्राणां २१२ कामि.
सूत्राणि विन्यसेत् १८१ सि. शे.
सूत्राभावे तदर्धं वा २९८ ज्ञा. र.
सूत्राभावे तदर्धं स्यात् २९४ ज्ञा. र.
सूत्रे संयोजिते योनि १६४
सूरसूर्यार्यमादित्या ९३ अ. को. १.३.२८
सूर्यकान्तोद्भवः श्रेष्ठः १४० कार.
सूर्यकोटिद्युतिश्चोर्ध्वं १०४ वातु.
सूर्यदक्षब्रह्मधर्म २५७
सृष्ट्यनन्तरमेवेशः २७८ कि. वि. १०.३
सेचनं कवचेनाथ १३९ ज्ञा. र.
सेयं दीक्षा द्विधा भिन्ना १५३
सोऽनादिमुक्त एको ४, ८२ त. प्र. ६
सोमदेवस्य शर्वोक्तं २८३ कामि.
सोमसूत्रप्रसिद्ध्यर्थं १८० सि. शे.
सोमसूर्याग्निदेवांश्च २९९ कालो.
सौवर्णं राजतं ताम्रं २४४ सो. प. ३७३
सौहित्यं पटुता क्षान्ति ५१ म. पा. वि. १६.१८
स्कन्दोऽर्यमा च जम्भश्च ३४२
स्थण्डिले चललिङ्गे च २९४, २९७
स्थण्डिले स्थिरलिङ्गे वा १२५ शा. व.
स्थानमामर्दकं नाम २५४, २५७
स्थानान्तरेषु प्रविभज्य ५५, ९६ पा. शि., आ. शि.
स्थानेषु विधृते वायौ ४० र. त्र. ७३
स्थानेषु हृदयादीनां २०७ सि. शे.
स्थापितं तच्चलं गेहे ३२३ सि. शे.
स्थापिते पिण्डिकामध्ये ३२०
स्थितौ याननुगृह्णाति १७, ७६ मृ. वि. ५.३
स्थिरलिङ्गं चलं वाथ ३६८
स्थिरलिङ्गे सदा कार्यं ३६९ कालो.
स्थिरार्थं शिवहस्तस्य २०९
स्थैर्यं धैर्यं धृति ५१ म. पा. वि. १६.१७
स्नपने प्रोक्षणे चैव २५२
स्नात्वा प्रतिनिवृत्तः २५८
स्नानमा शिरसः कृत्वा १०८ मृ. क्रि. २.९
स्नानं पूजा जपः सन्ध्या ३०३ कालो.
स्नानं पूजा जपो ध्यानं ७७ आ.
स्नानं सन्ध्या तथा पूजा ३०४
स्नायात् ततस्त्रिभागेन १०८ मृ. वि. २.१२
स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं ५५ सा. का. १०.११
स्पर्शार्थत्वात् कर्मदेवा २३८
स्मरेत् पूजासु कुड्यादि ३३९ सो. प. १२७२
स्मृतानि प्राकृतादीनि २१९
स्रुक्स्रुवव्यपदेशेन २४३ शा. व.
स्रुक्स्रुवौ विधिना कार्यौ १७० कामि., कार.
स्रुग्दण्डचिह्नितं वापि ३३३ सि. शे.
स्रुचमापूरयन् सर्पिः १४६
स्रुचि वाध्वानमारोप्य २४३ मृ. क्रि. ८.१३१
स्रुवे शम्भुं समभ्यर्च्य १४५ कामि.
स्वतन्त्रादिविधेर्दार्ढ्या २५० मृ. क्रि. ८.१३६
स्वधान्तेनाभिधानेन २०३ मृ. क्रि. २.२०
स्वमूर्तौ गुरुमूर्तौ वा १२५ शा. व.
स्वमूर्तौ पूजनं कार्यं ३६९ कालो.
स्वयम्भुबाणदैवार्ष ३६८
स्वयम्भूसदृशान्येव ३३१, ३३६ सि. शे.
स्वयंप्रकाशा पश्यन्ती ४१ र. त्र. ७६
स्वराज्ये स्थापयामास २५८
स्वराः षोडश जीवाख्याः १०९ कामि.
स्वरूपज्योतिरेवान्तः ४१ र. त्र. ७७
स्वव्यापारनियुक्ताना ६७
स्वशास्त्रोक्तं प्रकर्तव्यं ७७ आ.
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं २६६ सि. शे.
स्वस्तिकाङ्कं तदुच्छ्रायं २२१
स्वस्वजात्युक्तमन्त्रेण २१२ कामि.
स्वाकारो लक्षणं तेषु ३५३
स्वापोर्ध्वमिथुने शुक्ल २८६ र. मा.

स्वायम्भुवं तथाग्नेयं २८३ मृ.
स्वायम्भुवं तथा पूज्यं ३३१
स्वार्थेऽष्टौ चललिङ्गस्य २५२
स्वास्त्रमूलोर्ध्वगौ पूज्यौ १९७ मृ. क्रि. ८.५१
स्वांशुमत्त्रिशिख ९९ पू. स्त.
स्वीकृत्य पुंस्त्रयुक्तस्य ४६ मृ. वि. ११.१४
हन्त्यगर्भोऽपि देवानां २६८
हरिद्रासंभवं पीतं १८४
हर्म्याग्रे मण्टपं कुर्याद् १५७
हस्तत्रयं समारभ्य १५९
हस्तद्वितयविस्तीर्ण ३१३ कामि.
हस्तमात्रं खनेत् खातं १६२
हस्तमात्रं खनेत् तिर्यग् १६२
हस्तमात्रा क्वचिद् दैर्घ्यात् ३४९ ज्ञा. र.
हस्तस्वात्यनुराधा च १५६
हस्ताभ्यां स्रुक्स्रुवौ १४६
हस्ते हस्ताङ्गुला वृद्धिः ३४९
हंस हंसेति यो ब्रूयाद् ९६, १२२ सा. का. २३.३
हास्तिकाष्टाङ्गुलाः शस्ता ३४९
हितजीर्णाशनः स्वस्थ २६६
हिरण्या सुप्रभा लक्ष्मी ३४४
हुत्वा शतद्वयं पूर्णां २१५
हृत्कुम्भस्थापनं प्रोक्तं ३६३
हृत्कुम्भस्य प्रतिष्ठा च ३६३ सि. शे.
हृत्प्रदेशे तु सा ज्ञेया ४२, १२२ सा. का. १२.१
हृदयं हृदये शुभ्रं १३२
हृदयादिबिलान्तेषु २४५
हृदयादि समारभ्य २७३ अचि.
हृदयान्नाभिपर्यन्तं २२१
हृदा चतुष्पथं कार्यं १४० ज्ञा. र.
हृदा बिन्दुविनिक्षेपात् १४५ आचा.
हृदि कण्ठेंऽसयोर्नाभौ ११९
हृद्गुह्यकुक्षिमार्गेषु ३४०
हृद्यञ्जलिरधोवक्त्रः ३४० सि. शे.
हेमताम्रमयाः कुम्भा ३४९
हेमताम्रादिकं कुम्भं ३६३ ज्ञा. र.
हेमरत्नादिसम्पूर्णं ३६३ ज्ञा. र.
हेमाभकर्णिकं नील १८३ मृ. क्रि. ८.३४
होमयेदग्निजैश्चिह्नैर् २११
होमं प्रतिदिनं कुर्यात् २५२ स्वाय.
होमाधिकरणत्वेन २४३
होमे चाध्ययने चैव २१५ कामि.
ह्रस्वो दहति पापानि ११० सा. का. १६.१

सहायक-ग्रन्थसूची

अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी — डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९६३

अमरकोश — सुधाव्याख्या सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२९

अष्टप्रकरण — (तत्त्वप्रकाश-तत्त्वसंग्रह-तत्त्वत्रयनिर्णय-रत्नत्रय-भोगकारिका-नादकारिका-मोक्षकारिका-परमोक्षनिरासकारिका)। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८४

आगम और तन्त्रशास्त्र — प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, सन् १९८४

आगममीमांसा — प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, सन् १९८२

आफ्रेख्ट बृहत्सूची — कैटलाग्स कैटलागरम्, दो भाग, इंडोलोजिकल बुक हाउस (नया संस्करण) सन् १९८९

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति — ईशानशिवकृत। भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, चार भाग, रिप्रिन्ट सन् १९८८

उपनिषत्संग्रह — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९७०

कठोपनिषत् — उपनिषत्संग्रह द्रष्टव्य।

कर्मकाण्डक्रमावलि — (सोमशम्भुपद्धति), कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९४७

कारणागम — (उत्तर भाग), शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९४

कालचक्रतन्त्र — विमलप्रभाटीकासहित, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, तीन भाग, सन् १९८६, १९९४

किरणागम — (विद्यापाद), आरियण्टल इंस्टीट्यूट, नेपोली, इटली, सन् १९७५

कूर्मपुराण — काशीराजन्यास, रामनगर, वाराणसी, परिष्कृत संस्करण, सन् १९७१

कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन — डॉ. करुणा एस. त्रिवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९९४

कृष्णयमारितन्त्र — (सटीक) केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९२

गुह्यसमाज तन्त्र — गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदा, द्वितीय संस्करण, सन् १९६७

गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह — केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९८७

ज्ञानसिद्धि — गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह द्रष्टव्य।

तत्त्वत्रयनिर्णय — अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

तत्त्वप्रकाश — (टीकाद्वय सहित) अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

तत्त्वसंग्रह — अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

तन्त्रयात्रा — प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी, रत्ना पब्लिकेशंस, वाराणसी, सन् १९८३

तन्त्रसार — अभिनवगुप्त रचित, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९१८

तन्त्रालोक — विवेकव्याख्या सहित, बारह भाग, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९१८-१९३८

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि — म. म. गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना सन् १९६३

दीक्षाविषयक सौगत पक्ष पर क्षेमराज का दृष्टिकोण — (निबन्ध)। 'धीः' षाण्मासिक शोधपत्रिका (अं. १., पृ.१०६-११२), दुर्लभ बौद्धग्रन्थ शोधयोजना, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९८६

दुर्गासप्तशती — गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०४४

धीः — (षाण्मासिक शोधपत्रिका), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ।

निगमागम संस्कृति — वीरशैव अनुसन्धान संस्थान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९२

निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम् — शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी, सन् १९९५

नित्याषोडशिकार्णव — (टीकाद्वय सहित), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८४

नेत्रतन्त्र — (उद्योत सहित), परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, सन् १९८५

न्यायसूत्र — (सभाष्य) सुदर्शनाचार्यकृत व्याख्या सहित, गुजराती मुद्रणालय, बम्बई, सन् १९२२

न्यू कैटलाग्स कैटलागम् — (१३ भाग), मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, सन् १९६८-१९९१

पाण्डवगीता — प्रपन्नगीता अपर नाम, बृहस्तोत्ररत्नाकर में प्रकाशित।

पातंजलयोगसूत्र — (सभाष्य), वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्या सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९३२

पारमेश्वरागम — शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९५

प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि — गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह द्रष्टव्य।

प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय — (दो भाग), वैरोचन शिवाचार्य कृत, नेपाल राजकीय प्रकाशन, काठमाण्डू, संवत् २०२३, २०२५

प्रपञ्चसार — (दो भाग), आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, सन् १९८५

प्रश्नोपनिषत् — उपनिषत्संग्रह द्रष्टव्य।

प्राच्यविद्या निबन्धावली — (चतुर्थ खण्ड), डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, सन् १९७४

बृहदारण्यकोपनिषत् — उपनिषत्संग्रह द्रष्टव्य।

भगवद्गीता — (मूल मात्र), गीता प्रेस, गोरखपुर, षष्ठ संस्करण, संवत् २०१०

भारतीय तन्त्रशास्त्र — (गोष्ठी विवरण), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९५

भोगकारिका — अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

मकुटागम — (उत्तर भाग), शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९४

मतंगपारमेश्वरागम — (दो भाग, चार पाद), फ्रेंच रिसर्च इंस्टीट्यूट, पाण्डिचेरी, सन् १९७७, १९८२

मनुस्मृति — (भाषानुवाद सहित), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण, सन् १९२९

महाभारत — (भाषानुवाद सहित), आश्वमेधिक पर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर।

महार्थमंजरीपरिमल — महेश्वरानन्दकृत, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण, सन् १९९२

महिम्नःस्तोत्र — मधुसूदनी टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, षष्ठ संस्करण, सन् १९३०

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र — कश्मीर संस्कृत सिरीज, श्रीनगर, सन् १९२२।

मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत — प्रो. जे. गोण्डा, ओटो हारासोविट्ज, बीजवाडेन, जर्मनी, सन् १९७७

मुण्डकोपनिषत् — उपनिषत्संग्रह द्रष्टव्य।

मृगेन्द्रागम — (विद्या एवं योगपाद), कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९३०

मृगेन्द्रागम — (क्रिया एवं चर्यापाद), फ्रेंच रिसर्च इंस्टीट्यूट, पाण्डिचेरी, सन् १९६२

मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका — शिवागम सिद्धान्त परिपालन संघ, देवसालपुरी, सन् १९२८

मोक्षकारिका — अष्टप्रकरण द्रष्टव्य।

योगिनीहृदय — अमृतानन्द योगी कृत दीपिका के साथ, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९८८

रौरवागम — (विद्या एवं क्रियापाद), फ्रेंच रिसर्च इंस्टीट्यूट, पाण्डिचेरी, सन् १९६१

लुप्तागमसंग्रह — (द्वितीय भाग), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८३

वरिवस्यारहस्य — भास्करराय कृत, अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार, मद्रास, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८

वसन्ततिलक — कृष्णाचार्य विरचित, सटीक, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९०

वाक्यपदीय — (ब्रह्मकाण्ड), स्वोपज्ञ वृत्ति एवं वृषभदेव की पद्धति, सम्पादक – प्रो. को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर, डेक्कन कालेज, पूना, सन् १९६६

वातुलशुद्धाख्यतन्त्र — तन्त्रसंग्रह प्रथम भाग (पृ.१७५-२४२), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०

वायवीयसंहिता — शिवमहापुराण सप्तम संहिता, पण्डित पुस्तकालय, काशी, संवत् २०२०

विज्ञानभैरव — भाषानुवाद सहित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९८४

वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः — निबन्ध, तन्त्रयात्रा (पृ. १४-३४) द्रष्टव्य।

शक्तिसंगमतन्त्र — (चार भाग), गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, सन् १९३२, १९४१, १९४७, १९७८

शतरत्नसंग्रह — उमापति शिवाचार्य कृत, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता, सन् १९४४

शारदातिलक — (दो भाग), आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता, सन् १९३३

शिवदृष्टि — सोमानन्दकृत, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, सन् १९३४

शिवमहापुराण — पण्डित पुस्तकालय, काशी, संवत् २०२०

शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिता — उव्वट-महीधरभाष्यसहित, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९८७

शैवदर्शनबिन्दु — डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय विरचित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९६७

शैवभूषण — परमानन्द योगी कृत, न्यू. भा. ११, पृ. १८३, मद्रास विश्वविद्यालय में मातृका का परिचय।

श्वेताश्वतरोपनिषत् — उपनिषत्संग्रह द्रष्टव्य।

सर्वदर्शनसंग्रह — सायणमाधवविरचित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९२८

संस्कृत साहित्य का बृहत् इतिहास — (तन्त्रागम खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, सन् १९९७

सांख्यकारिका — सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९३२

सात्वतसंहिता — अलशिंगकृत भाष्यसहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९८२

साधनमाला — (दो भाग), गायकवाड़ संस्कृत सिरीज, बड़ौदा, द्वितीय संस्करण, सन् १९६८

सारस्वती सुषमा — त्रैमासिक शोधपत्रिका, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सार्धत्रिशतिकालोत्तर — भट्ट रामकण्ठकृत वृत्तिसहित, फ्रेंच रिसर्च इंस्टीट्यूट, पाण्डिचेरी, सन् १९७९

सिद्धान्तप्रकाशिका — सर्वात्मशम्भु कृत, शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९६

सिद्धान्तशिखामणि — (सव्याख्य), शैवभारती भवन, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९३

सिद्धान्तसारावलि — त्रिलोचनशिवाचार्य कृत, कन्नड़ भाषानुवाद सहित, मैसूर, सन् १९३०

सिद्धान्तसारावलि — अनन्तशम्भुकृत टीकासहित, गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी बुलेटिन, मद्रास, भा. १७-२०

सूक्ष्मागम — (उत्तर भाग), शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९४

सूतसंहिता — (स्कन्दपुराणान्तर्गत), माधवाचार्यकृत व्याख्यासहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, तीन भाग, सन् १९२४-१९२५

सोमशम्भुपद्धति — कर्मकाण्डक्रमावलि द्रष्टव्य।

सौन्दर्यलहरी — (टीकात्रय सहित), गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, सन् १९५७

सौभाग्यसुधोदय — नित्याषोडशिकार्णव परिशिष्ट (पृ. ३०६-३२१) द्रष्टव्य।

स्पन्दप्रदीपिका — उत्पलवैष्णव रचित, तन्त्रसंग्रह प्रथम भाग (पृ. ८३-१२८), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९७०

स्वच्छन्दतन्त्र — क्षेमराजकृत टीका सहित, परिमल पब्लिकेशंस, दो भाग, दिल्ली, सन् १९८५

हस्तलिखित ग्रन्थसूची — फ्रेंच शोध संस्थान, पाण्डिचेरी, तीन भाग, सन् १९८६, १९८७, १९९०

हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया — अविनाश प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९८०

हेवज्रतन्त्र — योगरत्नमाला व्याख्या सहित, सम्पादक – डॉ. डी. एस. स्नैलग्रोव, दो भाग, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, इंगलैण्ड, पुनर्मुद्रित, सन् १९८०

* * *

हमारे अन्य प्रकाशित ग्रन्थ

१. **लिङ्गधारणचन्द्रिका** (हिन्दी भावानुवाद सहित) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

२. **सिद्धान्तशिखामणिः** तत्त्वप्रदीपिकाख्यसंस्कृतव्याख्यासहितः (मराठी भावानुवाद-सहितश्च) *संपा० ज० डा० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*

३. **ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम्** (चतुःसूत्री) अप्पय्यदीक्षितकृतशिवार्कमणिदीपिका (संस्कृत-टीकासहितम्) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

४. **वीरशैव अष्टावरण विज्ञान** (हिन्दी और मराठी) *डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*

५. **सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा** *डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*

६. **निगमागम संस्कृति** (हिन्दी) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

७. **सूक्ष्मागमः** (हिन्दी भावानुवाद सहितः) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

८. **चन्द्रज्ञानागमः** (हिन्दी भावानुवादसहितः) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

९. **मकुटागमः** (हिन्दी भावानुवादसहितः) *संपा० प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय*

१०. **कारणागमः** (हिन्दी भावानुवादहितः) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

११. **निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्** (संस्कृत) *संपा० व्रजवल्लभ द्विवेदः*

१२. **पारमेश्वरागमः** (हिन्दी भावानुवादसहितः) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

१३. **ईशावास्योपनिषद्** (वीरशैवभाष्यसहितः) *संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग*

१४. **केनोपनिषद्** (वीरशैवभाष्यसहितः) *संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग*

१५. **सिद्धान्तप्रकाशिका** (हिन्दी भावानुवादसहितः) *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

१६. **शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः** *ज० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*

१७. **अनुभवसूत्रम्** *संपा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर*

१८. **सिद्धान्तशिखोपनिषद्** (वीरशैवभाष्यसहितः) *संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग*

१९. **ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तिः** *संपा० डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी*

२०. **सिद्धान्तसारावलिः** *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*

1. **Candrajñānāgama** (English Translation) *Dr. Rama Ghose*
2. **Makuṭāgama** (English Translation) *Dr. Rama Ghose*
3. **Pārameśvarāgama** (English Translation) *Dr. Rama Ghose*

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१
☎ (0542) 321146

...ADGURU VISHWARA...
...A SIMHASAN JNANAM...
LIBRARY
...ngamawadi Math, Varanasi
Acc. No. ....8297...........

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, Varanasi
Acc. No. ....